माण्डूक्यकारिका

प्रवचन

अद्वैत-प्रकरण

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती



ब्र. नित्य-चैतन्य

[illegible]

माण्डूक्य-कारिका-प्रवचन

: ३ :

अद्वैत-प्रकरण

प्रवचनकार :
अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री :
श्रीनारायणी

सम्पादन :
"विष्णु"

प्रकाशक :
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
बम्बई-६

प्रकाशक :
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
विपुल २८/१६ बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल, बम्बई
दूरभाष: ३६१७९७६

प्राप्ति स्थल :

- श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय, मोतीझील, वृन्दावन (मथुरा)
  दूरभाष: ८२२८७
- डी. १४/६५ टेढ़ीनीम, वाराणसी, दूरभाष : ३२२३३७
- सेठी एण्ड सन्स, ४४ यू. बी. जवाहरनगर, कमलानगर, दिल्ली
  दूरभाष : २९१६४८८
- श्री बी. एन. झँवर, ४ गंगाधर बाबू लेन, कलकत्ता
  दूरभाष : २७४५७७

प्रथम संस्करण: २२००
आराधन दिवस
शिवरात्रि सम्बत २०४९
२२ नवम्बर १९९२

मूल्य : रुपये ●/= 150/

मुद्रक :
आनन्द कानन प्रेस
डी. १४/६५ टेढ़ीनीम
वाराणसी - २२१००१
दूरभाष : ३२२३३७

प्रकाशकीय

'माण्डूक्योपनिषत्' पर श्रीगौडपादाचार्यकी कारिकाएँ चार प्रकरणोंमें विभक्त हैं। 'आगम' 'वैतथ्य', 'अद्वैत' और 'अलात शान्ति'। यह 'अद्वैत प्रकरण' जनवरी १९७३ में प्रकाशित किया गया था। वह इसका संक्षिप्त रूप था। स्व० श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र' जीने उन टेपोंको सुनकर सार रूपसे लिखा था। उसमें महाराश्रीकी वाणी यथावत् गृहीत नहीं हो पायी थी। महन्तश्री ओंकारानन्दजी महाराजको उसका स्वल्प कलेवर बराबर खटकता रहा। वे कहते थे उसे देखकर कि क्या इस प्रकरणपर महाराजश्री इतना ही बोले हैं, अर्थात् इस 'अद्वैतामृत'के सेवनमें हमेशा अतृप्तिका ही अनुभव किया। सच तो यह है कि इसमें तृप्ति कभी होती ही नहीं। अतः उन्होंने टेपोंसे सुनकर तदनुसार लेखन-कार्य आरम्भ करवाया। श्रीनारायणीने बड़े उत्साहसे इस कार्य को सम्पन्न किया। परिणाम स्वरूप कुशल अन्वेषी 'श्रीविष्णु'की विचक्षण प्रतिभासे परीक्षित होकर यह परिवर्द्धित संस्करण आपके हाथों सौंपते हमें अत्यन्त हर्ष है।

सभी श्रुतियोंका परम तात्पर्य आत्मा एवं ब्रह्मका ऐक्यबोध है। सृष्टि-प्रतिपादक वचन आत्माके एकत्व बोधके उपाय हैं। सृष्टि तात्त्विक हो या मायिक उससे प्रतिपादनकी प्रक्रियामें अन्तर नहीं पड़ता। सृष्टिके मायिक सिद्ध होने पर ही अज, अद्वय ब्रह्मकी सिद्धि होती है। द्वैत मानसिक है। मन अनवच्छिन्न आत्मा एवं मानस पदार्थ अवच्छिन्न आत्मामें भेद नहीं किया जा सकता अतएव द्वैत मिथ्या है। मनके अमनीभावमें द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती। अतएव द्वैत सापेक्ष है और अद्वैत निरपेक्ष सत्य है। मनोनिग्रहके द्वारा सत्यका बोध अपरमार्थदर्शीके लिए ही है। किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती। वह चाहे जीव हो या जगत्। इस उत्तम सत्यका संकेत इस तृतीय प्रकरणमें हुआ है।

श्रीमहाराजश्रीने मूल माण्डूक्योपनिषद् और कारिकाओंपर ऐसा प्रकाश डाला है कि अद्वैत दर्शनका साकार रूप खड़ा हो गया है। महाराजश्रीकी व्याख्यान शैलीमें तर्क प्रधान इस विवेचनको एक सुन्दर साहित्यिक रूप प्रदानकर दिया है जो सामान्य पाठकके लिए भी पठनीय वस्तु बन गयी है। निश्चित ही आप इसे पढ़ेंगे और स्मरण करेंगे ऐसे दो महापुरुषोंको जो इस परिवर्द्धित वृहद् संस्करणके मूल स्त्रोत हैं—महन्तश्री ओंकारानन्दजी महाराज तथा सहयोगी श्रीगोविन्दानन्दजी महाराज। इनके प्रति हम सादर आभार व्यक्त करते हैं। चि० सोमदत्त द्विवेदी व शिवदत्त द्विवेदी भी धन्यवादार्ह हैं जिन्होंने इसके मुद्रणका कार्य अपनी सम्पूर्ण योग्यतासे सम्पन्न किया।

—हेमलता रतन सी खटाऊ
ट्रस्टी
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

आराधन-दिवस
२२-११-९२
मार्गशीर्ष कृष्ण
शिवरात्रि, सं० २०४९

सम्पादकीय निवेदन

माण्डूक्य उपनिषद्पर माण्डूक्य-कारिकाओंका जो उपनिषद्-वत् स्थान है वह वेदान्त शास्त्रके विद्वानों और ब्रह्मविद्याके उपासकोंके लिए सर्वविदित है। मूल उपनिषद्के बारह मन्त्रोंके व्याख्यानके रूपमें श्रीगौड़पादाचार्यजी महाराजकी चार प्रकरणोंमें विभक्त २१५ कारिकाएँ जिज्ञासुओंके लिए एक पूरा प्रस्थान ही हैं। महात्माओंका यह अनुभव है कि ब्रह्मज्ञानके लिए इतना वाङ्मय हो पर्याप्त है। शांकर-भाष्य और आनन्दगिरी टीकाके साथ यदि गुरुमुखसे इस प्रस्थानका श्रवण कर लिया जाय तो जिज्ञासुके मोक्ष-पुरुषार्थकी सिद्धिमें कोई संशय नहीं है।

हमारे परमपूज्य प्रातःस्मरणीय सद्गुरुदेव अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजने, जिन्हें उनके भक्त-परिकरमें महाराजश्रीके नामसे सम्बोधित किया जाता है, इस पूरे माण्डूक्य-प्रस्थानपर बहुत ही गम्भीर, सार-गर्भित, सरस, सरल प्रवचन किये थे जिनको पुस्तकाकाररूप प्रदान किया जा चुका है। उन ग्रन्थोंकी उपादेयता वेदान्तरसरसिक समाजमें प्रसिद्ध है। महाराजश्रीके प्रवचनोंमें समस्त वेदान्त-ग्रन्थोंका सार तो समाया रहता ही है, उनकी विशेषता सबसे बड़ी यह है कि वे आधुनिक युगके व्यस्त और मन्द-मध्यम मुमुक्षु-जिज्ञासुओंको भी मोक्षमार्गपर चलनेकी जबरदस्त प्रेरणा प्रदान करते हैं और उत्तम अधिकारियोंको तो एक झटकेसे ऊपर उठाकर लक्ष्यका साक्षात्कार करा देते हैं। अपने जीवन भरकी साधना और अनुभवोंका परिपाक वे दैनिक जीवनके दृष्टान्तोंके द्वारा जिन सरल सरस शब्दोंके द्वारा करते हैं वे पढ़ते ही बनता है।

मूल माण्डूक्य उपनिषत् और आगम-प्रकरणकी कारिकाओंपर प्रवचन एक खण्डमें प्रकाशित हैं—इसके कई संस्करण छप चुके हैं। वैतथ्य, अद्वैत और अलातशान्ति प्रकरणोंके प्रवचन अलग-अलग खण्डोंमें प्रकाशित हैं। उनमें अद्वैत प्रकरणका यह दूसरा संस्करण है जो पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष है। यद्यपि कहनेको तो यह दूसरा संस्करण है परन्तु वस्तुतः इसको नया ग्रन्थ ही कहना उपयुक्त होगा, क्योंकि महाराजश्रीके प्रवचनोंको फिरसे सुनकर इसकी पाण्डुलिपि तैयार की गयो है। इसीसे ग्रन्थका कलेवर

पहलेसे लगभग तीन गुना हो गया है। यह अनुभव किया जारहा था कि प्रथम संस्करणमें कुछ अधिक ही संक्षेप हो गया था जिसके कारण पाठकोंको महाराजश्रीके अनेक उपयोगी उपदेशों और दृष्टिकोणोंसे वंचित होना पड़ा। अतः आनन्द-वृन्दावनके महन्तजी स्वामीश्री ओंकारानन्द सरस्वतीजी महाराजने इसके पुनः लेखन, सम्पादन और मुद्रणका आदेश दिया। उसीका परिणाम यह प्रस्तुत संस्करण है।

इस प्रस्तुतिमें महाराजश्रीकी कृपापात्र 'श्रीनारायणी'जीका परिश्रम स्तुत्य है। उन्होंने बड़े परिश्रम और मनोयोगसे उन प्रवचनोंको सुनकर लिपिबद्ध किया है। तदनन्तर मेरा अपना कार्य तो सम्पादनका इतना ही रहा है कि (१) प्रवचनोंमें जो सहज पुनरुक्ति होती है उसमें अनावश्यक पुनरुक्तिको निकाल दिया है; (२) जहाँ वाक्योंको छोटा किया जा सकता है उनको छोटा कर दिया है; (३) अधूरे पड़े हुए वाक्योंको या तो पूरा कर दिया है या अन्य वाक्योंके साथ उनका समायोजन कर दिया है; (४) कहीं-कहीं विषय-वस्तुकी पूर्णताके विचारसे कुछ सामग्रीको आगे-पीछे व्यवस्थित कर दिया है; (५) उद्धृत श्रुति-स्मृतियोंके प्रमाणों स्रोतका यथासम्भव संकेत कर दिया है; परन्तु अपने अल्प ज्ञानके कारण सर्वत्र यह संभव नहीं हो सका है; जो प्रमाण बार-बार आये हैं उनके मूलका उल्लेख प्रारम्भमें ही कुछ स्थानोंपर कर दिया है, अन्य स्थानोंपर पाठक स्वयं समझ ही लेंगे। (६) महाराजश्रीके प्रवचनोंको कारिकाओंकी विषय-वस्तुके अनुसार अध्याय और प्रवचन-खण्डोंमें प्रस्तुत किया गया है; एक विषयसे सम्बन्धित कारिकाएँ और उनके प्रवचन एक ही अध्यायमें हैं; उन अध्यायोंके शीर्षक भी प्रदानकर दिये गये हैं। इस प्रकार महाराजश्रीके ४६ प्रवचनोंको ३० अध्यायोंमें प्रस्तुत किया गया है। दिग्दर्शन विषय-सूचीसे हो सकता है। (७) कारिकाओंकी वर्णानुक्रमणिका भी दे दी गयी है।

आशा है महाराजश्रीके प्रवचनोंकी यह नयी प्रस्तुति पाठकोंको पहलेसे अधिक लाभकारी सिद्ध होगी। प० पू० महाराजश्रीकी वस्तु उन्हींके श्रीचरणोंमें सादर निवेदित है।

पूर्णिमा :
होलिकोत्सव
दिनांक १८-३-९२
श्रीवृन्दावनधाम

श्रीगुरुचरणकमलाश्रित
"विष्णु"

॥ ॐ ॥

अन्तःश्रवणकी पूर्व तैयारी

कथायां पीयूषं प्रवचनकलायां च पटुता
सुलेखे लालित्यं लसति किल यस्य क्षितितले ।
स्मरामि प्रातस्तं भवजलधिभीतैकशरणम्
अखण्डानन्दं श्रीगुरुवरमहं ब्रह्म परमम् ॥

सगुण-साकारकी अचिन्त्य रसमयी लीला हो या निर्गुण-निराकार तत्त्वका निरूपण हो, परमपूज्य श्रीसद्गुरुदेवकी गूढ़-गम्भीर वाणीका अन्तःस्रोत हमेशा निजानन्दकी मस्तीकी चिन्मयतासे अनुप्राणित रहा है। इसके बिन्दु-बिन्दुमें सिन्धुकी गहराईके साथ अपार विशालता, तत्त्व और व्यवहारका विवेक और सामंजस्य, मृतधर्माके लिए अमृतका शीतल-स्निग्ध स्पर्श आदि अनेक विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं।

'माण्डूक्य'-कारिकाकार 'श्रीगौडपादाचार्यजी'का यह 'अद्वैतप्रकरण' अत्यन्त गम्भीर है। वह मन्द मध्यम अधिकारीके लिए भी सरल-सुबोध हो जाय—इस प्रयोजनसे महाराजश्रीने अपनी विशिष्ट शैलीमें गम्भीर भावोंको सरलतम शब्दोंमें उजागर करते हुए कारिकाओंकी विशद व्याख्या की है। इसलिए इसमें केवल पाण्डित्यकी नीरसता नहीं, परमानन्दकी सरसता है। सहजभावसे विनोद और प्रबोधकी एकरूपता जिज्ञासुके लिए अनुभवगम्य है।

प्रतिपादनके लिए आरोह-अवरोह क्रम पुनरावृत्ति नहीं है। उदाहरण—'मैं ब्रह्म हूँ' और 'ब्रह्म मैं हूँ'—यह है पूर्णरूपसे जाँचना, अर्थात् दूसरी ओरसे देखना। तभी वेदान्तका तात्पर्य ग्रहण होगा।

जिज्ञासु श्रोताके स्तरके अनुरूप विश्लेषण-आत्मान्वेषणका लक्ष्य है, धीमी क्रमिक शैलीमें ठोस वास्तविकताकी चिन्तनपूर्ण अभिव्यक्ति, जो आत्मानुभूति जगानेवाली एकाग्रताको सुलभ करा देती है। इसीलिए शब्दभेद और अर्थभेदकी स्पष्टता की गयी है। अर्थकी स्पष्टताके लिए महाराजश्री शब्दोंकी झड़ी लगा देते हैं।

स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर, ज्ञातसे अज्ञातकी ओर सावधान मार्गदर्शककी तरह शिष्यको लेकर चलते हैं, इसलिए प्रवचनके माध्यमसे शिष्यकी भूमिका-पर अवतरण आत्मदानकी अलौकिक उदारताका ही स्वरूप है। इसमें जिज्ञासुकी साधनाका क्रम भी यत्र-तत्र बताया गया है। सावधानीके अनेक सूत्र भरे-पड़े हैं।

यह ग्रन्थ न कहानी है, न काव्य, न इतिहास-पुराण; यह दर्शन है, ठोस धरातलकी खोज है। कदम-कदमपर अपनी यात्राको पूर्ण सुरक्षित देखते हुए आगे बढ़ना है। हम अन्यत्र भटक न जायँ, दिग्भ्रमित न हो जायँ, सम्मोहित न हो जायँ, आलस्य-प्रमाद-निद्राके वशीभूत होकर विचार करना न छोड़ दें, बल्कि विचारकी भूमिकाको भी बड़ी सूक्ष्मतासे तलाशते हुए, आत्म-विश्वास बढ़ाते हुए, उत्साहपूर्वक अपने लक्ष्यपर एकाग्रतासे पहुँच जायँ—इस लिए यह वात्सल्यकी वर्षा है।

महाराजश्री देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्वका यथार्थ प्रत्यक्ष निरूपण द्वारा कराते हैं। इस सूझमें जो सूक्ष्म प्रत्यक्षीकरण करानेकी शक्ति है वह हमारी कल्पना शक्तिसे कई गुना बलवती है। यह तो पाठकगण स्वयं पढ़कर ही अनुभव कर सकेंगे।

इस ग्रन्थकी महिमाको अपने शब्दोंमें समेटनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। ये तो परमऐश्वर्यशालीकी अनिर्वचनीय सुन्दरता-मधुरता-चिन्मयताके झरे-परे मुक्ताफल है जो अपनी छोटी-सी अंजलिमें बटोरनेकी और पुनः उन्हींकी सेवामें श्रद्धांजलि अर्पण करनेकी एक बालचेष्टा है।

इन प्रवचनोंका श्रवण-लेखन मेरे लिए तो साधन-भजनका अनुपम आनन्द है। सद्‌गुरुदेवकी कृपासे ही ऐसी प्राप्ति सम्भव है। इसमें भी सोनेमें सुहागाकी भाँति परमपूज्य श्रीमहन्तजी महाराजके आशीर्वाद और परमपूज्य श्रीस्वामी गोविन्दानन्दजीका प्रोत्साहन मिलना मेरा परम सौभाग्य है। संकलनके साथ कुछ हदतक सम्पादनका कार्य सम्पन्न करके यह लेखनी विरमित होती है, इसका श्रेय आदरणीय 'श्रीविष्णु'जीको है, जो महाराजश्रीके ग्रन्थोंका संक्षेप और सम्पादन करनेमें कुशल और अनुभवी हैं। एक परिवारके हम सब मिलकर जो कुछ सेवा कर पाते हैं, इसमें सबपर भगवत्कृपा और गुरुकृपा तो है ही, मैं कृतज्ञतापूर्वक इन सबको प्रणाम करती हूँ।

महाशिवरात्रि २-३-९२ —श्रीनारायणी

माण्डूक्यकारिका प्रवचन

(अद्वैत-प्रकरण)

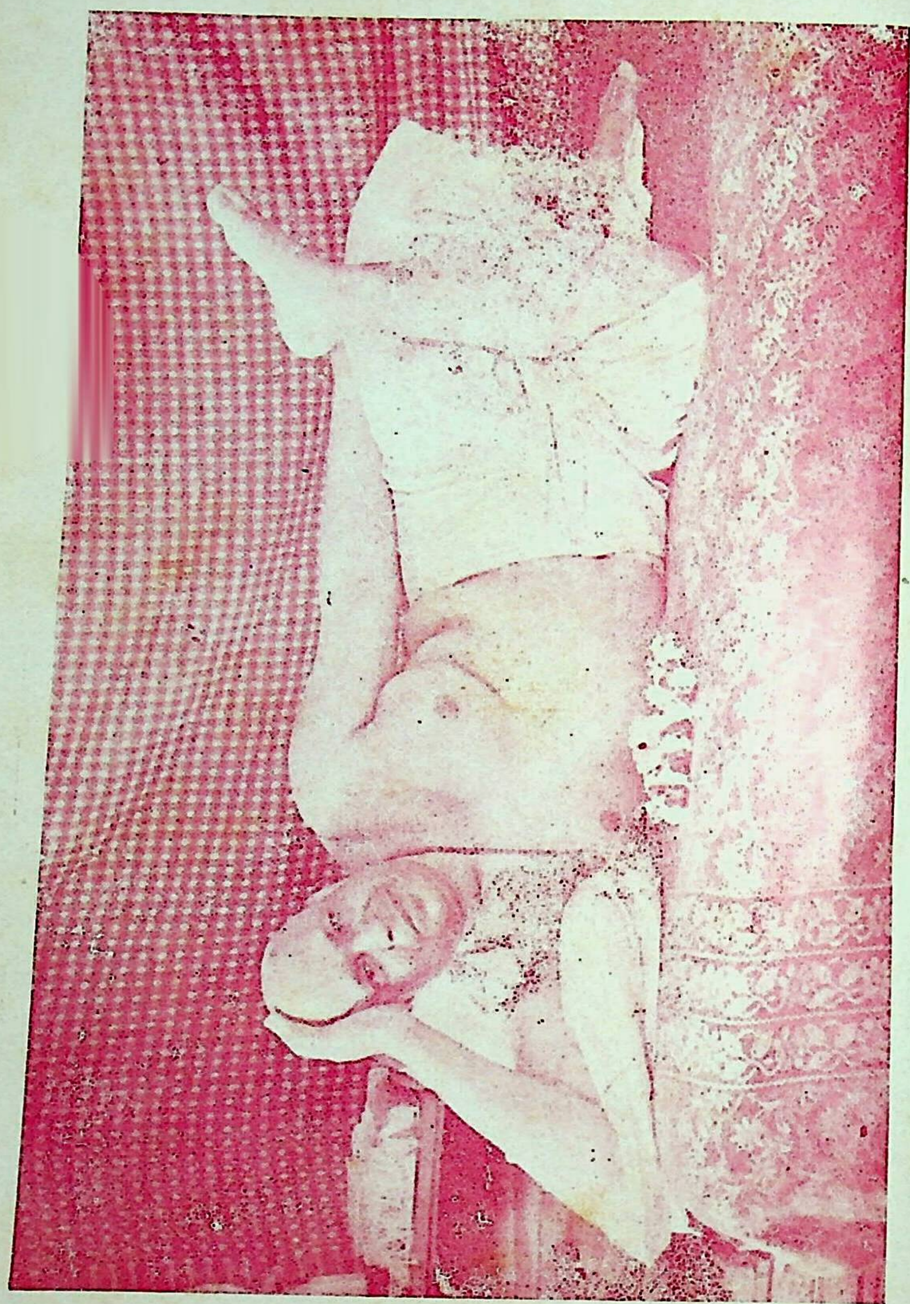
विषय-सूची

•

अद्वैत-प्रकरण कारिकाओंकी

वर्णानुक्रमणिका

❀



माण्डूक्योपनिषद्-कारिका-प्रवचन

अद्वैत प्रकरण

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया ।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

माण्डूक्योपनिषद्-कारिका प्रवचन

अद्वैत प्रकरण

अद्वैत प्रकरणकी संगति

माण्डूक्योपनिषत् पर श्री गौड़पादाचार्यजीकी कारिकाओंके चार प्रकरण हैं। आगम-प्रकरण, वैतथ्य-प्रकरण, अद्वैत-प्रकरण और अलात-शान्ति-प्रकरण। वैतथ्य प्रकरणकी अन्तिम कारिकामें बताया गया कि तत्त्ववेत्ता तत्त्वसे कभी च्युत न हो—

तत्त्वात् अप्रच्युतो भवेत्

जब तत्त्वका ज्ञान हो जाता है, तो जिसको ज्ञान हुआ और जिसका ज्ञान हुआ ये दोनों जुदा-जुदा नहीं रहते हैं। माने जाननेवाला ही तत्त्व है। जब स्वयं तत्त्व है, तो अपने तत्त्वपनेसे वह च्युत कैसे होगा ? वह गिरेगा कैसे ? जब स्वयं तत्त्व है तब उसमें न लोकलोकान्तरका गमन है, न पुनर्जन्म है, न सुखीपना-दुःखीपना है, न पापीपना-पुण्यात्मापना है। ऐसा ज्ञान प्राप्त हुआ कि जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-समाधि-मूर्च्छा सब बदलती रहें, भासती रहें और वह ज्यों का त्यों हो।

कोई कर्म करके जो अभिमानसे फूल जाता है और कोई काम करके जो ग्लानि या दीनता-हीनतासे पटक जाता है, उसके जीवनमें अपना महत्त्व कहाँ हुआ ? यह तो कर्मका महत्त्व हुआ। ऐसे तो, लोग भोगसे भी खुश होते हैं और भोग न मिलनेपर दुःखी होते हैं। जैसे भोग आगन्तुक है, कभी आता है कभी जाता है, वैसे कर्म भी आता है, जाता है। यदि किसी कर्म और भोगके आनेपर अपनेको छोटा मानेंगे और किसी कर्म और भोगके आनेपर अपनेको बड़ा मानेंगे तो छोटेपन और बड़ेपनके झूलेपर ही झूलते रहेंगे, स्वस्थ जीवनकी प्राप्ति नहीं होगी।

आपने स्वामी विवेकानन्दजीके जीवनकी घटना सुनी होगी। वे लन्दनमें किसी सड़कपर पैदल जा रहे थे, शुरू-शुरूमें गये थे। उतनी सुसंस्कृत-परिष्कृत वेशभूषा नहीं थी उनकी। दो अंग्रेज आपसमें बातचीत कर रहे थे—'यह कोई बहुत नीच कोटिका आदमी मालूम पड़ता है।' उन्होंने सुन लिया। अंग्रेजी तो वे जानते ही थे। फिर उनमें-से एकने उनके पास आकर हँसी उड़ानेके लिए पूछा—तुम किस देशके नागरिक हो ? स्वामीजीने कहा—

'हम उस देशके नागरिक हैं जिस देशमें वेशभूषासे मनुष्यका बड़प्पन नहीं आँका जाता।'

बहुत बढ़िया वेश धारण किया, अच्छा कपड़ा पहन लिया तो अच्छे हो गये और बुरा कपड़ा पहन लिया तो बुरे हो गये! कपड़ेमें अच्छाई-बुराई नहीं होती है, कपड़ेवालेमें अच्छाई-बुराई होती है। ये जो संसारके भोग हैं, वे जिसको ज्यादा प्राप्त हों वह बड़ा और कम प्राप्त हो वह छोटा, एक लाखकी मोटरपर चढ़े तो बड़ा और बीस हजारकी मोटरपर चढ़े तो छोटा—यह कोई बड़प्पनका मापदण्ड नहीं है। दिनभर काममें जुटा रहे तो बड़ा और थोड़ा काम करे तो छोटा, काम बड़प्पनका मापदण्ड नहीं है। बाहरके या भीतरके कर्म-भोगसे आत्मा न बढ़ता है न घटता है। इसीसे वेदान्तोंमें ब्रह्मज्ञानीकी महिमाका वर्णन आता है कि—

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य
न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् (बृहदा० ४.४.२३)

यह ब्रह्मज्ञानीकी नित्य महिमा है कि वह किसी कर्मसे बढ़ता नहीं और किसी कर्मसे घटता नहीं।

नासौ तपति किमहं साधु न करवम्, किमहं पापमकरवम्।

उसको (ब्रह्मज्ञानीको यह पछतावा कभी नहीं होता कि मैंने अच्छा काम क्यों नही किया, बुरा काम क्यों किया?

तदधिगमे उत्तरपूर्वाधयोः अश्लेषविनाशौ तदव्यपदेशात्।
(ब्रह्मसूत्र ४.१.१३)

परमात्माका अधिगम हो जानेपर ब्रह्मज्ञानीको उत्तर कर्मका अश्लेष हो जाता है। ज्ञानके बाद जो कर्म होते हैं, वे लगते नहीं, माने अभिमान उत्पन्न नहीं करते, और पहलेके जो कर्म हैं, उनका विनाश हो जाता है। माने 'मैं कर्ता हूँ' यह अभिमान उसमें नहीं रहता अतः उसमें पहलेके कर्मका विनाश हो जाता है।

ब्रह्मज्ञानीके मनमें क्या आया, क्या गया, उसकी उसे फिक्र नहीं होती। मनमें विक्षेप है कि समाधि है, उसकी भी फिक्र नहीं होती। स्मृति या विस्मृति हो रही है उसका भी खयाल नहीं होता। बड़ी अद्भुत लीला है!

आपको कई बार सुना चुका हूँ कि अपरोक्ष अनुभव और स्मृति—ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। जैसे इस समय हम 'गोविन्दभाई'को देख रहे हैं। वे हमारे सामने बैठे हैं। उनका अपरोक्ष हो रहा है। इस समय उनकी स्मृति नहीं है,

अपरोक्ष है। जब ये अपने घर चले जायेंगे तब हम उनकी याद करेंगे। अतः जिस समय जिस वस्तुकी स्मृति होती है, उस समय उसका अपरोक्ष अनुभव नहीं होता और जिस समय उसकी अपरोक्ष अनुभूति होती है, उस समय उसकी स्मृति नहीं होती। कल हमने जिसको 'हेंगिंग गार्डन' में देखा था उसको आज यहाँ हम याद कर रहे हैं और आज जिसको अब देख रहे हैं, उसका साक्षात् अनुभव कर रहे हैं, उसकी याद नहीं कर रहे हैं।

स्मृति और अनुभव एक समय एक साथ एक अन्तःकरणमें नहीं रहते। अब देखो, अपना जो आत्मदेव है, यह साक्षात् अपरोक्ष है, अपना आपा जो है। दूसरेको देखोगे तो वह कभी परोक्ष होगा तो याद आवेगी और कभी अपरोक्ष होगा तो अनुभव होगा। लेकिन, अपना जो आत्मा है, उसमें परोक्ष-अपरोक्षका भेद नहीं है, यह तो स्वयं साक्षात् है। इसलिए अनुभव स्वरूप आत्माके साथ स्मृतिका कोई सम्बन्ध ही नहीं जुड़ता।

आत्मा याद रखनेके लिए नहीं है। याद तो उसकी आती है जिससे राग होता है, जिसने कभी हमें सुख दिया है। याद उसकी आती है, जिससे द्वेष होता है, जिसने कभी दुःख दिया है। अपना आपा जो है, वह न राग का विषय है न द्वेषका। यह तो साक्षात् अनुभव स्वरूप हैं आत्मदेव! इनका स्मरण आवे तभी समझना कि यह परोक्ष है। पर स्मरण न आवे तब तो स्वयं ही स्वयं है।

स्मृति अनुभवसे नीचे गिरी हुई वस्तु है, वह न अनुभवके समकक्ष है, न अनुभवके समकाल है। 'हमने एक दिन गुरुजीसे सुना था,' 'हमने इसे पोथीमें पढ़ा था,' 'एक दिन हमें ऐसी युक्ति सूझी थी'—बातोंका स्मरण होता है। यह जो अपना आप है, यह तो स्मरणका प्रकाशक है, स्मरणका विषय नहीं है। इसकी रोशनीमें मालूम पड़ता है कि हमारे मनमें स्मरण हो रहा है। यह स्मरणसे प्रकाशित नहीं होता, स्मरणका प्रकाशक है।

अग्नि वह चीज है जिससे दीपक प्रज्वलित होता है। प्रज्वलित दीपककी रोशनीमें जो चीज दीखती है, वह अग्नि नहीं है। जिससे दीपक प्रज्वलित हो रहा है, वह अग्नि है। वृत्ति माने बत्ती। इस बत्तीपर आत्माका प्रकाश आरूढ़ हुआ, यह वृत्ति आत्मप्रकाशसे प्रज्वलित हुई और विषयको दिखाती है। जो चीज इस वृत्तिके प्रकाशमें दीखती है, वह आत्मा नहीं, जिससे इस वृत्तिमें प्रकाशनेका सामर्थ्य आता है, इसको जो सत्तास्फुरण देता है, वह आत्मा है।

अच्छा, तब तो फिर यह समझो कि कोई भी विषय हो और कैसी भी वृत्ति हो—मलिन हो, विक्षिप्त हो, मूर्च्छित हो, वृत्ति और विषयकी अवस्था हम पर

कोई असर नहीं डालती है। नकलपर असर पड़ता है। पर अपना आपा तो असली चीज है—'अप्रच्युतो भवेत्'।

एक बार आपको फिरसे दुहरा दें। ईश्वरने आत्माको उत्पन्न नहीं किया है। ईश्वर आत्माको मार नहीं सकता, ईश्वर आत्माको कहीं भेज नहीं सकता, ईश्वर आत्माको गिरा नहीं सकता। क्यों? असलमें जो ईश्वरकी आत्मा है, वही आत्मा है। तो, ईश्वर अपनेको जन्म नहीं दे सकता। ईश्वर अपनेको मार नहीं सकता। ईश्वर अपनेको कहीं भेज नहीं सकता और ईश्वर अपनेको कहीं छिपा नहीं सकता, ईश्वर अपनेको गिरा नहीं सकता, क्योंकि जो ईश्वरकी आत्मा है, वही अपनी आत्मा है और वही हमारी आत्माका स्वरूप है।

अच्छा, तो यह समझ लो कि एक बार जहाँ आवरण-भंग हुआ, भ्रान्ति टूटी अभ्यास निवृत्त हुआ कि अज्ञान मिटा। यह वेदान्तियोंकी भाषा है। आवरणका भंग होना, भ्रान्तिका निवृत्त होना, अध्यास टूटना, अज्ञानका निवृत्त होना—ये सब हैं और निवृत्त होते हैं सो बात असली नहीं है। असलियत यह है कि ये सब नहीं हैं, कल्पित हैं और केवल आत्माकी प्रकाशताको और अद्वयताको समझानेके लिए गणित शास्त्रमें 'अ-ब-स'की तरह कल्पित करके इनका निरूपण किया जाता है।

माण्डूक्यके चारों प्रकरणोंमें आत्माकी ब्रह्मताका निरूपण है। आगम-प्रकरणमें विश्व है व्यावहारिक जाग्रत अवस्था, अतः वहाँ श्रुतिके द्वारा समझाया है। वैतथ्य-प्रकरणमें तैजस है प्रातीतिक स्वप्नावस्था, अतः तर्कके द्वारा स्वप्नवत् जाग्रत-प्रतीतिको काटकर समझाया है। अद्वैत-प्रकरणमें प्राज्ञ हैं सुषुप्ति-अवस्था अतः वहाँ युक्तिके द्वारा ब्रह्मताको समझाया है। अलात-शान्तिमें श्रुति-तर्क-युक्ति विरहित है आत्माकी ब्रह्मता—अविरुद्ध, अविवाद रूप।

आगम प्रकरण प्रतिज्ञामात्र है। उसमें दो प्रतिज्ञाएँ हैं—द्वैत मिथ्या है और अद्वैत सत्य है। युक्ति और तर्कके सहारे 'द्वैत मिथ्या है,' यह बात दूसरे (वैतथ्य) प्रकरणमें समझायी। युक्ति और तर्कके सहारे 'अद्वैत सत्य है', यह बात अब तीसरे प्रकरणमें बता रहे हैं। अतः युक्ति और तर्कके बारेमें भी कई बात आपको बताते हैं।

तर्क माने अव्यूहन—माने नवीन-नवीन युक्तियोंके द्वारा पूर्वपक्षका खण्डन करना और उत्तरपक्षका समर्थन करना। तर्क्यते—अव्यूह्यते, तर्कनम् तर्कः। तर्क्यते अनेन इति तर्कः।

दूसरा अर्थ तर्क शब्दका नैरुक्त लोग बताते हैं—कर्तनम् तर्कः। कैंचीका नाम तर्क है। कर्त एव तर्क इति उच्यते यथा हिंसः सिंह इति उच्यते। जैसे

सिंहको सिंह बोलते हैं, वैसे कर्तको तर्क बोलते हैं। जो काटे सो तर्क। 'कृति-कृन्तने' धातु काटनेके अर्थमें है। कर्तको उलट दिया तो तर्क हो गया। यह वर्णविपर्ययकी रीतिसे 'तर्क' शब्द बना।

तर्कके सम्बन्धमें भी एक सीमा है। वेदान्तियोंमें तर्कको असीम छुट्टी नहीं है।

तर्क्यताम् मा कुतर्क्यताम्।

वे कहते हैं—'तर्क करनेकी तुम्हें छुट्टी है, कुतर्क करनेकी नहीं।' यह बात ब्रह्मवादियोंने भी ली और धर्मात्माओंने भी ली। मनुजी कहते हैं—

आर्षंधर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ (मनु० १२.१०६)

जो आर्ष-धर्मोपदेश है, उसे वेदशास्त्राविरोधी तर्कसे अनुसन्धान करो। तर्क्यताम् मा कुतर्क्यताम्।' वेद में मन्त्र ही आता है—

नैषा तर्केण मतिरापनेया। (कठ० १.२.९)

'यह ब्रह्मविद्या केवल तर्क से नहीं प्राप्त हो सकती।

प्रोक्तान्येनैव विज्ञानाय प्रेष्ठ। (कठ० १.२.९)

जब सद्गुरु इसका उपदेश करता है। तब अनुभव होता है। क्योंकि सबका निषेध कर दो–'मैं यह नहीं हूँ, मैं यह नहीं हूँ, मैं यह नहीं हूँ—सबका साक्षी, द्रष्टा मैं।' लेकिन 'मैं अद्वय हूँ' यह कैसे मालूम पड़ेगा? इसमें यहाँ वाक्यकी आवश्यकता पड़ जाती है। तो कैसे करें? कि आओ, तर्क करें। कैसा? आप जानते हैं—'ब्रह्मसूत्र' में एक प्रकरण ही है इसका—'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्र० सू० २.१.११) तर्कमें प्रतिष्ठा नहीं है, क्योंकि तर्क एक जगह पर स्थिर नहीं कर सकता। एक जगहपर एक बात होगी, तो दूसरा बुद्धिमान् पुरुष तर्कसे उसे काट देगा। पहले पूरा निश्चय कर लो और फिर एक स्थानमें उसके लिए तर्क करो। संशयवादी मत बनो, सिद्धान्तवादी बनो। मध्यकालीन दर्शनोंमें संशयवाद बहुत मिलता है। रहस्यवादी मत बनो, संशयवादी—स्थूलवादी मत बनो। लक्षण और प्रमाणसे वस्तुकी परीक्षा करो। आओ तर्क-युक्तिसे विचार करें कि अद्वैत ही सत्य है।

वैतथ्य-प्रकरणमें यह बात बतायी गयी कि स्वप्न, माया, गन्धर्वनगर आदिके दृष्टान्तोंसे तथा दृश्यत्व, अन्तत्व आदि हेतुओंसे जो बाह्य सृष्टि अपनेसे अन्य-रूपमें दिखाई पड़ रही, वह मिथ्या है। इस प्रकार कार्य-सृष्टिको मिथ्या बताया

परन्तु कारण-सृष्टि बची रही। कारण-सृष्टि यदि बची रहे तो कार्य तो नान्तरीयक है—अर्थात् जहाँ कारण होगा, वहाँ कार्यकी उत्पत्ति तो फिरसे हो जायेगी। अतः जैसे कार्यको मिथ्या सिद्ध किया, वैसे कारणको भी मिथ्या सिद्ध करके कार्य-कारणके भेदसे रहित अद्वय तत्त्व परमार्थ है—यह विशेष बात है अद्वैत वेदान्तकी—माने शांकरसम्प्रदाय-सम्मत जो औपनिषद-सिद्धान्त है उसकी। यही विशेष बात इस अद्वैत-प्रकरणमें बताने जा रहे हैं।

चार्वाक मानते हैं–'कार्यभाव ही सत्य है, कारणभाव सत्य नहीं है।'

बौद्ध कार्य-कारण दोनोंको मिथ्या मानते हैं; परन्तु वे अधिष्ठानको स्वीकर नहीं करते।

वैष्णव जितने हैं, वे कार्य-कारणकी एकता मानते हैं। वैष्णव, शैव, शाक्त सौर, गाणपत्य जितने हैं, वे सब कहते हैं कि ईश्वर ही जीव बना है और ईश्वर ही सृष्टि बना है।

अहं च इदं च सर्वं वासुदेव एव।

कार्यावस्थामें भी ये अपने कारणसे अभिन्न ही हैं। ये सब उपासक—वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य परमेश्वरको अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं वही बनानेवाला और वही बननेवाला। वे कारणत्वको सत्य मानते हैं।

अद्वैतवेदान्ती परमात्माका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नहीं, 'विवर्तो-अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं। माने कार्यकारणभाव परमात्माके साथ वास्तविक नहीं है। 'कार्य-कारणभाव अद्वय-तत्त्वकी सिद्धिके लिए अध्यारोपित है। इसका अपवाद करना भी आवश्यक है। देश-काल-वस्तुसे शून्य, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अनन्त चैतन्य अधिष्ठानमें यह कार्य-कारणभाव अध्यारोपित है और वही वस्तुतः परमार्थ है और वही आत्म-सत्य है।



: २ :

भेद-दर्शन कार्पण्य है

अच्छा तो आओ अब अद्वैत-प्रकरणकी कारिकाओंका विचार प्रारम्भ करें।

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः॥ १॥

अर्थ—"उपासनाको मोक्षका साधन स्वीकार करनेवाला जीव वर्तमानमें तो कार्य-ब्रह्ममें वर्तता है और मानता है कि उत्पत्तिके पूर्व जैसे सृष्टि और स्वयं वह अज-ब्रह्मसे एक था वैसे ही उपासनाके बलसे शरीरपातके पश्चात् भी अज-ब्रह्मसे एक हो जायेगा। ऐसे भेददर्शी व्यक्तिको कृपण—दीन, क्षुद्र कहा जाता है।"

वेदमें जिसकी निन्दा करनी होती है उनको 'कृपण' कहते हैं। लोकमें भी जिसकी निन्दा करनी होती है तो उसके लिए कहते हैं कि अमुक बड़ा कृपण है सूम है, मक्खी-चूस है। लोक में 'कृपण' उसको बोलते है जिसे कमाना तो आवे परन्तु खर्चना न आवे। जिसको अर्थागमकी प्रक्रिया तो मालूम हो, पर अर्थ-वितरणकी प्रक्रिया मालूम न हो, उस अधूरे अर्थशास्त्रीको 'कृपण' बोलते हैं। बढ़े-बढ़े-बढे ! अरे ! निकालनेका भी ढंग रखना चाहिए।

कानपुरमें एक बनावटी तालाब (समुद्र जैसा) बनाया है। बहुत बड़ा और रंगीन पानी रहता है उसमें। उसमें एक ऐसी मशीन लगायी है कि—उसके चलने पर समुद्रकी तरह बड़े-बड़े ज्वार उठते हैं। उसमें लोग नहाते हैं। जब चाहे उसे भर लेते हैं। परंतु जरूरत पड़े तो एक मिनटके भीतर उसे खाली भी कर सकते हैं। उसकी तलमें ऐसी चीज़ लगी हुई है कि आदमी डूबे तो उसके भीतर न जाय बल्कि पानी सारा-का-सारा उसके भीतर चला जाय।

लानेका मार्ग मालूम हो जाय, तो उसको निकालनेका मार्ग भी मालूम होना चाहिए। लाभ तो होवे परंतु वितरण न होवे, दान न होवे तो वह धन बटोरने वालेको ही ले डूबता है—यह पैसेका सिद्धान्त है। उसे लोकमें अर्थ-कृपण बोलते हैं। कल्पना कर ली कि 'यह मेरा है।' कल्पना तो कर ली कि 'यह मेरा है', उस दुकानसे इस दुकानमें आ गया, मेरा है', लेकिन जैसे उस दुकानमें-से आकर मेरा बना था, वैसे ही मेरी दुकानसे जाकर उसका भी बन

जाय। यह जो धनका स्वभाव है, इसको अस्वीकार कर देना, इसीका नाम कार्पण्य है।

उपनिषद्‌में पारमार्थिक कृपणताका निरूपण है। उसकी निन्दा है—

यो वै गार्गी एतदक्षरमविदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः।

(बृहद० ३।८।१०)

जब जनककी सभामें गार्गीने प्रश्न किया—'कृपण कौन है?' तो याज्ञवल्क्य बोले—कृपण वह है जो अपने साक्षात् अविनाशी आत्माको न जानकर मर जाय'। अर्थात् आत्मज्ञानके बिना मरना, यही कृपणताका लक्षण है।

आखिर इस जीवनमें अपने अविनाशी आत्मा—परमात्माको क्यों नहीं जाना? इसलिए कि संसारके विषय भोगोंको, विषयोंको उनके सम्बन्धको और उनके अभिमानको वह छोड़ नहीं सका। असलमें विषय किसीके नहीं होते। खाना-पीना तो सबका चलता है। सम्बन्ध और अभिमान—'यह मेरा है' ऐसा सम्बन्ध और उसमें मैं-पना—'इन वाला मैं'! यही सम्बन्ध है तो वह जीवनमुक्त क्यों नहीं हुआ? इसलिए कि पकड़कर बैठा था। कृपणः। इस कार्पण्यने कृपाणका काम किया। उसे परमार्थसे काट दिया और इसीलिए उस पर ईश्वरकी कृपा भी नहीं हुई।

कृपण तो सर्वथा ही निन्दनीय है। जिसने मनुष्य जीवन प्राप्त करके, सत्यको पहचाननेकी सामग्री होते हुए भी, सत्यको नहीं पहचाना उसका महाविनाश है।

कई लोगोंके चित्तमें 'उपासना' शब्दसे बड़ा मोह है, बड़ा प्रेम है। उप= पास और आस=बैठना, किसीके पास बैठना। बहुत-से लोग अपने घरमें नहीं बैठते हैं, दूसरेके घरमें जाकर बैठते हैं। यह भी उपासना है। बहुत-से लोग ऐसे भी हैं जो दूसरोंके घरमें जाते तो नहीं हैं, पर दूसरोंको अपने घर बुला लेते हैं। यह भी उपासना है। दोनोंमें कंपनी चाहिए न! 'भाई मनुष्य तो सामाजिक प्राणी है। यह अकेला कैसे रहे? कुछ-न-कुछ सहारा तो चाहिए!

अच्छा, अब एक तीसरा आदमी है जो ठौर-ठौर भटकता फिरता है। लेकिन एक चौथा भी है, जो इतना स्वस्थ है कि एकान्तमें भी अपना जीवन व्यतीत कर सकता है।

जगह-जगह बैठनेमें पामरपन है। दूसरेके घर जाकर बैठनेमें हीनता है। अपने घर बुलाके बैठानेमें पराधीनता है। जीवन तो ऐसा निर्द्वन्द्व चाहिए कि चाहे कोई आवे, चाहे किसीके घर जाना पड़े, घूमना पड़े, चाहे शान्तिसे बैठना

पड़े। कभी एकान्तमें रहना पड़े रह लें और कभी लोगोंके बीचमें रहना पड़े तो रह लें; परन्तु सदैव स्वस्थ रहें। निर्द्वन्द्व-जीवनको ऐसी उन्मुक्त स्थिति होनी चाहिए।

उपनिषद्में यह बात लिखी है कि—

यद् वाचाऽभ्युदितं येन वागभ्युपपद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।

के. उ. १.४

जिसको तुम अपने पास बुलाकर बैठाते हो, वह ब्रह्म नहीं है और जिसके पास तुम जाकर बैठते हो, वह भी ब्रह्म नहीं है। जिसके लिए भटकते हो, वह भी ब्रह्म नहीं है। तुम्हारा निर्द्वन्द्व आत्मा है ब्रह्म—हर हालतमें एक सरीखा। जिसके ऊपर तुम अपना हाथ रख देते हो, वह अमृत हो जाता है। इधर-उधर क्यों भटकते हो?

उपासनाश्रितो धर्मः—बौद्ध आम्नायमें जीवके लिए 'धर्म' शब्दका प्रयोग होता है। गौड़पादाचार्यने भी यहाँ जीवके लिए 'धर्म' शब्दका प्रयोग किया है। यह धर्म क्या हुआ? धारणात् धर्मः। जो यह हाथ-पाँव-नाक-कान जीभमें समन्वय रखे; जो जीभ और पेट दोनोंमें समन्वय रखे, जो कान और वाक् में समन्वय रखे; जो धारण करे, माने समन्वय रखे, उसका नाम जीव।

जीभके पीछे चले गये तो पेट खराब हो गया। कानके पीछे चले गये तो दूसरेकी निन्दा सुनकर आये और बकने लगे। कानके पीछे गये तो जबान खराब हो गयी। आँखके पीछे गये तो पैर गलत जगहपर पहुँच गये। तो जो इस शरीरमें रहकर शरीरको धारण करता है, विचार करके बोलता है, विचार करके भोग करता है, विचार करके संग्रह करता है, यह जो विचारोंका नियन्ता है, वह धर्म है—'धारणात् धर्मः'—वह जीव है।

यह जीव उपासनाका आश्रय लेता है, यह सोच करके कि यह सृष्टि नहीं थी तब अद्वैत ब्रह्म था और जब यह सृष्टि नहीं रहेगी तब अद्वैत ब्रह्म रहेगा। परन्तु इस समय?

जाते ब्रह्मणि वर्तते—इदानीं तु ब्रह्मणि वर्तते।

इस समय तो हम उत्पन्न हुई सृष्टिमें बरत रहे हैं, तो शुद्ध ब्रह्म कहाँ मिलेगा? आओ, उपासना करें। उपासना करेंगे तो सृष्टिके पूर्व जो अजन्मा ब्रह्म था और सृष्टिके बाद जो अजन्मा ब्रह्म रहेगा, उसे हम उपासनाके द्वारा प्राप्त करेंगे, ऐसा निश्चय करके जो जीव बैठ गया, उसे बोलते हैं 'कृपण'।

उसे 'कृपण' क्यों बोलते हैं ? कि जो कारण-अवस्थामें अद्वितीय ब्रह्म था और जो कारण-अवस्थामें अद्वितीय ब्रह्म रहेगा; अभी तो कार्यावस्थामें ब्रह्म नहीं है। कारणावस्थामें जाकर मैं ब्रह्मसे अभिन्न होऊँगा या ब्रह्मको प्राप्त करूँगा—ऐसा सोचनेसे मानो उस उपासकने अपने पाँव पर ही जैसे कुल्हाड़ी मार दी। कैसे मार दी ? कि सृष्टि दशामें तो ब्रह्म मानो है ही नहीं। अर्थात् उसने अपनी जीवनदशामें ब्रह्मका बहिष्कार कर दिया। उसका प्रीतम तो वहीं था, उसके पीछे खड़ा था और वह सोच रहा है कि उसका प्रीतम पैरिस चला गया। तो दिलमें दुःख होगा कि नहीं !

जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-ब-दर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमन को इंतजारी क्या ?
हमन को बेकरारी क्या।

जो लोग यह समझते हैं कि सृष्टि उत्पन्न होनेके पहले अजन्मा ब्रह्म था और सृष्टि न रहनेके बाद अजन्मा ब्रह्म रहेगा और हम उसके लिए प्यासे रहेंगे, रोते रहेंगे, आँसू बहाते रहेंगे, उसकी याद कर-करके जलते रहेंगे, तब क्या मरनेके बाद ब्रह्म मिलेगा ? असलमें वे अपने अन्तःकरणको, इन्द्रियोंको, भोगोंको छोड़नेमें असमर्थ हैं, वैराग्यहीन हैं, दुनियाको पकड़करके बैठे हुए कृपण लोग हैं। इसीसे उनको कृपण कहते हैं। श्रुतिने कहा—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केन. १.५)

'मनसे जिसका मनन नहीं हो सकता, जो मनको प्रकाशित करता है, उसीको तुम ब्रह्म जानो। मन और इन्द्रियोंके द्वारा जिसकी तुम उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है।

एक मनके सामने है और एक मनके पीछे है। वह मनपर रोशनी फेंकता है और मन प्रकाशित होता है। आपने देखा होगा, सड़क परसे मोटर गुजरती है, उसकी रोशनी घरमें शीशे पर पड़ती है तो घरमें उजाला हो जाता है। बोले—'अरे, शीशेमें-से उजाला आया और घरमें उजाला हो गया !' अरे, नहीं ! शीशेमें-से उजाला नहीं आया। घर अलग है और रोशनी अलग है। वह शीशेमें-से नहीं आयी। मन तो शीशेकी तरह है, इस शीशे पर भीतरसे किसीकी रोशनी पड़ रही है, तब यह मन दुनियाको देख रहा है। मनसे जो देखा जाता है, उसका नाम ब्रह्म नहीं, जिसकी वजहसे मन देखता है, वह ब्रह्म है।

'मनसो मनः' (केन० १.२)। वह मनका मन है। जिसको तुम मनके सामने बैठा करके उपासना कर रहे हो, वह ब्रह्म नहीं है। जो मनके सामने है, उसे जब छोड़ नहीं पाते, तो क्या हुआ कि कृपण हो गये।

उपास्य और उपासना आदि जितना भी भेद है, वितथ है। केवल आत्मा अद्वय परमार्थ है। यह बात पहले सिद्ध करके बताते हैं, क्योंकि उपासना-आश्रित जो धर्म है, जोव है, माने जिसने उपासनाका आश्रय लिया कि 'हमको इससे मोक्ष मिलेगा' वह जीव कृपण है।

उपनिषद्-वचन कि 'जिसकी तुम उपासना करते हो, वह तो ब्रह्म ही नहीं है'—इसके संदर्भमें श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज, चैतन्य महाप्रभुजी महाराज, निम्बार्काचार्यजी महाराज, हितहरिवंशजी महाराज, हरिदासजी, ये जो वृन्दावनी सन्त हैं, वे कहते हैं—'हम उपासना थोड़े ही करते हैं ? उपासना तो छोटी चीज है ! हम तो भक्ति करते हैं, प्रेम करते हैं।'

किसीके पास जाकर बैठना, उपासना करना, यह दूसरी चीज है। कोई बड़ा आदमी हो तो उसके पास जाकर बैठनेका काम बहुत-से स्वार्थी लोग करते हैं। उसके पास बैठनेवाले क्या उसके भक्त हैं, क्या उसके प्रेमी हैं ? तो प्रेमीका बैठना दूसरा है, सेवकका बैठना दूसरा है और स्वार्थी लोगोंका बैठना दूसरा है।

ये जो उपासक हैं, जिन उपासकोंकी निन्दा यहाँ की गयी है उनके सम्बन्धमें श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज, चैतन्य महाप्रभुजी कहते हैं—'यह हम प्रेमी भक्तोंकी निन्दा नहीं है, पर उपासना-मात्रकी निन्दा है उपासकों की निन्दा है।' इस प्रकार ये अपनेको अलग कर लेते हैं; क्योंकि उपनिषद् तो उनको भी माननी पड़ती है।

प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं—यह मानना 'कि सृष्टिके पहले ईश्वर शुद्ध था और प्रलयके बाद ईश्वर शुद्ध रहेगा और सृष्टि-कालमें ईश्वर अशुद्ध है अतः प्रलय-कालमें हमें ईश्वरकी प्राप्ति अभीष्ट है, अन्तःकरण रहते नहीं, अन्तःकरणके मर जाने पर ईश्वर मिलेगा'—यह बात स्वयं अशुद्ध है।

ईश्वरको मुर्दाकी-सी हालतमें कर देना, यह बुद्धिमान् पुरुषोंका काम नहीं है। बुद्धिमान पुरुषोंका काम तो यह है कि अभी, सृष्टि-प्रतीति कालमें ही और यहीं, सृष्टि-देशमें ही और इसी वस्तुमें माने जो सृष्टिके रूपमें भास रही है उसीमें ईश्वर है। जैसे मिथ्या-प्रतीयमान सर्पमें-से रज्जु निकाल ली जाय तो सर्प नहीं रहेगा, रज्जु ही रज्जु रहेगी; इसीप्रकार इस प्रतीयमान सृष्टिमें जो अर्थका साधन रूप है, उसको जो जान ले, सो ही सच्चा ज्ञानी है।



: ३ :

अकार्पण्यकी प्रतिज्ञा

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजातिं समतां गतम् ।
यथा न जायते किंचिज्जायमानं समन्ततः ॥२॥

अर्थ--'अतः अब मैं अकार्पण्यका वर्णन करता हूँ जो अजाति है, समताको प्राप्त है। सब ओर उत्पन्न-सा होनेपर भी कुछ उत्पन्न नहीं होता-(ऐसा मैं समझाऊँगा)।

मोक्ष-साधनके लिए एक दो बात ध्यानमें रखने लायक है। कोई-कोई कहते हैं, 'हम धर्म करेंगे, हम नित्यकर्म करेंगे, निष्काम कर्म करेंगे और अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा। शुद्ध अन्तःकरणमें जो आत्मा है, वह तो मुक्त ही है।' परन्तु आत्माका बोध तो होना ही चाहिए कि वह मुक्त है, ब्रह्म है, नहीं तो निष्फल हो जायेगी अन्तःकरणकी शुद्धि।

कोई कहते हैं कि 'हमने ध्यानसे या उपासनासे तदाकार-वृत्ति कर ली लो हो गया मोक्ष !' तो उपासनासे, ध्यानसे, तदाकार-वृत्ति हो गयी, स्थिति हो गयी लेकिन 'यही मैं ब्रह्म हूँ'—यह बोध नहीं होगा, उपासनाका वेग शान्त होने पर वहाँसे हटना पड़ जायगा।

योगी बोले-'देखो, अब तो हम द्रष्टा-कैवल्य हैं। केवल द्रष्टा ! चित्तवृत्तिका निरोध करके अपनेको द्रष्टा बना लिया।' बना तो लिया द्रष्टा, लेकिन दूसरा द्रष्टा है, और सृष्टिकी कारण-प्रकृतिका संचालन करनेवाला ईश्वर है— ये दोनों बात तुम्हारी बुद्धिमें बैठी हुई है। जब तुम्हारी समाधि टूटेगी और तुम जागोगे तथा सृष्टिका सत्यत्व और द्रष्टाका अनेकत्व, ईश्वरका अन्यत्व तुम्हारी बुद्धिमें आ जायगा।

इसलिए न योगसे मोक्ष होगा, न उपासनासे मोक्ष होगा, न धर्मसे मोक्ष होगा। अन्तमें अपने आपको ब्रह्म जानना ही पड़ेगा। असल में, ब्रह्म जानना और उससे अविद्याकी निवृत्ति होना ही मोक्ष है।

देखो, ज्ञानसे मोक्ष पैदा होता है कि पहले रहा हुआ मोक्ष मालूम पड़ता है। ज्ञानसे कोई चीज पैदा नहीं होती। आजकल विज्ञानसे खोज करते हैं, यन्त्र

से खोज करते हैं, तो किसी-न-किसी धातुका पता चलता रहता है। जानते ही हैं सब लोग, 'यूरेनियम' निकल आया। विज्ञानसे जो पता चला कि इस नामकी एक धातु है, वह पहलेसे मौजूद थी, अब तक मालूम नहीं थी, ज्ञानसे धातु पैदा नहीं हुई, पहलेसे मौजूद धातुका पता चला।

आपने रोशनी डाली अपनी तिजोरीमें और उसमें-से एक हीरा निकल आया। तो यह जो आत्माका नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है, यह ज्ञानसे पैदा नहीं होता, पहले-से वैसा मौजूद है ही। यह तो अज्ञानान्धकारके कारण मालूम नहीं पड़नेसे मुक्तिका आनन्द भी नहीं मिलता। हमारे घरमें हीरा है, पर इसका सुख नहीं मिलता।

यदि साधनसे मोक्ष पैदा होता हो, वह नष्ट होगा। कर्ताके अधीन जो कर्म है, कर्ताके अधीन जो उपासना है, कर्ताके अधीन जो योग है, उससे आत्माकी मुक्ति उत्पन्न नहीं होती। बल्कि, इनके फलस्वरूप अन्तःकरण शुद्ध हो करके महावाक्यसे आत्माके स्वरूपका जब ज्ञान होता है, तब पहलेसे विद्यमान मुक्तिका पता चल जाता है।

तो बोले—'जब मुक्ति साधनसे उत्पन्न होती नहीं, तो साधन क्यों करें? और यदि मुक्ति साधनसे मिलती है तो वह तो नाशवान होगी, नष्ट हो जानेवाली होगी। ऐसी मुक्तिके लिए साधन क्यों करें?' दोनों हालतमें साधन पर आक्षेप आता है। साधनसे मुक्ति मिले तो अनित्य और साधनसे मुक्ति न मिले तो साधन बेकार। इसको यों समझो कि साधन जो होता है, वह ज्ञान होनेमें जो प्रतिबन्ध है, उस प्रतिबन्धके निवारणके लिए होता है। अतः साधन करना बेकार नहीं है।

विषयासक्तिके कारण, भोगासक्तिके कारण, कामासक्तिके कारण, इन्द्रिया-सक्तिके कारण, अन्तःकरणासक्तिके कारण, कर्तृत्वासक्तिके कारण तुम एक छोटे घेरेमें ऐसे बँध गये हो कि असीम वस्तु पर, अद्वय वस्तु पर तुम्हारी दृष्टि पहुँचती नहीं। देखने चलते हो ब्रह्म और बीचमें आ खड़ी हो जाती है घर-वाली, नाकके सामने, तो अब ब्रह्म कहाँ दीखेगा? नाकके सामने तो घरवाली है, घरवाला है, नाकके सामने तो पैसा है। एक नया पैसा आकर दोनों आँखोंके सामने बीचमें अटक गया! अब ब्रह्म कहाँसे दीखे?

यह जो साधन है, वह पैसा हटानेके लिए है। वह ज्ञानसे नहीं हटेगा। यह जो पैसा है, यह जो संसारासक्ति है, वह ज्ञानसे मालूम पड़ेगी, पर हटेगी नहीं। साधन करके संसारासक्तिको जब हटा देते हैं, ज्ञान और वस्तुके बीचमें

विषयासक्तिरूप प्रतिवन्ध नहीं रहता है, तो ज्ञान जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभावरूप ब्रह्म है, उसे जना देता है और अविद्या निवृत्त हो जाती है।

तुम मुक्त तो पहलेसे ही हो, बद्धपनेका जो भ्रम है, अविद्या हैं उसे ज्ञान मिटा देता है।

तो आओ, अब वह बात वर्णन करते हैं--'अकार्पण्यम्'। जिसमें कृपणता बिलकुल न हो।

'अतः' माने इसलिए। 'अतः' शब्द कारणका भी वाचक होता है और प्रयोजनका भी वाचक होता है। कारण और प्रयोजनमें अन्तर होता है। इन्होंने कहा, 'इनकी आज्ञा मानकर, इनकी प्रेरणासे मैं यह काम करने जा रहा हूँ।' यह कारण हो गया। और अतः प्रयोजनात्—इससे धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी प्राप्ति होती है यह प्रयोजन हो गया। यहाँ 'अतः' शब्दका अर्थ क्या है?

जो मन्द-मध्यम अधिकारी होते हैं, वह मुक्तिके लिए कर्ताके द्वारा किये जानेवाले किसी साधनका आश्रय लेते हैं--'हम यह धर्म करेंगे, 'हम यह कर्म करेंगे', 'हम यह योग करेंगे', 'हम निर्वासिन होंगे,' 'हम यह उपासना करेंगे,' तब हमको मोक्षकी प्राप्ति होगी।' तो जितने भी कर्तव्य होते हैं, वे कर्तृत्वपूर्वक सम्पन्न होते हैं।

'मैं कर्ता हूँ', 'मैं धर्मका कर्ता हूँ', 'मैं उपासनाका कर्ता हूँ', 'मैं योगका कर्ता हूँ', यह भगवान करा रहे हैं—ऐसे विश्वासका भी मैं कर्ता होता हूँ।' कर्तृत्वपूर्वक जो साधन होगा, वह परिच्छिन्नत्व होकर ही काम करेगा। फिर कर्ताको करणकी अपेक्षा होती है और कर्ताके द्वारा किये हुए कर्मका जो फल होता है, वह सीमित और नाशवान् होता है। तो कर्मका फल नाशवान् होता है, कर्म करनेमें करणकी परतन्त्रता होती है, कर्ता अपने परिच्छिन्नत्वसे कभी मुक्त हो नहीं सकता और कर्ताको भोक्ता होना ही पड़ता है। इसलिए कर्ताके द्वारा किया हुआ कर्मरूप साधन, जो स्वभाव-सिद्ध मुक्ति है, उसके आवरणको भंग करनेमें समर्थ नहीं है।

ज्ञानसे आवरण-भंग होता है। जो पर्दा है, जो अन्धकार है, वह प्रकाशसे हटता है। अन्धकार कर्मसे नहीं हटता, अन्धकारका हाथ जोड़नेसे नहीं हटता, अन्धकार तो प्रकाशसे ही हटता है। यह नियम है। जैसे अन्धकार प्रकाशसे मिटता है, वैसे अज्ञान, अज्ञानकृत भ्रान्ति, आवरण यह तत्त्वनज्ञासे ही भंग होते हैं, यह उनका नियम है।

स्वामी रामतीर्थने लिखा कि 'एक महात्मा पर्वतकी यात्रा कर रहे थे। यात्रा करते-करते उन्होंने देखा कि एक कोई स्थान है, वहाँ पर्वतकी बहुत बड़ी

गुफा है! गुफाके सामने बैठकर कुछ लोग देवतासे प्रार्थना कर रहे थे, कुछ लोग जप कर रहे थे, कुछ लोग पाठ कर रहे थे। तो महात्माने पूछा—'तुम लोग गुफाके सामने बैठ करके क्या कर रहे हो ?

लोगोंने बताया—'यह जो गुफा है, उसमें भूत-प्रेत-पिशाच रहते हैं। कोई जानवर या आदमी गुफामें चला जाता है तो उसको वे खा जाते हैं। इसलिए कोई जप करके, कोई होम करके, कोई पाठ करके, कोई प्रार्थना करके उन भूत-प्रेतोंसे कह रहे हैं कि तुम लोग हमारे आदमियोंको मत खाया करो।'

महात्माने कहा—'यह युक्ति भूत-प्रेतोंको प्रसन्न करनेकी नहीं है। हम युक्ति बताते हैं सो करो तो फिर वे कभी तुम्हारे आदमीको नहीं खायेंगे।' क्या करें महाराज ?'

'बहुत-सी लकड़ी इकट्ठी करो, बडी-बड़ी मशालें बनाओ। भाले मँगाओ, बर्छी मँगाओ, बन्दूक मँगाओ, आग जलाते चलो। हाथमें मशाल लेकर अन्धकारमें घुसते चलो। इस गुफा में ढूढेंगे, कहाँ रहते हैं वे भूत-प्रेत ?'

जब प्रकाश हुआ तो कहीं चमगादड़ थे, कहीं साँप थे, कहीं बिच्छू थे। भेड़िये निकल आये, शेर निकल आया। वे ही उन आदमियोंको खा जाया करते थे, जो उसमें जाते थे। कोई भूत-प्रेत नहीं था। प्रकाश हुआ, मशाल लेकर घुसे तो वह अन्धकार फटता चला गया, हटता चला गया। उन्होंने चप्पा-चप्पा गुफाका दिखा दिया कि इसमें कोई भूत-प्रेत नहीं है। यह तो अन्धकार है।

प्रकाशके बिना जो अन्धकार है, वह कोई तत्त्व नहीं होता। उसका वजन नहीं होता। देशके साथ भी उसका सम्बन्ध नहीं है, कालके साथ भी उसका सम्बन्ध नहीं है। वस्तुके साथ भी उसका सम्बन्ध नहीं है। द्रष्टाके साथ भी उसका सम्बन्ध नहीं है। अधिष्ठानके साथ भी उसका सम्बन्ध नहीं है। अन्धकार किसीका समवायी नहीं है। वह तो प्रकाश हुआ और अन्धकार मिट गया।

यह जो अपने आप बन्धनकी कल्पना है कि 'मैं बँधा हुआ हूँ', आत्मा के साथ उसका कोई सम्बन्ध है ही नहीं। केवल अज्ञानकृत आवरणसे ही मनुष्य यह मानता है कि 'मैं बँधा हुआ हूँ। अज्ञान आत्माको नहीं है। अज्ञान ब्रह्मको नहीं है। अज्ञान आत्मा और ब्रह्मकी एकताको नहीं है। यह जो बुद्धिमान मनुष्य है, उसको है अज्ञान। समझमें जो गलती है, उस गलतीको ही अज्ञान कहते हैं।

इसमें दो पक्ष हैं। एक—अध्यासमात्रको जगत्का कारण माननेवाले और एक—अविद्याको जगत्का कारण माननेवाले। अध्यास तो अन्तःकरणकी एक

वृत्ति, एक भूल है। अविद्या उसको कहते हैं जो वृत्ति नहीं, अन्तःकरणका भी कारण है। उसके अविद्या, मूलाविद्या, तूलाविद्या, कार्याविद्या, कारणाविद्या—ऐसे कई भेद करते हैं। मुख्य बात यह है कि अज्ञानान्धकार ज्ञान प्रकाशसे स्वरूपज्ञानके प्रकाशसे ही मिटनेवाला है (अन्यथा नहीं)।

कौन-सा काम करूँ तो मैं मुक्त हो जाऊँगा ? यदि पापसे मुक्त होना हो तो हम बता सकते हैं कि तुम अमुक प्रायश्चित कर्म करो तो तुम पापसे मुक्त हो जाओगे। यदि तुम्हें विक्षेपसे मुक्त होना हो तो हम बता सकते हैं कि इस प्रकार से समाधि लगाओ। यदि तुम्हें विविध वासनासे मुक्त होना हो तो हम बता सकते हैं कि तुम इस प्रकार ईश्वरका ध्यान करो। लेकिन यदि मूलाविद्यासे मुक्त होना हो, अन्धकारको ही मिटाना हो, तो वह किसी कर्ताके किसी भी प्रयत्नके द्वारा, (शारीरिक प्रयत्न तो कर्म है, मानसिक प्रयत्न उपासना है, बौद्धिक प्रयत्न विचार है) निवृत्त होनेवाला नहीं है।

यहाँ तक कि विचार भी जिस अन्तःकरणमें उदय होता है, उसका विवर्तक नहीं होता। यह आश्चर्यकी बात है।'

जो सत्सम्प्रदायसे वेदान्तका विचार करते हैं उन्हें छोड़कर दूसरे वेदान्ती लोग इस बातको नहीं समझ सकते। विचारसे, उसे अन्तःकरणकी, जिसमें विचार होता है, निवृत्ति नहीं हो सकती। यह तो 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य ही ऐसे हैं, जो अधिष्ठानके याथात्म्यका बोध करा करा के न केवल विचार और विचारकको, बल्कि उस अन्तःकरणको ही बाधित कर देते हैं, जिसमें विचार होता है। तो यह वह बात तुम्हें सुनायी कि आवरण-भंग करनेके लिए, अज्ञान-अन्धकार मिटानेके लिए तत्त्वज्ञानकी आवश्यकता है। इसके बिना मनुष्य कृपण है, कार्पण्यसे ग्रस्त है।

त्यागकी उदारता होती है तत्त्वज्ञानमें—सब छोड़ दिया, नामरूपात्मक सम्पूर्ण प्रपंच, ब्रह्मलोक पर्यन्तका परित्याग कर दिया। इसीसे कहते हैं कि यह कृपण नहीं है। जो त्यागनेसे डरे, उसका नाम कृपण। त्यागमें जिसको भय हो वह कृपण और यह कार्पण्य जो है, मनुष्यके स्वभावको उपहत कर देता है। गीता में बताया—

कार्पण्यदोषोपहतः स्वभावः। (गीता २.७)

जब मनुष्य कृपण हो जाता है तो वह अपने सहज स्वभावको भूल जाता है। आत्माका सहज स्वभाव है नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ! सत्स्वभाव है परिपूर्ण, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन। लेकिन जब यह किसी दृश्य वस्तुको पकड़ लेता

है और प्रयत्नका कर्ता बनकर किसी प्रयत्नसाध्य वस्तुको चाहने लगता है, तो इसका जो स्वभाव है, वह उपहत हो जाता है, माने प्रतिबद्ध हो जाता है। अर्थात् वैसा स्वभाव होनेपर भी मालूम नहीं पड़ता है। है वैसा ही, पर मालूम नहीं पड़ता है। मालूम न पड़े तो मजा भी नहीं आता। आपका दोस्त आपके पीछे खड़ा हो और आपको मालूम न हो तो मिलनेका मजा आवेगा? आपके घरमें करोड़ रुपये पड़े हों और आपको मालूम न हो तो क्या करोड़पति होने का मजा आवेगा? आपके सामने भगवान् खड़े हों और आप पहचाने नहीं, तो भगवान्के दर्शनका मजा आवेगा! यह तो ज्ञानकी महिमा है। संसारमें जो भी वस्तु है, जो भी व्यक्ति है, जो भी आनन्द है, जो भी उन्नति है, वह ज्ञात हो करके ही चरितार्थ होती है। अज्ञातदशामें तो कुछ चरितार्थ नहीं ही होता। इसलिए आओ,

अतो वक्ष्यामि अकार्पण्यम्।

आप देखो, यही भेद है ज्ञानके और प्रयत्नके स्वरूप और हेतुमें। प्रयत्न जो होता है, वह करण-परतन्त्र है। उसके लिए करण, औजार चाहिए--हाथ जीभ, पाँव, मशीन चाहिए और यह अप्राप्तकी प्राप्तिके लिए किया जाता है। प्रयत्नका नियम ही यह है कि अप्राप्तकी प्राप्तिके लिए किया जाता है–जो चीज अभी नहीं बनी है, उसे बनानेके लिए प्रयत्नकी जरूरत है। प्रयत्नसे जो बनता है, वह विनाशी होता है और बनानेवाला कर्ता होता है।

ज्ञानसे जो वस्तु प्राप्त होती है, खास करके आत्मज्ञान, पहलेसे प्राप्त होती है। ज्ञान अपना स्वरूप है, उसे पाना नहीं है। उसकी अप्राप्तिके भ्रमको ही दूर करना है। नित्यप्राप्तमें जो अप्राप्तिका भ्रम हो गया है, उस भ्रमको निवृत्त करना है। इसमें आँख-कान-नाक आदि करणकी अपेक्षा नहीं है। इसमें फलरूपसे अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं है। इसमें नित्यनिवृत्ताकी निवृत्ति जानी जाती है। इसमें नित्यप्राप्तकी प्राप्ति जानी जाती है। ज्ञान निर्माता नहीं है। ज्ञान निर्माणविभागका कर्मचारी नहीं है, ज्ञान प्रमाण-विभागका अधिपति है।

यह जो निर्माण विभाग है, वह आधिभौतिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है, आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण नहीं है। जिनकी रुचि आध्यात्मिक विभागमें नहीं है, वे कहते हैं—'कितनी बड़ी उन्नति? इतना बड़ा मकान बनाकर उसमें रहते हैं!' तो उनकी भोगमें रुचि है या कर्ममें रुचि है। और आध्यात्मिक उन्नतिवाले जो हैं उसके लिए जहाँ हैं, जैसे हैं, जो हैं उसमें मजा-ही-मजा है। मजा मकान नहीं है। वह रणमें रहे, वनमें रहे, जंगलमें रहे, दंगलमें रहे जहाँ रहे वहाँ मंगल-ही-मंगल है।

अब हम 'अकार्पण्यम्'का वर्णन करते हैं। अकार्पण्य माने त्याग। आप जानते हैं, ऐसे-ऐसे महापुरुषोंका वर्णन है, जिन्होंने अपना शरीर दे दिया। एक राजाका वर्णन आता है—'उसने अपने बेटेके शरीरपर आरा चलाकर उसका दान किया।' एक राजाका वर्णन आता है—'उसने कबूतरके लिए अपने शरीरका माँस दे दिया।' एक राजाका वर्णन आता है—'उसने सपनेमें दान किया तो जाग्रतमें भी दान कर दिया।'

'अकार्पण्य'का अर्थ तो यहाँ तक होता है कि अन्तःकरणको भी छोड़ देना, अपनी परिच्छिन्नताको भी छोड़ देना। भगवानसे कहना कि अगर यह अन्तःकरण तुम्हारे कामका है, तुम्हारा है, तो अपने काममें लगाओ। हमारा नहीं है। हमारे कामका नहीं है। हमें न इसके द्वारा कोई भोग भोगना है, न इसके द्वारा कोई कर्म करना है, न इसके द्वारा कोई फल लेना है। यह न मैं न मेरा है। यह तो मुझमें झूठा ही भास रहा है। यदि आपके कामका है तो अपने काममें लगाओ। नहीं तो इसे छोड़ दो। हमारा तो छूट गया।

अकार्पण्य माने उदार। उदार=उत्+आ+र। है। उत्-ऊर्ध्वं शक्तये आसमन्तात् सर्वं राति—जो अपनी शक्तिसे बाहर सब कुछ दे देता है वह उदार है। अपनी शक्तिके भीतर दे तो उदार नहीं, शक्तिके बाहर दे तो उदार। तो यह उदारता क्या है? कि अकार्पण्य है।

अकार्पण्य = अकृपण-सिद्धान्त। इसमें कुछ मैं नहीं, कुछ मेरा नहीं। आप लोग 'हवन'में कभी सुनते होंगे।

'इदं इन्द्राय स्वाहा न मम।'

यह मैं इन्द्रके लिए देता हूँ, यह मेरा नहीं है।

तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर?

कृपणता = अज्ञान अतः अकार्पण्य=ज्ञान।

देखो, बच्चेके हाथ में मिठाई हो और माँ भी यदि छीनती हो तो बच्चा मुट्ठी बाँध लेगा। रोने लगेगा और नहीं देगा। तो यह बच्चेकी बेवकूफी है न! माँ तो उसे एक मिठाई नहीं, हजार मिठाई दे सकती है। तो वह दुनियाको पकड़के रखना कृपणता है।

न तो दुनियाको तुम माया समझते हो, न तो दुनियाको तुम ईश्वरकी समझते हो, न तो दुनियाको तुम झूठी समझते हो, न तो दुनियाको तुम ब्रह्म समझते हो। यह जो बद्धमुष्टिता है, वही कृपणता है।

अजाति समतां गतम्– यह अकार्पण्य रूप परमात्मा कैसा है? अजाति है।

अजातिको समझनेके लिए पहले जातिको समझो। मुख्यरूपसे संसारमें जो 'सामान्य' अर्थात् सादृश्य देखनेमें आता है, उसको जाति बोलते हैं।

स्त्री-पुरुष जाति नहीं है। यह तो एक मनुष्य जातिमें ही लिंगभेद है। यह जातिभेद नहीं है। जो जाति स्त्रीकी है, वही जाति पुरुषकी है। शरीरमें चिह्न बने हैं, उन चिह्नोंका भेद है। इन चिह्नोंके भेदके कारण कुछ धर्ममें भी भेद होता है। चिह्न-भेदके कारण पुरुषका शरीर त्याग-प्रधान है और स्त्रीका शरीर ग्रहण-प्रधान है। स्त्रीका शरीर तपः-प्रधान है और पुरुषका शरीर प्रयत्न-प्रधान है। पुरुषका शरीर सूर्य-प्रधान है, स्त्रीका शरीर चन्द्र-प्रधान है। स्त्रीको नौ महीने अपने पेटमें बच्चा रखना पड़ता है और पुरुषको बिलकुल नहीं रखना पड़ता। यह जो प्राकृत भेद है, स्त्री और पुरुषके शरीरमें, इसके कारण कर्तव्यमें भी भेद उपस्थित होता है। यह सनातन धर्मकी बात बतायी। कहीं पुरुषके लिए आपने सुना है कि चन्द्रमाका दर्शन करके पुरुष अर्घ्यदान करे? यह पुरुष-धर्म नहीं है, यह स्त्री-धर्म है। चन्द्रमाको प्रसन्न रखना, यह स्त्री-धर्म है।

प्रातःकाल उठकरके सन्ध्यावन्दन करके सूर्यको अर्घ्य देकर और गायत्री जप करना—यह पुरुष-धर्म है! इसका अर्थ क्या हुआ? यह हुआ कि स्त्री मनः-प्रधान है। इसका 'मूड' जल्दी-जल्दी बिगड़ता है। नाराज मत होना भाई! मनका अधिष्ठातृ देवता चन्द्रमा जो है। लेकिन बुद्धिका प्रेरक सूर्य है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

यदि पुरुषकी बुद्धि बिगड़ जाय, चोर हो जाय, व्यभिचारी हो जाय, तो रोज प्रातः उठकर उसे सूर्यसे प्रार्थना करनी पड़ती है कि हमारी बुद्धिको ठीक रखना। सूर्य तेजस्वी है, प्रभावशाली है, तपता है।

स्त्री आह्लाददायिनी है, जैसे चन्द्रमा आह्लाद देता है। स्त्रीके मुख पर मुस्कान खेलती हुई होनी चाहिए। पुरुषके मुख पर उसका पौरुष, उसका गांभीर्य बना रहना चाहिए। यह तो प्रसंगवश बात कह दी बीच में, यदि थोड़ी कामकी बात न कह दें तो यह जो वेदान्तकी अकामवाली, बेकामवाली कही जानेवाली बात भी छूट जाती है। तो, स्त्री और पुरुषमें लिंगभेद है। शैव और वैष्णवमें संप्रदायभेद है। ब्राह्मण और क्षत्रियमें वर्णभेद है। संन्यासी और गृहस्थमें आश्रमभेद है। जाति तो सामान्य है, सादृश्य है, समान है। स्त्री-प्रसवात्मिका है। आकृतिग्रहणा है। इन सबकी एक मनुष्य जाति है। सबमें मनुष्यत्व सामान्य है।

अब पशुओंमें भी देखो—'गोत्व' एक जाति है। गायमें देखो—एक लाल होती है, एक काली होती है, एक सफेद होती है, एक कपिला होती है, एक धवला होती है। किंतु गोत्व-सामान्य सबमें एक है।

मनुष्य-सामान्य सबमें एक है। आश्व सामान्य सब अश्वोंमें एक है, गजत्व-सामान्य सब हाथियोंमें एक है। गाय जाति है, घोड़ा जाति है। पक्षियोंमें भी देखो--शुकत्व जाति है, हंसत्व जाति है, काकत्व जाति है। पक्षित्व-सामान्य होने पर भी उनमें जाति है--आकृतिग्रहणा है। कोयल एक जाति है।

जाति जो है, वह अनेक व्यक्तिमें अनुगत होती है। देखो, यहाँ सौ मनुष्य हैं, सबकी जाति एक है। सौ स्त्री हैं। तो सौ होने पर भी उनमें जो जाति है, वह एक है। जातिका लक्षण है--

नित्यम्, एकम्, अनेकानुगतम् जातिः।

नित्य होवे, एक होवे, और अनेकमें अनुगत होवे। तो बोले—'भाई! ब्रह्मकी जाति भी इसी 'सामान्य'की दृष्टिसे होगी। कैसे कि जैसे अलग-अलग अनेक व्यक्ति हैं, इनमें जाति रूपसे सत्ता सामान्य रूपसे जो अनुगत है, सो ब्रह्म है। अस्ति-अस्ति - जैसे 'मोहनः अस्ति' 'सोहनः अस्ति'। मोहन है, सोहन है। 'है' दोनोंमें एक है। जब कि--मोहन अलग, सोहन अलग है। अस्तिरूपसे सत्ता दोनोंमें एक है। इसी प्रकार 'मोहनो भाति' 'सोहनो भाति'—दोनोंमें मान एक है। 'मोहनः प्रियः' 'सोहनः प्रियः'—उन दोनोंमें प्रियत्व एक है। उन दोनोंके दो होने पर भी अस्ति-भाति-प्रिय जो है, वह दोनोंमें अनुगत है इसलिए अस्ति-भाति-प्रिय रूप (जाति वाला) अनुगत, ब्रह्म दोनोंमें एक है।

तो कहा--नहीं, यह तो विवेकदशाकी बात है। जो व्यक्तिमें अनुपात होता है, और जो व्यक्तिसे व्यावृत्त है, उस सत्ता सामान्यको ब्रह्म नहीं कहते हैं। ब्रह्म तो उसको कहते हैं, जो प्रतीयमान संपूर्ण द्वैतका अधिष्ठान होने पर भी द्वैतके लेपसे रहित है। जिसमें संपूर्ण द्वैत भास रहा है--स्त्री-पुरुष, मनुष्य-पशु, संपूर्ण भेद, जिसमें भास रहा है, वह ब्रह्म है। परन्तु वह कोई जाति नहीं है, प्राणी नहीं है, प्राण भी नहीं है। वह न अन्वित है और न व्यतिरिक्त। वह न तो घड़ेमें मिट्टीकी तरह किसीमें अन्वित (व्याप्त) है और न घड़ेसे अलग मिट्टीकी तरह किसीसे व्यतिरिक्त (अलग) है। ब्रह्मसे न कुछ जुदा है और न ब्रह्म किसीसे जुदा है। सब है और सबसे न्यारा है। अथवा ब्रह्म है—न न्यारा न प्यारा। वह तो अपना आत्मा ही है। उसमें न्यारा-प्याराकी क्या बात है?

पहले बहुत महीनों तक हम बोलते थे कि आत्मा अजन्मा है, आत्मा नित्य है, आत्मा शाश्वत है, आत्मा पुराण है, आत्मा पूर्ण है, आत्मा ब्रह्म है। यह बात हम बरसों तक बोलते थे, लेकिन 'आत्मा माने मैं' और 'मैं माने आत्मा, अपना आपा'—यह बात समझमें नहीं आती थो। 'आत्मा' शब्दका प्रयोग करते थे, पर बादमें समझे कि हमारी स्वयंताका नाम आत्मा है, हमारे अपना आपाका नाम ही आत्मा है, हमारे खुदका नाम आत्मा है।

यह जो खुदीका मालिक है न, इसे 'खुदा' बोलते हैं। यह 'गिरधर लाल'की खुदी, यह 'माधवजी'की खुदी, यह 'गोविंद भाई'की खुदी--खुदी सबको अलग-अलग है और उसका जो एक मालिक है, उसका नाम 'खुदा' है। खुद उसको कहते हैं जिसमें न खुदी न खुदा, खुद। इसको खुद बोलते हैं।

हम हैं खुद खुदा न वह हमसे जुदा।

तो 'अजाति'का अर्थ है कि जाति रूप जो एकत्व अनेकतामें अनुगत होता है और अनेकतासे व्यावृत्त भी होता है, वह जाति जिसमें नहीं है वह अजाति है।

न जातिर्यस्मिन् तद् अजातिः।

एक दूसरा अर्थ भी अजातिका है—

न जायत इति अजातिः।

जिसका जन्म नहीं होता, उसीको अजाति बोलते हैं—

दो तरहसे चीज उत्पन्न होती है। १—वस्तुतः रूपान्तरको प्राप्त होकर। जैसे, एक बीज था, वह अंकुर बन गया। बीज फूटकर अंकुर बनता है। कारण फूट जाय, तब कार्य बनता है। २—(मायासे) अनन्य रूपमें प्रतीत होकर जैसे सूत कपड़ा बन गया था, रस्सी सर्प बन गयी। अजातिमें दोनों प्रकारकी उत्पत्ति नहीं है।

यह नियम है कि जो चीज पैदा होगी वह फूट जायगी, जो चीज पैदा होगी वह सड़ जायगी, जो चीज पैदा होगी उसकी उम्र बन जायगी। वह कालमें आजायगी, वह देशमें आजायेगी, वह नामरूपमें आजायेगी।

अब मूल वस्तु जो अधिष्ठान है, वह कैसा होना चाहिए ? कि न तो उसमें तत्त्वतः परिणाम होना चाहिए और न मायासे भी उसमें परिवर्तन शक्य होना चाहिए। साथ ही वन्ध्या पुत्रवत् अभावरूप भी नहीं होना चाहिए; क्योंकि—

वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते।

वन्ध्यापुत्रकी उत्पत्ति भी तो न तत्त्वसे होती है और न मायासे। तो फिर

श्रुति जो ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्तिका, वर्णन करती है सो क्या बात है? तो कहा है कि—

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समाश्रुतिः। (मां० का० ३.२३)

सृष्टिका जो वर्णन है, वह प्रतीतिका अनुवाद है, वह मूल तत्त्वका निरूपण नहीं है। यदि कोई विद्वान् भी बोले—'देखो, यह नीला आकाश!' देखो, यह समुद्रका नीला जल!' तो क्या वह विद्वान् समझता नहीं है कि समुद्रका जल नीला नहीं होता और आकाश नीला नहीं होता? वह जानता है कि आकाशमें रंग-रूप नहीं है, और समुद्रका जल नीला नहीं है। कोई बच्चा थोड़े ही बोल रहा है! जब जानता है तो 'नीला' बोलता क्यों है! बोले कि वह प्रतीतिका अनुवाद कर रहा है। देखनेमें जैसा लगता है, वैसा बोल रहा है।'

प्रतीतिका अनुवाद करनेसे यथार्थका अपलाप नहीं होता। श्रुति जब-जब सृष्टिका वर्णन करती है तब प्रतीतिका अनुवाद करती है। और जब—

अपूर्वं अनन्तरं अबाह्यं अनपरम्।

ऐसे वर्णन करती है तब वस्तुसत्ताका निरूपण करती है। जो ब्रह्मतत्त्व है वह अजाति है। न वह किसीसे पैदा हुआ और न उससे कुछ उत्पन्न होता है—**न जायते**, शंकराचार्यने एक जगह प्रकृतिसे सृष्टि होनेका जहाँ खण्डन किया है, वहाँ कहा कि यह बताओ कि प्रकृति नित्य है और सृष्टि करती है या कि वह अनित्य है और सृष्टि करती है? यदि कहो कि अनित्य है और सृष्टि करती है तो वह प्रकृति खुद ही खतम हो जायेगी। फिर उसका सृष्टि करना किस कामका?

बोले कि 'नहीं भाई, एक हिस्सेमें प्रकृति नित्य रहती है और एक हिस्सेमें वह अनित्य रहती है।' तो उसकी हँसी उड़ाते हैं कि—

नहि कुक्कुटया एक देशः पच्यते, अन्यः प्रसवाय कल्पते।

मुर्गी एक ओर पकायी जा रही है और एक ओरसे अण्डे देती जा रही है; ये दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते।

अजातिका अर्थ यह है कि यह एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त नहीं होती। बड़ा राज है इसका। उत्पत्ति माने एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त होना—जो बीज गेहूँमें था, उसका पचकर रक्त-रस बनके वीर्य-होना—सृष्टिकी उत्पत्ति हो गयी। और फिर बीजका स्त्रीके पेटमें जाना उसका नाम उत्पत्ति है।

वहाँ क्रमशः कलल आदिके योगसे गर्भपिण्डका निर्माण होना, उससे बच्चाका बाहर निकलना, इसका नाम उत्पत्ति है। क्रम-क्रमसे रूपान्तरको

प्राप्त होना, एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त होना, भ्रूणका शिशुके रूपमें होना, शिशुका जवान होना, जवानका बुड्ढेके रूपमें होना और बुड्ढेका मुर्देके रूपमें होना, यह भी उत्पत्ति है। मुर्देका सड़ जाना, मुर्देमें सड़ांध पैदा होना यह भी उत्पत्ति है और उसका पंचभूतमें मिल जाना यह भी उत्पत्ति है। एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त होना--इसे उत्पत्ति बोलते हैं।

जन्म-मृत्यु युगपत, एक साथ! एक ही चीज एक सृष्टिसे मरती है और दूसरी सृष्टिसे पैदा होती है। वस्तुका परमात्मामें जो यह बदलना है, वह न तत्त्वसे है, न मायासे है। यदि परमात्मा कोई अन्य वस्तु होता तो बदलने वाला होता और स्व-वस्तु होता तो साक्षी होता। परन्तु अन्य सच्चा कि स्व सच्चा? यह निर्णय करो कि अन्य सच्चा कि स्व सच्चा? अब अनुभवकी प्रणालीमें आ जाना पड़ेगा। आपका अन्य तो झूठा हो सकता है, परन्तु स्व झूठा नहीं हो सकता। इसलिए जगत्का कारण चेतन्य है, स्व है, जड़ नहीं है।

अगर कोई कहे कि 'हम जड़से पैदा हुए हैं और पैदा होकरके फिर जड़को जानते हैं'—तो अच्छा, भाई! तुम पहले जड़से पैदा हुए, यह बात तुम्हें कैसे मालूम पड़ी? यह अनुमान हुआ कि नहीं?

हमारे उपासकोंमें गणेशजीके पूजकोंने कहा कि पहले सृष्टि गणेशजीने बनायी!

देवीके उपासकोंने कहा—'नहीं, देवीसे हुई।' वैष्णव बोले कि--'नहीं-नहीं, विष्णुसे हुई।' दूसरे बोले कि--'नहीं-नहीं, ब्रह्मासे हुई', 'रुद्रसे हुई,' 'स्वामी कार्तिकेयसे हुई।'

ये सब पुराण हैं। अच्छा, ये सब पुराण हैं, तो 'जड़से सृष्टि हुई'–यह तो उपपुराण है, यह तो उससे भी गया बीता है। यदि तुम्हें अपनी उत्पत्ति अनुभवका विषय नहीं होती, और यदि अपनी उत्पत्तिकी तुम कल्पना ही करते हो तो समीचीन कल्पना तो करो! पुराण-कल्पनाको वे लोग 'माइथोलोजी' बोलते हैं। हमलोग तो सृष्टिकी उत्पत्ति सम्बन्धी सभी अवधारणाओंको 'मिथ्या' बोलते हैं परन्तु वे लोग जड़से उत्पत्तिको सत्य मानते हैं और अन्य सबको मिथ्या मानते हैं। हमारा 'मिथ्या' ही उच्चारण भेदसे उनके यहाँ 'मिथ', माइथोलोजी बन गया है।

अच्छा, देखो, अन्योन्याश्रय होना भी विचारका दोष है। यह जो मैथुनजन्य सृष्टि है, मैथुन माने मिथःसिद्ध--इसमें स्त्री-पुरुष दोनोंके मेलसे सृष्टि होती है, अब बता दो कि पहले स्त्री कि पहले पुरुष? दोनोंसे पहले जो होगा, वह सच्चा होगा। ये दोनों पहले नहीं हो सकते। अतः मिथःसिद्ध होनेके

कारण, मिथ्या है यह सृष्टि! परस्पर सापेक्ष है, अन्योन्याश्रित है। 'मिथ्या' शब्दका अर्थ ऐसा ही है।

'हमारी सृष्टि जड़से पैदा हुई, चार भूतसे पैदा हुई'—यह चार्वाक—मत है, 'हम प्रकृतिसे पैदा हुए', 'हम जड़ाद्वैतसे पैदा हुए'—यह आधुनिक मत है। एक दिन एकने बताया कि 'बन्दरसे मनुष्यकी उत्पत्ति हुई।' उन्होंने कहा—'यह बात है तो सच्ची, लेकिन मनुष्यकी एक जाति-विशेष ही बन्दरसे पैदा हुई है, वे अपने पूर्वजोंका स्मरण बहुत करते हैं।

हम मानते हैं कि यह भौतिक विज्ञान डेढ़ सौ-दो सौ वर्षसे बहुत अच्छी उन्नति कर रहा है। इसीमें यह विकासवाद (जड़से चेतनकी उत्पत्तिका सिद्धान्त) ऐसे तो यह कट गया है। 'आइन्स्टाइन'की थ्योरी आनेके बाद तो इसको कोई पूछता ही नहीं है। डार्विनकी, हैकलेकी थ्योरीको आइन्स्टाइनके अणुविज्ञानके बाद कोई पूछता ही नहीं। लेकिन यदि इन डेढ़ सौ-दो सौ वर्षोंमें इन सब वैज्ञानिकोंने मिलकर बन्दरसे एक मनुष्य बना दिया होता तो उनकी बात कितनी प्रामाणिक होती। वह भी पुराणकी कल्पना ही करते हैं कि कभी बन्दरसे मनुष्य हुआ होगा! एक ऐसी परिस्थिति थी, एक ऐसा वातावरण था, जिसमें यह हुआ होगा!

जन्म अन्यसे अन्यका नहीं होता, अन्यसे स्वका नहीं होता, स्वसे अन्यका नहीं होता और स्वसे स्वका नहीं होता है। यह जन्मकी पद्धति है। इसीसे यह जो परमात्माका अजत्व है, यह भी विलक्षण है। यह नहीं कि जो जायमानसे विलक्षण हो सो 'अज'। जायमान भी जिसका स्वरूप होवे, जो स्वयं हो और जायमान भी हो! सर्व भी हो, ज भी हो! जायमान भी होवे, अज भी होवे, वही अजाति तत्त्व है। जायमान जो है वह अध्यस्त है—अधिष्ठानको समझानेके लिए उसकी कल्पना है और अधिष्ठान स्वयं अज है।

जब तक जायमानको नहीं समझेंगे, अजत्व भी समझमें नहीं आयेगा। परमात्माकी खोज सबसे बड़ी चीजकी खोज है लेकिन जब तक छोटी-छोटी चीजकी खोजमें मनुष्य लगा रहता है, तब तक यह बड़ी चीज नहीं मिलती है। [अस्तु अब सर्वप्रथम यह बात बतायेंगे कि प्रत्येक शरीरमें जो यह जीवात्मा जन्मता-मरता-सा प्रतीत होता है वह भी वास्तवमें जन्म-मरणसे रहित अजाति तत्त्व है। इसके लिए अगली बीस कारिकाओं पर प्रवचन है।]



: ४ :

जीवकी जन्म-मृत्यु कैसी ?

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ॥३॥

अर्थः--आत्मा आकाशके समान है और उसमें जीवकी उत्पत्ति घटाकाशकी उत्पत्तिके समान है। घटके समान यह देह भी संघात है और उत्पन्न कहा जाता है। उत्पत्तिके विषयमें यही दृष्टान्त है।

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ॥४॥

अर्थः—जैसे घटादिके लीन होनेपर घटाकाश आदि महाकाशमें लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव इस आत्मामें लीन हो जाते हैं।

यदि चीज जहाँ दिखायी पड़ती है वहाँ वह हो नहीं, केवल देखनेवालेकी दृष्टिसे दिखायी पड़े, तो वह वस्तु वस्तुतः नहीं होती है। दीखना और होना--ये दोनों दो चीज हैं। किसी चीजका सच होना और उसका मालूम पड़ना, ये दोनों दो चीज हैं। ज्ञान और ज्ञानके विषयका अलगाव होना आवश्यक है। जो चीज जानी जाती है उस चीजको ज्ञानसे अलग कर लो। फिर देखो कि वह चीज वहाँ है या नहीं है।

जो परिच्छिन्न वस्तुओंका अधिष्ठान है, उसको यदि कहा कि वह भी परिच्छिन्न है, तो ऐसा हो नहीं सकता। जैसे जब धूलिकण दीखते हैं वे आकाशमें कण-कण दीखते हैं। धूलिकण तो कण-कण हैं, पर उनका अधिष्ठान आकाश कण-कण नहीं है। इसी प्रकार ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड कण-कणके समान जिसमें दिखायी पड़ते हैं वह परिच्छिन्न नहीं हो सकता, वह अपरिच्छिन्न है।

परिच्छिन्नके अत्यन्ताभावका जो अधिष्ठान है वही परिच्छिन्नका भी अधिष्ठान है। माने, जिसमें परिच्छिन्न नहीं है, उसीमें परिच्छिन्न भी है। जिस अपरिच्छिन्नमें परिच्छिन्न नहीं है, उसीमें परिच्छिन्न मालूम पड़ रहा है। इसीको बोलते हैं, **'स्वभावाधिकरणे भासमानत्व'**--अपने अभावके अधिकरणमें भासना। जो भी वस्तु अपने अभावके अधिकरणमें भासती है, वह वस्तु केवल

द्रष्टामें होती है, अधिष्ठानमें नहीं होती। द्रष्टामें कैसे है? द्रष्टाकी दृष्टिमें है तो संस्कारमें है, स्वप्नवत् है, भ्रमवत् है।

रज्जुमें देखा जानेवाला जो सर्प है, वह उस रज्जुमें दीख रहा है, जिसमें सर्पका अत्यन्ताभाव भी रहता है। रज्जुमें तो सर्प है नहीं और देखनेवालेके अन्तःकरणमें भी सर्प नहीं है। केवल देखनेवालेके पूर्व संस्कारमें ही सर्प है! इसलिए रज्जुको ठीक-ठीक न देखनेसे रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति हो रही है। और जिस अधिकरणमें भ्रान्ति है, उसी अधिकरणमें सर्पका भासना है। रज्जुमें सर्प नहीं है, भास रहा है और द्रष्टामें भी सर्प नहीं है। बीचमें जो अन्तःकरण है, उसमें सर्प संस्कार है सो वहाँ सर्पका होना-न-होना क्या महत्त्व रखता है? वह तो केवल कल्पनामात्र है, केवल भ्रममात्र है। द्रष्टामें भी सर्प नहीं है और अधिष्ठानमें भी सर्प नहीं है, तो वह है कहाँ? भ्रान्तिमें है और भ्रान्ति अन्तः-करणमें है। अन्तःकरणमें कोई पूँछवाला और मुँहवाला—जीभवाला कोई सर्प नहीं रहता वहाँ तो बिलकुल कल्पित है, कल्पनामात्र है सर्पकी।

तो न ज्ञानमें सर्प है, न सत्में सर्प है, न सत् और ज्ञानकी एकतामें सर्प है। केवल अज्ञान दशामें भ्रान्तिसे सर्प मालूम पड़ता है। तो बोले—'फिर यह जो जन्म-मृत्यु संसारमें मालूम पड़ता है, यह क्या है, तो असलमें देखो! मालूम ही पड़ता है। इसके सिवाय और कोई बात किसीके बारेमें कही नहीं जा सकती।

देश मालूम पड़ता है, काल मालूम पड़ता है, वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं, ईश्वर मालूम पड़ता है, जीव मालूम पड़ते हैं और इनका जन्म-मृत्यु मालूम पड़ता है। यह सब मालूम पड़ता है—यह तो कहा जा सकता है, परन्तु अपने सिवाय और किसीको 'है', ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनके बारे में 'नहीं है', यह भी अनुभव होता है। परन्तु अपने बारेमें 'नहीं है', ऐसा अनुभव नहीं होता है। इसीसे अपना आपा 'है' ऐसा मालूम पड़ता है। दूसरी चीजें मालूम तो पड़ती हैं, परन्तु उनके बारेमें 'है' और 'नहीं है'—दोनों कहा जा सकता है। इसलिए वे दशाविशेषमें बाधित हैं, अपवादित हैं और दशाविशेषमें आरोपित हैं। और अपना आपा, आत्मा या ब्रह्म, जो भी उसका नाम रखो, सदा अबाधित है। वही है **अजात**—जिसका जन्म नहीं होता। वही है **ब्रह्म**—जिसमें देश-काल-वस्तु, सजातीय-विजातीय-स्वगतका भेद नहीं है और वही है **अकार्पण्यम्**—जिसमें कोई संकोच नहीं है, कोई सीमा नहीं है। अब उसका निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

आत्मा हि आकाशवत् आत्मा कैसा है ? आकाशके समान है। अगर पंचभूतोंमें-से किसीको दृष्टान्त बनाना हो आत्माके लिए, तो आकाशका दृष्टान्त सबसे बढ़िया है।

जहाँ वैतथ्य सिद्ध करना था माने स्वप्नके समान जाग्रतको झूठा सिद्ध करना था, वहाँ तो स्वप्नका दृष्टान्त दिया, जगत्को झूठा सिद्ध करनेके लिए जहाँ आत्माको सत्य सिद्ध करना है, वहाँ आत्माके लिए आकाशका दृष्टान्त दिया। आकाशमें भी महात्मा लोग भूताकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश—तीन आकाशोंकी कल्पना करते हैं। जहाँ अद्वयसे आगे बढ़े, वहाँ पहले एक पर और फिर अनेक पर आते हैं। अद्वयमें एक और अनेककी कल्पना ही होती है।

जो एक है, वह कल्पित होता है। दो, तीन, चार, पाँच आदिकी कल्पनाओंका जो मूलाधार है; उस कल्पित संख्याका नाम एक है। वह सर्व संख्याओंमें अनुगत है। एति इति एकः। एति-अन्वेति, व्याप्नोति। जो दोमें व्यापक होता है—एक + एक = दो। दो तीनमें व्यापक होता है–एक + एक + एक = तीन।

एक कहने पर भी जब मनोरथ पूरा नहीं होता है, तब उसको अद्वय कहना पड़ता है। एक अद्वय होता है और अद्वय + अद्वय नहीं होता। अद्वय + अद्वय = दो अद्वय नहीं होता। अद्वय न घटता है न बढ़ता है, न गुणित होता है न विभाजित होता।

तो, अद्वयमें और एकमें अन्तर है। इसीसे श्रुतिमें—**हिरण्यगर्भः समवर्ततांग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत** और **सदेव सौम्य इदमग्रे आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्** (छां० ६.२.१)

ऐसा वर्णन आता है। कारणत्वेन एकत्व सिद्ध करनेके लिए 'एक' है और कार्य-कारणभावसे रहित 'अद्वय' सिद्ध करनेके लिए 'अद्वितीय' है। हिरण्यगर्भ एक है, ईश्वर एक है, ब्रह्म एक और अद्वितीय है।

अच्छा, तो आत्मा कैसा है ? कि आकाशवत् है। आत्मा हि आकाशवत्। आ—समन्तात्, माने सब जगह, काशते प्रकाशते इति आकाशः। जो सब जगह होवे, उसका नाम आकाश।

कठोर है मृत्तिका और तरल है जल। गैसरूप है अग्नि और गति रूप है वायु। इनका आधार—जिसमें ये चारों भूत घूमते-फिरते हैं, उसका नाम है आकाश। ऐसे कहो कि जो जमा हुआ है, वह तरलसे गाढ़ा हुआ है और जो तरल है, वह गरमीसे गलकर हुआ है। गरमी घर्षणसे हुई है और घर्षण वायु है। इन चारोंके रहनेका जो अवकाश है, उसको आकाश बोलते हैं।

---

* अद्वय + अद्वय=अद्वय; अद्वय × अद्वय=अद्वय; अद्वय + सद्वय=अद्वय; अद्वय × सद्वय=अद्वय।

हमारे पूर्वमीमांसक लोग आकाशको प्रत्यक्ष मानते हैं, नैयायिक लोग आकाशको प्रत्यक्ष नहीं मानते। वे तो शब्दका प्रत्यक्ष मानते हैं कानके द्वारा, और शब्दाश्रय जो द्रव्य है आकाश, उसे शब्दके द्वारा अनुमित मानते हैं। कानके द्वारा हम शब्दका प्रत्यक्ष करते हैं और शब्द जिस द्रव्यमें होता है, उस द्रव्यका नाम आकाश है। शब्द गुण द्वारा आकाश द्रव्यका निश्चय हुआ है।

मीमांसक कहते हैं, 'नहीं-नहीं, आकाश तो प्रत्यक्ष होता है। कैसे ? 'इह पक्षी' यहाँ चिड़िया उड़ रही है। चिड़िया उड़नेका जो 'स्थान' है, 'इह' पदार्थ, वह प्रत्यक्ष है।

वैशेषिक दर्शनमें जो द्रव्य-विभाग है, वह शब्दगुणके द्वारा अनुमित है—

गुणक्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्

द्रव्य किसे कहते हैं ? जिसमें गुण हो और क्रिया हो। गुण क्रियाके आश्रयको द्रव्य कहते हैं। तो आकाश शब्दगुणका आश्रय है। शब्द प्रत्यक्ष है और आकाश अनुमित है। यह वैशेषिक मत हुआ।

सांख्य-लोग इसको और विलक्षण ढंगसे मानते हैं। वे एक शब्दतन्मात्रा मानते हैं, एक आकाश मानते हैं और एक शब्द-विषय मानते हैं। ये तीनों जुदा हैं। हमारे कानसे जो शब्द सुनायी पड़ता है, वह विषयरूप शब्द जुदा है और यह जिस आकाशमें होता है उससे जुदा है और जिस शब्दतन्मात्रासे आकाशकी उत्पत्ति होती है वह जुदा है।

वेदान्ती कहते हैं कि—'ये सब ऐन्द्रियक हो हैं। पदार्थोंसे इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे पदार्थ—इनकी परस्पर सिद्धि होती है। ऐसे कहते हैं कि—शब्द, दिक् और आकाश-शब्द अधिभूत है, कान अध्यात्म हैं और दिग्देवता अधिदैव है। इन तीनोंमें-से कोई चीज न होवे तो इन तीनोंमें-से किसी एककी सिद्धि नहीं होगी। कान न होवे तो शब्द और शब्दाश्रय आकाश चला जाय। शब्द ही न होवे तो कान और आकाशकी सिद्धि न होगी और दिग् न होवे तो कान और आकाश खतम (वेदान्ती इस आकाशको कहते हैं- भूताकाश)।

चित्ताकाश क्या है ? आँख बन्द करके आप देखते हैं-हिमालय। आँख बन्द करके देखते हैं गंगाजी, पहाड़, वह विशाल मैदान, वह हवाई जहाज और देखते हैं वह विशाल आकाश जिसमें ये सब स्थिर अथवा चलते मालूम पड़ते हैं। आँख बन्द करके जो आकाश आप देखते हैं वह चित्ताकाश है। चित्ताकाशकी सृष्टि चित्त ही करता है। स्वप्नका आकाश भी चित्ताकाश ही है।

भूताकाश और चित्ताकाश—इन दोनोंका अपवाद कर दो। न बाहरका उत्तर-दक्षिण-पूरब-पश्चिमवाला लम्बा-चौड़ा और न भीतरका। जो आकाशसे विलक्षण चैतन्यवस्तु है, उसे चिदाकाश कहते हैं। जब दृष्टान्त बनाते हैं तो वे भूताकाशका दृष्टान्त बनाते हैं, परन्तु द्राष्टान्तिक होता है चिदाकाश।

जो अनन्त चैतन्य है, उसको कहो आत्मा। वह कैसा है? आकाशवत् अनन्त चैतन्य है वह। तो फिर जीव चैतन्यके रूपमें छोटा-छोटा कैसे मालूम पड़ता है? घटाकाशवत्।

घटाकाशैरिवोदितः। जैसे आकाश घड़ेसे घटाकाशके समान छोटा है, वैसे ही आत्मा जीव मालूम पड़ता है। हर घड़ेमें घड़ेके पेटके हिसाबसे बड़ा और घड़ेके गलेके हिसाबसे छोटा एक आकाश है। लेकिन घड़े-घड़ेके अलग-अलग आकाश नहीं हैं।

अपने बचपनकी एक बात सुनाता हूँ। हमलोग जब पढ़ते थे, स्लेट और किताब बस्तेमें बाँधकर, काँखकर नीचे दबाकर चलते थे रास्तेमें एक दिन ठाकुरसाहब 'प्रसिद्धनारायण सिंह' साथ-साथ जा रहे थे। वे जा रहे थे धानापुर, हम भी उनके साथ जा रहे थे। हमारे पिताको तो वे अपना गुरु मानते थे, हमारे पाँव भी छूते थे। पर वे थे बहुत बड़े विद्वान। योग पर उन्होंने बीसों पुस्तकें लिखी थीं। तो बात करते-करते क्या बोलते हैं कि—'बाबाजी! हम जब ऐसे हाथ हटाते हैं, तो हाथ हटानेसे आकाश हट जाता है कि नहीं?'

मैं—हवा तो हटती हुई मालूम पड़ती है, हाथके धक्केसे।'

वे—'हवा हटती हुई-सी मालूम पड़ती है। आकाश हटता है कि नहीं?

हम तो सोचने लग गये, आकाश हटता हैं कि नहीं हटता। फिर वे बोले—'देखो, सामनेसे औरतें कुएँपर पानी भरकर घड़ा लिये जा रही हैं। जो पोल घड़ेके भीतर है वही पोल रास्तेमें है और वही कुएँपर रहेगी या कुएँपर वह पोल बदल जायगी?'

मैंने कहा—वह तो है, साथ-ही-साथ चलेगी, जैसे घड़ेमें पानी साथ-साथ चलता है या उसमें लड्डू भरे हो तो वह भी घड़ेके साथ-साथ चलेंगे। वैसे घड़ेमें भरा हुआ आकाश भी साथ-ही-साथ चलेगा'।

तो वे बोले—'नहीं, बाबाजी, उसमें लड्डू भरा हो तो साथ-साथ चलेगा, पानी भरा हो तो साथ-साथ चलेगा, उसमें गरमी तो साथ-साथ चलेगी, हवा हो तो साथ चलेगी, परन्तु यह जो आकाश है, वह घड़ेमें भरकर दूसरी जगह नहीं ले जाया जा सकता। वह तो घड़ेकी दीवार ही चलती है। घड़ेके भीतरका

आकाश तो बिलकुल ज्यों-का-त्यों है। देखो, घड़ेकी दीवार फोड़नेसे छेद निकल आवेगा घड़ेमें। छेद निकलेगा तो पहलेसे मौजूद आकाश उसमें-से निकलेगा कि नया उसमें भर जायगा ? तो आकाश कहीं भरता-वरता नहीं है। न यह चलता है न कहींसे निकलता है। वह तो ज्यों-का-त्यों रहता।

अब बचपनकी एक और बात याद आगयी, सो बताते हैं। हम चाकू रखते थे कलम बनानेके लिए। सरकण्डेकी कलम होती थी। वह जब टूट जाती थी, तो चाकूसे उसे बनाते थे। एक दिन चाकू मैंने बस्तेमें-से निकालके अंटीमें रख लिया। उसके बाद भूल गया तो शिकायत की कि हमारा चाकू किसीने चुरा लिया। बच्चे खड़े कराये गये कि 'किसने चुराया ?' बड़े परेशान हो गये। एक बच्चेने बताया कि 'इसने अपनी अंटीमें ही लगा रखा है।'

तो देखो, क्या भूल हुई ? आदमीको आदमी झूठा ही दोष लगाता है। गाँव-में कहावत है—'अपनी अंटी बन्द रखो, पर चोरी मत लाओ।' घरसे निकलो तब देखकर चलो कि ताला बन्द है कि नहीं ? यह मत कहो कि दूसरेने खोल लिया।

एक बार मैंने क्या किया ? जोड़ लिख रहा था। ८ + ६=१३ लिख दिया। यह बताता हूँ अपनी बुद्धिका नमूना। इसमें आश्वासन भी है कि इतनी कम बुद्धि होनेपर भी देखो, हमारी समझमें वेदान्त आने लग गया ! अगर आप लोगोंमें-से किसीकी बुद्धि कम हो, तो डरना नहीं कि 'हमारी समझमें वेदान्त नहीं आता। ८ + ६=१३ भले ही लिखो, पर आपकी समझमें वेदान्त आ जायगा।

अध्यापकने हमसे पूछाकि तुमको ८+६=१३ किसने सिखाया ?' तो देखो, भूल कोई सिखाता नहीं। भूल बिना सिखाये आती है। इसीको 'अनादि' बोलते हैं। भूल सहज स्वभावसे आती है। और प्रयत्नके द्वारा उसको दूर करना पड़ता है। तो अज्ञान स्वयं प्राप्त होता है। प्रयत्न करके, ज्ञान संपादन करके उसको दूर करना पड़ता है।

अगर आप डर जाओगे कि अज्ञान तो अनादि है, कैसे दूर होगा, तो अज्ञान-का यह स्वभाव ही हैं कि वह अनादि होनेपर भी शान्त होता है।

आप लोगोंको कोई अक्षर मालूम है। 'क-ख-ग-घ ?' यह पहले आपको आता था कि नहीं आता था ?'

बोले—'बचपनमें तो नहीं आता था।'

'तो कबसे नहीं आता था ? अरे भाई, गर्भमें थे तब भी नहीं आता था। क-ख-ग-घ शायद पहले जन्ममें आता हो ? पहले जन्ममें भी जब पैदा हुए तब

कहाँ आता था ? लेकिन जब अध्यापकोंने आपको क-ख-ग सिखाया तो आ गया। तो क-ख-गका अज्ञान अनादि था, लेकिन सिखाने पर वह अज्ञान दूर हो गया आप उसको समझ गये।

सोना कहाँ पहचानते थे पहले। हीरा कहाँ पहचानते थे ? माँ बापको कहाँ पहचानते थे ? पर पहचान गये। इसी प्रकार अज्ञान अनादि होनेपर भी यदि आप अभ्यास करें और सीखें तो वह दूर हो जाता है। इसलिए मनुष्यको अपना अज्ञान देखकर निराश नहीं होना चाहिए, उदास नहीं होना चाहिए।

अब आजाओ अपने विषयपर। आत्मा आकाशवत् है और जीव घटाकाशवत् है। घट माने संस्कृतमें होता है, 'गढ़ा हुआ, गढ़न्त, घटन्त, घट माने माटी नहीं, घट माने माटीमें गढ़ी हुई, एक शकल-सूरत जिससे पानी लानेका काम चलता है, घट मृत्तिकामें कल्पित है और व्यावहारिक सत्य है।' यह जीव कैसा है ? जैसे महाकाशमें घटाकाश, वैसे चिदाकाशमें यह जीवाकाश—आत्माकाश है। यह शरीर तो घट ही है।

जैसे माटीसे घड़ा बनता है, वैसे पंचभूतसे शरीर बनता है। जैसे इसमें आकाश पहलेसे मौजूद रहता है और वह अनन्तसे एक है, इसी प्रकार इसमें जो आत्मा है, वह चिदाकाशसे- अनन्तसे एक है। यह संघात घटादिवत् है। जैसे ठीकरा-ठीकरा जोड़कर घड़ा बनता है, वैसे ही शरीर भी अंग-अंग जोड़कर बना है।

आप लोगोंमें-से किसीने घड़ा बनाते न देखा हो ऐसा सम्भव है। घड़ा समूचा एक साथ नहीं बनता। उसका आधा एक जगह बनाते हैं और आधा दूसरी जगह बनाते हैं, और फिर दोनोंको जोड़ देते है। इसे ठीकरा, खपड़ा, कपाल बोलते हैं। कपालद्वय-संयोगसे घट बनता है।

घटादिवत् च संघातैः। यह संघातसे बना है। संघात माने जोड़, संघनन। पीट-पीटकर जोड़ा गया है और यह संघात है।

संघातस्य परार्थत्वात्

संघात अपने लिए नहीं होता, जितनी भी जोड़ी हुई चीज है, अपने लिए नहीं होती। जोड़ी हुई चीज दूसरेके लिए होती है। ये पति-पत्नी जोड़े हुए हैं। वे किसके लिए होते हैं ? ये बच्चाके लिए जुड़े हुए होते है। संघातस्य परार्थत्वात्—मोटरके पुर्जे जुड़े हुए होते हैं। ये किसके लिए ? मालिकको ढोनेके लिए जुड़े हुए होते हैं। मकान जोड़कर बनता है। क्यों ? मालिकके रहनेके लिए बनता है।

जो भी चीज कई चीजोंसे बनती है, वह दूसरेके लिए बनती है। इसीलिए यह शरीर भी पंचभूतोंसे बना है, यह जीवात्माके लिए बना है।

इस संघातमें जो जीवात्मा है, वह 'जात' नहीं है, 'अजात' है। कैसा? आकाशकी तरह। 'अज' हैं, माने अविनाशी हैं, घड़ा फूटनेसे वह फूटेगा नहीं, घड़ा पैदा होनेसे वह पैदा होगा नहीं। घड़ेके आने-जानेसे वह आयेगा-जायेगा नहीं। घड़ाका रंग और वजन उसका रंग और वजन नहीं है। घड़ेको मेरा मानता नहीं, घड़ेमें उसका मैंपना है नहीं। वह तो ज्यों-का-त्यों है। पर घड़ेमें ही जब दृष्टि सीमित हो जाती है, देहमें ही जब दृष्टि सीमित हो जाती है, तब जात मालूम पड़ता है—

जातावेतन्निदर्शनम्।

उपाधिके सम्बन्धसे ही जीवात्माका जन्म और मरण बताया जाता है, गमनागमन बताया जाता है। सूक्ष्म उपाधिके सम्बन्धसे स्वर्ग-नरक और पुनर्जन्म, स्थूल उपाधिके सम्बन्धसे गोरा-काला, मोटा, चलनेवाला-फिरनेवाला—यह सब केवल उपाधिके सम्बन्धसे ही बताया जाता है। असलमें वह ऐसा नहीं है। इसलिए जो महात्मा अपने आपको निरुपाधि आत्मा जान लेते हैं, वे फंदेसे छूट जाते हैं—

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।

जहाँ आत्मा परमात्माको जाना, सारे फंदे टूटके गिर पड़ते हैं। सब फंदोंको, पाशोंको काटनेका यही एक उपाय है। महात्मा लोग ऐसे बोलते हैं—

अद्यास्तमेतु वपुराशशितारमास्तां
नैतावतापि मम चिद्वपुषो विशेषः।
कुम्भे विनश्यति चिरं समवस्थिते वा
कुम्भाम्बरस्य नहि कोऽपि विशेषलेशः॥

चाहे शरीर आज ही छूट जाय, अथवा सूर्य और चन्द्रमा जबतक रहे तब तक रहे, मुझ चिदाकाशके लिए इस शरीरके रहने और न रहनेका कोई महत्त्व नहीं है। चाहे घड़ा फूट जाय चाहे बहुत दिन तक रहे, इसमें कुम्भाम्बर जो घटाकाश है, उसमें जन्मना-मरना नहीं होता है, घड़ेका जन्मना-मरना होता है। घटाकाशका नहीं होता। इसी प्रकार यह स्थूल-सूक्ष्म शरीर मरते-जीते हैं, आत्मा मरने-जीनेवाला नहीं है।

आपने शंकरजीकी बहुत-सी मूर्ति देखी होगी, कांचीपुरम्में बालूकी मूर्ति बनायी है। उसको पार्थिव लिंग बोलते हैं।

श्रीरंगम्‌में 'आपोलिंग' है। केवल जल बहता रहता है। एतावान् मात्र लिंग है।

अरुणाचलम् (तिरुवण्णमल्लाई) में केवल ज्योतिर्लिंग है, अग्निलिंग है।

कालहस्तीश्वरमें केवल 'वायुलिंग' है।

चिदम्बरम्‌में आकाश-लिंग है। वहाँ एक माला है। उस मालाके भीतर जो आकाश है, मालासे घिरा हुआ जो गोल-गोल पोल मालूम पड़ती है, उसीको 'शिव' बोलते हैं। यह जो नटराजकी मूर्ति है न, वह तो उन लोगोंके लिए है जो असली चिदम्बरमको नहीं पहचान सकते।

चिदम्बरं वा जगदम्बरं वा पीताम्बरं वा तदिहास्ति वस्तु।
निरस्तसंकल्पविकल्पतल्पं निरम्बरं त्वां वरमाननामः॥

चिदम्बरंका अर्थ चिदाकाश। वहाँ जो मालाके भीतर आकाश है, और मालाके बाहर जो आकाश है, उसमें क्या फर्क है? क्या कोई दीवार आ गयी है? जैसे मालाका और मालोपहित आकाशका भेद बनाकर आकाशरूप शिवकी पूजा कर लेते हैं, इसी प्रकार देहसे अनुपहित और देहसे उपहित चेतनका भेद है। देहसे अनुपहितको ईश्वर कह लेते हैं और देहसे उपहितको जीव कह लेते हैं। असलमें परमात्मामें ईश्वर और जीवका भेद नहीं है।

केवल उपाधिके जन्मसे ही परमात्मामें जीवकी कल्पना कर ली जाती है। इसी बातको अगली कारिकामें मृत्युके सम्बन्धमें भी घटाते हैं—

: ५ :

जीवकी मृत्यु कैसी !

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ।।४।।

घड़ेका उपादान मिट्टी है। औजारका उपादान लोहा है। आभूषणका उपादान सोना है । उपादानको बोलते हैं—'समवायीकारण' । समवायीकारण माने जो कार्यमें विद्यमान हो ।

कुम्हारने घड़ा बनाया तो कुम्हार घड़ेसे अलग रहा और मिट्टीसे घड़ा बना, तो मिट्टी घड़ेमें अनुगत रही, भरी रही । लेकिन कौन-सी मिट्टी ? सारे संसारकी मिट्टी उपादान नहीं है। कुम्हारने हाथमें जितनी मिट्टी लेकर—रौंदी गूँधी उस मिट्टीसे घड़ा बनाया (जैसे सेर भर वजन घड़ेका है, तो सेर भर मिट्टी, उतना ही उपादान मिट्टीका है। जो उसमें-से तोड़कर फेंक दी, वह मिट्टी घड़ेका उपादान नहीं है। उपादान-उपादेयका विचार करो ।

लोगोंकी प्रकृति अलग-अलग होती है ! कोई शकल-सूरत देखकर खुश होते हैं, कोई नाम सुनकर खुश होते हैं, कोई यश-गुण सुनकर खुश होते हैं, कोई क्रिया देखकर खुश होते हैं। वह तो मन अपना किस छोटी-मोटी चीजमें धँस जाता है, उससे उसका सम्बन्ध है ।

कोई आकृति-प्रधान होते हैं, कोई गुण-प्रधान होते हैं, कोई क्रिया-प्रधान होते हैं, कोई भाव-प्रधान होते हैं। लेकिन आप यह बात पक्की समझो कि ईश्वरको बनाना नहीं है। आत्माको भी बनाना नहीं है।

जैसे किसी मन्दिरमें आप जाओ तो जाकर देखा कि बहुत दिनोंसे वहाँ कोई पूजा करने नहीं आया। बड़ी मुश्किलसे तो किवाड़ी खुली। भीतर देखा तो लकड़ी-ही-लकड़ी पड़ी है, कबूतरकी बीट पड़ी है, चिड़ियोंके घोंसलेके तिनके पड़े हैं। शंकरजी तो कहीं हैं नहीं। ख्याल हुआ कि यहाँ शंकरजी नहीं हैं, तो नर्मदाजीमें-से एक पत्थर ले आवें ! और मंदिरमें शंकरजी स्थापना कर दें।

पर नहीं, ऐसा नहीं करना है। पहले मन्दिरकी सफाई करो, कबूतरकी बीट उठाकर फेंको जो गन्दगी आ गयी है, उसे अलग करो। उसमें तो शंकरजीका

अर्घा है और उसमें तो पहलेसे शंकरजीकी मूर्ति स्थापित है। अब ऐसे शंकरजीकी पूजा करनेमें बड़ा पुण्य होता है। एक नये शंकरजीकी स्थापना करना और एक जीर्ण-शीर्ण पड़े हुए मंदिरकी सफाई करके, स्वच्छ करके पहलेसे जो मौजूद शंकरजी हैं, उनको पूजा करना—इनमें बादवाली पूजा श्रेष्ठ है :

अनाथलिंगं संपूज्य कोटियज्ञफलं लभेत् ।

जिस मन्दिरका कोई मालिक न हो, उस मन्दिरमें जाकर पूजा करो, तो कोटि यज्ञका फल मिले। यह जो हमारा देह है उसको भी मन्दिर कहा गया है : **'देहो देवालयः प्रोक्त'**। और उसमें जो जीव है वही परमशिव है।

स जीवः परमः शिवः ।

यह जीव परम शिव है, इसकी पूजा कैसे करनी चाहिए ? कि जो प्रतिबन्धक पदार्थ जो अनात्म पदार्थ अपने साथ जुड़ गया है, उसे हटाओ। तुम घड़ा नहीं हो। तुम हड्डी-माँस-चाम-मूत्र-पीत्र नहीं हो। इसमें जो मैं-मेरा है, वह तुम नहीं हो ! तुम जो इसमें द्रष्टा हो, साक्षी हो, शुद्ध हो, वह ब्रह्म हैं, शुद्ध है, वही शिव है।

सोऽहम्-भावसे उसकी पूजा होती है : 'सोऽहंभावेन पूजयेत्'।

'घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा'—जैसे घड़ा फूट जानेपर आकाशमें लीन हुआ क्या ? अरे ! आकाश ही तो था ! लीन कहाँसे हुआ ?

इस श्लोकका मूल भागवतमें है। हम आधुनिक शोधकोंकी दृष्टिसे नहीं बोलते, क्योंकि आधुनिक दृष्टिका शोधक तो बोल देगा—'गौड़पादाचार्यके बाद, शंकराचार्यके बाद भागवत बना।'

लेकिन हमारी संप्रदाय परम्पराके अनुसार शुकदेवजी गुरु हैं और गौड़पादाचार्य उनके शिष्य हैं और उसके भी शिष्यके शिष्य श्रीशंकराचार्य हैं। प्रस्तुत माण्डूक्य कारिकाओंके सिवा गौड़पाचार्यकी और दो पुस्तकें हैं—'ईश्वर कृष्ण'की कारिका पर वृत्ति और 'उत्तरगीता'का भाष्य, दोनोंमें उन्होंने श्रीमद्भागवतका नाम लेकर उल्लेख किया है, 'इति श्रीमद्भागवते **बद्धो मुक्त इति व्याख्या। गुणतो मे न वस्तुतः इति श्रीमद्भागवते।**

भागवतमें लिखा है—

घटे भिन्ने यथाकाश आकाशः स्याद्यथा पुरा।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः॥

अर्थात् जैसे घड़ा फूट जानेपर पहलेकी तरह आकाश आकाश ही रहता है, वैसे देहका घड़ा फूट जानेपर इसके भीतर जो चिदाकाश है, वह पहलेकी तरह चिदाकाश ही रहता है। यह श्रीमद्भागवतका श्लोक है।

'घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादय यथा'—यह श्लोक गौड़पादाचार्यका है। जैसे घट आदि उपाधियोंके प्रलीन होने पर घटाकाश आदि उपहित ज्यों-के-त्यों आकाशमें ही रहते हैं, ऐसे ही यह जीव उपाधिके रहनेसे भी ज्यों-का-त्यों हैं और उपाधिके भंग होनेपर भी ज्यों-का-त्यों है।

आप लोग स्वर्ग-नरक और पुर्वजन्मके बारेमें साधारण रूपसे जो सुनते हैं, वह पौराणिक विषय है। दर्शन शास्त्रमें जिसे पुनर्जन्म कहते हैं, नरक-स्वर्ग जिसे कहते हैं, वह चीज दूसरी है और पुराणोंमें जिसे नरक-स्वर्ग कहते हैं वह बात दूसरी है। जो सम्प्रदाय परम्परासे पढ़ते हैं वे इसका अभिप्राय जानते हैं। इस बातको सबलोग नहीं समझते हैं। बड़ी अद्भुत लीला है उसकी। क्या सचमुच आत्मा एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाकर नरकका अनुभव करता है? क्या स्थानसे दूसरे स्थानपर जाकर स्वर्गका अनुभव करता है।

पुनर्जन्म होता है तो क्या एक जगहसे दूसरी जगहपर पहुँच जाता है? आजकल 'परामनोविज्ञान'में कहानियाँ इकट्ठी की जाती हैं कि कौन कहाँ-से-कहाँ पैदा हुआ? यह तो पौराणिक दृष्टिसे एक जगहसे दूसरी जगह जन्म होना है।

पौराणिक दृष्टिसे एक जगहसे दूसरी जगह जानेपर स्वर्ग-नरक होता है। दार्शनिक दृष्टि तो इसके बारेमें बिलकुल विलक्षण है। आत्मा जहाँ-का-तहाँ रहते हुए ही, अपनी सूक्ष्म उपाधिमें ही, स्वर्ग-नरक बनाकर उनका उपयोग करता है। अपनी उपाधिमें ही ब्रह्मलोक बनाकर वहाँका सुख देता है और यह आत्म-देव अपनी उपाधिसे संसृष्ट होकर, पर एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाते नहीं। एक देशमें ही अनेक देशकी सृष्टि, एक कालमें ही अनेक कालकी सृष्टि, एक वस्तुमें ही अनेक वस्तुकी सृष्टि—यह बहुत विलक्षण है और आत्मा जहाँ-का-तहाँ! न कहीं आना, न जाना।

आत्मा एक और असंग है

यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥५॥

अर्थ :—जिस प्रकार एक घटाकाश धूलि-धुँये आदिसे युक्त हो भी जाय, तो भी सारे-के-सारे घटाकाश उनसे युक्त नहीं होते, उसी प्रकार जीव भी सुखादि धर्मोंसे युक्त नहीं होते ।

कोई-कोई यह शंका करते हैं कि परमात्मामें जीव उत्पन्न हुआ है और जीवकी मृत्यु होती है । इसका उत्तर दिया कि जीवकी उत्पत्ति नहीं होती और जीवका नाश भी नहीं होता ।

न कश्चिद् जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतद् तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिद् न जायते ॥ (मां० का० ३.४८)

कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता । उसकी उत्पत्ति है ही नहीं । सर्वोत्तम सत्य यह है कि जहाँ उत्पत्ति नामकी वस्तु और प्रलय नामकी वस्तु होती ही नहीं । आत्मा तो ज्यों-का-त्यों है !

फिर जन्म-मृत्यु क्या है ? इसे दृष्टान्तसे समझो । जैसे आकाश पहलेसे मौजूद है, उसमें घट बन गया तो 'घटाकाश पैदा हुआ' कहा जाता है; घड़ा फूट गया तो 'घटाकाश मिट गया' । वैसे ही परब्रह्म तो परिपूर्ण है; आकाशवत् और उसमें जो जीवभाव घटाकाशवत् उत्पन्न और नष्ट मालूम पड़ रहा है, वह असलमें घटकी उत्पत्ति और घटके नाशका आकाशमें अध्यारोप है । वस्तुतः जैसे आकाशका उत्पन्न होना और नाश होना नहीं है, घटका ही उत्पन्न होना और नाश होना है, इसी प्रकार आत्माका भी जन्म और मरण नहीं है, यह तो उपाधिका ही बनना और बिगड़ना है ।

आप तीन क्रियापदोंपर ध्यान दें—'अस्ति,' 'भवति' और 'करोति'—है, होता है और करता है। इन तीनोंमें कैसा अन्तर आपको मालूम पड़ता है ?

'अस्ति'—है । इसमें कोई परिवर्तन और प्रयत्न नहीं है जब 'भवति' बोलते हैं—'होता है,' तो एक कदम आगे बढ़ गये । इसमें परिवर्तन है । माने पहली अवस्थासे दूसरी अवस्था प्राप्त हो रही है, परन्तु प्रयत्न नहीं है । 'अस्ति'में न

परिवर्तन है, न प्रयत्न है। 'भवति'में परिवर्तन तो है, परन्तु प्रयत्न नहीं है। 'करोति'—करता है में परिवर्तन भी है और प्रयत्न भी है।

जब हम परमात्माके सम्बन्धमें विचार करने लगते हैं तो नैयायिक आदि ईश्वरका निरूपण करते समय कहते हैं—'करोति'। परमेश्वर जगत्का निर्माण करता है। निमित्तकारण-वादी हैं वे कहते हैं—'ईश्वर जगत्का निर्माण करता है।' श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं, 'भवति'। ईश्वर निर्माणकर्ता नहीं है, वह जगत्के रूपमें हो जाता है।'

शंकराचार्य महाराज बोलते हैं—'न भवति,' 'न करोति'। 'वह न होता है, न करता है।' न उसमें परिवर्तन है, न प्रयत्न है। तब ? कि 'अस्ति'—वह तो सन्मात्र है। सन्मात्र है, तो उसमें यह सृष्टि कहाँसे आयी ? तो सृष्टि जो है वह जब हम अपनेको परिच्छिन्न मान करके देह द्वारा देखनेकी कोशिश करते हैं, स्वयं परिच्छिन्न हो जाते हैं तब दीखता है।

जितनी छोटी-बड़ी दूरबीन होती हैं, उसके अनुसार थोड़ी दूर या अधिक दूर दिखता है। यदि यह देह रूप खुर्दबीनको छोड़ करके देखें तो उसमें न प्रयत्न है न परिवर्तन है। केवल औपाधिक प्रयत्न और परिवर्तन ही उसके ऊपर आरोपित हुए हैं। उसकी अखण्ड दृष्टिमें उपाधि भी नहीं है, प्रयत्न भी नहीं है, परिवर्तन भी नहीं है। इसलिए वह ज्यों-का-त्यों है।

संसारकी जितनी भी वस्तुएँ हैं, उनके लिए केवल 'भाति' शब्दका प्रयोग किया जा सकता है। 'भाति' अर्थात् मालूम पड़ती हैं।

बनाया जाना आरम्भवाद है, 'होना' परिणामवाद है। 'है' में भासना—यह विवर्तवाद है।

कोई चीज बनायी गयी जोड़-जाड़कर—'कंकड़ चुन-चुन महल बनाया'—यह आरम्भवाद हुआ। अणु-अणु चुन-चुन कर परमाणु बनाया और परमाणु चुन-चुन कर कण बनाया और कणसे सारी सृष्टि बनी। इसका नाम हुआ आरम्भ-वाद है।

स्वयं प्रकृति सृष्टि बन गयी या ईश्वर सृष्टि बन गया, या विज्ञान सृष्टि बन गया या शून्य सृष्टि बन गया, यह परिणामवाद है। इसके इतने भेद हैं—(१) ईश्वर-परिणामवाद, (२) प्रकृति परिणामवाद, (३) चित्त-परिणामवाद और (४) शून्य-परिणामवाद।

ईश्वर-परिणामको ही ब्रह्मपरिणाम बोलते हैं। परिणाम माने होना। एक वस्तु ज्यों-की-त्यों बनी भी रहे और हो भी जाय—इसमें तो ईश्वर और ब्रह्मकी

नित्यताका ही व्याघात है, न्यके शून्यत्वका ही लोप है, अनन्तर-विज्ञानके समय पूर्वके विज्ञानकी सिद्धि ही नहीं हागी, होना भी नहीं है। तब ? होना मालूम पड़ता है, बनना मालूम पड़ता है, यही कहा जा सकता है।

किसमें मालूम पड़ता है ? जिसमें 'अस्ति'—है, उसमें मालूम पड़ता है। वह भी अस्ति रूपसे भास रहा है। किसको भास रहा है ? आत्माको भास रहा है। अपने सिवा जितनी चीजें हैं, उनके बारेमें कभी 'अस्ति' और कभी 'नास्ति' होता है। पर अपने बारेमें कभी 'नास्ति' नहीं हो सकता। कभी 'अस्ति' भी भले ना होवे, पर 'नास्ति'—'नहीं है' कभी नहीं हो सकता। यह अनुभवकी प्रणाली है।

इसलिए अनुभवको दृष्टिसे जो लोग सृष्टिके मूलका अनुसन्धान करते हैं, उनके लिए मैंने अभी जो 'अस्ति-भवति-करोति'—वाली बात बतायी वह नहीं है।

'योगवासिष्ठ'में जैसे धात्री-कथाओंकी तरह कहानियोंके द्वारा सृष्टिके रहस्योंको समझाया गया है। हजार-दो हजार वर्ष पहले ये जितनी महत्त्वपूर्ण थीं, आज इस विज्ञानके युगमें भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं।

महाभारतमें कथा है कि एक नलीमें वीर्य भरा हुआ था उसे चिड़िया उठाकर अन्यत्र ले गयी। दो चिड़िया चिड़ियोंमें लड़ाई हुई तो वीर्य गिर पड़ा। किसीको वह वीर्य प्राप्त हो गया, उसीसे एक सन्तानकी उत्पत्ति हो गयी। इस बातको आजसे २५-५० वर्ष पहले किसीको सुननेको मिलती तो वह क्या बोलता ? गप्प ही तो बोलता अब आज यह बात सम्भव हो गयी।

'विज्ञानके चरण' नामक पुस्तकमें अभी मैंने पढ़ा—कि यदि सृष्टि बढ़ानी हो तो एक गर्भमें सात-सात बच्चे एक साथ पैदा किये जा सकते हैं।

पुराणोंमें तो सातकी बात सुनते हैं, सौकी बात भी सुनते हैं, साठ हजारकी बात भी सुनते हैं। पहले तो यह पुराणोंका गपोड़ा मालूम पड़ता था।

परन्तु आजका विज्ञान कहता है—'बिलकुल सच है।' आप जरा अपनी अगली पीढ़ीके विज्ञानकी सोचो कि तबतक विज्ञान कहाँ पहुँचेगा ? बिना सोचे-विचारे किसी चीजको गप्प मान लेना मूर्खता है। सृष्टिके अनन्त रहस्य हैं और उसके अनन्त विज्ञान हैं। वह किसी भी यन्त्रके भीतर अभी पूरी तरहसे आया नहीं है। किसीने भी उसका गणित ठीक ढंगसे पूरा कर लिया हो, ऐसा नहीं है। सृष्टिका विज्ञान बड़ा विलक्षण मालूम पड़ता है। इसीसे वेदान्ती कहते हैं—'यह भानात्मक है।'

भानात्मक है अर्थात् कब कैसा भान होगा यह व्यवस्था करनेवाला बिलकुल गलत है। 'भविष्य पुराण'में एक प्रसङ्ग है, जहाँ वर्णन यह है कि—'जड़से यह सृष्टि हुई।' तो जड़ावस्था पहले कैसे उद्भिजके रूपमें आयी? और उसके बाद कैसे स्वेदज पैदा हुए, फिर कैसे अण्डज पैदा हुए, फिर कैसे जरायुज पैदा हुए? इस क्रमसे सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन है। इसका भी वर्णन है कि पहले पानी-पानी था। कैसे काई जमी? अब यह कहो कि 'भविष्य पुराण' तो वैज्ञानिक उन्नति होनेके बाद बना है'—तो सैकड़ों वर्ष पुरानी, हजारों वर्ष पुरानी तो उसकी लिखी हुई प्रतियाँ मिलती हैं, होमियोपैथी—चिकित्साका वर्णन श्रीमद्भागवतमें है। कोई कहे कि 'चिकित्सा चल गयी तब भागवतमें लिखा गया है'—तो १२वीं शताब्दीका भागवत तो हाथका लिखा हुआ आज मिलता है और उसमें वह श्लोक है। अस्तु!

आपको वह बात बताते हैं कि सृष्टिके सम्बन्धमें एक क्रम है कि—भूत्वा-भाति'—वस्तु पहले होकर तब भासती है। दूसरा क्रम है—भात्वा-भवति। पहले मालूम पड़ती है, फिर होती है। तीसरा क्रम है कि—

भानं च भवनं च युगपदेव।

भासना और होना दोनों एक-कालिक हैं, युगपत् हैं। चौथी बात है—

भानं भवनं उभयमपि मिथ्या।

होना और मालूम पड़ना दोनों मिथ्या है। अब इसीको आपको सम्प्रदायवादसे बता देते हैं।

जड़सम्प्रदाय कहता है—'पहले वस्तु है, फिर उसमें ज्ञान उत्पन्न होता है—'भूत्वा भाति'।

ज्ञान-सम्प्रदाय कहता है—'भात्वा भवति'। भासकर होता है। यह चैतन्य सम्प्रदाय हुआ।

भानं भवनं उभयमपि सत्यम्।

होना और भासना दोनों अनादि हैं और सत्य हैं—यह द्वैतवादी बोलते हैं। सांख्य, जैन, योग, न्याय सभी ऐसा मानते हैं।

बौद्ध कहते हैं—

भानं भवनं उभयमपि मिथ्या।

होना और भासना दोनों मिथ्या हैं।

अद्वैतवेदान्त कहता है—

भानं भवनं उभयमपि अद्वैतमेव।

असलमें भासना और होना—ये दोनों दो चीज नहीं है, बिलकुल एक चीज है।

'सत्से चेतनकी उत्पत्ति हुई,' यह जड़वादी बोलते हैं। 'चेतनसे जड़की उत्पत्ति हुई,' यह ईश्वरवादी बोलते हैं। 'जड़ और चेतन दोनों अनादि हैं और अनन्त हैं'—ऐसा सांख्यवादी बोलते हैं। 'जड़ और चेतन दोनों मिथ्या हैं'—ऐसा बौद्ध बोलते हैं।

जड़-चेतन अद्वय है। असलमें जड़में जड़त्व और चेतनमें चेतनत्व—यह 'त्व' नामकी कोई चीज नहीं है। प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न-तत्त्व एक ही है। अनुभवकी, विचारकी यह प्रणाली होती है।

अब अद्वैतका विरोध करनेके लिए एक युक्ति खड़ी करते हैं। क्या? 'व्यवस्थानुपपत्ति।' ये जो खण्डन-मण्डन होते हैं, उनके भी आधार बने हुए होते हैं।

जैसे, एक आदमीने कहा—'आकाशका तारा तोड़कर ले आना धर्म है।' तो क्या यह वचन प्रमाण है?

बड़े-से-बड़ा आदमी भले ही कहे, वेदमें भले कहीं लिखा हो तो भी यह वचन प्रमाण नहीं है। क्यों? 'आशक्यानुष्ठानत्वात्'। ऐसा करना शक्य ही नहीं है। तो जो काम कोई कर ही नहीं सकता उसके लिए यदि कानून बनायें तो वह बिलकुल झूठा होगा।

किसीने कहा कि 'यहाँ तो चोरी करना धर्म है' तो बोले—'नहीं, अप्रामाणिक है।' क्यों? 'शिष्टापरिग्रहणात्'। शिष्ट पुरुषोंने कभी इस धर्मको परिगृहीत नहीं किया।' तो, अप्रामाण्यकी अनेक कसौटियाँ हैं।

अच्छा तो पूर्वपक्षीने कहा कि अद्वैत मानने लायक नहीं है'।

'क्यों मानने लायक नहीं है?' 'कि व्यवस्थानुपपत्ति होगी। यह जो संसारकी व्यवस्था देखनेमें आती है, यह फिर सिद्ध नहीं होगी?

'क्यों नहीं सिद्ध होगी?'

कहते हैं—'यदि आत्मा सब शरीरोंमें एक होवे तो फिर एक ही आत्मा कहीं सुखी हो रहा है, कहीं दुःखी हो रहा है, आत्मा एक और कहीं पापी हो रहा है, कहीं पुण्यात्मा हो रहा है! कहीं बद्ध हो रहा है, कहीं मुक्त हो रहा है। 'कहीं जन्म ले रहा हूँ'—ऐसा अनुभव कर रहा है और कहीं 'मर रहा हूँ'—ऐसा अनुभव कर रहा है—ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसा अनुभव प्रत्यक्षके विरुद्ध है। इसलिए सब शरीरोंमें आत्मा अलग-अलग है, ऐसा मानना चाहिए। अन्यथा व्यवस्थानुपपत्ति होगी। इसका उत्तर मूल ग्रंथकार कारिका में देते हैं—

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।

जैसे एक घड़ेमें धुआँ भर दो, एकमें धूल भर दो और एकमें पानी भर दो। तो बोले—आकाश तो सब एक ही है फिर एक ही आकाशमें कहीं धूल, कहीं धुआँ, कहीं पानी—यह कैसे बनेगा ? घड़ेकी उपाधिसे यह बन जायगा। जो रज है, जो धुआँ है, जो पानी है, वह घड़े की चहारदीवारीके भीतर बन्द हो करके अलग-अलग है, उन्मुक्त आकाशमें अलग-अलग नहीं है।

लोगोंके शरीर घटवत् हैं,—आत्मा तो एक आकाशवत् है और उपाधियाँ सब-की-सब घटवत् हैं। एक है स्थूल उपाधि और एक है सूक्ष्म उपाधि। वेदान्ती लोग यह नहीं मानते हैं कि शरीरके भीतर मन रहता है। ऐसा मानते हैं कि मनके भीतर शरीर रहता है। इसे दृष्टि-सृष्टिवाद बोलते हैं।

इसमें मन शरीर ही नहीं, मन ही ब्रह्माण्ड है, मन ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी समष्टि है, मन ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका नियन्ता ईश्वर है। यह कोई मामूली मन नहीं है। यह मन ही माया है, यह मन ही अविद्या है, यह मन ही मुक्ति है।

जब तक तुम अपनेको बद्ध मानोगे, तब तक तुमको कोई मुक्त नहीं कर सकता।

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणातो मे न वस्तुतः।
गुणत्व मायामूलत्वात् न मे मोक्षो न वन्धनम् ॥

ऐसा श्रीमद्भागवत का वचन है।

कभी-कभी संसारमें स्त्री-पुरुषका प्रेम हो जाता है, लड़के-लड़कीका प्रेम हो जाता है, तो एक-दूसरेके लिए मर जाते हैं। क्यों मर जाते हैं ? प्रेमीपनेके अभिमान में। उनका यह अभिनिवेश होता है कि अब हम तो यह दिखाके छोड़ेंगे, कि हम प्रेमी हैं। वही उनकी मृत्युका हेतु होता है।

माँ, बाप, परिवार कोई भी अभिनिवेशको नहीं छुड़ा सकते, क्या लड़केके दिलमें लड़की घुसी है या कि लड़कीके दिलमें लडका घुसा है। क्या कहीं वे रस्सीसे बँधे हैं ? बाह्य रस्सी नहीं है। स्वकल्पित वन्धन है।

बिलकुल इसीप्रकार इस संसारमें वन्धन किसका है ? बिना रस्सीके घसीटे जा रहे हैं ! मकानने किसको बाँध रखा है ? मोटरने किसको बाँध रखा है ? आग लग जाय तो कितना कीमती मकान हो उसी समय छोड़कर भागेंगे। जब एक्सीडेन्टका पूरा खयाल हो जाता है तो मोटर छोड़कर कूद पड़ते हैं। तो, इस संसारमें जितने वन्धन हैं, वे सब स्वीकृतिके वन्धन हैं।

वेदान्ती लोग सृष्टि दो तरहसे मानते हैं—एक 'ईश्वरसृष्टि' और एक

'जीवसृष्टि'। 'पंचदशी'में ये नाम हैं। 'दृष्टिसृष्टिवाद'में तो ये नाम नहीं हो सकते, लेकिन 'पंचदशी'में 'आभासवाद'में ये नाम हैं।

ईश्वरने पृथिवी, समुद्र, तारे, आग, हवा, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र, स्त्री-पुरुष सब बनाये। सब ईश्वरकी ही कारीगरी है। लेकिन उसमें जो 'मैं–मेरा' है, यह ईश्वरकी कारीगरी नहीं है। यह जीवकी कारीगरी है। जीवने खुद अपनेको बाँध लिया।

सोना बनाया ईश्वरने, खेत बनाया ईश्वरने, लेकिन जीवने कहा—'इतना सोना मेरा, यह मकान मेरा, यह धरती मेरी, यह चाँदी मेरी, यह नोट मेरा, यह बेटा मेरा, यह औरत मेरी, यह मरद मेरा और यह शरीर 'मैं'। जीवने भूलसे, भ्रान्तिसे यह 'मैं–मेरा' बना दिया।

ईश्वरकी सृष्टि कभी किसीको दुःख नहीं देती न मिट्टी, न सोना, न चाँदी, न समुद्र। आदमी इसलिए दुःखी नहीं होता कि तूफान आ गया, इस लिए दुःखी होता है कि जिस बेटेको 'मेरा' मानता था, वह तूफानका शिकार हो गया। जिस शरीरको 'मैं' मानता था, वह तूफानका शिकार हो गया। तो दुःख ईश्वरसृष्टिमें नहीं है, जीवसृष्टिमें है, 'मैं—मेरा'में है।

इसलिए वेदान्तके विचारसे जब 'मैं-मेरा' कट जाता है, तब सारे दुःख कट जाते हैं। सारे वन्धन कट जाते हैं और सृष्टि ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। जीवन्मुक्त पुरुष भी पुरुष ही रहता है, वह भी मनुष्य ही होता है। स्त्रीके रूप-में हो या पुरुषके रूपमें, 'मैं-मेरा' कट गया। न उसे बन्धन है, न दुःख है, न राग है, न द्वेष है। क्यों? क्योंकि वह ईश्वरकी सृष्टिमें सन्तुष्ट है। वह अपनी भूल-भुलैया नहीं बनाता है।

इस बातको सांख्यवालोंने दूसरे ढंगसे कहा। वे कहते हैं कि सृष्टि दो तरहकी है—एक प्राकृत और एक प्रातीतिक। एक तत्त्वसिद्ध-सृष्टि है, एक अविवेकसिद्ध-सृष्टि है। क्या फर्क है? प्रकृतिसे बनी है, प्राकृतसृष्टि। प्राकृत-सृष्टिमें सूर्य, चन्द्र तारे, पृथिवी, ग्रह-नक्षत्र, स्त्री-पुरुष—ये सब प्राकृत हैं। पर इसमें जो सम्बन्ध है, 'मैं—मेरा, वह अविवेक है, वह जीवसृष्टि है'।

दुःख प्राकृत सृष्टिमें नहीं है, वह वैकारिक सृष्टिमें है। सम्बन्धसे दुःख होता है। प्रकृतिने सम्बन्ध नहीं बनाया है। हमने बनाया है और हम छोड़नेमें स्वतन्त्र भी हैं।

इस सम्बन्धमें जो वेदान्तकी प्रक्रियावादी रीति है, उसे सुनाते हैं—संसारमें पदार्थ दो तरहसे अनुभवमें आते हैं। एक—परिच्छिन्न अन्तःकरणमें

'अहं' करके इन्द्रियोंके द्वारा—ये पदार्थ बाहर देखे जाते हैं। ऐसे पदार्थ आभास भास्य कहलाते हैं। और दो—अन्तःकरणमें ही देखे जाने वाले पदार्थ जो एक तरहके ऐसे पदार्थ होते हैं जो इन्द्रियोंके द्वारा बाहर नहीं देखे जाते, सिर्फ मनमें ही देखे जाते हैं। ऐसे पदार्थ साक्षी-भास्य कहलाते हैं। जैसे कि सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, राग-द्वेष, क्रोधादि विकार।

जैसे, सब मनुष्य, स्त्री-पुरुष यहाँ बैठे हैं, मनुष्य तो आँखसे देखे जाते हैं! स्त्री-पुरुषका विभाग भी आँखसे हो गया, परन्तु हमारा इसमें कौन शत्रु है और कौन मित्र है यह कैसे देखा जायगा? यह आँखसे नहीं देखा जायगा। यह मनसे देखा जायगा। सुख-दुःख आँखसे नहीं देखा जाता। मरना किसीका दुःख नहीं है और पैदा होना सुख नहीं है। अपना दुश्मन मर जाय तो सुख होता है और दुश्मनके घरमें ब्याह हो, बेटा हो, आमदनी हो तो भी दुःख होता है। केवल मरना ही अगर दुःख होता तो किसीका भी मरना दुःख होता। केवल जन्मना, ब्याह होना और पैसेका आना अगर सुख होता तो कहीं भी आना सुख होता।

आपको किसीसे राग है, वह कहाँ दिखता है? बोले—भीतर दिखता है कि चित्तमें राग है। मगर नहीं, यह भ्रान्ति है तुमको! बताओ—राग लाल होता है कि काला? एक बित्तेका कि चार अंगुलका? एक गजका कि एक इंचका? राग कितना बड़ा होता है? लम्बाई-चौड़ाई है कुछ? कुछ रंग-रूप है उसमें? शकल-सूरत है उसकी? उमर है उसकी? वजन है उसमें?

तो, उम्र नहीं, वजन नहीं, लम्बाई-चौड़ाई नहीं, आकृति नहीं, शकल-सूरत नहीं, यह राग-द्वेष आखिर है क्या?

हमने ढूँढनेकी कोशिश की, पर ये न बाहर मिलते हैं न भीतर मिलते हैं। वे कब मिलते हैं? जब 'मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ'—इस प्रकार जब राग और द्वेषको मैं से मिला लेते हैं, तब ये मालूम पड़ते हैं।

किसको मालूम पड़ते हैं? साक्षीको मालूम पड़ते हैं। रागी मैं, द्वेषी मैं, सुखी मैं, दुःखी मैं। पापी मैं, पुण्यात्मा मैं! जब रागरूप राहु अहम्‌रूप सूर्यको, ग्रस लेता है, तब रागोपरक्त अहम्, द्वेषोपरक्त अहम्, माने राग-द्वेषके रंगमें रंगा हुआ अहम् साक्षीको दिखायी पड़ता है।

इसका विज्ञान यह हुआ कि जब हम अपनी दृष्टिमें मानेंगे कि हम पापी-पुण्यात्मा हैं तब हम पापी-पुण्यात्मा होंगे।

बोले—हम पाप तो करते हैं परन्तु हम अपनेको पापी नहीं मानते। तब तो हम पापी नहीं होंगे न? ऋजु बुद्धिके लोग ऐसा प्रश्न करेंगे।

सवाल यह है कि आपके पास पाप-पुण्य तौलनेका तराजू है, वह एक ही है या दो ? जैसे बनिया लोगोंके पास बेचनेको दूसरा तराजू और खरीदनेको दूसरा तराजू होता है वैसे ही क्या आपके पास पाप और पुण्य तौलनेको दो तराजू हैं या एक ? न्यायकी एक तुलापर पाप-पुण्य तोलते हैं कि अलग-अलग न्याय-अन्यायकी तुला बना रखी है, यह सवाल है।

आपने किसीकी चोरी की और आपने कहा कि हम अपनेको पापी नहीं मानते। लेकिन दूसरा कोई आपकी चोरी कर ले तो आप उसको पापी मानोगे कि नहीं? यदि उसको पापी मानोगे तो आपके पास जो न्यायका तराजू है, जिस तराजूसे आपने दूसरेको तौला था, वही आपको भी तौलेगा। कब तौलेगा ? जब आपकी बुद्धि नियन्त्रणसे बाहर हो जायगी। कब ? कि नशेमें। शराब पिलाकर लोग आपसे बकवा लेंगे कि आपने यह पाप किया।

जब मरने लगोगे और गांठ जरा ढीली पड़ेगी तब क्या होगा ? नियन्त्रणकी भी ग्रन्थि (गाँठ) होती है। जो लोग जप करते हैं, ध्यान करते हैं, पुण्याचरण करते हैं, उनकी यह नियन्त्रणकी ग्रन्थि प्रबल होती है। जो लोग जप-ध्यान-धर्मानुष्ठान नहीं करते, उनकी नियन्त्रणकी ग्रन्थि ढीली होती है। मरने लगोगे तब आपकी नियन्त्रणकी ग्रंथि ढीली पड़ जायगी और उस समय आपके भीतर जो न्यायका तराजू है, वह तौलके बता देगा कि 'जैसे तुमने दूसरेको चोर माना था, दूसरेको व्यभिचारी माना था, वैसे तुम भी चोर हो, तुम भी व्यभिचारी हो।'

रिकार्ड हो जायगा—'मैं चोर हूँ, मैं पापी हूँ, मैं व्यभिचारी हूँ।' रिकार्ड होगा तो उसका परिणाम यह होगा, ऑटोमेटिक, कि 'मैं दुःखी, मैं सुखी।' पापी-पुण्यात्माको अपने बारेमें जो वृत्ति बनती है, उसीको यह दूसरी वृत्ति है, वृत्त्यन्तर है यह सुखीपना और दुःखीपना। हमारे कहनेका अभिप्राय यह था कि 'मैं बद्ध हूँ' यह इन्द्रियोंसे नहीं देखा जाता। इसलिए 'मैं मुक्त हूँ' यह भी इन्द्रियोंसे नहीं देखा जाता।

'मैं सुखी-दुःखी हूँ'—यह इन्द्रियोंसे नहीं देखा जाता, इसलिए 'मैं सुखी-पने और दुःखीपनेसे मुक्त हूँ, यह भी इन्द्रियोंसे नहीं देखा जाता। यह तो अभिमान है—'मैं पापी हूँ—मैं पुण्यात्मा हूँ, मैं रागी हूँ—मैं द्वेषी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ।' यह ईश्वरकी मर्यादा-नियम है कि जब आप अपनेको बद्ध मानोगे तो बद्ध और जब अपनेको मुक्त मानोगे तो मुक्त। लेकिन सावधान ! ज्ञानपूर्वक, अधिष्ठान ज्ञानसे अपनेको मुक्त मानोगे तब तो प्रतिबन्ध रहित मुक्ति है।

परन्तु यदि बिना ज्ञानके मान बैठोगे तो जिस समय नियन्त्रण ढीला पड़ेगा उस समय यह बात रहेगी कि नहीं रहेगी, इसमें सन्देह है।

यदि बुद्धिको नियन्त्रित करके, भावनासे, अपनेको मुक्त मानोगे, तो नियन्त्रण छूटने पर 'मैं मुक्त हूँ', क्या यह अभिमान रहेगा कि छूट जायगा ? यदि अधिष्ठान ज्ञानके द्वारा अपनेको मुक्त जाना तो नियन्त्रण ढीला पड़नेपर भी तुम मुक्त ही रहोगे। पागलपनसे भी तुम्हारी मुक्ति क्षीण नहीं होगी।

कहनेका अभिप्राय यह है कि दुनियामें सुखी कौन है ? लोगोंने कहा— 'ये तो बहुत बढ़िया कपड़ा पहनते हैं। इनके पास मकान अच्छा और मोटर बहुत बढ़िया। ये तो बहुत सुखी होंगे।' उनसे दोस्ती जोड़ो।

दोस्ती जोड़ी तो वे अपने मनकी बात बताने लगे। बाहरसे देखनेमें तो वे बड़े सुखी, और भीतरसे तो दुःखी-दुःखी। एक बारकी बात है—जब करपात्रीजीने यहाँ (बम्बईमें) यज्ञ करवाया था।

एक सेठ हमारा मित्र था। उस समय उसके पास मोटर थी, छः-सात मकान थे बम्बईमें। बाहरसे बढ़िया कपड़ा पहनता था और यज्ञमें भी कुछ प्रबन्ध उसके हाथमें था। देखा मैंने गुमसुम-गुमसुम! पहले जैसी बात करता था, वैसी बात ही न करे! तो मैंने उसको गुदगुदाया कि 'बात क्या है भाई ?'

दुनिया भर तो समझे कि वह बड़ा सुखी, बड़ा आदमी है। वह बोला— 'महाराज ! अब नाव डूबी समझो। अब गया—तब गया, उल-चूल हो रहा है।'

मैंने कहा—'भलेमानुस ! इतनी तुम्हारी मोटर, इतने नौकर, इतना खर्च ! कम क्यों नहीं करते ?'

वे बोले—'महाराज, कम कर दें तो जो कल होनेवाला है, वह आज ही हो जायगा। हमारी पोजीशन बिगड़ जायगी, इसलिए बनावट सिंगार रखना पड़ता है।'

जब चेहरेपर झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं तब लोग प्रसाधन-सामग्रीका उपयोग ज्यादा करते हैं। जब बाल पकने लगते हैं तब उसका ज्यादा खयाल रखते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि जब हम बाहर देखते हैं कि ये बड़े सुखी हैं, ये बड़े सुखी हैं मगर भीतर उनके आग लगी होती है। वे भीतरसे सुखी नहीं होते।

इसके विपरीत जो बाहरसे दीखता है कि इसके पास कुछ नहीं है वह भीतरसे सुखी हो सकता है। ये महात्मा लोग धरतीपर सो लेते हैं, पेड़के नीचे

पड़-रहते हैं, गंगामें स्नान कर लेते हैं। न उनको बाथरूमकी जरूरत है, न मकानकी। अपने पाँव पर–ईश्वरकी मोटर पर चलते हैं! आप क्या समझते हैं— वे सुखी नहीं हैं?

तो, जो अपनेको बद्ध मान लेता है न, वह बद्ध। जो पापी मान बैठता है, वह पापो। जो अपनेको पुण्यात्मा, रागी, द्वषी, सुखी, दुःखो मानता है वह सब वैसा ही है। ये सब जिद्द हैं असलमें। सब एक-एक प्रकारके ग्रहण हैं। चन्द्रमापर जैसे ग्रहण लगता है, वैसे मन पर ग्रहण लगता है।

रागोपरक्त—द्वेषोपरक्त! 'उपरक्त' का अर्थ ग्रहण होता है। यह मन पर राग-द्वेषका ग्रहण लग गया है। कहीं सुखीपना-दुःखीपना नहीं है। यह कहाँ है? यह घड़ेमें है कि आकाशमे? देखो, सच्चो बात यह है कि यह न घड़ेमें है, न आकाशमें है। ईमानदारीकी बात बिलकुल यही है।

एक तिब्बती लामाका प्रश्नोत्तर है—

प्रश्न—'यह मठ पर लगा हुआ झण्डा हिल रहा है कि हवा हिल रही है?'

उत्तर—'तुम्हारा दिमाग ही हिल रहा है।'

यह घड़ा और यह आकाश—ये तो दृष्टान्त हैं! आत्मवस्तु तो 'हेतु-दृष्टान्त-वर्जितम्' है। उसमें न कोई हेतु है न कोई दृष्टान्त है। वह किसीके समान नहीं है। उसमें कार्य-कारणभाव बिलकुल नहीं है फिर भी समझानेके लिए बात तो कही जाती ही है।

घट भी दो तरहका है—एक शारीरिक घट और एक मनोघट। और आकाश? एक। कौन-सा? चिदाकाश। यह तो सन्मात्र, चिन्मात्र आनन्दमात्र वस्तु है!

यह अन्तःकरण देहमें-से पैदा होता है—एक कल्पना यह है; और देह अन्तःकरणमें-से पैदा होता है—यह दूसरी कल्पना है। यदि अन्तःकरणमें-से यह पैदा होता है, तो इससे पूर्वजन्म और उत्तर जन्मकी सिद्धि होती है; स्वर्ग-नरक, भाव-भावान्तर इनकी सिद्धि होती है, और यदि शरीरमें-से अन्तःकरण पैदा होता है, तो इससे पुनर्जन्मकी सिद्धि नहीं होती।

हम यह आपको बता रहे हैं कि कदाचित् ऐसा समय आ सकता है कि अमुक-अमुक दवाओंको एक गिलासमें मिला करके उसमें अन्तःकरण बनाया जा सके, उसमें वीर्य बनाया जा सके, उसमें रक्त बनाया जा सके। उसमें चेतना

उत्पन्न की जा सके। हाँ, ऐसा समय आ सकता है। इसमें हमें कोई असम्भावना मालूम नहीं पड़ती है।

एक समय ऐसा था जब शूद्रको ब्राह्मण और ब्राह्मणको शूद्र बोलते थे। एक समय ऐसा था जब ब्रह्माका नाम चींटी था और चींटीका नाम ब्रह्मा था ऐसा वर्णन मिलता है। ऐसा समय था, जब देवता लोग स्वर्गमें नहीं पातालमें रहा करते थे, और दैत्य लोग पातालमें नहीं, स्वर्गमें रहा करते थे। स्वर्गमें रहने वालोंका नाम दैत्य था और पातालमें रहने वालोंका नाम देवता था, एक समय ऐसा था।

जो फटे कपड़ोंमें रहते थे उनका नाम शहनशाह होता था, सम्राट् होता था और जो शौक-वौक करते थे उन लोगोंका नाम भिखारी हुआ करता था। जो दौड़ता था सड़कपर, चाहे पैदल दौड़े चाहे मोटरसे दौड़े, उसके लिए कहते थे कि 'बोलो मत, जाने दो इसे, दौड़ने दो!' 'क्यों?' 'क्योंकि इसके कलेजेमें आग लगी है? ऐसा बोलते थे।

आपने सुना होगा कि एक दिन एक हवाई जहाज आकाशमें उड़ रहा था। तो दो चिड़िया आपसमें बात करने लगीं! एक चिड़िया बोली—'यह चिड़िया है तो बहुत बड़ी, पर इसे ऐसी क्या जल्दी पड़ी है कि इतने जोरसे भागी जा रही है?'

दूसरीने कहा—'सखि! तुम बात तो अच्छी कहती हो; अगर तुम्हारी पूँछमें आग लगी हो, तो तुम क्या करोगी? इस चिड़ियाकी पूँछमें आग लगी है, इसलिए यह तेजीसे उड़ रही है।'

जो लोग तेजीसे चलते हैं, धमाधम पाँव रखके, उनको भी बोलते हैं कि 'इनके भीतर ऐसी आग लगी है, ऐसी वासना भरी है, ऐसे प्यासे हैं, ऐसे भूखे हैं ये कि उसके लिए भागे जा रहे है। भिखारी लोग हैं ये! इनके घरमें दम-दिलासा कुछ नहीं। ये भूखे-प्यासे भागे जा रहे हैं।'

जो शान्तिसे बैठा है, उसके घरमें माल-मसाला है, तब तो बैठा है न! जिनके घरमें माल-मसाला नहीं है, वे चौपाटी जारहे हैं। घरमें चाट नहीं बन सकी, तब न उधर गये? यह गरीबकी पहचान है।

यह सृष्टि-प्रलय तो बदलता रहता है। चाहे स्थूल घटसे सूक्ष्म घट पैदा हो और चाहे तो सूक्ष्म घटसे स्थूल घट पैदा हो, घड़ेमें ही रज है—'रजोधूमादिभिर्युते।'

रज माने राग, वासना, उपराग। ही यरज है, यही धुआँ है जो उठ रहा है; सुलग रहा है दिल, उसी घड़ेके भीतर जो आकाश है, उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, सबमें बन्धन अलग, मोक्ष अलग और राग-द्वेष अलग मालूम पड़ता है। किसीकी प्रकृति बन्धनके लिए प्रयत्न कर रही है और किसी-की प्रकृति अपवर्गके लिए प्रयत्न कर रही है। पुरुष तो ज्यों-का-त्यों है। परमात्मा तो ज्यों-का-त्यों है। यह तो अपना-अपना 'नेचर' (स्वभाव) ही समझो। यह घटमें ही मुक्तिके लिए उन्मुखता और घटमें ही बन्धनके लिए उन्मुखता हो रही है। वस्तु तो ज्यों-की-त्यों है।

अब इस पर प्रश्न करते हैं कि जब सबमें एक ही आत्मा है, तो सबके सुख-दुःखके साथ उसका सम्बन्ध हो जायगा ?

सांख्यवादीने यह माना कि बहुत-से आत्मा हैं। क्योंकि एकका जन्म सबका जन्म नहीं है, एकका करण (औजार) सबका करण नहीं है, एकका मरण सबका मरण नहीं है।

जब वाचस्पति मिश्रके सामने यह प्रश्न आया कि जन्म-मृत्यु, बुद्धि-अन्तःकरणका भेद होनेसे सुख-दुःखका भेद होनेसे आत्माका भेद है, ऐसा सांख्य मानता है, तो उन्होंने कहा कि—'क्यों भाई ! यह बुद्धि तो प्रकृतिमें रहती है। तुम्हारे मतमें आत्मा जो पुरुष है, उसमें तो सुख-दुःख नहीं रहता, यह तो प्रकृतिमें है। यह अन्तःकरण प्रकृतिमें है। तो फिर अन्यगत अभिमानको लेकर तुम अन्यमें जन्म-मृत्यु और सुख-दुःख, बन्धनका अध्यारोप कैसे कर रहे हो ? अरे सांख्यवादियो ! यह बात तो हमारी समझमें नहीं आती।

'तुम्हारे ही मतसे प्रकृति अलग है और पुरुष अलग है। प्रकृतिके धर्म-का तुम पुरुषमें अध्यारोप कर रहे हो, तो "मैं ब्रह्म हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ"—इत्याकारक अभिमान अविवेकसे सिद्ध हुआ न ? तुम्हारे ही मतमें जो विवेक न करनेसे अविवेकसे सिद्ध है, उसी अविवेकके द्वारा सिद्ध हेतुसे तुम आत्माको अनेक सिद्ध करते हो ?'

सांख्योंने कहा—'भाई ! आत्मा अनेक न हो तो प्रकृति किसीको मोक्ष कैसे दे और किसीको बन्धन कैसे दे ?

वाचस्पति बोले—'अरे, प्रकृतिका ही बन्धन होता है और प्रकृतिका ही मोक्ष होता है। आत्मा तो केवल सन्मात्र है। उसकी प्रवृत्तिके लिए आत्मा-

का ईश्वर होना जरूरी नहीं है। उसकी प्रवृत्तिके लिए आत्माका सच्चिदानन्द-मात्र होना आवश्यक है।

× × ×

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः॥

यह बात बता रहे हैं कि अपना आत्मा ज्ञानस्वरूप है। जाना जाय सो नहीं और जाननेवाला, सो भी नहीं; जिसकी वजहसे जगत् जाना जाता है और जीव-ईश्वर जानते हैं वह ज्ञानस्वरूप, जिससे जीव-ईश्वर-जगत् सबकी सिद्धि होती है—सो आत्मा है। ऐसा आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वह सुखवाला, दुःखवाला नहीं है, क्योंकि जिन लोगोंने आत्माका भेद माना है और प्रकृतिको सत्य माना है, उन लोगोंने भी सुख-दुःखको आत्माका धर्म नहीं माना है।

बुद्धिसमवायादुपगमाद् सुखदुःखादीनाम्।

सुख-दुःख बुद्धिमें होते हैं। बुद्धि कभी सुख मानती है कभी दुःख मानती है। बुद्धि विज्ञानमय कोशके अन्तर्गत है। वही कर्त्ता है, वही भोक्ता है। जब हम अपने आपको उसके साथ जोड़ देते हैं, अपने स्वरूपके अज्ञानसे, अपने स्वरूपके अविवेकसे, भ्रान्त हो करके हम दूसरेके साथ तादात्म्यापन्न हो जाते हैं, तब हम अपनेको सुखी-दुःखी मानते हैं।

जब आदमी रास्तेमें बैठा हो, उसका बहुत प्रिय जन आनेवाला हो और दूरसे मोटर आती दीखे तो लगा कि 'बस-बस। आ गये! बड़ा आनन्द आवेगा!' परन्तु जब मोटर आयी और सर्रसे निकल गयी तो पस्त हो गये। पहले सुखकी कल्पना कर लेते हैं और उसके बाद कल्पनाके अनुरूप कोई घटना नहीं घटती है तो दुःख मानते हैं।

जो सावधान हैं, उनके जीवनमें सुख-दुःख ऐसे फुरफुराते हुए होते हैं, जैसे सड़कपर चलते हैं तो कहीं गन्दा पड़ता है और कहीं स्वच्छ पड़ता है, तो दोनोंको पार करते हुए चलते हैं। जैसे कालचक्रमें दिन और रातका जोड़ा है, जैसे देशचक्रमें गन्दा और स्वच्छका जोड़ा है, वस्तुमें प्रिय और अप्रियका जोड़ा है, वैसे ही अपनी बुद्धिमें सुख-दुःखका यह द्वन्द्व आता रहता है और बहता रहता है।

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥

कालिदासने 'मेघदूत'में कहा है—'दुनियामें ऐसा कौन है जिसको हमेशा सुख-ही-सुख मिला हो ? ऐसा कौन हुआ है जिसको हमेशा दुःख ही मिला हो ? तुम क्यों यह खयाल बनाते हो कि हमें सुख ही हमेशा मिलेगा या कि जो दुःख आवेगा, वह हमेशा बना ही रहेगा। जैसे रथका पहिया ऊपर-नीचे होता रहता है, वैसे ये सुख-दुःख आते-जाते रहते हैं।

सिंधमें एक बहुत औलिया महात्मा थे। वे जंगलमें, एकान्तमें, गुफामें रहते थे। गाँवके लोग उनके पास भोजन पहुँचाते थे। एक दिन बढ़िया भोजन गया तो बोले—'भाई, आज क्या है ? आज तो बहुत बढ़िया भोजन आया।'

'महाराज, आज श्राद्ध था।'

बोले—'अच्छा, श्राद्धमें इतना बढ़िया भोजन बनता है ? भाई, रोज-रोज श्राद्ध हुआ करे तो क्या आनन्द !' अब गाँवमें रोज-रोज लोग मरने लगे। रोज-रोज किसी-न-किसीका श्राद्ध आने लगा। गाँवका मुखिया बड़ा चिन्तित हुआ। ध्यान हुआ कि यह तो महात्माका वचन सत्य हो रहा है।

गाँवमें किसीके यहाँ बच्चा हुआ तो उससे भी बढ़िया भोजन, छप्पनों व्यंजन बनाकर ले गये—

बोले—'आज तो उससे भी बढ़िया भोजन है ! क्या है ?'

'महाराज ! बच्चा हुआ है।'

'अच्छा, बच्चा हुआ है ? बच्चा होने पर ऐसा बढ़िया भोजन होता है ? तो रोज-रोज बच्चा हुआ करे।'

तो भाई बच्चा होना भी लगा रहता है और मरना भी लगा रहता है। इसमें मनकी एक आदत होती है। जिसका मन दुःखी होनेका आदी होता है, वह हर जगह दुःख ढूँढ़ लेता है। जैसे गुबरैला ! मलका कीड़ा हर जगह गन्दगी ढूँढ़ लेता है। चींटी हर जगह शक्करका कण ढूँढ लेती है।

अपने मनको चींटी बनाओ। अपने मनको गुबरैला मत बनाओ ! सब जगहसे सुख ढूंढ लो। हर बातमें सुख माने, वह मन कितना बढ़िया होगा ! यह मन तुम्हारा बच्चा है; कभी थोड़ी देरके लिए रो जाय ! बच्चा रो जाय तो रो जाय ! तुम अपना सिर पीटकर क्यों फोड़ते हो ?

लालयेत् चित्त-बालकम्।

इस मनका स्वभाव बच्चेकी तरह है। बात-बातमें सुख-दुःख नहीं मान लेना। वेदान्तको, तत्त्वकी चर्चा इसलिए करते हैं कि अगर मनुष्यकी समझमें असलियत आ जाय तो सुख-दुःखका आना-जाना तो बंद नहीं होगा, परन्तु

उसमें जो मूल्यांकन है कि 'ओहो ! हमारे घरमें ऐसा ! हमारे मनमें ऐसा !' इस बातका दुःख नहीं होगा।

एक बारकी बात है। हम बदरीनाथ जा रहे थे। जोशीमठमें पहुँचे। जाते-जाते थोड़ा अँधेरा हो गया। पहले यह खयाल था कि-देरसे भी पहुँचेंगे तो वहाँ 'ज्योतिर्मठ' है। हम 'ज्योतिर्मठ'के ही हैं। हमारे शंकराचार्य भगवान् होंगे ! हम जायेंगे, ठहरेंगे ! हमारा तो स्वागत होगा—ऐसा खयाल था।

वहाँ पहुँचे तो 'ज्योतिर्मठ'में तो ताला लगा हुआ था। वहाँ कोई नहीं था। अब यह हुआ कि और कहीं ठहर जायँ ! उस दिन उस शहरमें एक करोड़पति पार्टी ठहरी हुई थी। उनके साथ १४४ तो कंडी थीं और एक-एकके चार-चार कुली ! उनके घरके कितने ही लोग थे, रिश्तेदार थे, नातेदार थे। सारा जोशीमठ भरा था। ढूँढनेपर कहीं रहनेकी जगह न मिले !

अन्तमें यह निश्चय हुआ कि वह सेठ तो हमारी जान-पहचानके ही हैं ! चलो, उन्हींके यहाँ ठहरें। जहाँ वह थे, वहाँ जाकर आसन लगाकर बाहर बैठ गये। जब उन्हें मालूम पड़ा कि बाहर स्वामीजी बैठे हैं तो आये। पूछा—'क्या बात है ?

मैंने कहा—'देखो न, न कहीं ठहरनेकी जगह मिलती है, न दूध मिलता है ! हम लोग इसलिए आकर आपके दरवाजेपर बैठ गये हैं।'

तुरन्त उन्होंने अपने कई आदमियोंको एकमें किया और हमलोगोंके लिए एक कमरा खाली करवा दिया। हमलोग भी सात-आठ थे। पूरी बनवायी गयी। परोसनेको आयी सेठकी लड़की।

रसोइयेने तो साधु समझकर मोटी-मोटी पूरी बना दी थी। उस लड़कीने कहा—'मैं परसनेको जाऊँ स्वामीजीको यह मोटी पूरी लेकर ?'

उस लड़कीके हाथमें जो थाली थी, उसने झट्से पटक दी। फिर बादमें बहुत बढ़िया पूरी बनी और हमलोगोंका बहुत बढ़िया स्वागत हुआ।

हमलोगोंके आगे मोटी पूरी आ गयी तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। हम तो कच्ची पूरी भी खाते हैं, जली-मोटी भी खा लेते हैं ! जिसके घर जैसी मिल गयी ! संन्यासी हैं। हमलोग मद्रासीके घर डोसा-इडली खाते हैं, मारवाड़ीके घर सेंगरीका साग खाते हैं। पंजाबीके घर तंदूरकी रोटी और उड़दकी दाल खाते हैं। सिंधियोंके घरमें सागभाजी खाते हैं। हमारे देशमें ऐसा कौन-सा प्रान्त है, जिस प्रान्तका भोजन हम नहीं करते हैं ! हमारे लिए मोटी और पतली पूरीका मूल्यांकन ज्यादा नहीं है। परन्तु उस लड़कीको पतली और मोटी पूरीका बहुत मूल्यांकन है।

इसी प्रकार हमारे मनमें जो भाव आता है, कभी सुखका, कभी दुःखका; कभी अनुकूलका, कभी प्रतिकूलका ! तो छोटे-मोटे लोग कहते हैं—हमारे मनमें दुःख आ गया ? क्या तुम्हारा मन कर्मानुसार नहीं बना है, या कि तुम्हारा मन प्रकृतिके नियमोंसे परे है, या कि तुम्हारा मन ईश्वरके अधीन नहीं है, या कि तुम्हारा मन संस्कारोंसे नहीं, दिव्यदेशसे कहींसे पधारा है ? अरे भाई ! यह तो जैसी तुम्हारी आदत पड़ गयी है, जैसी तुम्हारी कल्पना बन गयी है, ऐसी सुख-दुःखकी कल्पना हो जाती है ।

इसमें सावधानीकी बात इतनी ही है कि मनमें सुखकी छाया आ जाय, मनमें दुःखकी छाया आ जाय; परन्तु उसका मूल्यांकन न हो । जैसे यदि हमारे पीछे एक शीशा लगा दिया जाय तो जितनी मोटरें गुजरेंगी, सबका प्रतिबिम्ब उसमें पड़ेगा । उसी प्रकार मन तुम्हारे कलेजेमें शीशा-सरीखा लगा हुआ है । उसमें कितनी चीजें आती हैं, कितनी चीजें जाती हैं । यदि तुम उन सब छायाओंको पकड़कर रखना चाहो कि ये सब चीजें बनी रहें; उनकी कीमत आँकते रहो, तो तुम स्वस्थ नहीं हो । हमारे एक मित्र हैं, वे रास्तेमें जितनी मोटरें मिलती हैं, वे बोलते जैसे हैं, 'यह अमुक है, यह अमुक है, यह अमुक है । यह लाख रुपयेकी है, यह पचास हजारकी है । यह तीस हजारकी है ।

एक बच्चा है । हर समय हाथमें कागज पेन्सिल रखता है । जितनी मोटरें गुजरें, उनका नंबर लिखता है । यह उसकी 'हॉबी' है । ऐसे ही मनमें सुख-दुःख जो आते हैं, सड़कोंपर जैसे मोटरें आती-जाती हैं, वैसे ही आते-जाते हैं । कोई धूल उड़ा देती है, कोई पानी छिड़क देती है, कोई शान्तिसे चली जाती है, कोई बहुत आवाज करती है, कोई बिलकुल आवाज नहीं करती है । उनका नम्बर नोट मत करो ।

मनकी सड़कपर सुख-दुःख बटोही हैं—यात्री हैं । ये कोई तुम्हारे नातेदार नहीं हैं, रिस्तेदार नहीं हैं । ये रहनेवाले नहीं हैं । ये तो बिलकुल प्रातीतिक हैं । बस, इनसे प्यार मत कर बैठो ! जैसे सड़कपर घूमते हुए आदमीसे कोई मनचला प्यार कर बैठे और फिर रोवे कि—'हाय-हाय ! हमारा प्यारा चला गया ।' ऐसे ही मनमें कोई सुखका भाव आया और उससे प्यार कर बैठे, दिल दे दिया और बोले—'मैं सुखी, मैं सुखी, मैं सुखी !' अपने आपको उसके अधीन कर दिया ! आने-जानेवालेके हाथमें अपनेको सौंप दिया । सुख आया, सुख गया ! दुःख आया, दुःख गया । तुम ज्यों-के-त्यों हो ! इसीको बोलते हैं—'औपाधिक' ।

अंग्रेजोंके जमानेमें कई बार कई लोगोंको 'रायबहादुर' की उपाधि दी गयी और वह फिर छीन ली। जब वे राष्ट्रीय आंदोलनमें शामिल हुए, तो कई लोगोंका 'सर' और कई लोगोंका 'राजा' और कई लोगोंका 'रायबहादुर'—ये खिताब छिन गये। इस खिताबको 'उपाधि' बोलते हैं। उपाधि माने बाहरसे जो आयी और गयी। कई लोगोंकी बी० ए०; एम० ए० की डिग्री भी छिन जाती है। गलत किया तो 'डॉक्टर'की उपाधि छीन ली, 'वकील'की उपाधि छीन ली। तो वे वकालत नहीं कर सकते।

सच पूछो तो वेदान्त-सिद्धान्तमें अपने आत्मस्वरूपमें न तो आकाश दृष्टान्त है और न घट उपाधि है। क्यों ? आकाश तो मन-सा कल्पित है। आँखसे तो अँधेरा दीखता है, रोशनी दीखती है. आकाश दीखता नहीं। आँखसे नीला रंग दिखता है और अवकाशमें रहनेवाले आदमी दिखते हैं, वस्तुएें दिखती हैं परन्तु आकाश आँखसे नहीं दिखता। प्रकाश और अन्धकार जिसमें आते-जाते हैं, जिसमें सूर्य, ग्रह-नक्षत्र, वायु—ये सब चलते-फिरते हैं, उसको हम मनसे आकाश समझते हैं।

आकाश प्रत्यक्ष वस्तु नहीं है। इसीसे चार्वाकोंने आकाशको तत्त्व ही नहीं माना है। आप जानते होंगे, जैसे नैयायिक लोग जलको तत्त्व नहीं मानते, वैसे चार्वाक लोग आकाशको तत्त्व नहीं मानते। तब वायु, अग्नि और पृथिवी–ये तीन ही तत्त्व रह जाते हैं। ठोस पृथिवी, गैसके रूपमें अग्नि, और गतिके रूपमें वायु कफ-वात-पित्त, इन्हींके द्वारा यह सारी सृष्टि चलती है। सत्त्व-रज-तम यह त्रिवृत्करण हो जाता है इनका।

वेदान्त-सिद्धान्तकी दृष्टिसे आकाश भी मन-से-मनमें मालूम पड़ता है। अब कहो कि इसमें घड़ेकी जो उपाधि है, सो क्या है ? तो आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवी—इन पंचभूतोंके पंचीकृत रूपमें घट कल्पित हुआ है। इसलिए आकाशसे पृथक् वह घड़ा भी नहीं है। इसी प्रकार आत्माके अखण्ड रूपमें न प्रकृति है न प्राकृत है।

जो लोग कहते हैं, 'आत्मा सुखी, आत्मा दुःखी'—उनके मनको थोड़ी देरके लिए मान लेते हैं। इसको 'अभ्युपगम सिद्धान्त' बोलते हैं।

एक वकील अदालतमें बहस कर रहे थे कि—'सरकार श्रीमान ! पहली बात तो यह है कि वहाँ कोई जुर्म हुआ ही नहीं। अगर मान लें, जुर्म हुआ भी, तो जिसकी ओरसे हम वकालत कर रहे हैं, वह आदमी वहाँ था ही नहीं, और मान लो, वह आदमी था भी, तो उसने कोई जुर्म किया ही नहीं।

मान लो, उसने जुर्म किया भी, तो किसीने देखा ही नहीं। और मान लो, किसी-ने जुर्म होते देखा भी, तो जिसका पक्ष मैं ले रहा हूँ, जिसका नाम यह लेता है, वह दुश्मनीसे लेता है। उसकी और उसकी बड़ी दुश्मनी है।'

पहली बात तो यह है कि द्वैत है ही नहीं। न प्रकृति, न प्राकृत। मान लो, द्वैत है और प्रकृति है, तो आत्मामें न बन्धन है न मोक्ष। आत्मामें न सुख है न दुःख। बन्धनकी कल्पना भी बुद्धिमें होती है और मोक्षकी कल्पना भी बुद्धिमें होती है। बुद्धि तो प्रकृतिका कार्य है, बुद्धिमें जो बन्धन और मोक्षकी कल्पना है, उसका आत्माके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। आत्मा तो बुद्धिका द्रष्टा है, बुद्धिका साक्षी है। बुद्धि कभी मान बैठती है कि 'मैं बद्ध हूँ' और कभी मान बैठती है, 'मैं मुक्त हूँ।'

आपसमें जो लोग प्रेम करते हैं न, तो जब प्रेम होता है तब खयाल होता है कि 'हम तो अब जन्म-जन्मके लिए बँध गये। अब जन्म-जन्मके लिए हम पति और जन्म-जन्मके लिए हम पत्नी! और कुछ नहीं चाहिए। हमारा यह जोड़ा हमेशा बना रहे। यह हुआ बद्ध! 'मैं बँध गया।'

जिस दिन लड़ाई होती है, उस दिन देखो, क्या आता है मनमें? आखिर आदमीका मन ही तो है! क्या कल्पना होती है? एक दिन एक पति-पत्नी लड़ते हुए आये; चार सौ मील दूरसे आये। पत्नीका मायका था वृन्दावन। वह वहाँ भागकर आ गयी। फिर पति भी उसके आ गये।

मैंने दोनोंको बहुत समझाया-बुझाया। हमारे बहुत परिचित प्रेमी थे। किसी तरह सुलह हुई, हँसीकी बात होने लगी। मैंने हँसी-हँसीमें कहा—'आओ, हम तुम दोनोंका फिरसे ब्याह कर दें। अरे, पत्नी बोली—'ना महाराज! अब दुबारा ब्याह करना होगा तो मैं उनसे बिलकुल नहीं करूँगी।'

मैं तो हँसीकी बात कर रहा हूँ। कहनेका जो मतलब है वह समझो। जो बन्धन है और जो मुक्ति है, यह तो बुद्धिका विषय है, प्राकृतसिद्धान्तकी दृष्टिसे भी और सांख्यसिद्धान्तकी दृष्टिसे भी। प्रकृति ही बँधती है और प्रकृति ही मुक्त होती है। बुद्धि ही बँधती है और बुद्धि ही छूटती है। आत्मदेव ज्यों-के-त्यों रहते हैं।

बोले—'भाई, यह जो प्रकृति काम करती है, वह आत्माकी प्रेरणासे करती है या स्वतन्त्रतासे काम करती है?' सांख्यमें दो भेद हैं—एक सेश्वर सांख्य और एक निरीश्वर सांख्य। जो पुरुषविशेषवादी सांख्य है, उसे 'योग-सांख्य' बोलते हैं। पुरुषविशेषवादी सांख्य माने योग दर्शन और अनेक पुरुषवादी सांख्य माने निरीश्वर सांख्य।

निरीश्वर सांख्य कहता है—'प्रकृति स्वयं ही, चेतनके अधिष्ठातृत्वके बिना, पुरुषको 'बाँध' लेती है। पुरुष तो नहीं बँधता है, प्रकृति स्वयं किसीकी अभिमान कर लेती है और प्रकृति स्वयं किसीकी मुक्तिका अभिमान कर लेती है। बन्धन और मुक्तिका अभिमान प्रकृतिमें है, आत्मामें नहीं। पुरुष केवल सत्तामात्र है, चिन्मात्र है, द्रष्टामात्र है। वह न तो बन्धनमें हेतु है न मोक्षमें हेतु है। उसकी उपस्थिति-मात्रसे, सान्निध्य-मात्रसे ही प्रकृति अपना सारा काम कर लेती है। बड़ी निपुण है।

सांख्य सिद्धान्तमें प्रकृति महा-निपुण है। सब यह मानते हैं कि पुरुष अविवेकके कारण प्रकृतिके धर्मको जब अपनेमें स्वीकार करता है तब प्रकृति अपनेको बद्ध मानती है और पुरुष भी अपनेको बद्ध मान बैठता है और प्रकृति अपनेको मुक्त मानती है, तो पुरुष भी अपनेको मुक्त मान बैठता है। पुरुष न बद्ध है न मुक्त। यह तो जैसे विवाह और तलाक होते हैं। ऐसा है। विवाह भी किया प्रकृतिने और तलाक भी दिया प्रकृतिने। और पुरुष ज्यों-के-त्यों अपने स्वरूपमें।

दूसरा मत यह है कि पुरुषके सान्निध्यमात्रसे ही प्रकृति यदि काम करती है तो पुरुषको अनेक माननेका क्या कारण है? न पुरुषमें जन्म-मृत्यु है और न प्रकृतिमें ही। न पुरुषमें बन्धन-मोक्ष है न प्रकृतिमें, न पुरुषमें सुखीपना-दुःखीपना है, न प्रकृतिमें। अन्यगत धर्मका अन्यमें अध्यारोप करके यह मानना कि पुरुषके बन्धनके लिए और पुरुषकी मुक्तिके लिए, पुरुषके सुखीपने और दुःखीपनेकी व्यवस्थाके लिए पुरुषको अनेक मानना चाहिए, कहाँ तक ठीक है? 'यह सारी व्यवस्था तो प्रकृतिमें जो भेद है, उसीसे हो जाती है। उसमें पुरुषको अनेक माननेकी क्या जरूरत है? पुरुष द्रष्टामात्र है, चिन्मात्र है। पुरुषके सान्निध्य-मात्रसे प्रकृति सब काम कर लेती है, वहाँ प्रकृतिका धर्म यदि पुरुष पर माना जाता है, तो यह अविवेक है।'

सेश्वर सांख्य (योगदर्शन) ने कहा कि 'हम प्रकृतिको पुरुष-विशेषके द्वारा अधिष्ठित मानते हैं। प्रकृति और पुरुषका नियन्ता ईश्वर है'—यह बात बतायी।

तो बोले—'ना बाबा, उपलब्धिस्वरूप जो आत्मा है, उसमें नियन्तापनेकी कल्पना करनेकी जरूरत नहीं है। प्रकृतिमें होनेवाले किसी भी अर्थका सम्बन्ध पुरुषके साथ नहीं है। प्रकृति जो कुछ पुरुषके लिए करती है उससे भी पुरुषमें भेदकी कल्पना नहीं हो सकती। बन्ध-मोक्ष भी पुरुषमें नहीं है। निर्विशेष और चेतन-मात्र होने पर भी 'आत्मा बहुत हैं'—यह बात बिलकुल गलत है।

पुरुषके सान्निध्यमात्रसे प्रकृति अपना सारा काम कर लेती है। उसमें पुरुषके भेदकी, उसके किसी अन्य नियन्ता होनेकी जरूरत नहीं है।'

यदि पुरुष असलमें दृश्य होवे, तो उसे कहा जाय कि पुरुष भिन्न-भिन्न हैं। भेद जहाँ भी होता है वहाँ दृश्य पदार्थमें भेद मालूम पड़ता है। घड़ेसे कपड़ा अलग है, कपड़ेसे घड़ा अलग है। क्यों; क्योंकि दोनों दृश्य हैं। कपड़ेकी विशेषता यह है कि वह धागेसे बना है। घड़ा माटीसे बना हुआ है। कपड़ा शरीर ढँकनेके काम आता है, घड़ा पानी भरनेके काम आता है। ये सारे भेद उनमें होंगे। केवल पर-सत्ताको निमित्त बना करके ही प्रकृति बद्ध और मुक्त होती है। प्रकृतिसे परे परमात्मा उपलब्धिमात्र, सत्तास्वरूपसे ही प्रधानकी प्रवृत्तिमें हेतु है, किसी पुरुष विशेषके कारण नहीं।

इसलिए सांख्यवादियोंने केवल अविवेकके कारण ही प्रकृतिगत भेदसे पुरुषमें भेदका आध्यारोप कर दिया है।

वैशेषिक दर्शन पदार्थका निरूपण करता है और उसके बारेमें प्रमाणकी स्थापना करता है न्याय-दर्शन। प्रमाण-प्रधान न्याय है और पदार्थ प्रधान वैशेषिक है। साधन-प्रधान योग है और साधनके फलस्वरूप चित्तवृत्तिका निरोध हो जाने पर सिद्ध द्रष्टाका निरूपण करनेवाला सांख्य है। अन्तःकरण शुद्धिके लिए धर्मका प्रतिपादन करनेवाला पूर्वमीमांसाशास्त्र और अन्तःकरणशुद्धि होने पर आत्मज्ञानका प्रतिपादन करने वाला उत्तर मीमांसा-शास्त्र (वेदान्त) है।

ये तीन जोड़ीमें छहो दर्शन अस्तिकोंके आते हैं। इन छहो दर्शनोंकी तो बात छोड़ दो, वैष्णवोंके सब दर्शन, शैवोंके-शाक्तोंके सब दर्शन आत्माको स्वभावसे शरीरधारी नहीं मानते हैं।

इस देहमें जो मैं-पना है, वह 'न्याय' के मतमें भी अज्ञानसे है। सांख्य-योगके मतमें भी अविवेकसे है और पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसाके मतमें भी देहमें आत्मभाव अविवेकसे ही है। पूर्वमीमांसाके मतमें तो कर्ता,भोक्ता जीवात्मा है और वह देह पकड़ करके रहता है। देह छोड़कर कभी स्वर्गमें जाता है, कभी सम्पूर्ण सम्बन्धोंका विलय करके रहता है। ऐसा जीवात्मा अपनेको देह कैसे मानता है ? अविवेकसे मानता है। यह देहीत्व अविवेककृत ही सर्वसम्मत है।

अपनेको हड्डी-मांस-चामका पुतला मान करके उसकी अनुकूलतामें सुख, उसकी प्रतिकूलतामें दुःख और इसके बन्धनमें अपनेको बद्ध, इसकी मुक्तिमें

अपनेको मुक्त, इसके रागमें अपनेको रागी, इसके द्वेषमें अपनेको द्वेषी ऐसा मान बैठना, यह सर्व मतोंमें अविवेकसे ही सिद्ध है।

यदि विवेक करो तो ? विचिर् पृथग्भावे—दो चीज अगर एकमें मिल गयी हों तो उनको अलग-अलग करना, यह विवेक है। यदि आपके घरमें गेहूँ और चने एकमें मिल गये हों तो बीनकर गेहूँको और चनेको अलग-अलग करना इस विवेचनको 'विवेक' कहते हैं।

यह दिखने वाला देह, माना हुआ पाप-पुण्य, माना हुआ राग-द्वेष, माना सुख-दुःख और इनको माननेवाला अभिमानी—यह सब दृश्यमात्र हैं। 'मैं द्रष्टा' इनसे असंग हूँ। यह विवेक करते ही उनसे अलग हो जाते हैं।

अभी आत्माका ब्रह्मके साथ एकत्वकी बात लेते हैं। देहके धर्मको अपनेमें आरोपित कर लेना और अपनेको बद्ध-मुक्त मान लेना—यह पुरुष भेदकी कल्पना अविवेकके कारण है। इस अविवेकको छोड़ देना चाहिए।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार-ये नौ बातें आत्मामें रहती हैं।

कोई कहते हैं कि—बुद्धि हमारे साथ हमेशा जुड़ी हुई है। बुद्धिका और हमारा समवाय है। बुद्धि जिसकी है उसका नाम आत्मा और जो बुद्धिको अपनी अनुभव कर रहा है वह आत्मा बुद्धिके बिना आत्मा नहीं और आत्माके बिना बुद्धि नहीं। इसलिए बुद्धि और आत्माका जो सम्बन्ध है, वह समवाय है। अर्थात् नित्य सम्बन्ध है, दोनोंका नित्य साथ मालूम पड़ता है। जैसा गुणसे गुणीकी सिद्धि और गुणीसे गुणकी सिद्धि। जैसे अवयवसे अवयवीकी सिद्धि और अवयवीसे अवयवकी सिद्धि, व्यक्तिसे जातिकी सिद्धि और जातिसे व्यक्तिकी सिद्धि।

जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी, अवयव-अवयवी–इनका सम्बन्ध नित्य होता है, परस्पर सम्बन्ध। जैसे–धागा और कपड़ा। धागेसे कपड़ेकी सिद्धि है और कपड़ेसे धागेकी सिद्धि है। धागा है तभी तो कपड़ा बना और कपड़ेमें ही धागे मालूम पड़ रहे हैं। 'समवाय' कहते हैं नित्य सम्बन्धको।

नैयायिकोंका ऐसा सिद्धान्त है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—ये छः तो भाव पदार्थ होते हैं और एक अभाव पदार्थ होता है। इनका अलग-अलग ब्यौरा बताने लगे तो समझनेमें थोड़ा मुश्किल पड़ेगा।

द्रव्य—मुख्य वस्तु है और गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ये द्रव्यके आश्रित होते हैं। बिना द्रव्यके गुण किसमें रहेगा ? जैसे, कोई चीज सफेद है। सफेद होना तो गुण है, लेकिन कोई चीज ही तो सफेद होगी न ! दूध सफेद होगा, फूल सफेद होगा। बिना द्रव्यके गुण कहीं देखने में नहीं आ सकता।

कर्म—जैसे चलना। अब पाँव होगा तब चलना होगा। मोटर होगी तब न चलेगी ? इसलिए चलना भी द्रव्यके आश्रित होता है। **गुण** भी द्रव्यके आश्रित होता है। **जाति** (सामान्य) भी द्रव्यके आश्रित होती है और **समवाय** सम्बन्ध (माने नित्य सम्बन्ध) भी द्रव्यके आश्रित होता है। द्रव्य मुख्य पदार्थ होता है और दूसरी चीजें उसके साथ सम्बद्ध होती हैं। एक अभाव पदार्थ होता है।

न्यायके मतमें द्रव्य हैं पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, ये पाँच; और देश-काल-मन और आत्मा, ये चार–कुल नौ द्रव्य हैं। जितने गुण, जितने कर्म, जितनी जातियाँ होंगी, इन्हीं द्रव्योंमें समवेत-समवाय सम्बन्धसे रहती हैं।

कहते हैं—'आत्मा भी एक द्रव्य है।' खण्डनकार 'श्रीहर्ष मिश्र'ने इसकी बड़ी हँसी उड़ायी है, वे कहते हैं—'जो दुःखाभावको पुरुषार्थ मानता है, बस दुःख मिट जाय—इतना ही जो चाहते हैं, उनकी तो नींद ही पुरुषार्थ होगी, क्योंकि नींदमें सब दुःख मिट जाते हैं। लेकिन वह यह नहीं चाहता होगा कि नींद हमेशा बनी रहे। और यदि आत्मा द्रव्य होवे तो मशीनसे पकड़ा जायेगा। फिर तो एकमें-से पकड़के दूसरेमें आत्माको डाल सकेंगे, ये प्रेमी लोग अपने शरीरमें-से अपनी-अपनी आत्मा पकड़के प्रीतमके शरीरमें डाल दिया करेंगे। सायुज्य-प्राप्ति सबको हो जाया करेगी।

उन्होंने तो ऐसी गाली दी है—'गोतमः किं न गोतम ?' ऐसा सिद्धान्त माननेवाला न्यायदर्शनकार गौतम नहीं गोतम है। जितनी देर गुणी रहेगा, उतनी देर गुण रहेगा और जितनी देर गुण रहेगा, उतनी देर गुणी रहेगा; गुण और गुणी कभी अलग-अलग नहीं रह सकते। आत्मा और बुद्धि ये दोनों यदि समवायी हैं; तो आत्मा और इच्छा भी तो समवायी होंगे ! परन्तु अनुभव यह है कि इच्छाके पीछे रहकर आत्मा नित्य रहता है और इच्छा अनित्य रहती है। यह बात साफ मालूम पड़ती है कि इच्छा आयी; इच्छा गयी। हजार इच्छा आयी और हजार इच्छा गयी। तो आत्मा नित्य है और इच्छा अनित्य है। बुद्धि कभी सोती है, कभी जागती है, कभी-कभी तो बुद्धि अत्यन्त मूर्ख हो जाती है।

आजकल एक शब्द चला है, 'अन्धश्रद्धा' बोले—'यह आदमी तो अमुक के ऊपर अन्धश्रद्धा करता है।' लेकिन ये पढ़े-लिखे लोग बड़े चालाक होते हैं,

बहुत बुद्धिमान् होते हैं। वे ऐसा क्यों नहीं बोलते कि 'हम अपनी बुद्धि पर अन्धश्रद्धा करते हैं ? अरे भाई ! दूसरेकी बुद्धि पर यदि अन्धश्रद्धा हो सकती है, माने दूसरेकी बुद्धि जो कहे सो करते जाओ, तो बुद्धि इस शरीरमें हुई तो क्या और उस शरीरमें हुई तो क्या ? बुद्धि पर तो अन्धश्रद्धा ही हुई न ?

सो, आजकलके बुद्धिजीवियोंको, क्योंकि वे बुद्धिके द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं, इसलिए वे अपनी जीविकाके साधन-बुद्धि पर अविश्वास कैसे कर सकते हैं ? लेकिन, बुद्धि कैसी बदलती रहती है ? एक बार व्याख्यान सुन लिया कि 'अहिंसा सर्वोत्तम है, तो बोले बस ! शस्त्र डाल दिया गया। और उधर थोड़े दिनोंके बाद किसीने डंडा दिखाया तो अहिंसा बह गयी—

जैसी बहै बयार, पीठ पुनि तैसी दीजै

इसीका नाम बुद्धि है—

गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास। यह बुद्धि क्या हुई ? बुद्धिके लिए भी असलमें कोई आधार होता है और वह बुद्धिसे पूर्व-सिद्ध होता है।

वस्तुपक्षपातो हि धियां स्वभावः।

बुद्धिका स्वभाव है, सत्यका पक्ष लेना। हमेशा बुद्धि कहती है, यह भी सत्य।' एक बात सुनाते हैं—

एक बड़े नेता हैं, अधिकारी हैं। उनसे कोई बात कही गयी कि 'यह काम बड़ा गलत हो रहा है।' तो बोले—'भाई, यह तो हम भी समझ रहे हैं कि यह गलत है। हमारी भी यही राय है।'

'तो रोकनेकी कोशिश क्यों नहीं करते ?'

वे बोले—'भाई, पहले आवाज तो उठाओ। आंदोलन करो पहले। जब चारों ओरसे आवाज आने लगेगी कि 'यह करो, यह करो, यह करो'—जब हमें यह मालूम पड़ेगा कि जनमत इस पक्षमें है, तब हम करेंगे।'

अर्थात्, बिना आन्दोलनके तुम कोई सच्चा काम, न्यायका काम, नहीं करोगे ? हर सत्यके लिए आन्दोलनकी ही अपेक्षा रखोगे तो लोकतन्त्र चलेगा ?

अरे ! जिसमें औचित्य है, जिसमें धर्म है, जिसमें हित है, वह तो कर देना चाहिए। बुद्धिका स्वभाव है कि जिस-जिसको सत्य समझती है, उसकी ओर झुकती है। मनका स्वभाव है कि जिसको-जिसको प्रिय समझता है, उसकी ओर झुकता है। मन प्रियताकी ओर झुकता है और बुद्धि सत्यकी ओर झुकती है।

और अपना आत्मा ? इसकी सभामें कोई विद्वान् आया और बहुत अच्छा भाषण दे गया तो 'वाह-वाह-वाह ! यह पंडितजी बहुत अच्छे।' कोई गायक आया, बढ़िया संगीत सुना गया, तो 'गायक जी बहुत अच्छे !' वह सबका अनुमोदन करता है, लेकिन न तो पंडितजीके साथ जाता है न तो गायकजीके साथ जाता है। वह तो ज्यों-का-त्यों अपने दरबारमें बैठा हुआ है।

यदि इच्छा आत्माके समवेत होवे माने नित्ययुक्त होवे तो क्या फर्क पड़ेगा ? एक तो आत्मा विशाल है, महत्त्व वा ग है, महान् है। तो इच्छा भी महान् होनी चाहिए, सर्वदेश-व्यापिनी होनी चाहिए इच्छा; और दूसरे, इच्छा अनित्य है अतः उस दशामें आत्माको भी अनित्य होना पड़ेगा।

इच्छासे पहले रह करके आत्मा इच्छाके प्रागभावका भी साक्षी है और इच्छाके मिट जाने पर इच्छाके प्रध्वंसाभावका भी साक्षी है। अतः आत्मा और इच्छाका समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता। अब कहो कि जो कर्म करते हैं, उसका संस्कार आत्मामें लगता है ! तो यह भी नहीं हो सकता। क्यों ?

एक आदमीने कहा—'हमारे घरमें बड़ा भारी शीशा रखा हुआ है। उसमें सड़क पर चलती हुई सब चीजें दीखती हैं। लेकिन महाराज ! दीखती नहीं हैं, उसमें घुस जाती हैं।' भला बताओ कि शीशा तो ठोस है ! उसमें सड़क पर दीखनेवाली चीज घुसेगी कैसे ?

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्।

इसलिए यदि ऐसा मानते हैं कि 'आत्मामें संस्कार पड़ता है, तो यह गलत है, आत्मामें संस्कार नहीं पड़ता। आत्मा किसीसे राग नहीं करता, आत्मा किसीसे द्वेष नहीं करता। आत्मामें प्रयत्न नहीं है। आत्मा प्रयत्नके पूर्व भी है, प्रयत्नके उत्तर भी है।

हमने देखा है कि कई लोग आपसमें दुश्मनी कर लेते हैं। दो आदमीमें जब दुश्मनी हो तो यह मत मान लेना कि हमेशाके लिए उनमें दुश्मनी हो गयी। यदि ऐसी बात मान लोगे तो धोखेमें पड़ोगे। एक परिस्थिति ऐसी आवेगी कि जो शत्रु है, वह मित्र हो जायगा। उनसे जाकर उनकी खूब निंदा की कि 'वह खराब, वह खराब, वह खराब ! जब वे दोनों आपसमें मिल गये, तो तुम्हारी क्या गति बनी ? ऐसे ही मित्रताकी भी बात समझनी चाहिए। हमने देखा है कि दो दोस्त दुश्मन हो गये और दो दुश्मन दोस्त होगये।

दुनिया बदलती है, राग-द्वेषका विषय बदलता रहता है। व्यवहारको समझना पड़ता है। देशमें कभी हिंसाकी लहर आती है तो कभी अहिंसाकी। आत्मदेव इस सम्बन्धमें मिल जाते हैं—यह बात बिलकुल गलत है।

सराहो मत सराहो मत, निंदना पड़ेगा।
निंदो मत निंदो मत, सराहना पड़ेगा।

परन्तु यह आत्मदेव जो हैं, वे जब दो वृत्तियाँ आपसमें टकराती हैं तो वे किसी के साथ भी नहीं मिलते। संस्कार आत्मामें कभी लगता नहीं। सुख आता है, जाता है। दुःख आता है, जाता है। राग आता है, जाता है। द्वेष आता है, जाता है। प्रेम होता है, नहीं होता है। एक ही क्रिया कभी धर्म हो जाती है, कभी अधर्म हो जाती है। ऐसा कोई कर्म नहीं है, जो किसी-न-किसी देशमें, किसी-न-किसी कालमें किसी-न-किसी व्यक्तिके लिए धर्म न हो! और, ऐसा कोई कर्म नहीं है जो किसी-न-किसी देशमें, किसी-न-किसी कालमें किसी-न-किसी व्यक्तिके लिए अधर्म न हो जाय।

संध्या-वन्दन सरीखा पवित्र कर्म कब धर्म है और कब अधर्म है, उसके लिए व्यवस्था है। उपस्थान करना, मार्जन करना, ये संध्याके जो अंग हैं, वे बिना चोटी-जनेऊ वालेके लिए नहीं हैं।

बोले—'जूठा नहीं खाना चाहिए।'

जगन्नाथजीमें चले जाओ। अरे, हम नाम लेकर आपको क्या बतावें? कभी-न-कभी सब धर्म हो जाता है और कभी-न-कभी सब अधर्म हो जाता है। कभी-न-कभी सब सुख हो जाता है और कभी-न-कभी सब दुःख हो जाता है। कभी-न-कभी सब रागास्पद होजाता है और कभी-न-कभी सब द्वेषास्पद हो जाता है। ये सब बदलनेवाली चीजें हैं। इनका साक्षी आत्मा इनका समवायी नहीं है।

इनसे आत्माकी सिद्धि हो जाती है और आत्मासे इनकी सिद्धि हो जाती है, ऐसा नहीं है। सबका समवायी आत्मा नित्य-सिद्ध है। सबके बिना आत्मा सिद्ध है और ये सब अनित्य हैं। इसलिए आत्माके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

सम्बन्ध भी दो तरहका होता है—एक समवाय सम्बन्ध, एक संयोग सम्बन्ध। दूधमें मिठास होना, दूधमें सफेदी होना दूधके साथ है, (यह समवाय सम्बन्ध है लेकिन दूधका गरम होना अग्निके साथ संयोग सम्बन्धसे है।

कहो कि आत्मामें समवाय सम्बन्धसे तो बुद्धि, इच्छा आदि नहीं हैं, संयोगसम्बन्धसे हैं, तो स्पर्शहीन वस्तुका स्पर्शवान् वस्तुके साथ संयोग भी नहीं होता है, जड़वस्तुके साथ चेतन वस्तुका सम्बन्ध अविद्यासे अध्यारोपित सम्बन्धके अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं बनता है।

अपने स्वरूपको न जान करके देहसे, मनसे, बुद्धिसे, संस्कारसे ये सब सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। आप निश्चित रूपसे सम्पूर्ण विश्वके धर्मका अनुसन्धान करें, नित्य सिद्ध आत्मा संस्कारसे परे है—यह इतना क्रान्तिकारी सिद्धान्त है! इसके लिए 'क्रान्तिकारी' शब्दका प्रयोग करो। इसमें पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, बुद्धिका गिरना-उठना, बुद्धिका जागना-सोना, जन्म-मरण, बन्धन-मोक्ष-जिन कल्पनाओंमें सब मजहब बहते हैं। धर्मका नाम जो लोग मजहब रखते हैं, उनकी समझमें यह बात कैसे आवेगी? 'धर्म' शब्दका अर्थ मजहब नहीं है। अंग्रेजीमें जो शब्द है रिलीजन उसका अर्थ मजहब है, धर्म नहीं। संस्कृतमें जो धर्म शब्द है, उसका अर्थ मजहब नहीं है। आत्माके साथ पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःखका सम्बन्ध ही यह स्वीकार नहीं करता है, और आत्माको एक अनन्त अद्वैत स्वीकार करता है।

जो द्वैत वस्तुको ही स्वीकार नहीं करता है, उस आत्माका स्वरूप किसी सम्प्रदायमें, किसी मजहबमें किसी धर्ममें आबद्ध नहीं होता। कितना राग-द्वेष-मुक्त है यह सिद्धान्त! और कितना क्रान्तिकारी है।

आप इक्कीसवीं शताब्दीमें ही नहीं—अभी तो बीसवीं शताब्दी हैं,—आप पचासवीं शताब्दीमें भी इसे जाँचोगे, जब केवल विज्ञान-ही-विज्ञान होगा, तो भी पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःखसे मुक्त रखनेवाला यह सिद्धान्त उस समयके विज्ञानसे भी आगे होगा।

+ + +

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥५॥

आखिर 'पुरुष नाना है, आत्मा नाना है'—यह कल्पना किस आधारपर करते हैं? प्रत्येक भिन्नतामें कोई प्रमाण होना चाहिए या कोई प्रयोजन होना चाहिए 'कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए आत्माको नाना मानते हैं और किस प्रमाणसे आत्माको नाना मानते हैं?'

प्रमाणमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, किसी प्रमाणका विषय तो आत्मा है नहीं। जो प्रमाणका प्रकाशक है, उसमें प्रमाण, भेद नहीं कर सकता। जैसे,

यहाँ इतने स्त्री-पुरुष बैठे हैं, ये रोशनीमें दीख रहे हैं, आँखसे दीख रहे हैं, तो दीखनेवाले नाना हैं! इनकी वजहसे 'रोशनी भी नाना है'—यह बात सिद्ध नहीं हो सकती।

आँख, कान, नाक, मुँह अलग-अलग हैं, इनकी वजहसे देखनेवाला भी जुदा-जुदा है, यह बात नहीं बतायी जा सकती, क्योंकि आँख-कान-नाक देखनेवालेको तो देखते ही नहीं हैं।

अब कहो प्रयोजनकी बात! व्यवस्था, प्रयोजन है। प्रयोजनके सम्बन्धमें यह कहो कि अलग-अलग सबकी बुद्धियाँ होती हैं और अलग-अलग इच्छाएँ होती हैं अलग-अलग सुख-दुःख होते हैं और द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार भी अलग-अलग होते हैं। अतः इस अलगावकी सिद्धिके लिए आत्माका भी अलग-अलग होना जरूरी है—तो यह ठीक नहीं है।

न्यायने कहा कि ये सब चीजें आत्मामें समवेत हैं, समवाय-सम्बन्धसे आत्मामें रहती हैं। जैसे सूतसे कपड़ा, कपड़ेसे सूत; गुणसे गुणी, गुणीसे गुण; जातिसे व्यक्ति; व्यक्तिसे जाति; अवयवोंसे अवयवी। लेकिन आप जरा ध्यान दो कि ये चीजें कहाँ तक आपका साथ देती हैं?

अज्ञानका दृष्टान्त है सुषुप्ति और भ्रमका दृष्टान्त है स्वप्न और दार्ष्टान्त है जाग्रत, ऐसा विभाग कर लो। दृष्टान्तके बलसे दार्ष्टान्त भी भ्रमरूप ही सिद्ध होगा। स्वप्नके दृष्टान्तसे जाग्रतरूप दार्ष्टान्त भी भ्रमरूप ही सिद्ध होगा।

अब आपको इसका गुर बताते हैं। जो चीज सुषुप्तिमें नहीं भासती है, वह कालके वशमें है। जैसे आप जाग्रत अवस्थामें बड़े बुद्धिमान हैं, परंतु पहले तो जाग्रतमें ही बुद्धि कभी-कभी गड़बड़ा जाती है। जब रागाक्रान्त होती है, जब द्वेषाक्रान्त होती है, जब आलस्य-प्रमादसे आच्छन्न होती है, तब भी बुद्धि गड़बड़ा जाती है। बड़े-बड़े बुद्धिमानोंसे भी गलती होती है। आपसे भी कभी गलती होती है तो यह बात ध्यानमें रखना चाहिए कि दूसरेसे भी कभी कोई गलती होती हुई मालूम पड़े, किसीकी बुद्धि धोखा दे जाय, तो आपको कुछ ननुनच करनेका हक नहीं है, जब कि आपकी बुद्धि भी धोखा देती है। जैसे हमारी बुद्धि धोखा दे गयी, वैसे दूसरेकी बुद्धि दूसरेको धोखा दे जायगी।

कम-से-कम अपनी समानता तो मानो उसमें! परन्तु बुद्धि सपनेमें अविद्यमान वस्तुको सत्य बताती है और स्वयं सुषुप्तिकालमें सो जाती है। इसलिए बुद्धि आत्मासमवायिनी नहीं है। बुद्धिका आत्माके साथ समवायसम्बन्ध नहीं है, बुद्धि आत्मासे प्रकाशित होती है। आत्मा बुद्धिका द्रष्टा है यह बात जुदा हुई और विचार करनेपर देखो तो बुद्धिरूप उपाधि आत्मामें विवर्तमात्र है, आत्मासे जुदा नहीं है। यों कहो कि आत्मा ही है, बुद्धि नहीं है।

यह सब ठीक, परन्तु बुद्धिसे आत्माकी सिद्धि और आत्मासे बुद्धिकी सिद्धि—यह बात नहीं है। परस्पर समान-सत्ताकत्व दोनोंमें नहीं है। परस्पर दोनों समान सत्तावाली नहीं हैं। बुद्धि तो बदलती रहती है। हमको बचपनसे अब तक याद है। पहले यह सूर्य क्या है, इस विषयमें कुछ हम जानते ही नहीं थे।

'यह सूर्य कैसे उगता है ?'—अगर कभी पूछा भी तो माँ-बापने बताया कि ईश्वर उगा देता है। सूर्य कितना बड़ा है ? बचपनमें क्या समझते थे ? आपकी धारणा बदल गयी कि नहीं ? बुद्धि बदल गयी कि नहीं ? बुद्धिके बारेमें हमेशा एकरूपता नहीं होती। जितना-जितना आप विज्ञानका स्वाध्याय करेंगे, उतनी-उतनी बुद्धि संसारके पदार्थोंके सम्बन्धमें बदलती जायगी।

जितनी-जितनी जानकारी बढ़ती है, उसके अनुसार बुद्धि बढ़ती है। तो, बुद्धि बनती है, बुद्धि बिगड़ती है, बुद्धि बदलती है, बुद्धि सोती है, बुद्धि जागती है। आत्मा तो न बनता है न बिगड़ता है, न बदलता है, न सोता है न जागता है। बुद्धि और आत्माका समवाय सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

बुद्धि घड़ेमें है, आकाशमें नहीं है—ऐसा समझो। जैसे रज है (धूल है), धुआँ है, घड़ेमें है। पानी है, घड़ेमें है। दूध है, घड़ेमें है। शराब है, घड़ेमें है। आकाशमें नहीं है।

अब इच्छाकी बात देखो—आप अगले मिनटमें क्या इच्छा करेंगे ? मालूम है ? यह तो जैसे अनजान आदमी सिनेमामें जाकर बैठ जाय, तो क्या उसे मालूम है कि अगले मिनट क्या दृश्य होगा ? तुम्हारे हृदयके पर्देपर सिनेमा दीख रहा है। उसमें अगले मिनटपर क्या उदय होगा, मालूम है ?

जब इच्छाका उदय हो लेता है, तब मालूम पड़ता है, तब हम कहते हैं कि हमने इच्छा की। बच्चा पैदा होनेके पहले तो मालूम ही नहीं पड़ता कि बेटा होगा कि बेटी ? गर्भमें आनेके पहले मालूम ही नहीं पड़ता कि आया कि नहीं आया ? लेकिन बाप लोग दावा करते हैं कि हमने बेटा पैदा किया। इसमें कर्तापन कहाँ है ? बिलकुल भ्रान्ति है।

एक हमारे चेले आये। बोले—'महाराज ! हमने आप पर छः वर्ष श्रद्धा की। अब आप उसके बदलेमें हमको क्या देते हैं ?' आपको यह बात बताता हूँ कि श्रद्धा की नहीं जाती है। जो श्रद्धा करेगा, वह तो ढोंगी है, स्वांगी है। श्रद्धा होती है। जब हो जाती है, तब मालूम पड़ती है।

श्रद्धाका कर्ता मनुष्य नहीं होता है। जब सुनते-सुनते, देखते-देखते श्रद्धा हो जाती है तब मनुष्य कहता है—'मैं श्रद्धाका कर्ता हूँ।' यह नहीं है कि यह आपकी बनायी हुई चीज हो! हमारे गाँवमें पहले जब किसीको बेटेकी शादी करनी होती थी, तब पहलेसे ही, वर्ष दो वर्ष पहलेसे लड़कीवाले देखने आते कि इनके लड़केसे बेटीकी शादी करनी है।

लड़केवाले मालूम करते हैं कि आज ये आनेवाले हैं, तो दूसरेका घोड़ा, दूसरेकी भैंस, लाकर अपने दरवाजेपर बाँध लेते हैं। उनके लिए जगह बनाते हैं और कहते हैं कि—'ये हमारी हैं।' जब खेतोंकी तरफ घुमानेके लिए ले जाते हैं, जंगलकी तरफ ले जाते हैं तो कहते हैं—'यह कुआँ हमारा है, यह सारी जमीन हमारी है। क्या हरी-भरी खेती लगी है! और, होता कुछ नहीं।

गाँवके लोग भी ऐसे मिले हुए होते हैं। वे कहते हैं—'हम तुम्हारे कुएँ-पर से आ रहे हैं। आज तुम्हारा घोड़ा छूटके हमारे खेतमें चला गया था। अब तुम आगे सावधानी रखना।' इससे लड़कीवालोंको प्रतीत होता है कि यह घोड़ा इन्हींका है।

हमारे दिलमें जो घोड़े दौड़ते हैं न, वे बिलकुल स्वतन्त्र दौड़ते हुए रास्ते परसे होकर निकलते हैं। इनको 'मेरा' मान लिया जाता है। एक दिन इच्छा होती है एक वस्तुकी, और एक दिन नहीं होती है। खीर खानेकी बहुत इच्छा होवे, और दस दिन लगातार खाओ, तो कै आने लगेगी खीर देखकर। हमने ऐसे पुरुष देखे हैं कि उनकी थालीमें घीकी बनी कोई चीज परस दी जाय, तो उनको वमन हो जाता है। मैंने कम-से-कम बीस बरस खीर नहीं खायी। खीर देखकर हमको कै आती थी। ये जो इच्छाएँ हैं, वे कभी किसीको चाहती हैं और कभी उसीको नहीं चाहती हैं, बदलती हैं और सो जाती हैं। तो आत्मा और इच्छा एक कैसे हो सकते हैं?

धर्माधर्म और प्रयत्न कब होंगे? जब कर्तापन हो। सुषुप्तिमें कर्तापन सो जाता है और आत्मा नहीं सोता।

संस्कार तीन तरहका होता है—एक तो जिसको गुणी समझते हैं, उसके गुणके संस्कार हम पर पड़ते हैं। जिसको दोषी समझते हैं, उसके दोषके संस्कार हम पर पड़ते हैं। दोषसे द्वेषकी उत्पत्ति होती है और गुणसे रागकी उत्पत्ति होती है। रागसे गुण मालूम पड़ते हैं और द्वेषसे दोष मालूम पड़ते हैं। यह बड़ी अद्भुत बात है।

दुनियामें कहीं न गुण है न दोष है। एकदम सोलहों आने ठसाठस ब्रह्म है। अन्तःकरणमें जो रागकी वृत्ति है, वह गुण दिखाती है और द्वेषकी वृत्ति

है, वह दोष दिखाती है। आप उसके चक्करमें नहीं पड़ना। किसीके गुण दिखावेपर आत्मसमर्पण करनेकी जरूरत नहीं है। अपने रागकी समीक्षा करनेकी आवश्यकता है। यदि किसीसे हमारे मनमें दुश्मनी होवे, दोष दीखे, तो उस दोषको सच्चा माननेकी जरूरत नहीं है, हमारी वृत्तिमें जो द्वेष है, उसकी समीक्षा करनेकी आवश्यकता है कि 'यह कहाँसे आया ?'

कभी किसीसे राग हो जाता है, उसीसे द्वेष होता है। जिससे बहुत दोस्ती होती है, उसीसे लड़ाई होती है। और, जिससे बहुत दुश्मनी होती है, उसीसे कभी मैत्री भी हो जाती है।

दृश्यमें जो कर्तापन है, वह द्रष्टापर, चिन्मात्रपर आरोपित हो रहा है। यह कर्ता-भोक्तापन सुषुप्तिमें सो जाता है। यही समझो—ये देवता, ये माँ-बाप, वेदशास्त्र, ये गुरु-चेले, ये जीव-ईश्वर ये सब सुषुप्तिमें लीन और स्वप्नमें उल्टे-पल्टे दीखते हैं। दृश्यके साथ आत्माका जो सम्बन्ध है वह संस्कार है।

दोषापनयन, गुणाधान और हीनांगपूर्ति—ये तीन तरहके संस्कार होते हैं। अपने अन्दर जो दोष हैं उनको हटाना (दोषापनयन) अपने अन्दर जो गुण हैं उनको धारण करना (गुणाधान) अपने अन्दर किसी अंगकी कमी हो तो उसको पूरा करना (हीनांगपूर्ति)। आप अपने शरीरके साथ क्या करते हैं ? ऊपरसे मैल लगी हो तो साबुनसे उसे धो लेते हैं। यह दोषापनयन संस्कार हुआ।

शरीरको सुन्दर दिखानेके लिए उसे रंग देते हों। गुणाधान संस्कार हुआ। मान लो, किसीके पाँव नहीं हैं, किसीकी नाक कट गयी है, तो प्लास्टिक सर्जरीसे नाक बनवा लेते हैं, पाँव टूट गया तो नया पाँव बनवाकर उसे जोड़ लेते हैं। इसे हीनांगपूर्ति बोलते हैं।

जैसे शरीरमें तीन तरहके संस्कार होते हैं, दोषानयन, गुणाधान और हीनांगपूर्ति—ये तीनों संस्कार आत्मामें नहीं हो सकते। क्योंकि आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, निर्मल है। उसमें मल तो है ही नहीं कि दोषानयन किया जाय। साक्षीमें मल कैसे लगेगा ? और, साक्षीमें गुणीपना कैसे पैदा किया जायगा ? साक्षी सावयव नहीं है तो उसकी हीनांगपूर्ति कैसे होगी ?

आत्मामें हाथ-पाँव अवयव होवें तो टूटे हुए अंगको जोड़ दें। मैल हो तो उसे धोवें और कहीं-रंग-रोगन लगाना हो, चमकाना हो, तो चमका दें। आत्मा जैसी चमक तो और किसी चीजमें है ही नहीं। ऐसा स्वयंप्रकाश दिव्यातिदिव्य यह आत्मा है—

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो अक्षरात्परतः परः॥ (मुण्डक २.१.२)

समवाय भला किसके साथ होता है ? द्रव्यमें गुण, कर्म, सामान्य, विशेष ये सब समवाय सम्बन्धसे रहते हैं। आत्मारूप द्रव्यमें समवाय किस सम्बन्धसे रहता है, जरा यह बताओ ! समवाय भी तो एक पदार्थ है न !

समवाय भी नैयायिकों वैशेषिकोंके मतमें एक सम्बन्ध है। वह आत्माके साथ कैसे जुड़ेगा ? कहो कि आत्मा और मनके संयोगसे स्मृतिकी उत्पत्ति होती है—पहलेसे संस्कार मनमें पड़े रहते हैं; आत्मा और मनका संयोग हुआ तो स्मृतिकी उत्पत्ति हुई तो बताओ—पूरे आत्माका पूरे मनके साथ सम्बन्ध होता है या आत्माके एक देशका मनके एक देशके साथ सम्बन्ध होता है ?

'विभु' आत्माके बारेमें यह कहना कि उसका एक अंश मनके एक अंशके जुड़ता है, गलत है। तब तो स्मृतिका नियम ही नहीं होगा—सब स्मृतियाँ एक साथ उदय हो जायेंगी।

स्पर्शादि रहित आत्माका मन आदिके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। आत्मा रूप द्रव्यसे गुण, कर्म सामान्य आदि बिलकुल नहीं होते इसलिए सम्बन्ध किसी प्रकार नहीं होता—यही मानना पड़ेगा।

यह कहो कि सब-के-सब साथ-साथ पैदा हुए हैं, सब-के-सब साथ-साथ रहते हैं, अयुतसिद्ध हैं, तो यह भी ठीक नहीं है। 'अयुतसिद्ध' क्या ? 'युत' माने मिलना। परस्पर जो मिलके सिद्ध होते हैं, वे 'युतसिद्ध' होते हैं। जो बिना मिले ही सिद्ध होते हैं, हमेशा सिद्ध होते हैं, उनको अयुतसिद्ध बोलते हैं। युक्त होकर सिद्ध नहीं हुए हैं, कभी उनका संयोग नहीं हुआ है। संयोगसे पूर्वसे ही सिद्ध हैं।

आत्माके साथ इच्छा आदि अयुतसिद्ध हैं, ऐसा यदि मानें, तो आत्मा जितना बड़ा है, उतनी बड़ी इच्छा होवे ! परन्तु आत्मा जितनी बड़ी इच्छा कोई होगी ? अरे ! जितनी इच्छाएँ होती हैं, वे मर जायेंगी। आत्मा जितना विस्तार किसी इच्छाका होगा ? आत्मा विभु है, तो क्या इच्छा विभु होगी ? धर्म, अधर्म, संस्कार भी क्या विभु होंगे ? कभी नहीं। आत्मामें इन सब वस्तुओंका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि यह बात मान ही ली जाय कि 'हाँ, इनका सम्बन्ध है,' तो फिर आत्माका कभी मोक्ष नहीं होगा क्योंकि हमेशा इच्छा बनी रहेगी।

आदमी धर्मी भी बना रहे और मुक्त भी—असम्भव ! प्रयोजन ही बिगड़ गया सारा-का-सारा। आत्मा धर्मात्मा होवे, तो उसे धर्मका फल भोगनेके लिए कभी स्वर्गमें कभी ब्रह्मलोकमें, कभी मर्त्यलोकमें जाना पड़ेगा; और अधर्मी होवे तो कभी नरकमें तो कभी मर्त्यलोकमें जाना पड़ेगा; दोनों होवे तो जन्मसे

जन्मान्तरमें जायेगा। तो इच्छावान् भी होवे और मुक्त भी होवे ? इच्छा वाला आदमी कभी मुक्त नहीं होता। वह तो किसी-न-किसीके साथ सम्बन्धित रहेगा, जिससे इच्छा पूरी होगी। इसके साथ बँध जायगा ऐसी स्थितिमें आत्मामें न इच्छा है, न वुद्धि है, न प्रयत्न है, न द्वेष है, न धर्माधर्म है, न संस्कार है। यह तो बिलकुल नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त है। बच्चे घड़ेकी चीजको आकाशमें मान लेते हैं, ऐसी यह बात है।

इन्द्रधनुष सबको आकाशमें ही दिखायी पड़ता है! उसके वे हरे-पीले-लाल रंग, आकाशमें नहीं होते! आकाश तो ज्यों-का-त्यों है। पानीके कणपर सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे रंग मालूम पड़ते हैं। आकाशमें दीखने पर भी आकाशसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस तरह आत्माके साथ इन वस्तुओंका कोई सम्बन्ध नहीं है। स्पर्श-वाले जो द्रव्य हैं, अस्पर्शके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। 'यह आकाशकी वायु है'—यह बात नहीं बन सकती। 'यह आकाशकी अग्नि है', यह आकाशका घड़ा है, यह बात नहीं बन सकती। सम्बन्ध ही नहीं बनेगा।

अरे बाबा! ये सारी इच्छाएँ, वुद्धि, द्वेष आदि तो पैदा हुए और मरे! यदि यह बात मान ली जावे कि आत्माका उनके साथ सम्बन्ध है, तो आत्मा विकारी हो जाय, आत्मा सावयव हो जाय, आत्मा देहके समान हो जाय! तब अनेक अपरिहार्य दोषोंकी प्राप्ति होगी।

इसीसे जैसे अज्ञानके कारण लोग बोलते हैं कि 'आज आकाश मलिन है', 'आज आकाश तूफानसे ग्रस्त है, वैसे ही अज्ञानके कारण अपनी नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, अविनाशी, परिपूर्ण, एकरस, अद्वितीय, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्वको, अपने प्रत्यक्-चैतन्य साक्षी आत्माको 'इनसे युक्त है' ऐसा लोग बताते हैं।

सभी मतोंमें न्यायके मतमें भी, जीवको छोटा नहीं मानते हैं, बड़ा मानते हैं। देह तो मानते ही नहीं, वह छोटा आत्मा अपनेको देह ही मान रहा है! न्यायके मतमें भी यह भ्रान्ति है।

सांख्यके मतमें भी आत्माको विभु मानते हैं, द्रष्टा मानते हैं। सांख्यके मतमें भी जब द्रष्टा अपनेको शरीर मानता है, तो अविद्यासे ही मानता है।

पूर्वमीमांसाके मतमें मानते हैं कि जब आत्मा अपने कर्मफलका भोग करनेके लिए लोकान्तरमें जाता है या देहकी मृत्युके बाद भी रहता है, तो पूर्वमीमांसाके मतमें भी देह आत्मा नहीं है! भ्रान्तिसे ही देहको आत्मा माना जाता है।

वैष्णव मतोंमें वैष्णव लोग वैकुण्ठमें जाते हैं, गोलोकमें जाते हैं, शैव शिवलोकमें जाते हैं, देवीके देवीलोकमें जाते हैं; तो वे क्या इसी शरीरसे जाते

हैं ? इस शरीरको छोड़के ही तो जाते हैं ! तो वह उपासक शरीर देहसे अलग है कि नहीं ? इसलिए जब कोई भी उपासक देहको मैं मानता है, तो भ्रान्तिसे ही मानता है ।

बौद्ध-मतमें भी आत्मा 'विज्ञान' है अथवा आत्मा 'शून्य' है। तो वहाँ भी स्थूल देहको 'मैं' मानना, यह भ्रान्ति है कि नहीं ? बिलकुल भ्रान्ति है ।

जैन मतमें जब यह आत्मा अलोकाकाशमें गमन करेगा तो क्या यही शरीर जायगा ? जैन मतमें भी इस शरीरको 'मैं' मानना भ्रान्ति है ।

तो संसारके सभी मत यह बात स्वीकार करते हैं । ईसाई मतमें भी इस शरीरको 'मैं' मानना भ्रान्ति है, क्योंकि मरनेके बाद आत्मा उनकी रहती है; स्वर्गमें आत्मा जाती है, तो देह थोड़े ही जाता है ?

मुसलमानोंके मतमें भी देहको 'मैं' मानना भ्रान्ति है । क्यों ? मरनेके बाद कयामत तक कब्रमें यह देह ही रहेगा क्या ? और मुहम्मद साहबकी सिफारिशसे जो बहिश्तमें जायगा वह क्या यह शरीर जायगा ? तो, आत्माका स्वरूप यह शरीर नहीं है । इसलिए शरीरकी लम्बाई-चौड़ाई, आत्माकी लम्बाई चौड़ाई नहीं है । शरीरका वजन आत्माका वजन नहीं है । शरीरका जन्म-मरण आत्माका जन्म-मरण नहीं है । बिलकुल भ्रान्तिसे ही शरीरके साथ सम्बन्ध माना हुआ है ।

तब इस शरीरसे जो कर्म होते हैं, उनका सम्बन्ध ? इस शरीरमें जो मन रहता है, उसका सम्बन्ध ? इस शरीरमें जो गुण-दोष रहते हैं, उनका सम्बन्ध ? इस शरीरके कारण जो राग-द्वेष होता है, उसका सम्बन्ध ?

वेदान्ती कहते हैं—'ये सब-के-सब भ्रान्तिके कारण देहको 'मैं' मान लेनेके कारण अपने आत्मामें कल्पित होते हैं ।' यदि देहको 'मैं' न मानो तो एक तो रिश्तेदार-नातेदार चले जायेंगे । फिर सम्प्रदाय, जाति चली जायगी । वर्णाश्रम तो देहमें ही रहता है । फिर वर्णाश्रम-प्रयुक्त धर्माधर्म कहाँ रहेगा ? फिर उनसे होनेवाला फल कहाँ होगा ? तो, जहाँ देहमें-से यह 'मैं'की भ्रान्ति छूटी, वहाँ इस दुनियाके जितने चक्कर हैं, वे सब-के-सब छूट जाते हैं । ये सारे चक्कर केवल देहको 'मैं' माननेके कारण हैं ।

इसीसे, जिन लोगोंने अपनेको बुद्धिमान् भी माना, तार्किक भी माना, बौद्ध भी माना, यौक्त भी माना, उन लोगोंने भी जब देह और देहमें रहनेवाली बुद्धि—लिंगदेहमें रहनेवाली बुद्धि, राग-द्वेष, प्रयत्न, धर्म-अधर्म, संस्कार-इनको आत्माके साथ जोड़ा, जब प्राकृत संस्कार-विकार-आकारको अपने साथ जोड़ा, तो आत्माके अज्ञानसे, केवल भ्रान्तिके कारण ही अपने आपके साथ जोड़ा । ये आत्मदेव जो हैं, वे तो बिलकुल अकेले ही हैं । •

जीवोंका भेद व्यावहारिक है

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ॥६॥

अर्थः—उपाधियोंके कारण भिन्न-भिन्न आकाशोंके रूप, कार्य और नामों-में तो भेद है परन्तु आकाशमें कोई भेद नहीं है। उसी प्रकार एक ही आत्मा अनेक उपाधियोंके कारण अनेक जीवोंका व्यवहार कर रहा है। यही निर्णय है।

जहाँ देखो, जगह-जगह देखो, जीवोंके रूप अलग हैं, कार्य अलग हैं और नाम अलग हैं। एक ही आत्मामें व्यवहारकी यह उपपत्ति कैसे होगी ? किस युक्तिसे सिद्ध होगी ?

बोले—'देखो, एक आकाश है। लेकिन घड़ा छोटा हो तो छोटा आकाश, बड़ा हो तो बड़ा आकाश, बाहर आकाश बड़ा दिखता है। घड़ेका आकाश छोटा दिखता है, कुल्हड़का आकाश उससे और भी छोटा दिखता है। करक (करवा) में नली लगी होती है, उसमें तो और छोटा आकाश दिखता है।

उसमें भी घड़ा, करवा माटीका बना है या धातुका, उससे उनके आकाशमें कुछ भेद नहीं होता। फिर उसमें शराब रखो कि गंगाजल कि दूध, इसका भेद हो सकता है; उसमें धूल है कि धुआँ है, इसका भेद हो सकता है। लेकिन आकाश सबमें बिलकुल एक सरीखा है। रूप सबका अलग-अलग, काम सबसे अलग-अलग लिया जाता है और नाम सबका अलग-अलग है। परन्तु 'आकाशस्य न भेदोऽस्ति' आकाशका भेद नहीं है। इसी प्रकार आत्मा आकाश सरीखा है और यह स्थूल देह घड़ा है। सूक्ष्म देह उसमें जल सरीखा है। और कारण देह ? अन्य सब सिद्धान्तोंमें कारण शरीर बीजात्मक माना जाता है, वेदान्तमें वह बीजात्मक नहीं है, अविद्यात्मक है। 'बीजात्मक' कहते हैं उसको लेकिन 'अविद्या'को ही बीज मानते हैं। 'कारण' और 'बीज' ये शब्द पर्याय-वाची हैं। केवल अज्ञान ही कारण है।

ऐसा समझो कि शरीर तीन नहीं है। एक नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा है। उसके अज्ञानसे बुद्धिमें अपनी परिच्छिन्नताका भ्रम है। स्थूल देहके कारण अपनी परिच्छिन्नताका भ्रम है। उस बुद्धिको सूक्ष्म शरीर बोलते हैं। केवल भ्रान्त बुद्धिका नाम 'सूक्ष्म शरीर' है।

यदि अपने आत्माके ज्ञानसे अज्ञान मिट जाय, बुद्धिमें स्थूल देह होनेका भ्रम न रहे, तो उसका नतीजा यह होगा कि बुद्धि और स्थूल देह—इन दोनों-का अलगाव ही मिट जायगा। यह अलगाव मिट जानेका क्या नतीजा होगा? मरनेके बाद जन्म नहीं होगा। माने सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरके साथ आगमें जल जायगा, मिट्टीमें गड़ जायगा।

सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरसे न्यारा कबतक? जबतक बुद्धि भ्रमवश अपनेको देहसे एक समझती है। जबतक (यह भ्रान्त एकत्व) मालूम पड़ता है, तबतक विवेक करते हैं कि देह अलग है और सूक्ष्म शरीर अलग है जो शरीरमें-से निकलके स्वर्ग-नरकमें, पुनर्जन्ममें जाता-आता रहता है। वैसे बुद्धि-का आना-जाना नहीं होता, जैसा शरीरका होता है। जैसे मोटर चलती है वैसे बुद्धि नहीं चलती है। जैसे विमान उड़ता है, वैसे बुद्धि नहीं उड़ती है।

आकाशका कारण तो मन है। मनकी एक सुसंस्कृत, परिष्कृत, अव-स्थाका नाम बुद्धि है। मनसे आकाशकी उत्पत्ति हुई। आकाश ही नहीं चलता तो बुद्धि कहाँसे चलेगी? स्थूल शरीरके समान बुद्धि नहीं चलती। जब भ्रम-वश बुद्धि अपनेको स्थूल शरीर मानती है, तब शरीरके चलने-फिरनेको अपने भीतर मानती है। तब बुद्धि भ्रमवश स्वर्ग-नरक-पुनर्जन्म बना लेती है।

अवच्छेदवादमें, दृष्टि-सृष्टिवादमें बुद्धिका गमनागमन नहीं मानते हैं। आभासवादमें गमनागमन आभासका मानते हैं। अवच्छेदवादमें गमनागमनकी वृत्ति बनती है। दृष्टि-सृष्टिवादमें गमनागमन दृष्टिमात्र है। आभासवादमें आभासका गमनागमन मानते हैं; परन्तु आभासका गमनागमन कैसे होगा? वह भी तो आभास ही होगा।

इसलिए स्थान-स्थानपर रूपका भेद है, कार्यका भेद है, नामका भेद है, परन्तु अकाशका भेद नहीं है।

तद्वत् जीवेषु निर्णयः। इसी प्रकार आत्माके सम्बन्धमें निर्णय करना चाहिए।

•

जीव आत्माका न विकार है न अवयव

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥७॥

अर्थ—जैसे घटाकाश आकाशका विकार है न अवयव, वैसे ही जीव आत्माका न कभी विकार है और न अवयव !

अब एक नया विचार उठाते हैं कि आखिर महाकाशके साथ घटाकाशका कोई सम्बन्ध है कि नहीं ? क्या घटाकाश महाकाशका विकार है या उसका अवयव (हिस्सा, अङ्ग) है। जैसे आभूषण स्वर्णका विकार है, या फेन बुदबुदादि जलके विकार हैं। क्या घटाकाश (जीवात्मा) महाकाश (आत्मा)का उसी प्रकार विकार है ? अथवा जैसे हाथ पाँव आदि शरीरके अवयव हैं क्या वैसे ही घटाकाश (जीवात्मा) महाकाश (आत्मा) का अवयव है ?

श्रुतिका कहना है कि आत्माका स्वरूप हेतु दृष्टान्त वर्जित है। स्वर्णके दृष्टान्तमें त्रुटि यह है कि स्वर्ण एक परिच्छिन्न पदार्थ है। उसको काट-पीट सकते हो, उसपर मीना पच्चीकारी कर सकते हो, तभी तो उससे नये-नये आभूषण बनाये जा सकते हैं। परन्तु यदि सोना आकाशकी तरह सर्वत्र ठसाठस भरा हुआ हो, अर्थात् यदि स्वर्ण अपरिच्छिन्न पदार्थ हो, तो क्या उसमें जेवर बन सकेंगे ? स्पष्ट है कि नहीं बन सकेंगे। आकाशका कोई कंगन बना सकता है ? आकाशकी कोई अँगूठी बना सकता है ? नहीं, नहीं।

तो आकाश और सोनेमें क्या फर्क है ? आकाश तो भरपूर है और सोना ऐसा है, जिसके ऊपर भी जगह है, नीचे जगह है, दाहिने जगह है, बाँये जगह है, आगे जगह है, पीछे जगह है। छेद करो तो भीतरसे भी जगह निकल आयेगी। इसीसे सोनामें आकार बनता है। सोनामें आकृति बनती इसीलिए है कि वह पूर्ण नहीं है। यदि वह पूर्ण होता हो उसमें आकृति न बनती।

कहो कि सोनामें विकार तो नहीं हुआ, आभूषण बनने पर भी सोना तो सोना ही रहा। मान लेते हैं यह बात परन्तु सोना अपूर्ण है अतः निर्विकारताके अर्थमें सोनेका दृष्टान्त दे सकते हैं; लेकिन पूर्णताके अर्थमें सोनेको दृष्टान्त नहीं बना सकते हैं।

ब्रह्ममें अवकाश नहीं है कि उसमें छेद किया जा सके, कि उसे पीटके गोल बनाया जा सके, या उसे गलाके ढाला जा सके। आकाशको न गलाके ढाला जा सकता, न पीटके गोल बनाया जा सकता, न तो उस पर कोई पच्चीकारी की जा सकती है। वह तो सोनेमें ही की जा सकती है। इसलिए सोनेमें जैसे सृष्टि बन सकती है, वैसे ब्रह्ममें सृष्टि नहीं बन सकती। अब दूसरी बात—दूधसे दही बना। पानीमें फेन हुआ, बुलबुला हुआ। यह विकार हुआ। आकाशमें क्या कोई विकार हुआ है कि उसमें घड़ा बना है, घटाकाश बना है? नहीं, घटाकाश तो केवल घटकी उपाधिके कारण है, स्वतः नहीं है घटाकाश। जैसे पानीमें फेन-बुद्बुद आदि बनते हैं, वैसे विकार भी नहीं है आकाशमें।

जैसे आदमीके शरीरमें हाथ-पाँव आदि होते हैं, वैसे क्या आकाशका अवयव है घटाकाश? हाथ पाँव है? कण-कण जोड़कर जैसे बनाते हैं, आकाशमें क्या कण होता है कि उससे जोड़के बना है? आकाशमें कण होते नहीं, इसलिए आकाशका आरम्भ नहीं है। आकाशमें अवयव, अंग होते नहीं, इसलिए घटाकाश आकाशका अवयव नहीं है। घटाकाश महाकाशका विकार नहीं है, और परिणाम नहीं है। वह तो ज्यों-का-त्यों ही महाकाश है।

वह घटकी उपाधिसे परिच्छिन्न-सा भासता है। परन्तु घटकी उपाधि भी क्या है? घटकी उपाधि भी—

आकाशात् वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यां पृथिवी।

(तैत्तरीय० २.१)

आकाशमें ही सृष्टि-प्रलयके क्रमसे कल्पित है। वह घट भी आकाशसे न्यारा नहीं है। तो घटाकाश क्या है? घटाकाश केवल एक प्रतीति है। अतः आत्मा और जीवका व्यावहारिक भेद भी कल्पित ही है।

देहमें यह जो जीव बना हुआ है वह परमात्माका परिणाम नहीं है। पूर्णमें अविकृत परिणाम भी नहीं होता। वह तो ज्यों-का-त्यों अपने स्वरूपमें परमात्मा ही है।

बोले—'नहीं अविकृत परिणाम होता है। उदाहरण? चिन्तामणिको तुम कह दो कि 'यह चीज दे दो,' तो दे देगी। चिन्तामणिमें तो न विकार है, न परिणाम है।

बोले—'बाबा! चिन्तामणि सगुण है। माँगने वाला अगर है और देनेवाली चिन्तामणि अलग है, वह तो छोटी (परिच्छिन्न) ही है न? माँगने वालेमें चिन्तामणि कहाँ है?

'हे कल्पवृक्ष ! हे कामधेनो ! हे चिन्तामणि ! हमारे लिए एक सोनेकी सिल्ली दे दो !' तो कामधेनुने दे दिया, कल्पवृक्षने दे दिया, चिन्तामणिने दे दिया। यह बिलकुल ठीक है और कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणिमें कोई विकार भी नहीं हुआ यह भी ठीक है। लेकिन वे अलग रहे और जिसे दिया, वह अलग रहा। सोना उठाकर ले आये। कल्पवृक्ष स्वर्गमें रह गया, कामधेनु महात्माके आश्रममें रह गयी, चिन्तामणि न जाने कहाँ है अभी ! बात क्या हुई ? श्रद्धासिद्ध कल्पवृक्ष, श्रद्धासिद्ध कामधेनु, श्रद्धासिद्ध चिन्तामणि। इनसे आप सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं। लेकिन व्यापक जो परिपूर्ण परब्रह्म परमात्मा है, ठसाठस-ठोस जैसे पानीमें विकार होता है, फेन-बुद्बुद आदि, जैसे दूधमें विकार होता है दधि आदि, वैसे नहीं होता है उसमें इस शरीरके भीतर जो चित्ताकाश है, इस शरीरके भीतर जो भूताकाश है, वह तो जैसे घड़ेका आकाश महाकाशका अवयव, विकार या परिणाम नहीं है, वैसे भूताकाशका परिणाम मुखाकाश, उदराकाश, कण्ठाकाश, नासिकाकाश, कर्णाकाश—ये आकाश भूताकाशके परिणाम, विकार या अवयव नहीं हैं। उपाधिमूलक भासते हैं।

इसी प्रकार अन्तःकरण है। चित्ताकाश न चिदाकाशका परिणाम है, न विकार है, न अवयव है। उसमें न कोई दूसरी वस्तु है, ज्यों-का-त्यों ही चित्ताकाशके रूपमें और भूताकाशके रूपमें भास रहा है। चिदाकाशमें किसी भी तरहका परिणाम नहीं है।

•

: ६ :

आत्मामें मलिनताकी कल्पना अज्ञान है

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः ॥८॥

अर्थ :—जैसे मूर्खों को मलके कारण आकाश मलिन जान पड़ता है, वैसे ही अविवेकियोंके लिए आत्मा भी मलसे मलिन जान पड़ता है।

यह जो शरीरमें आत्मा है, अपना आपा, वह ब्रह्मका अंश नहीं है। क्योंकि आकाश मुँहमें आकर एक अंश, नाकमें आकर एक अंश, कानमें आकर एक अंश पेटमें आकर एक अंश और फिर अलग-अलग शरीरोंमें एक-एक अंश नहीं होता। जैसे 'आकाशके हिस्से बन जाते हैं' यह कल्पना गलत है, वैसे 'परब्रह्म परमात्मा भिन्न-भिन्न शरीरमें आ करके भिन्न-भिन्न आत्मा बन जाता है'—यह कल्पना गलत है।

न तो यह ब्रह्मका अंश है, न तो ब्रह्मका विकार है, यह तो उपाधिमें प्रविष्ट होकरके वही 'जीव'—नामधारी है। जैसे महाकाशकी ही संज्ञा घटकी उपाधि 'से घटाकाश' है, आकाशमें किसी प्रकारका छेदन-भेदन नहीं हुआ है, वह भिन्न-भिन्न नहीं हुआ है, इसी प्रकार ब्रह्म ज्यों-का-त्यों ही 'जीव' है, ऐसा समझना चाहिए।

बोले कि 'इसमें हमें यह शंका है कि ब्रह्म तो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, और जीव पंच क्लेशोंसे युक्त है—किसीसे राग करके रोता है, किसीसे द्वेष करके जलता है, अभिमान करके फूलता है, मौतसे डरे और बेवकूफी पर बेवकूफी करता जाता है। जीवके साथ ये पाँच बातें जुड़ी हुई हैं।

इस आठवीं कारिकामें यह बात बतायी गयी है कि जीवमें मलवत्त्व नहींहै। वह मौत से डरता नहीं है, उस भावका साक्षी है। उससे न्यारा है। रागीपनेका भाव है, उसका भी साक्षी है। द्वेषीपनेका भाव है, उसका भी साक्षी है। अभिमान है, उसका भी साक्षी है। अविद्या है उसका भी साक्षी है।

परमार्थमें जीवका अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशसे कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई अपनेको घड़ा मानेगा तो फूटनेका डर रहेगा। यही राग हुआ। जब किसीसे राग जोड़ेगा तो बिछोहका डर होगा, रोवेगा। अपनेको घडा मानेगा तो फूटेगा और धरती मानेगा तो गलेगा, पानीमें मिल जायगा। पानी मानेगा तो जल जायगा, आग मानेगा तो बुझ जायगा, और अपनेको हवा मानेगा तो चले कि न चले। आकाश माने तो ईश्वरका संकल्प जीवका संकल्प समाप्त होने पर खतम हो जायगा।

अपनेको मन माने तो रागद्वेषमें फँस जायगा। अपनेको कर्ता माने तो पापी-पुण्यात्मा हो जायगा। अपनेको आरामतलब बना दे तो भोक्ता हो जायगा। इसलिए तुम अपने 'मैं' को कहाँ बैठाके देखते हो? तुम्हारा असली 'मैं' कौन है? इस बातको जानना जरूरी है।

न तुम घड़ा हो कि फूट जाओ। यह शरीर घड़ा है। न तुम मिट्टी हो कि पानीमें गल जाओ! न पानी हो कि आगमें जल जाओ! न आग हो कि बुझ जाओ। न वायु हो कि बंद हो जाओ। न आकाश हो कि संकल्पका कार्य होवो। न तुम मन हो कि रागद्वेष होवो! न तुम बुद्धि हो कि कर्ता होवो। न तुम आनन्दमय कोश हो कि आरामतलब होकर भोक्ता बन जाओ।

तुम तो ज्ञानस्वरूप हो, शुद्ध हो, साक्षी हो! अपने स्वरूपको न जाननेके कारण—'मानि मानि बन्धनमें आयो।' मान-मान करके तुम बन्धनमें आ गये हो। जब तुम रोने लगते हो कि हम इसके बिना नहीं रह सकते, तब तुम अपनी महिमाको भूल जाते हो। तुम्हारा महात्म्य विलक्षण है।

जो कोई तुमसे प्रेम करता है, वह भी तुम्हारी महिमा प्रगट करता है, कैसे? तब वह कहता है कि 'तुम बहुत मीठे हो।' तुम्हें ज्ञान होना चाहिए कि तुम बहुत मीठे हो, मधुर हो, सुन्दर हो! जो तुम्हें छोड़कर चला जाता है वह भी तुम्हारी महिमा प्रगट करता है। कैसे? 'तुम असंग हो'—'मैं तुम्हारे पास रहूँ चाहे न रहूँ।'

तुम तो हो हो हो! जो तुमसे दुश्मनी प्रगट करता है, वह भी तुम्हारी महिमा प्रगट करता है। तुम इतने महत्त्वपूर्ण हो कि तुम्हारे रहते वह अपने को सुरक्षित नहीं समझता। इतने ऐश्वर्यशाली हो तुम! अनन्त महिमा है तुम्हारी!

क्यों ऐसा मानते हो कि 'मेरा जन्म होता है?' ये मकान जितने बनते हैं, इसमें 'मकान कैसा होवे'—यह बात इन्जिनियर बताता है और मिस्त्री उसको बनाता है। लेकिन क्या वे माटी भी बनाते हैं? पानी बनाते हैं? उसमें

पत्थर लगते हैं सो बनाते हैं क्या ? पहलेसे वह तो है ? तो, तुम वह तत्त्व हो, जो सृष्टि बननेके पहले था, सृष्टि बननेके बाद भी रहेगा और जिसमें यह सृष्टि गढ़ी गयी है, वह मूल उपादान, मूल धातु तुम हो !

ये बच्चे समझते हैं कि 'आज आकाश बड़ा गंदला है ! आज आकाश लाल-लाल हो गया है। आज आकाश धूलिधूसरित हो गया है। गोस्वामीजीने कहा—

जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं अविचारी॥
चितवज लोचन अंगुलि लाये। जुगल प्रगट ससि तिनके भाये॥

और—

उमा राम विषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥

गोस्वामीजीने कहा—'जैसे आकाशमें अन्धकारकी कल्पना करते हैं कि 'आज आकाश अन्धकारमय है' 'आज आकाश धूममय है', 'आज आकाश धूलिमय है', आकाशमें न तम है, न धूम है, न धूल है; जैसे कितनी बार आकाशमें तम-धूम-धूलि आते हैं, और जाते हैं, वह तो ज्यों-का-त्यों अडिग है—यह तो प्रतीति है। ऐसे ही आत्मा नित्य शुद्ध है।

जैसे बच्चे आकाशको मलसे मलिन समझते हैं, इसी प्रकार जो आत्माके स्वरूपको नहीं जानते हैं वे आत्माको मलिन समझते हैं। 'यह बुद्धिमान् है, यह इच्छावान् है, यह रागवान् है, यह द्वेषवान् है, यह प्रयत्नवान् है, यह संस्कारवान् है, यह धर्मवान् है'—ऐसा जो समझते हैं, आत्माके स्वरूपको नहीं समझते हैं। न तो प्रकृति-प्राकृतसे इसका कोई सम्बन्ध है, न अन्तःकरणके भावोंसे इसका कोई सम्बन्ध है। यह तो ज्यों-का-त्यों है।

घनच्छन्ना दृष्टिः घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते जातमूढः।

आँखके आगे आ गया बादल। बोले कि—'सूरज ढँक गया।' बुद्धिमें आया दोष और बोले कि 'आत्मा मलिन हो गयी।' जिसको तुमने देखा नहीं, उसको 'पापी' समझनेका तुमको क्या अधिकार है ? जिसको तुमने कभी देखा नहीं, उसको 'पुण्यात्मा' समझनेका तुमको क्या अधिकार है ? तुमने अपने आपको देख लिया तब अपनेको पापी-पुण्यात्मा समझा कि केवल बाहरी चीजोंको देखकर अपनेको पापी पुण्यात्मा मान रहे हो ?

एक आदमी दुःखी था, तो एक बार मैं उसको समझाने लग गया। जब मैं पूछूँ कि 'तुम्हारी समझमें आया ?' तो बोले—'हाँ, समझमें आया।' और

हँसने लगे। बोले—'कोई दुःख नहीं है महाराज! आप ठीक कहते हैं।' और फिर दो मिनटके बाद झर्-झर् आँसू आँखमें-से गिरने लगते तो दुःखी! दो मिनटमें खुश हो जाय और दो मिनटमें रोवे! अच्छा, पूछो उससे—'दो मिनट तुम सुखी और दो मिनट तुम दुःखी—ऐसा क्यों? वह ऐसा ही है जैसे घरमें खटमलवाली एक टूटी खटिया हो और एक बड़ा बढ़िया पलंग होवे, तो दो मिनट उसपर बैठके रोवे कि—'हाय-हाय! हमारी खटिया टूटी है, खटमल हैं इसमें—और दो मिनट अच्छे पलंगपर बैठकर खुश होवे कि 'हमारे घरमें कितना बढ़िया पलंग है।' तो यह दुःखीपना और सुखीपना दोनों खटिया-पलंगकी तरह है।

एक बात बताओ कि तुम चौबीसों घण्टे सुखी हो कि चौबीसों घण्टे दुःखी हो? थोड़ी देर सुखी रहते हैं और थोड़ी देर दुःखी रहते हैं। ये दोनों तो तुम्हारी स्वीकृति हुई न! यह तो तुम्हारी मंजूरी हुई। अपनेको दुःखी मानकर रो लेते हो, अपनेको सुखी मानकर हँस लेते हो। लेकिन ये दो तो चोला ही है!

एक बार तीन आदमी यात्रा कर रहे थे। एक आदमी मोटा था और खूब चुस्त कपड़ा पहने हुए, दूसरा भी था तो मोटा ही, कपड़ा भी मोटा था, चुस्त था, लेकिन वह विरक्त-टाइपका था। तीसरा दुबला-पतला था, कपड़ा उसका भारी था, बड़ा था, लेकिन कपड़ेसे उसको मोह नहीं था। बीचमें मिले डाकू! उन्होंने तीनोंसे कहा—'तुम अपने कपड़े उतार दो।' जो मोटा था और कपड़े एकदम शरीरमें सख्त बैठे हुए थे, उसको कपड़ेसे मोह भी था। जल्दी-जल्दी एक तो कपड़ा निकालनेकी तकलीफ और दूसरे, मनमें मोह कि 'हाय-हाय! हमारा कपड़ा जा रहा है! वह तो जोर-जोरसे चिल्लाके रोने लगा।

जो दूसरा था, उसे कपड़ेसे मोह नहीं था। कपड़ा चुस्त तो था, निकाल दिया, थोड़ी तकलीफ हुई।

तीसरा जो था, उसके मनमें कपड़ेसे मोह भी नहीं था और कपड़ा भी सटा हुआ नहीं था। हल्का-फुल्का था, निकालके फेंक दिया कि 'लो!'

जिसको मोह भी था और सटा हुआ था, उसको डबल दुःख हुआ। जिसका कपड़ा सटा हुआ था, पर मनमें मोह नहीं था, उसे इकहरा दुःख था, थोड़ा दुःख हुआ और जिसे सटा हुआ भी न था और मोह भी न था, उसे बिलकुल दुःख नहीं हुआ।

तो, यह जो संसार है, उसमें मोह भी करते हैं और पकड़कर भी रखते हैं। पकड़कर रखो, लेकिन मोह मनमें न हो, तो छोड़ते समय थोड़ी तकलीफ होगी। पकड़ भी न हो, और मोह भी न हो, तो बिलकुल तकलीफ नहीं

होगी। परन्तु पकड़ भी हो और मोह भी हो, तो डबल तकलीफ होगी। संसारका यह नियम है।

सचमुच, देखनेवालेकी नजरसे ही यह सृष्टि दिखायी पड़ती है। आप अपने सामने कभी तीन गिलास पानी रख लो, खूब गरम पानी रख लो एक गिलासमें और एक गिलासमें खूब ठंडा पानी—रेफ्रिजरेटरका रख लो। एकमें मामूली पानी रखदो। एक हाथ डालो गरममें और दूसरा हाथ डालो ठण्डेमें। दो मिनट रहने दो। उसके बाद सामने जो मामूली पानी है, उसमें डालो, तो क्या होगा, आपको मालूम है? मामूली पानी है तो एक ही, परन्तु एक हाथको वह गरम लगेगा और एक हाथको वह पानी ठण्डा लगेगा। क्यों? जो हाथ ठण्डेमें था, उसे वह पानी गरम मालूम पड़ेगा और जो हाथ गरममें था, उसे वह पानी ठण्डा मालूम पड़ेगा। तो, तीसरे गिलासका पानी गरम है कि ठण्डा? आपका हाथ ठण्डा है, तो वह गरम है और आपका हाथ गरम है तो वह ठण्डा है। तो वह गरम है कि ठण्डा? वह न गरम है न ठण्डा है। यह तो आप अपने घरमें करके देख सकते हैं!

ऐसे ही, यह संसार सुख है कि दुःख है? जिसको सुखमें आसक्ति ज्यादा है, उसके लिए यह संसार दुःख है और जो खूब दुःख भोग रहा है, नरकसे निकलकर आया है, उसको इससे राहतकी साँस मिलेगी।

यह संसार क्या है? स्वर्ग कि नरक? सुख कि दुःख? अरे! यह न नरक है, न स्वर्ग। यह तो साक्षात् ब्रह्म है। तुम अपनी दृष्टिसे इसे नरक बनाकर रो सकते हो और अपनी दृष्टिसे इसे स्वर्ग बनाकर हँस सकते हो। दोनोंसे उदासीन होकर तुम आनन्दमें, मौजमें रह सकते हो। यह मन ही सुख-दुःखका कारण है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

बन्धनका कारण मन है, मोक्षका कारण मन है। जिसका मन विषयोंमें आसक्त है, उसके लिए यह मन बन्धनका हेतु है और तुम विषयोंसे आसक्ति नहीं करो, तो मुक्त हो। मुक्ति कोई अपने दिलमें रखनेकी चीज नहीं है। यह मुक्ति अपने स्वरूपमें नहीं है, न बन्धन अपने स्वरूपमें है। बन्धन और मोक्ष मनमें ही हैं।

क्या तुम बन्धनको निमन्त्रण देते हो कि 'हे बन्धन! तुम आओ, हमारे दिलमें रहो? मोक्षको न्योता देते हो कि 'हे मोक्ष! तुम आओ, हमारे घरमें रहो?

तुम अपने घरमें गाय पालो कि कुत्ता पालो, इसमें स्वतन्त्र हो। ऐसे ही, कुत्तेकी जगहपर बन्धनको समझो और गायकी जगहपर मोक्षको समझो। ये दोनों पाले हुए हैं। इसमें भी स्वतन्त्र हो और दोनोंको न पाले तो? उसमें भी तुम स्वतन्त्र हो।

तुम्हारा स्वरूप न गाय है, न कुत्ता है। दोनोंके बिना तुम रह सकते हो। यह मनुष्य अविवेकके कारण ही सुखी-दुःखी हो रहा है। अरे! बीस बरसकी जिंदगी हो तो वह भी एक जिंदगी होती है। उसको उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। बीस बरसमें भी अनुभव होते हैं। आप यह नहीं समझना कि नहीं होते हैं।

मैं नौ बरसका था और दो-तीन रिश्तेदार-के-रिश्तेदार फिर उसके भी रिश्तेदारके मित्रके घर गया, माने कहीं ब्याहमें गया था। उनके घर जो ब्याहमें आये हुए थे और रिश्तेदार; उनकी रिश्तेदारीमें ब्याह था। वहाँ गया। वहाँ एक सज्जन मिले। मैं तो नौव बरसका बालक था। दो-तीन घण्टेमें ऐसा प्रेम किया, ऐसा उन्होंने खिलाया-पिलाया, ऐसा फुसलाया, कि हम तो समझने लगे कि इनसे बढ़कर हमारा और कोई प्रेमी नहीं है। घरके लोग तो डाँटते थे कि 'यह तुमने किया, यह नहीं किया, स्कूलमें नहीं गया' तो हमको लगने लगा कि घरके लोगोंका हमसे प्रेम नहीं है। प्रेम है तो हमसे इन्हींका है। महाराज हम तो वह संस्कार लेकर आगये!

मैं सोलह बरसका हो गया। इन सात बरसमें मिलनेका मौका नहीं मिला। मनमें यह था कि ये हमारे बहुत प्रेमी हैं। फिर गया उनके पास, उन्होंने तो मुझे पहचाना ही नहीं! कहाँ वह मैं नौव बरसका और कहाँ सोलह बरसका? कहाँ वह उस समय बीस बरसके और अब सताईस बरसके? उस समय वे विद्यार्थी थे और अब अफसर। नहीं पहचाना। तो, बचपनमें ऐसा खयाल हो जाता है कि ये हमारे बहुत प्रेमी हैं! यह बचपना है। ज्यादा दिन कोई किसीका प्रेमी थोड़े ही रहता है!

ये प्रेमी लोग तो ऐसे बदलते है! छाया दिनभरमें आगे-पीछे होती है न! सबेरे पश्चिमकी ओर है तो शामको पूरबकी ओर हो जाती है। दुनियाके प्रेमी लोग भी ऐसे ही बदलते हैं। किसीके मनमें स्थिरता कहाँ है?

हम अपने घरकी बात सुनाते हैं, बचपनमें भी अनुभव होता है। आप लोग यह मत समझना कि बचपनमें अनुभव नहीं होता है। मैं कोई सत्रह बरसका था। घरसे भागकर एक महात्माके पास चला गया। एक महीना

उनके पास रहा। जब मैं माला लेकर भजन करने बैठूँ, 'क्लीं कृष्णाय गोविंदाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।' तो राधाकृष्णको, गोपीकृष्णको ध्यानमें सामने आना चाहिए था, परन्तु सामने कौन आता? मेरी माताजी! टपाटप आँखोंसे आँसू गिरा रही हैं। बोलीं—बेटा! हम तुम्हारे लिए बड़े दुःखी हैं। जल्दी घर आ जाओ!' पत्नी भी सामने आती! हमको लगता—अरे, बड़ा प्रेम होगा, लोग हमारे लिए रोते हैं!

मैं महात्माजीसे आज्ञा लेकर चलने लगा, तो उन्होंने कहा—'देखो, वहाँ तुम्हारे लिए कोई दुःखी नहीं है। यह विघ्न ही है। जो तुम्हें भजनमें-से अलग कर रहा है।'

लेकिन मैं लौट गया घर। गया, तो महाराज! घरके लोग खूब खुश थे। मालूम हुआ माताजी भी नहीं रोती थीं, पत्नी भी नहीं रोती थी। क्यों? अक्सर मैं हर साल, महीने-दो-महिनेके लिए अपने बाप-दादोंके शिष्योंके यहाँ जाता था। हम रहते थे गाजीपुर-बनारसमें और शिष्य थे गया जिलेमें, आसन-सोल-बिहारमें, गुरुवृत्ति थी। गुरुको भी तो एक वृत्ति होती है न! बहुत-से कपड़े-रुपये लेकर मैं हर साल लौटता था। इस साल भी जब मैं घरसे गया तो हमारे घर वालोंको यह कल्पना हो गयी कि वहीं, शिष्योंमें गये होंगे! बहुत-सा कपड़ा-रुपया लेकर आवेंगे। बहुत खुश थे।

मैं पहुँचा तो पूछा—'सामान कहाँ है?' मैंने कहा—'सामान तो हमारे पास लोटाके सिवा और कुछ नहीं है।'

'इक्केपर लदकर आ रहा होगा।'

'अरे भाई! कुछ नहीं है। मैं तो कर्णवास गया था, गंगा किनारे अमुक महात्माके साथ था, भजन करता था!'

अब सबने रोना शुरू किया कि—'हाय-हाय! लड़का बिगड़ गया।'

हमारे लौटनेके बाद घरवालोंने रोना शुरू किया। जबतक मैं महीने भर बाहर था, कोई एक दिन भी नहीं रोया। अब हमें यह होवे कि हमारे न रहने पर तो इनको दुःख हुआ नहीं और पैसेसे तो इनका वियोग भी नहीं हुआ। घरमें पैसा था और चला गया, ऐसा भी नहीं था। केवल आनेकी उम्मीद बँधी थी। नहीं आया और रोने लगे। इसका मतलब हुआ कि घरमें किसीका किसीसे प्रेम नहीं है। अपने मनमें ही यह कल्पना होती है कि ये हमारे बड़े प्रेमी हैं।

एक घटना घटित हुई, आपको सुनाता हूँ। यह सब बचपनमें अनुभव होता है। एक हमारे मित्र थे, स्कूलमें अध्यापक थे। उनका नाम था 'चिरंजी-लाल'। आसन भी खूब करते थे, प्राणायाम भी खूब करते, ध्यान भी करते थे, घंटों-तक बैठते और पढ़ाते। श्रीउड़िया बाबाजीसे तो कहते कि—'महा-राज! हमारा संन्यासी होनेका तो बहुत मन है। घरमें कोई और है नहीं, पत्नी भी नहीं है, बेटा भी नहीं है; माता हैं, वह हमसे बहुत प्रेम करती हैं। केवल उसीके प्रेमके कारण घरमें रहता हूँ।' तो बाबा हँसते।

देखो, माताएँ नाराज नहीं हों कि ये माताओंके प्रेमपर आक्षेप करते हैं, एक सच्ची बात आपको सुना रहा हूँ।

एक बार वे बीमार पड़ गये। ऐसे बीमार पड़े कि डॉक्टर-वैद्योंने कह दिया कि अब नहीं बच सकते।

उनकी माता, कोई दवा पीसने लग गयी। पीसते-पीसते, वह भी बेहोश होकर गिर पड़ीं। संयोगवश वे जब अच्छे हो गये, तो उन्हें मालूम पड़ा कि माताजी हमारी बीमारीमें खुद भी बेहोश हो गयी थीं। तब तो उनको यह खयाल जम गया कि हमारी माताजी हमसे बहुत प्रेम करती हैं।

बाबाके पास वे जब आये, तो बोले—'हमारी माताजी तो हमसे खूब प्रेम करती हैं। हमारी बीमारीमें वह खुद भी बेहोश हो गयीं।'

बाबाने कहा—'तुम उनसे पूछना कि जिस समय वे बेहोश हुईं, उस समय उनके मनमें क्या खयाल था?'

जाकर पूछा—'माताजी! आप तो हमारे लिए दवा पीस रही थीं। एकाएक बेहोश क्यों हो गयीं? क्या खयाल आया?'

वे बोलीं—'खयाल यह आया था कि 'मैं तो अब बुढ़िया हो गयी। घरमें न बहू है, न बच्चा है! और एक ही बेटा है, सो मर जायगा, तो उसके मरनेके बाद हमको रोटी कहाँसे मिलेगी? कपड़ा कौन देगा? हमारा गुजर-बसर कहाँसे होगा? आगेकी बात सोचते-सोचते बेहोश होकर गिर पड़ी थी।'

चिरंजी लाल बोले—'माताजी! आपको अपने ही स्वार्थका खयाल आया कि कैसे जीऊँगी इसके बिना? मैं मर रहा हूँ, इसका कोई खयाल नहीं आया?

माताजी बोलीं—'बेटा, संसारमें जन्म-मरण तो लगा ही हुआ है। संसारमें किसका कौन है?'

फिर वे बाबाके पास आये और बोले—'माताजी तो ऐसा कहती हैं कि संसारमें किसका कौन है ? उसे तो अपनी ही फिकर लगी हुई है।'

बाबाने कहा—'तुम्हारे पास कुछ रुपया-पैसा है ?' वे बोले—'हाँ, हमारे पास जमा रुपया पाँच-सात हजार होंगे।'

बाबा बोले—'रुपया तुम अपनी माँको भेज दो।' उन्होंने भेज दिया और खुद संन्यास ले लिया। अभी थोड़े दिनों पहले उनकी मृत्यु हुई। वे साधु हो गये थे, विरक्त हो गये थे। संसारमें किसका कौन है ?

एक बात आपको और सुनाऊँ ? एकबार हमलोग बद्रीनाथ गये। 'दादा' भी साथ था और 'दादा'की माँ भी साथ थीं। मैंने कहा—'माताजी ! हमलोग साथ-साथ चल रहे हैं। यात्रामें खर्च लगता है। सब लोग आपसमें बाँट लेंगे। दादाका खर्च तो तुमको देना पड़ेगा, क्योंकि तुम्हारा यह बेटा है।'

दादा तो साधु हो गया था, खर्चका कोई सवाल नहीं था। मैंने तो हँसी की थी।

वह बोलीं—'हमारा कौन बेटा ? हमारा बेटा नहीं, तुम्हारा बेटा है।' तुम उसका खर्च दो।'

हम तो हँसने लगे कि 'माताजी ! अब दादा हमारा बेटा हो गया। अब दादा तुम्हारा बेटा नहीं है।' तब रोने लग गयीं कि—'हाय ! मेरे मुँहसे क्या निकल गया ?'

अवचेतन मनमें—मनुष्यके मनकी भीतरी तहमें क्या-क्या बात भरी है, उसे सामान्य रूपसे लोग समझते नहीं हैं। समझो कि यहाँ एक आदमी आया और बोला कि हमने पाँच लाख रुपया खर्च करके यह विद्यालय बनाया है; 'दो लाख रुपया खर्च करके यह अस्पताल बनवाया है',—तो क्यों बोला वह ?

उसका खयाल है कि लोग हमको कंजूस समझते होंगे। यह अपने मनमें हीनताका भाव आया। उस हीनताके भावसे युद्ध करनेके लिए, उसने यह बात जाहिर की कि 'हमने इतना दान किया है।' 'हमको मामूली आदमी, छोटा आदमी नहीं समझना !' वह अपनी हीनताके भावका निवारण-मात्र ही है।

असलमें वह अपनेको भीतरसे संतुष्ट करनेके लिए ऐसा अभिमान करता है। अगर भीतर वह संतुष्ट होता, तो विद्यालय बनाकर, अस्पताल बनाकर अभिमान न करता। अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होनेसे अथवा भगवदीय होनेसे कि 'हम भगवान्‌के भक्त हैं'—जिस भावसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध है, उस सम्बन्धसे

उसके अन्दर बड़प्पन आना चाहिए था। दातापनेके भावसे उसके अन्दर बड़प्पन नहीं आना चाहिए था। परन्तु कंजूसपनेकी जो हीनता है, उसके निवारणके लिए वह दातापनेके द्वारा अपने बड़प्पनकी घोषणा करता है।

एक जुडीशियल-मजिस्ट्रेट थे अपने इलाकेमें। कभी-कभी वह हमको अपने घरमें भोजन करनेके लिए बुलाते थे। हम जाते। उनकी एक लड़की थी वह एम० ए० पास थी। विलायत भी हो आयी थी। बहुत सुसंस्कृत लड़की थी। वह भोजन परसनेके लिए आती। परन्तु वह प्रायः बोलती नहीं थी। हँसती भी नहीं थी। बड़ी गम्भीरतासे आकर भोजन परसती। देखकर अपने आप ही परस देती; पूछती भी नहीं थी कि 'आपको और कुछ दें ?'

हमको यह खयाल होता कि इतनी पढ़ी-लिखी विलायतसे लौटी हुई, इतनी सुसंस्कृत, इतना कम क्यों बोलती है ? इतनी गम्भीरता क्यों ? एक दिन मैंने कोई ऐसी बात कह दी कि वह हँस पड़ी। जब हँस पड़ी तो देखा कि उसके नीचेके दो दाँत बिलकुल सड़े हुए थे। बादमें तो उन्हें बदलवा दिया। तो, 'ये जो हमारे सड़े हुए दाँत हैं, वे दीख न जायँ'—अपनी इस हीनताको छिपानेके लिए वह कम बोलती थी और अपनेको बहुत गम्भीर प्रकट करती थी।

संसारकी वृत्ति बहुत छोटी जगह पर अहं करके बैठी हुई है। चामके रंगमें जहाँ कमी मालूम पड़ती है, वहाँ कुछ रंग-रोगनसे उसे ढँक देते हैं। सफेद बाल होते हैं तो उन्हें काटकर निकाल देते हैं। शरीर ही तो है न !

इसी तरह मनमें भी होता है। झूठे बड़प्पनमें क्लेश है। एकको पकड़नेके लिए दूसरेको दबाता है और दूसरेको दबानेके लिए पहलेको पकड़ना पड़ता है। हम दुश्मनके दुश्मनको अपना दोस्त मान लेते हैं, भले ही वह बेईमान हो। और अपने दुश्मनके दुश्मनको, भले वह, बुरा-से-बुरा हो उसको दोस्त बना लेते हैं। यह क्या है ? असलमें दोस्त, दोस्त नहीं, दुश्मन, दुश्मन नहीं है। अपने मनमें जो राग-द्वेष हैं, उनके अनुकूल जो काम करता है, उसको दोस्त समझते हैं, जो प्रतिकूल काम करता है, उसको दुश्मन समझते हैं। दुर्मनाका नाम दुश्मन और जिसमें दो-पना अस्त हो जाय वह दोस्त ! परन्तु अनुकूल कौन है और प्रतिकूल कौन है ? जिससे राग है, वह अनुकूल है और जिससे द्वेष है, वह प्रतिकूल है।

यह राग-द्वेष कहाँसे आता है ? संस्कारसे और संस्कार कहाँसे ? जैसे वातावरणमें पलते हैं, जिन लोगोंके साथ रहते हैं, जिस सम्प्रदायको मानते हैं, उसमें-से यह संस्कार, यह कल्पना आ जाती है। नहीं तो, हिन्दू लिखनेके

लिए बाँयेंसे दाँयें जाता है। और मुसलमान लोग दाँयेंसे बाँयें जाते हैं, चीनी लोग ऊपरसे नीचे जाते हैं। यह अपनी-अपनी रुचि ही तो है। बाँयेंसे दाहिने माने दुश्मनीसे दोस्तीकी ओर। दाहिनेसे बाँयें माने दोस्तीसे दुश्मनी-की ओर और ऊपरसे नीचेकी ओर माने उत्थानसे अधःपतनकी ओर। यह अपनी-अपनी रुचि और अपना-अपना संस्कार ही है! एक दूसरेको गलत बताते हैं—'ये गलत हैं, ये गलत हैं, ये गलत हैं'—यह सब संस्कारसे होता है।

जैसे कोई रेगिस्तानमें केवल रेत (बालू)वाली भूमिमें जलकी कल्पना करके, उसे जल समझ ले और प्यासा हो तो उसके पास चला जाय तो वहाँ प्यास नहीं बुझेगी; ठीक इसी प्रकार जो प्रत्यगात्माका विवेक नहीं करते हैं और जो अपनी कल्पनाओंसे आत्माको ऐसा-वैसा समझनेवाले लोग हैं वे यदि आत्मरति चाहते हैं, आत्मतुष्टि चाहते हैं, आत्मतृप्ति चाहते हैं, तो उनको कभी तृप्ति मिलनेवाली नहीं है।

लेकिन यह बात केवल इतनी ही नहीं है। सत्य वस्तु आत्मामें जिस अनात्म वस्तुका अध्यारोप किया जाय उस वस्तुका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं होता। रस्सीको साँप समझा तो रस्सी विषैली नहीं हो गयी। किसीने माला समझा तो शोभा बढ़ानेवाली नहीं हो गयी। जो किसी दूसरेमें या अपनेमें झूठ-मूठकी चीज आरोपित कर लेता है, उस आरोपित गुण और दोषसे अधिष्ठान-वस्तुका लेशमात्र भी बनता-बिगड़ता नहीं है। लेकिन यह बात तो हम थोड़ी और विस्तारसे बताते हैं।

\+ \+ \+

मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः ॥९॥

अर्थ :—(यह आत्मा) सब शरीरोंमें (प्रतीत होनेवाले) मृत्यु, जन्म, और गमनागमनमें और स्थित रहनेमें भी आकाशसे विलक्षण नहीं है।

संघाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्ममाया विसर्जिताः।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ॥१०॥

अर्थ :—देहादि सब संघात स्वप्नवत् हैं और आत्माकी मायासे रचे हुए हैं। उनमें प्रतीत होनेवाले समान या अधिकतामें भी कोई हेतु नहीं है।

कल एक भाईने जो हमसे पूछा—'महाराज! हमने आजतक जो धर्म-की, शास्त्रकी बात सुनी है, उसमें तो यह लिखा है कि जीव नरकमें जाता है,

जीव स्वर्गमें जाता है, जीवका पुनर्जन्म होता है, यह आवागमन बिलकुल सच्ची चीज है। आप सबेरे बताते हैं कि 'आत्मा न जाता है न आता है।'

मैंने तो उसको कहा—'जो तुमने पहले सुना है, वह ठीक है। हम तो गप्प हाँकते हैं।' हम तो दूरकी कौड़ी लाते हैं। जैसे बच्चे यह मानते हैं कि जब घड़ा चलता है, तब उसमें जो आकाश है, वह भी चलता है। आकाश आता है, जाता है, आकाश धूमिल होता है। आकाश धूलिधूसरित होता है, आकाश, वायु आदिसे सम्बन्ध है, वैसे ही जीवके बारेमें सब है। लेकिन जब आकाशका विचार करते हैं तो दूसरा ही नतीजा निकलता है।

वेदान्ती लोग ऐसा मानते हैं कि जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है, माने जिसने आत्माको ब्रह्म जान लिया है, उसका तो 'यह शरीर न मैं है, न मेरा।' जब आत्माको ब्रह्म जान लिया है, उसका तो 'यह शरीर न मैं है, न मेरा।' जब शरीर न मैं है न मेरा, तो जन्म नहीं हुआ। जन्म नहीं हुआ तो मृत्यु नहीं होगी। शरीरमें जो पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख मालूम पड़ते हैं, वह तो घड़ेमें भरी हुई चीज हैं। आकाशमें भरी हुई चीज नहीं हैं।

जो अपनेको आकाश रूपमें जान गया, वह यह शरीर रहते ही जान गया कि 'न यह शरीर मैं है, न मेरा है। न मेरी मौत होगी, न स्वर्ग होगा, न नरक होगा, न ब्रह्मलोक होगा, न आना, न जाना। मैं तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ।

ये आत्मदेव मरनेमें कैसे हैं? 'आकाशेनाविलक्षणः' जैसे घड़ा फूटता है, आकाश नहीं फूटता। इसी प्रकार यह शरीर फूटता है, आत्मा नहीं फूटता। यह तो ऐसा ही है जैसे कि—सैन्धवकी खानमें, नमककी खानमें लहशुनकी क्या कीमत है? अरे! लहशुन अगर उसमें गिरेगा भी तो क्या वह अपनी गन्धसे नमककी खान को दुर्गन्धित कर सकेगा?

सैन्धवघनवत् अखण्ड ब्रह्म है। उसमें इस दृश्यमान् नामरूप प्रपंचकी महिमा, इसमें तुम्हारा शरीर, इसमें तुम्हारा पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख इसकी कोई कीमत नहीं है।

मरणे सम्भवे चैव—घड़ा बन गया तो उसमें गोल-गोल आकाश आ गया। तो क्या उसमें आकाशका जन्म हुआ? नहीं, आकाशका जन्म नहीं हुआ, वह तो घड़ा बननेके पहले ही था। घड़ा फूट गया तो क्या आकाश फूट गया? नहीं, वह तो ज्यों-का-त्यों है। घड़ेको ले गये और घड़ेको ले आये, तो क्या आकाश आया और गया? घड़ेको रख दिया तो क्या उसमें आकाश स्थित

है ? आकाश न जाता है न आता है, न स्थित होता है, न मरता है न पैदा होता है।

इसलिए यह जो आत्मदेव हैं, वह सर्वत्र परिपूर्ण हैं। अपने आपको चैतन्य-आकाश, अद्वितीय आकाश, चिदाकाश, अद्वय चिदाकाश जानो। आप यह नहीं समझना कि 'अद्वय' शब्द परमार्थ है। या 'चिदाकाश' शब्द परमार्थ है। यह सब व्यावहारिक है। जिसको द्वैतका भ्रम है, वह व्यवहारमें है। उस अद्वैतके व्यावहारिक भ्रमको मिटानेके लिए व्यावहारिक रूपसे ही 'अद्वय' आदि शब्दोंका प्रयोग किया जाता है।

इस देहादि संघातमें तुम क्या हो ? एक युवक था विलायतमें। वह किसी स्त्रीपर मुग्ध हो गया। वह रोज उसका पीछा करे। प्रेमकी याचना करे, उसके पीछे-पीछे घूमे, उस स्त्रीके मनमें एक दिन बहुत प्रेम उमड़ा। उसने कहा, 'अच्छा' चलो। आज हम तुमको अपने घर आमन्त्रित करते हैं। घर ले गयी। उससे पूछा—'हमारे अन्दर ऐसी क्या चीज है, जो तुम्हें अच्छी लगती है ?'

उसने कहा—'तुम्हारे बाल बहुत सुन्दर हैं।' वहाँ सुनहले बालकी महिमा है, यहाँ काले बालकी।

उसने कहा—'अच्छा ! हमारे बाल बहुत पसन्द हैं ?' उसने जरा सिरपर इधर-उधर करके वह बाल उतार कर रख दिये। वह तो नकली थे।

अब वह युवक बोला—'तुम्हारे दाँत बहुत अच्छे हैं।' उसने पूरा-का-पूरा सेट उतारकर उसके सामने रख दिया कि 'यह तो नकली है।' अब तो विचारे घबड़ाये ! न सिरपर बाल, न मुँहमें दाँत ! किमभूत किमाकार ?

भारतवर्षमें भी एकबार ऐसा हुआ। एक कोई विधवा स्त्री थी। उसको किसी पुरुषने कह दिया कि, 'तुम्हारे दाँत बहुत सुन्दर हैं।' उस स्त्रीने लोढ़ा लेकर अपने दाँत तोड़ दिये और तोड़के उसके सामने रख दिये कि 'बहुत सुन्दर हैं तो ले जाओ।' यह भारतीय संस्कृति है।

यह शरीर क्या है ? संघात है। जैसे नकली बाल, वैसे नकली नाक भी होती है। शरीरके कितने ही अंग आजकल नकली बनाये जा सकते हैं। प्लास्टिकका कलेजा भी बना देते हैं। हाथोंमें हड्डीकी जगह स्टील लगा देते हैं। पाँवोंमें स्टील लगा देते हैं।

नकली पाँव, नकली हाथ, नकली आँख, नकली नाक लगा देते हैं। यह हमारा शरीर बिलकुल टुकड़े-टुकड़े हैं। ऊपरसे खून और चरबी लगाकर चाम

पहना दिया गया है। हड्डियाँ सब अलग-अलग हैं। पाँव घुटनेसे अलग हैं, टखनेसे अलग है, कमरसे अलग है। संसारके जो सुन्दर-सुन्दर लोग हैं, वे सुनेंगे तो उनके मनमें ग्लानि हो जायगी।

हमने तो जाकर श्मशानमें हड्डियाँ देखी हैं। जलनेके बाद पानीमें बहा देते हैं, कछुए जब शरीरको चाट जाते हैं तब बादमें हड्डियोंकी क्या दशा होती है! 'मणिकर्णिका घाट' पर हमने जलते समय सैकड़ों मुर्दे पास बैठकर देखे हैं कि उसके भीतरसे क्या-क्या निकलता है? यह बिलकुल नकली मामला है। जिसको मैं-मेरा करके हमलोग संसारमें फँसे हुए हैं, जिसको सूँघनेसे, देखनेसे, और रगड़नेसे हमें बड़ा सुख मालूम पड़ता है, इसकी ऐसी पोलपट्टी है। यह बिलकुल संघात है। 'संघात है', माने मोटरके जैसे पुर्जे बनाये गये हैं जोड़-जोड़कर; वैसे इसमें सब अलग-अलग पुर्जे हैं। इसमें 'मैं-पना' स्वप्नवत् है। यह सचमुच 'आत्ममाया विसर्जिताः'—अपने स्वरूपको न जाननेके कारण, अपने स्वरूपकी अविद्याके कारण इसकी कल्पना हुई है।

इसमें कौन अधिक है? ब्रह्माका शरीर तो बड़ा अधिक है। एक कल्प जिन्दा रहता है। देवताका शरीर एक मन्वन्तर जिन्दा रहता है। मनुष्यका शरीर सौ-पचास वर्ष जिन्दा रहता है। तो मनुष्यसे ब्रह्माका शरीर श्रेष्ठ हुआ? अरे! सब पंचभूतका ही बनाया हुआ है। कोई दो बरस ज्यादा जीता है, कोई दो बरस कम। सभी मौतसे घबड़ाते हैं कि अब तो बुढ़ापा आगया। काल तो उनको भी आता है।

इसमें ऐसा नहीं है कि कोई राँगेका बना हो, कोई मिट्टीका बना हो, कोई सोनेका बना हो! सोना भी पंचभूतके अन्तर्गत है और माटी भी पञ्चभूतके अन्तर्गत है। ये कपड़े हैं न! एक ही सूतसे सब कपड़े बने हैं। किसीमें डिजाइन कुछ। और किसीमें डिजाइन कुछ। किसीका रंग पीला, किसीका लाल, किसीका नीला! तो रंगका भेद हुआ, सूत तो सब एक है।

ब्रह्माके शरीरमें और चींटीके शरीरमें एक ही पंचभूत है। पंचभूतकी दृष्टिसे चींटीकी अपेक्षा ब्रह्मा श्रेष्ठ नहीं है। कभी चींटी भी ब्रह्मा बनती है। समझो, कि एक चींटीसे हजार चींटी पैदा हों! आप खयाल करो। एक चींटी एक हजार चींटी पैदा करे और फिर एक हजार चींटी हजार-हजार चींटी पैदा करे और फिर उन एक-एकसे हजार-हजार चींटी पैदा हों, तो आप क्या समझते हैं कि एक बरसमें कितनी चींटी पैदा होंगी? जो पहली चींटी थी, जिससे सब चींटियाँ पैदा हुईं, वह चींटी सब चींटियोंकी ब्रह्मा है कि नहीं है? वह सब चींटियोंकी ब्रह्मा है। आप भी किसीके ब्रह्मा हैं, यह आपको मालूम नहीं है।

आपके पाँच बच्चे हों, फिर पाँचोंके पाँच-पाँच हों और फिर उनके पाँच-पाँच हों, और फिर उनके पाँच-पाँच हों, तो सौ पीढ़ीमें आप गिन लो, करोड़ों बच्चे हो जायेंगे। आपके इसी शरीरसे सौ पीढ़ीमें करोड़ों बच्चे हो जायेंगे। वे लोग आपको ब्रह्मा ही मानेंगे। आप गोत्र-प्रवर्तक ऋषियोंसे भी बढ़ जायेंगे।

बोले—'अच्छा, तो सब बराबर हैं?'

बराबर क्या है? जब पंचभूत है ही नहीं, तो बराबर क्या होंगे? न तो कोई बड़ा-छोटा है, न कोई बराबर है।

आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते।

इनकी उत्पत्ति ही नहीं है। जो चीज पैदा ही नहीं हुई, उसमें आधिक्य कहाँसे? और सर्वसाम्य कहाँसे? यह सब बिलकुल युक्तिहीन, स्वप्नकी सृष्टिके समान, अपने स्वरूपको न जाननेके कारण मालूम पड़ते हैं।

यह वेदान्तका प्रसंग है। वेदान्तके ग्रन्थोंमें भी 'पंचदशी', 'विचार-सागर'—ये आभासवादी ग्रन्थ हैं। भामतीकारके जो ग्रन्थ हैं वे अवच्छेदवादी ग्रन्थ हैं। 'वेदान्तसिद्धान्त-मुक्तावली'—दृष्टिसृष्टिवादी ग्रन्थ है। वेदान्तके ग्रन्थोंमें मुकुटमणि शंकराचार्यके गुरुके भी गुरु 'गौडपादाचार्यका अजातवाद'का यह ग्रन्थ है माण्डूक्य कारिका। वहाँ भी अजातवादकी स्थापना नहीं है। वे कहते हैं कि अजातवाद भी साम्पृतिक है, अजातत्व भी कल्पित है।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे—हमलोग अद्वैतवादी नहीं हैं। अद्वैतवादी तो द्वैतवादीको कुचलनेके लिए सन्नद्ध रहता है। अरे! द्वैत हो, तब न उसका खण्डन करें। द्वैत है ही नहीं, तो खण्डन क्या करें? हाथको ताकत हमने दी, आँखको देखनेकी ताकत हमने दी, पाँवको ताकत हमने दी। सब द्वैतवादी हमारे प्रकाशमें प्रकाशित हो रहे हैं। हमारे अद्वय तत्त्वके सिवा और कोई है नहीं! हम अद्वैतवादी नहीं हैं। हम तो 'अद्वैत' ही हैं।

जन्म-मरणकी, नरक-स्वर्गकी, पुनर्जन्मकी जो चर्चा है, वह कहीं कोई स्थूल देहात्मवादके अनुसार है, तो कोई सूक्ष्म देहात्मवादके अनुसार है। कहीं कारण देहात्मवादके अनुसार है। असलमें अपने स्वरूपमें न माया न छाया, न विद्या न अविद्या, न परिच्छिन्नता न उसका अभाव, न बन्धन न मुक्ति। ऐसे स्वरूपका निरूपण करनेके लिए यह ग्रन्थ हैं।

गुरु लोग पहले सार्वजनिक रूपमें कथा थोड़े ही करते थे? हमारे सामने तो यह दिक्कत है कि सैकड़ों ऐसे आदमियोंके बीचमें जिनको वेदान्त-का संस्कार पहलेसे नहीं है भी सुनाना पड़ता है? गुरु लोग तो जब अन्तःकरण शुद्ध करवा लेते, रगड़ लेते, घोंट लेते, परीक्षा करवा लेते, जब उनको यह

विश्वास हो जाता कि इनमें जो पापासक्ति, विषयासक्ति, नर्कोन्मुखता आदि जो दोष हैं, वे सब निवृत्त हैं तब उनको यह ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान बताते। यह तो आखिरी रत्न है। आखिरी वस्तु है यह !

अब आजाओ पुनः अपने विषय पर !

आत्ममायाविसर्जिताः—अधिष्ठानके अज्ञानसे जो यह सृष्टि दीख रही है—यह जादूका खेल, इसीमें ये सब-के-सब संघात दिखायी पड़ रहे हैं। कौन किससे बड़ा है ? कौन किसकी बराबरीका है ? सपनेमें पाँच बरसका बच्चा छोटा, तीस बरसका बाप बड़ा। लेकिन क्या वे छोटे-बड़े हैं ? उनकी उमरमें फरक है ? उनका वजन ? बेटा मालूम होता है बीस पाउण्डका और बाप मालूम होता है डेढ़ सौ पाउण्डका। तो क्या सचमुच, उनके वजनमें फरक है ? बच्चा मालूम पड़ता है छोटा और बाप मालूम पड़ता है बड़ा, तो असलमें क्या वे छोटे-बड़े हैं ? वह तो मनका ही खेल है। न लम्बाईमें बड़प्पन-छोटपन है, न उमरमें बड़प्पन-छोटपन है, न वजनमें बड़प्पन-छोटपन है।

ब्रह्मा जीयें कल्पभर और जुएँ दिनभरमें कई बार पैदा होवें और मर जायँ ! लेकिन सब स्वप्नके ही हैं।

इसमें सब जीवोंमें ब्रह्माका शरीर बड़ा है अथवा सब जीवोंका और ब्रह्माका शरीर समान है इसमें, कोई उपपत्ति, कोई युक्ति, कोई साधन नहीं है। यह सृष्टि बिलकुल यहीं परमात्मामें प्रकाशित हो रही है। इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है, वह भी अपने मतसे अनिर्वचनीय नहीं कहा जाता है। वेदान्त मतमें सृष्टि अनिर्वचनीय नहीं है; अनिर्वचीय माने मिथ्या। यह पर्यायवाची शब्द है।

असलमें जो चीज मिथ्या होती है, माने मिथः सिद्ध होती है, वह परस्पर-सिद्ध होती है, अन्योन्याश्रित होती है। मिथ्या माने परस्पर-सापेक्ष। आजकल-के वैज्ञानिकोंने भी सापेक्षवाद नामका एक मतसे स्वीकार किया है। आँखसे रूप और रूपसे आँख ! जिस वस्तुकी सिद्धि सापेक्ष होती है, वह वस्तु 'मिथ्या' कही जाती है। क्योंकि, स्वतःसिद्ध नहीं है, स्वयंप्रकाश नहीं है।

मिथोजन्यत्व ही मिथ्यात्व है, ऐसा समझो। वैसे प्रपंचदृश्य होनेके कारण मिथ्या है, विकारी होनेके कारण मिथ्या है। वेदान्तके ग्रन्थोंमें दस युक्तियाँ ऐसी बतायी गयी हैं, जिनके कारण यह प्रपंच मिथ्या है। उनमें सबसे प्रबल जो युक्ति मानी गयी है, वह है—'स्वाभावाधिकरणे भासमानत्व'। अपने अभावके अधिकरणमें भासना, अधिष्ठानका ज्ञान होनेपर निवृत्त हो जाना,

केवल स्वरूपके अज्ञानसे ही मालूम पड़ना और अपने समकक्ष-प्रमाणसे ही सिद्ध होना।

मिथ्या सृष्टि मिथ्या प्रमाणसे ही सिद्ध होती है। आँख, कान, नाक भी मिथ्या सृष्टिमें ही है। अनेक युक्तियाँ वेदान्त ग्रन्थोंमें बतायी गयी हैं। परन्तु सृष्टिकी अनिर्वचनीयता, सृष्टिका मिथ्यात्व वेदान्तके मतमें नहीं है। वेदान्तके मतमें तो ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

अनिर्वचनीयत्व जो बताते हैं, वह तत्-तत् वादी-प्रतिवादीके द्वारा प्रतिपादित मत हैं। नमूनेके रूपमें आपको बताते हैं—

नैयायिकोंने सृष्टिका निर्वचन किया, निरुक्ति की कि परमाणुसे सृष्टि बनी। दो परमाणुके संयोगसे एक अणु बना अणुओंसे फिर त्रसरेणु बनता है, उनसे फिर सृष्टि बनती है।

इसपर यह विचार है कि परमाणु सावयव होते हैं कि नहीं माने परमाणुके हिस्से होते हैं कि नहीं? वे मानते हैं कि अणुके तो हिस्से होते हैं, परन्तु परमाणुके हिस्से नहीं होते।

अद्वैत वेदान्ती कहते हैं—'परमाणुको तुम निरवयव भी मानते हो; सावयव तो नहीं मानते और दो परमाणुओंके संयोगसे अणुकी उत्पत्ति भी मानते हो, यह विप्रतिषिद्ध है। जो वस्तु सावयव नहीं होती, वह संयुक्त कैसे होगी? वह जुड़ेगी कैसे? दो परमाणु जब मिलकर अणु बनेगा, तो परमाणु एक देशसे संयुक्त होंगे कि एक परमाणु दूसरे परमाणुमें बिलकुल मिल जायगा? वह तो निरवयव है!

यदि एक परमाणु दूसरे परमाणुसे अलग होगा ही नहीं, तो अणुकी उत्पत्ति होगी ही नहीं। यदि दो परमाणु आपसमें सटकर बड़े बनते हैं, तो परमाणुका जो निरवयवत्व है, वह व्याहत हो गया, सावयव सिद्ध हो गया।

परमाणु निरवयव भी हो और दो परमाणु के संयोगसे सृष्टि भी बनती हो, तो तुम्हारा 'परमाणु-सृष्टिवाद' अनिर्वचनीय है।

दूसरा नमूना—प्रकृति नित्य भी है और परिणामको भी प्राप्त होती है, यह सांख्य मत है। अरे भाई, समूची प्रकृति बदलती है या प्रकृतिका एक हिस्सा बदलता है? यदि समूची बदलती है तो प्रकृति नष्ट हो जायेगी; यदि उसका एक हिस्सा बदलता है तो जो हिस्सा बदलनेवाला होगा, वह बिलकुल न्यारी चीज होगी! जो हिस्सा नहीं बदलनेवाला होगा, वह भी न्यारी चीज होगी! फिर प्रकृतिका एकत्व ही व्याहत हो जायेगा।

नित्यं च परिणामी च विप्रतिषिद्धमेतत्।

कोई वस्तु परिणामी भी हो और नित्य भी हो, यह बात नहीं हो सकती। उसका निर्वचन नहीं हो सकता। इसलिए तुम्हारे मतमें सृष्टि निर्वचनीय नहीं है।

वेदान्तियोंसे पूछो कि तुम्हारे मतमें सृष्टि क्या है ? हम सीधी बात बताते हैं। सत्य सिद्ध करो तो भी झगड़ा, असत्य सिद्ध करो तो भी झगड़ा, और सदसत् सिद्ध करो, तो भी झगड़ा, हम तो असलमें ब्रह्मको सिद्ध करते हैं। यह आत्मा, यह द्रष्टा ब्रह्म है, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य अद्वय है।

जबतक तुम इसको नहीं जानते, तबतक सृष्टिको चाहे आरम्भ सिद्ध करो, चाहे परिणाम सिद्ध करो। तुम ब्रह्मको जान जाओ, तब तो सृष्टि है ही नहीं। अनिर्वचनीयता जो हम बताते हैं, वह हमारे मतमें नहीं तुम्हारे मतमें बताते हैं।

इसीलिए ब्रह्म अनिर्वचनीय है। कैसा ? अवाङ्मनसागोचरत्वेन है। अपना आत्मा है, परन्तु वाणी और मनका विषय नहीं है। प्रपंच भी अनिर्वचनीय है—परन्तु सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीय है। आत्मा तो है, परन्तु वाणी और मनका विषय नहीं है, अतः अनिर्वचनीयता है। प्रपंच सत्, असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय है।

प्रपंच है या नहीं है ? दोनोंमें-से कोई बात नहीं कही जा सकती। ऐसी अनिर्वचनीयता है।

अब कहते हैं कि यह बात ऐसी है, जैसे—एकने कहा—'साँप बड़ा खराब !' एकने कहा—'माला बहुत अच्छी !' दोनों रस्सीमें दिखायी पड़ रहे हैं। तो साँप बुरा कि माला अच्छी ? अपने अभावके अधिकरणमें, जैसे साँप और माला दोनों (अपने अभावके अधिकरण रज्जुमें न साँप है न माला है;) वहाँ दिखायी पड़ रहे हैं, इसलिए दोनों मिथ्या हैं।

इसी प्रकार अद्वय परब्रह्म परमात्मामें, जो परिच्छिन्नके अभावका अधिकरण है, जो परिच्छिन्नके अभावका साक्षी है, उसमें प्रपंच दीख रहा है। इसलिए यह प्रपंच है नहीं। यह बात बताते हैं। यह तो भाई वेदान्तकी बात है। यह कौन समझ सकेगा ? जिसकी अकल छोटी-छोटी चीजमें फँसी नहीं होगी।

●

: ७ :

आत्माके निर्मल स्वरूपमें श्रुति-प्रमाण

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके ।
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः ॥११॥

अर्थ :—तैत्तिरीय उपनिषद्में जिन रसादि कोशोंकी व्याख्या की गयी है, उनके आत्माके रूपमें जिस जीवका प्रकाशन किया गया है, वह आकाशवत् परमात्मा ही है ।

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम् ।
पृथिव्यामुदरे चैव यथाकाशः प्रकाशितः ॥१२॥

अर्थ :—बृहदारण्यकोपनिषत्के मधु ब्राह्मणमें बताया गया है कि अध्यात्म और अधिदैवत—इन दोनों स्थानोंमें एक ही परब्रह्म प्रकाशित है, ठीक इसी प्रकार जैसे पृथिवी और उदरमें एक ही आकाश प्रकाशित हो रहा है ।

जो छोटी चीज़में अपनी अकलको फँसाके बैठा हुआ है उसकी समझमें बड़ी चीज नहीं आती । जो अपने बच्चेके सिवा दूसरेके बच्चेको बच्चा जानता ही नहीं है; जो अपने पैसेके सिवाय दूसरेके पैसेको पैसा ही नहीं समझता; दूसरेकी जेब कट जाय, दूसरेके पैसेकी चोरी हो जाय, दूसरेका पैसा खो जाय तो 'वह कोई अपना थोड़े ही है ?'—ऐसी बुद्धिवाले लोग जो अपने पैसेमें लगे हुए हैं, उनको समझमें ब्रह्म नहीं आता है । यह तो ज्ञानका नियम है ।

ज्ञानका नियम बताते हैं कि एक साथ दो चीजका ज्ञान नहीं होता । जैसे दोनों ऊँगली दीखती हैं—तो दोनों एक साथ नहीं दीखती हैं । यह आँख इतनी चंचल है कि बारी-बारीसे दोनोंको देखती है और मालूम पड़ता है कि एक साथ दोनोंको देख रहे हैं । जब घड़ी दिखेगी तब किताब नहीं और किताब दिखेगी तब घड़ी नहीं ।

जब मनमें दुश्मन आवेगा तब दोस्त नहीं और दोस्त आवेगा तब दुश्मन नहीं । दोनों एक साथ नहीं, बारी-बारीसे होंगे । जब संसार आवेगा, तब भगवान नहीं और भगवान् आवेंगे तब संसार नहीं । इसलिए जो लोग अपने

दिलको ही दुकान बनाके बैठे हैं, वे तो समझते हैं कि ब्रह्म कोई आभूषण है, जैसे शरीरमें कई तरहके आभूषण पहन लिये जाते हैं, वैसे आओ संसारको भी बनाये रखो और ब्रह्मको भी पहन लो।

जो छोटी चीजमें फँस गया, उसके ध्यानमें बड़ी चीज नहीं आती है। 'कहो कि छोड़कर कहाँ जाँय?' तो छोड़नेका सवाल ही नहीं है। यह तो बेवकूफीकी बात है। सवाल यह है कि तुम्हारा मन कहाँ फँसा हुआ है। मन छोटी चीजमें फँसा है, कि मन बड़ी चीजमें फँसा है?

ये माताएँ जब अपने बच्चेको छोड़कर कहीं जाना चाहती हैं तो उनको कुछ खानेके लिए देती हैं। खानेमें फँस गये तो माँ चली गयीं। रुपया—दो रुपया दे देती हैं। बच्चा उसमें खुश हुआ तो माँ चली गयीं। ईश्वर एक रुपया—दो रुपया लोगोंके सामने डालकर, कुछ खाने-पीनेकी चीज सामने डालकर खुद छिपा-छिपा सब देख रहा है कि 'हमसे वे लोग कितना प्रेम करते हैं?' आओ अब इसका विवेक करें।

श्रुतिमें इस तत्त्वको बहुत बढ़िया ढंगसे समझाया हुआ है, अभी तक तो युक्तिसे बात समझायी जा रही थी। अब थोड़ी श्रुतिसे, वेदान्तके सिद्धान्तसे, बात समझायी जा रही है।

अब कोशोंका वर्णन करना है। ब्रह्मवेत्ता लोग पाँचकोशकी चर्चाको हँसीकी ही बात मानते हैं। एक आदमीने, जो (रज्जुमें) साँप दीख रहा था, उसके पंचकोशका निरूपण शुरु किया—'रस्सीमें जो साँप है—अन्नरससे बना हुआ शरीर है। वह हिलता है इसलिए उसमें प्राण है। उसको गुस्सा आता है, इसलिए उसमें मन है। वह डँस लेता है, इसलिए उसमें कर्त्तापन है। वह आनन्दसे लेटा हुआ है इसलिए उसमें आनन्द है।'

यह रस्सीमें दीखनेवाले साँपका पंचकोश हुआ। है वहाँ कुछ? अरे, वहाँ तो सर्पदेवता हैं ही नहीं। तो रस्सीमें प्रतीत होनेवाले साँपका पंचकोश क्या होगा? फिर भी आओ, अज्ञानी लोगोंको जैसी प्रतीति होती है, उसका अनुवाद करके, लोगोंको यह कैसा मालूम पड़ता है, यह बतानेके लिए पंचकोशका निरूपण करते हैं।

इस बातको शुरुसे लें। कोश अर्थात् म्यान; तलवारको म्यानमें रखते हैं। समझो कि जैसे आपका कोई आभूषण हो और उसको सन्दूकमें रखते हैं। तह पर तह! बहुत सुरक्षित। मैंने देखा, पहले हीरेको रूईमें रखा। रूईको कवरमें

रखा, कवरको ऐसी संदूकमें रखा जिसमें भीतरसे मखमल लगा हुआ था और बाहरसे लकड़ी। कोश इव कोशः। जैसे तलवार रखनेके लिए म्यान होती है, जैसे हीरा रखनेके लिए कई कवर होते हैं। वैसे ही अपना आत्मा-अपना आपा मानो कवरमें छिपाकर रखा हुआ है।

कोश इव कोशः। कोश दो तरहसे कहते हैं। एक तो म्यान जो तलवार रखनेके लिए है, और दूसरा रेशमके कीड़ेका घर। आप लोगोंने नहीं देखा हो। वह भी कोश बनाता है। ऐसे-ऐसे धागे बुनता जाता है कि वह तो भीतर बन्द हो जाता है और आगेकी सृष्टि करता रहता है। अपने मुँहसे निकाले हुए धागेके द्वारा वह अपनेको ऐसा भीतर कर लेता है कि रेशम निकालनेवाले लोगोंको भी अभी तक कोई युक्ति मालूम नहीं हुई कि कीड़ेको बचा लें, और रेशमको अलग कर लें।

तो क्या करते हैं। उसके उस गोलेको ही गरम पानीमें डाल देते हैं। कीड़ाराम मर जाते हैं और रेशमका धागा ले लेते हैं। अपने आप ही बँध गये न! इसीको कोश बोलते हैं।

इस शरीरको आप आत्माका 'कवर' समझो। आप इस पर कपड़े पहन लेते हैं। कवर कई तरहका होता है। कंबल ओढ़ लेते हैं। ऊनी-सूती तरह-तरहकी शाल ओढ़ लेते हैं और कपड़े भी पहन लेते हैं। रंगसे भी अपनेको 'कवर' करते हैं, वह भी कवर ही है।

यह देखना चाहिए कि 'मैं' क्या हैं? बच्चेके शरीरमें रंग लगा दो और फिर छुड़ाने लगे, तो रोता है—'अरे, हमारा रंग रहने दो।' ऐसे यह जीवात्मा अपने शरीरमें बँध गया। यह शरीर छोड़नेको तैयार नहीं होता।

'कोश' शब्दके दो अर्थ बताये। एक—जैसे म्यानमें रखी हुई तलवार म्यानसे सर्वथा अलग होती है। म्यानको 'कोश' बोलते हैं। और जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही बनाये हुए धागेके गोलेमें कैद होता है, उसे कोश बोलते हैं। इसी प्रकार यह जीवात्मा इस शरीरके भीतर है। शरीर कोश है। भक्तोंके लिए भी यह उपयोगी है और धर्मात्माओंके लिए भी यह उपयोगी है।

क्यों उपयोगी है? धर्मात्मा मानते हैं कि धर्मका फल मरनेके बाद मिलता है। दूसरे जन्ममें, स्वर्गमें यह कवर तो जाना नहीं, म्यान तो यहीं-का-यहीं रह जाता है। म्यानको यहाँ छोड़कर जानेवाला है, वह कौन है?

भक्तलोग भगवत्प्राप्ति मानते हैं। उनका देह भी तो यहीं रह जाता है। वह कौन है जो इस शरीरमें-से निकलकरके भगवान्के पास जाकर एक हो जाता

है। वैकुण्ठमें चतुर्भुज होकर रहता है, भगवान्‌के शरीरमें आभूषण होकर रहता है, वह कौन है ?

वह इस कोशमें, इस जालमें फँस गया है। जब इस जालको समझेंगे तब अपनेको इस जालसे जुदा समझेंगे। वह कौन आत्मा है जो 'शरीरमें मैं हूँ'--यह भ्रम मिटते ही ब्रह्म हो जाता है ? इसीको शरीर-तत्त्वको समझना बोलते हैं। हम अपनी जानमें यह बात बहुत सीधो-सरल करके बता रहे हैं। यदि पंडितोंसे बात करनी हो, तो फैलाना नहीं पड़ेगा।

जैसे यह हाथ है। सब हाथवाले हैं। इसमें हड्डी-चाम-माँस है, यह तो सबको मालूम है। हम इस हाथको खोलें, दबावें, हिलावें-डुलावें, काम करें। इसमें काम करनेकी शक्ति है। जब काम करनेका संकल्प होता है कि हम यह रुमाल उठा लें, तो हाथ अपनी क्रिया शक्तिसे रुमालको उठा लेता है।

तीन चीज आप लोगोंको साफ मालूम पड़ती हैं--एक-हाथ, दूसरा--उसमें उठानेकी ताकत और तीसरा-उठानेका संकल्प। ये बहुत मोटी-मोटी बात पहले आपको पंचकोशके सम्बन्धमें सुना रहा हूँ। बादमें उसका जो शास्त्रीय रूप है, सो सुनाऊँगा।

आप बताओ कि हड्डी-माँस-चामका बना यह हाथ और बिजलीकी तरह इसमें रहनेवाली शक्ति और संकल्प--ये तीन चीज एक हैं कि तीनों अलग-अलग हैं ? जिसे हाथमें पक्षाघात (लकवा) का रोग हो जाता है हड्डी-चाम-माँस तो उसके हाथमें है, मन भी है कि हम अपने हाथसे एक गिलास पानी उठावें, परन्तु हाथ उठता नहीं है। क्यों ? क्योंकि शक्ति नहीं है। अब साफ-साफ मालूम पड़ता है कि एक बिजली हाथमें दौड़ती रहती है अपने संकल्पके 'स्विच' से वह शक्ति काम करती है।

हड्डी-चाम-मांसको अन्नमय कोश कहते हैं। उसमें बिजलीकी शक्ति-सी दौड़ती है, उसे प्राणमय कोश कहते हैं। उठानेके संकल्पको मनोमयकोश कहते हैं। 'उठानेवाला मैं हूँ'—यह अभिमान बुद्धि है, इसको विज्ञानमय कोश बोलते हैं। उठानेमें जो मजा है वह आनन्दमय कोश है।

हाथको जब तबले पर थपथपाते हैं या सितार पर किनमिन-किनमिन करते हैं, या बाँसुरीके छेदों पर घुमाते हैं तो मजा आता है। मजा किसको आता है ? मजा आता है भोक्ताको। भोक्तामें भोग है आनन्दमय कोश भोक्ता है आत्मा। कर्ता है विज्ञानमय कोश-बुद्धि। उसमें आत्मा है चैतन्य-साक्षी। आनन्दमय कोशमें आकर वह अपने भोक्ता अनुभव करता है। वह विज्ञानमय कोशमें आकर

वहअपनेको कर्ता अनुभव करता है, मनोमय कोशमें आकर अपनेको संकल्पक अनुभव करता है, प्राणमय कोशमें आकर अपनेको शक्तिरूप अनुभव करता है और अन्नमय कोशमें आकर अपनेको शरीर अनुभव करता है।

आत्मा तो एक है, चैतन्य! असलमें कोश कोई वस्तु नहीं है, उनकी वाचनिकी संज्ञा है। वाचनिकी संज्ञा माने कल्पित नाम कैसे? जैसे, अभी एक सज्जन आकाशके तारोंका अनुसंधान करते हैं—'हमें एक ऐसा तारा मिला है, जो अभी तक दूसरे वैज्ञानिकोंको नहीं मिला था। वह कौन तारा है? एक राशिमें कितने दिन तक रहता है? इसका रंग कैसा है? उसकी चाल कैसी है? उसका आकार कितना बड़ा है? यह सब बतावेंगे।

'इसका नाम क्या होना चाहिए?'

बोले—'इसका नाम 'गांधी-तारा' रखेंगे। नेहरु-तारा रखेंगे। तारेका नाम रखेंगे, 'गांधी' या 'नेहरु' हवाई जहाजका नाम रखेंगे 'गांधी' या नेहरु!' बिल्डींगका नाम रखेंगे, 'गांधी' या 'नेहरु'!

हमारे एक जान-पहचानके हैं। रूससे जिस दिन क्रूश्चेव भारत आये थे, उसी दिन उनके घरमें बेटा हुआ, तो उसका नाम रख दिया 'क्रूश्चेव'। यह है वाचनिकी संज्ञा! कल्पित नाम, कल्पित संज्ञा!

असलमें इस शरीरमें जो पाँच प्रकार हैं, ये अपनेको अलग समझनेके लिए कल्पित हैं। एक बार एक महात्मा आये। वेदान्तका सत्संग तो उन बेचारेने किसीसे किया नहीं था! वे रहते थे हिमालयमें। गुफामें बस बैठे रहते थे। उनका बैठनेका अभ्यास ऐसा था कि १२-१२ घंटे एक आसनसे बैठे रहते थे। और आँख बिलकुल खुली। सिर सीधा!

वे आये वृन्दावनमें, तो यह हुआ कि भाई इनका सत्संग करो। बैठा दिये गये ऊपर बरामदेमें और सत्संग होने लगा। वे बोले 'यह बात मैं मनोमय-कोशमें बैठकर बोल रहा हूँ, यह बात मैं विज्ञानमय कोशमें बैठकर बोल रहा हूँ।'

'मंगल हरिजी' थे, वे बोले—'ये कोश कहीं होते हैं जिससे तुम उनमें बैठकर बोल रहे हो?'

तो जैसे 'अ-ब-स'की कल्पना करके, जैसे स्वयं-सिद्धियोंको स्वीकार करके गणित बताया जाता है; १–२–३ आदि गिनतियोंको लिखनेके लिये अलग-अलग भाषाओंमें अलग-अलग संकेत स्वीकार कर लिये जाते हैं। ऐसे ही अन्वय-व्यतिरेकसे शुद्ध आत्माके स्वरूपको समझानेके लिये ये कोशोंकी स्वीकृति वेदान्तमें है।

'कोश'की बात किसी बातको समझानेके लिए कही जाती हैं। उस बातको समझनेकी कोशिश करनी चाहिए। यह अन्नरसमय पुरुष है। आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी, पृथिवीसे औषधियाँ, औषधियोंसे अन्न, फिर अन्न और रसको मिलाकर यह शरीर बनता हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद्‌में ऐसा वर्णन है कि—'पुरुषके शरीरमें जो सिर है, वही तैत्तरीय अन्नमय पुरुषका सिर है। दाहिना हाथ उसकी दाहिनी पाँख हैं और बाँया हाथ उसकी बाँयी पाँख है। मध्यभाग उसके 'मैं-मैं'—स्फुरणका स्थान है और अन्न उसकी प्रतिष्ठा है। माने अन्नसे ही वीर्य बना और अन्नसे ही रज बना। रज और वीर्यके संयोगसे ही यह शरीर बना—'अन्न प्रतिष्ठा'। अलग-अलग शरीर कोई आयु नहीं है, अन्न ही उन सबकी प्रतिष्ठा है।

जैसे एक पर्दे पर बहुत-सारी तस्वीरें दिख रही हों—बहुत-सी स्त्रियोंकी, बहुत-से पुरुषोंकी, उसी प्रकार आकाशके पर्देके भीतर वायु घूमती है आग जलती है, पानी बनता है, धरती स्थिर होती है और उसमें ये सब पशु-पक्षी-मनुष्य आदिके शरीर तस्वीरकी तरह आकाशमें दिखायी पड़ते हैं।

अन्नमय व्यष्टि कोश समष्टि कोशसे बिलकुल जुदा नहीं है, समष्टिसे मिला हुआ है। इसमें आत्मा अहं-अहं'के रूपमें स्फुरित हो रहा है। असलमें आत्मा विराट्‌की आत्मासे जुदा नहीं है। इस प्रकार यह अन्नमय कोश और 'अन्नमय पुरुष' है।

प्राणमय कोश किसको कहते हैं? इसी शरीरमें प्राण सिरमें, व्यान दाहिने-हाथमें, अपान बाँये हाथमें, उदान मध्यभागमें और समान समूचे शरीरमें व्याप्त है—यह प्राणोंका जाल बिछा दिया है। इसमें-से हड्डी-मांस-चामको हटाकर देखो केवल भिन्न-भिन्न प्रकारके प्राण हैं।

ये आत्मदेव जब अपनेको शरीरमें-से उठाकरके केवल क्रिया शक्तिके साथ तादात्म्य करते हैं, तब उसका नाम 'प्राणमय पुरुष' होता है। एक अन्नमय कोश है, एक अन्नमय पुरुष है। जब आत्मा अपनेको देह समझता है, तब उसको अन्नमय पुरुष कहते हैं। जब इस म्यानमें-से अपनेको अलग निकाल लिया, तो यह अन्नमय कोश रह गया और पुरुष अपनेको जान गया कि 'मैं अन्नमय नहीं हूँ। मैं प्राणमय कोशकी उपाधिमें प्राणमय पुरुष हूँ।'

प्राणमय व्यष्टि-कोश समष्टि वायुसे एक है। जैसे अन्नमय कोशकी प्रतिष्ठा अन्न है। वैसे प्राणमय कोशकी प्रतिष्ठा अपान है। अपान=पृथिवी जिसमें सब प्राण

शान्त हो जाते हैं। अपान मृत्युरूप है! मृत्युरूप होनेसे वह उसकी प्रतिष्ठा हैं। समान व्यापक हैं।

यह प्राणवायु मनके द्वारा ठिकानेसे काम करतो है। इसको मनोमय कोश बोलते हैं। मनोमय कोश वृत्त्यात्मक है। इसमें यजुर्वेद सिर हैं, ऋग्वेद दाहिना हाथ है, सामवेद बाँया हाथ है। आदेश—'यह करना, यह नहीं करना' (मनके संकल्प-विकल्प) आत्मा हैं? आदेश अर्थात् ब्राह्मण भाग।

मनोमय कोशमें यजुर्वेद सिर इसलिए है; क्योंकि 'तैत्तिरीय उपनिषद्' यजुर्वेदका है। उसमें सब मंत्र गद्यात्मक पद्यात्मक सब प्रकारके हैं।

मनोमय कोशमें चारों वेद रहते हैं। जब मन होवे, तब वेदोंकी आवृत्ति होवे। 'यह उदात्त है, यह अनुदात्त है, यह स्वरित है'—यह कैसे मालूम पड़े? जटा, पद, घन, आदि उसकी प्रकृति-विकृतिका पता कैसे चले? इस चारों वेदोंमें जो कुछ विधि-विधान, निषेध आते हैं, वे सब-के-सब मनोमय कोशके साथ सम्बद्ध हैं। उसमें यजुर्वेद सिर है, ऋग्वेद दाहिना हाथ है, सामवेद बाँया-हाथ है। इसको पक्ष बोलते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद्के वक्ता तो तीतर हैं न? तीतर पक्षी रूपमें ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। उसमें हम अपनी आत्माको जोड़ देते हैं। असलमें आत्माके वक्ता तो पशु भी हैं, पक्षी भी हैं। श्वेताश्वर उपनिषद्में वक्ता अश्वतर हैं। माण्डूक्य उपनिषद्में मण्डूक है और तैत्तिरीय उपनिषद्में तीतर पक्षी है।

जहाँ तक परिच्छिन्नता भासेगी, चाहे कोई श्रोता हो या वक्ता, उसमें पक्षी-पना तो आ ही जायगा। जब संस्कार अपने-अपने आ गये तो पक्षी आ गया। यह बाइबिल-पक्षी, यह कुरान-पक्षी, इस तरहसे।

मनोमय कोशके भीतर विज्ञानमय कोश है। विज्ञानकोशमें कर्तृत्त्व है। कर्ता तो असलमें आत्मा है। कर्ता—पुरुष है। शुद्ध पुरुष तो ब्रह्म ही है। परन्तु कर्ताके पास जो करन है, औजार है, उनको 'मैं' मानकर जो बैठा हुआ है, उसको 'विज्ञानमय पुरुष' बोलते हैं और औजारको विज्ञानमय कोश बोलते हैं।

विज्ञानमय कोशमें क्या है? श्रद्धा सिर है, ऋत दाहिना पक्ष है, सत्य बाँया पक्ष है, योग आत्मा है। योग माने समाधि। परिच्छिन्न 'मैं'की समाधि कर्तृत्त्वकी पराकाष्ठा है। वह वहाँ आत्मा है। महत्तत्त्व उसकी प्रतिष्ठा है।

व्यष्टिको समष्टिमें लीन कर दो तो अन्नमय कोश विराट्की उपाधिसे एक हो जायगा। प्राणमय कोश पृथिवी = अपान = प्रलयके साथ एक हो जायगा। प्राण ही पैदा होता है, प्राण ही प्रकट होता है और प्राण ही मरता है।

मनोमय कोशकी स्थिति और ऊँची है। अथर्वांगिरसमें इसकी प्रतिष्ठा है। संकल्प उदय होकर सारी सृष्टिके निर्माणमें प्रवृत्त होते हैं। मारन, मोहन, उच्चाटन और सृष्टिके सम्बन्धमें जो-जो चाहें, सारी सिद्धियां, सारी विभूतियाँ मनोमय कोशमें आती हैं। परन्तु आत्मा कोश नहीं है। वह तो मनोमय कोशसे तादात्म्यापन्न होकरके 'मनोमय पुरुष' हो गया है। इसी प्रकार विज्ञानमय कोशसे तादात्म्यापन्न होकरके ये आत्मदेव कर्ता हो गये हैं।

जितने कर्म होते हैं, उनमें श्रद्धाका होना आवश्यक है। 'यह कर्म अच्छा है, और यह कर्म बुरा है'—यह कौन बतायेगा, यदि श्रद्धा न होवे? इसमें श्रद्धा सिर है, ऋत् दक्षिण पक्ष है और सत्य वाम पक्ष है।' योग इस विज्ञानकी आत्मा है और हिरण्यगर्भ-महतत्त्वोपाधिक चैतन्य इसकी प्रतिष्ठा है।

अपनेको यह अनुभव करो कि 'मैं इस शरीरमें बैठकर कर्ता नहीं हूँ, महत्तत्त्व में बैठकर हिरण्यगर्भरूप कर्ता हूँ।' अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका निर्माता जो हिरण्यगर्भ है, उसके साथ हमारी आत्मा एक है।

इसके बाद आनन्दमय कोश आता है (जो) सुषुप्तिमें, समाधिमें अथवा विचारकी पराकाष्ठामें (अनुभवमें आता) है। जो लोग समझते हैं कि बिना हिले-डोले आनन्द नहीं आता—यह आनन्दके बारेमें उनकी भ्रान्ति है। एक शान्त आनन्द होता है, एक समृद्धि-आनन्द होता है।

बोले कि 'मोटर पर नहीं चढ़े तो क्या आनन्द है? यह समृद्धि-आनन्द हुआ; और एक आनन्द हुआ कि 'अमुक सेठ मोटर लेकर आये थे कि 'महाराज! चलो घूमनेके लिए और हमने कह दिया—हम बड़ी शान्तिसे बैठे हैं! बाबा हमारे मनमें घूमनेकी इच्छा ही नहीं होती।' तो उस आयी हुई मोटरका त्याग करके शान्तिसे बैठनेमें आनन्द हुआ, यह शान्तिकी उपाधिसे है। यह शान्त आनन्द है।

एकको यह आनन्द हुआ कि हमने करोड़ रुपया कमाया और एकको यह आनन्द हुआ कि हमने करोड़ रुपयेका त्याग कर दिया।

आपने एक ब्राह्मणकी बात सुनी होगी। सुनते हैं कि वह ब्राह्मण मथुराके ही थे। सेठने एक लाख रुपयेका ढेर उनके सामने लाकर लगा दिया और बोले—"महाराज! आपको हम यह दान करते हैं। आपको कोई दाता ऐसा नहीं मिला होगा।"

उस पंडितजीकी अंटीमें एक रुपया था। उन्होंने निकाला और बोले—'तुम्हारे जैसा कोई दाता नहीं और हमारे जैसा कोई लेनेवाला भी नहीं मिला

होगा। इसमें देखो, एक रुपया मिलाकर एक लाख एक रुपया हम तुमको देते हैं। यह तुम ले जाओ!'

तो, जैसे ग्रहणमें आनन्द होता है, वैसे त्यागमें भी आनन्द होता है।

इस शरीरके हिलने-डोलनेमें जैसे आनन्द होता है, वैसे शान्तिसे रहनेमें भी आनन्द होता है। यह आनन्दमय कोश समाधिमें स्पष्ट भासता है। सुषुप्तिमें भी मलिन रूपसे भासता है। सुषुप्तिमें सारे दुःखका निवारण हो जाता है। सुषुप्ति तमस्‌की मलिनतासे युक्त है और प्रयत्नसाध्य नहीं है। अपने-आप ही चढ़ बैठे तो चढ़ बैठे। अगर कोई कोशिश करने लगे कि 'हमें नींद आये' तो वह कोशिश ही नींदमें बाधक हो जायगी।

एक डाक्टरने पूछा 'तुमको नींद नहीं आती, तो क्या होता है?'

'चिंता लगी रहती है कि 'नींद नहीं आती है—नींद नहीं आती है—नींद नहीं आती है।' इसलिए नींद नहीं आती।

निद्राकी चिंता करनेसे नींद नहीं आती है। तो डाक्टर ने दवा दी। उसने दवा खायी तो दूसरे दिन आकर बोले—'दवा दो। निद्रा नहीं आयी।'

पूछा—'क्या सोच रहे थे?'

वह बोला—'यह सोच रहा था कि बिल कैसे चुकावेंगे?' कल तो निद्राकी चिंता थी, आज बिलकी चिंता थी। चिंताके कारण निद्रा नहीं आयी।

जो लोग यह समझते हैं कि रुपया खनखनानेमें ही मजा है, मोटर पर दौड़नेमें ही मजा है, वे तो मजाका आधा रूप समझते हैं।

अच्छा, आपको दौड़नेमें ही मजा है तो क्यों सो जाते हैं? क्योंकि सुषुप्तिमें भी आनन्दकी अभिव्यक्ति होती है। सुखको आनन्दमय कोश कहते हैं। उसमें जो पुरुष है—आत्मा है, उसको 'आनन्दमय पुरुष' कहते हैं।

इसमें क्या है? इसमें जो प्रिय है, यह सिर है। मोद दाहिना हाथ है, प्रमोद बाँया हाथ है। आनन्द आत्मा है। 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'—उसकी प्रतिष्ठा ब्रह्म है। 'ब्रह्म शान्त वृत्तिमें प्रतिबिम्बित होकरके अपनेको भोक्ता मानते हैं वह 'आनन्दमय पुरुष' है।

वही करण-वृत्तिसे प्रतिबिम्बित होकरके अपनेको 'विज्ञानमय पुरुष'—कर्ता; वही 'संकल्पमय पुरुष'—मन और वही 'शक्तिमय पुरुष'—प्राण, वही 'अन्नमय पुरुष'—देह है। एकके बाद एक ये पाँच हैं।

देहसे परे प्राण, प्राणसे परे मन, मनसे परे विज्ञान, विज्ञानसे परे आनन्दमय और आनन्दमयसे भी परे जो शुद्ध-साक्षी है, वह अपनी आत्मा है।

अब इस बातको ऐसे ले लो—अपने आपको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्मसे एक समझनेके लिए इन पाँच कोशोंकी कल्पना है। जैसे पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, पाँच प्राण हैं, पाँच अन्तःकरणकी वृत्तियाँ हैं, पाँच विषय हैं। इसी हिसाबसे पाँच कोशमें पाँचपनेकी कल्पना की गयी। असलमें यह पाँच नहीं हैं, एक आत्मा हैं। वह कोशोंके अभावका भी अधिष्ठान है, इसलिए उसमें कोश रज्जु-सर्पवत् भासमान हैं, असलमें कोश नहीं हैं, एक परमात्मा ही परमात्मा है।

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके।
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः॥

तैत्तिरीय उपनिषद्में जिन अन्नरसमय आदि कोशोंका निरूपण किया हुआ है, उनमें सबसे परे जो प्रतिष्ठावाली बात है, 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा', वही आत्मदेव है। वह ऐसा है जैसे आकाश घटादिके द्वारा भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकाशित होता है, लेकिन आकाश ज्यों-का-त्यों है।

यहाँ आत्माके स्वरूपको समझानेके लिए निरूपण है, जिससे मनुष्य अपनेको देह समझकर कहीं इसीके सुखमें, इसीके दुःखमें, इसीकी ममतामें, इसीके मोहमें, इसीके भोगमें, इसीके रागमें डूबकरके इतनी बड़ी वस्तु, अद्वय-अनन्त वस्तु जो परमात्मा-परमेश्वर है, इससे वंचित न हो जाय। इसके लिए इन कोशोंसे अलग करके, विवेक करके आत्मदेवको समझाते हैं।

जैसे म्यानमें तलवार रहती है, वैसे पंचकोशोंमें आत्माके होनेका अध्यारोप श्रुति करती है। शरीरमें कोषोंकी परत-पर-परत, परत-पर-परत, हटाते जाओ; अंतमें सब परिच्छिन्नताओंकी परत हटा देने पर, (अपवाद कर देने पर) परिच्छिन्नताओंके अत्यंताभावका अधिष्ठान और परिच्छिन्नताओंके अत्यंताभावका जो साक्षी अवशिष्ट रहता है वह आत्मा ब्रह्म है। यह समझानेकी शैली है।

वेद आत्माका, निषेधके द्वारा वर्णन करते हैं। जैसे पहले वर्णन किया—'घड़ा बड़ा है, घड़ा छोटा है, घड़ा लम्बा है, घड़ा गोल है। घड़ेमें शराब भरी है! घड़ेमें गंगाजल भरा है, अमृत भरा है। घड़ेमें धूल भरी है, धुआँ भरा है घड़ेमें वायु भरी है।'—ये सब घड़ेमें भरे हैं; परन्तु (घटाकाश और महाकाशरूप) आकाश सबसे असंग है; वैसे ही यह पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख

कहाँ भरे हैं ? ये चिदाकाशमें नहीं हैं। ये तो घटाकाशमें ही हैं, सब-के-सब ! इसलिए घटका रूप-रंग, घटका बड़प्पन-छोटापन, घटकी जाति, घटकी दुर्गन्ध-सुगन्ध, घटकी सूरत-ऊरत, घटका सुरूप-कुरूप, घटका कुस्पर्श-सुस्पर्श, घटका कुशब्द-सुशब्द, घटकी पवित्रता-अपवित्रताकी भावना—इनके साथ जैसे आकाश-का सम्बन्ध नहीं है, इसी प्रकार आत्मा, जो अनन्त है, अखण्ड है, अद्वय है, इसका इस परिच्छिन्न देहसे, परिच्छिन्न वस्तुओंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैसे सुषुप्तिके साथ चिदाकाशका कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही स्वप्नके साथ भी चिदाकाशका भला क्या सम्बन्ध है ! वैसे ही जाग्रतमें जो धर्म है, जो कर्म हैं, जो रूपरेखा है, जो अवस्था है, इसके साथ आत्मदेवका कोई सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा तो सम्बन्धाभावका अधिष्ठान है, सम्बन्धभावका साक्षी है। इसलिए सम्बन्धाभावका प्रतियोगी जो सम्बन्ध है, घटाभावका प्रतियोगी जो घट है, वह जहाँ घटाभाव है, वहाँ (घटाभावका प्रतियोगी) घट नहीं हो सकता। जिसमें सर्पाभाव है, उस रज्जुमें सर्पभावका प्रतियोगी सर्प नहीं हो सकता। इसी प्रकार परिच्छेदके अत्यन्ताभावके अधिकरणमें परिच्छेदके अत्यन्ताभावका प्रतियोगी परिच्छेद नहीं हो सकता।

अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्वमें-ब्रह्मतत्त्वमें परिच्छेद नामकी कोई वस्तु नहीं है। इसीको बोलते हैं—

स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वम्।

वेदान्तियोंका यह कहना नहीं है कि प्रपंच व्यावहारिक नहीं है। वेदान्तियों-का यह कहना है कि प्रपंच तात्त्विक नहीं है। तात्त्विकमें और व्यावहारिकमें अन्तर होता है। इससे धर्मानुकूल व्यवहार करते हुए भी अद्वैत है। इसलिए अभ्यासानुसार उपासना करते हुए भी अद्वैत है। इसलिए संस्कारानुसार योगाभ्यास होता रहे, तब भी अद्वैत है और तीनों न हो, राजनीति हो, लोकोप-कार हो, तब भी अद्वैत है; और चारों न हों, बिलकुल पशुकी तरह जीवन व्यतीत हो रहा हों, तब भी अद्वैत है।

निम्न बातें अद्वैतकी ध्यान देने लायक हैं :—

(१) 'अन्तःकरण सर्वथा निर्दोष हो जायगा तब ज्ञान होगा'—यह नियम नहीं है। तीन घटेके लिए, छः घंटेके लिए, तीन मिनटके लिए भी यदि अन्तःकरण निर्दोष हो जाय तो ज्ञान हो सकता है; 'सर्वथा'का अभिप्राय यही है। 'सार्वकालिक निर्दोषता, पवित्रता हो जाय'—इस ठेकापर जो विचार करेगा, वह तो ज्ञानके प्रतिबन्धसे विहत हो जायगा।

(२) ज्ञानी पुरुषकी आत्मा जितनी मुक्त है, अद्वितीय है, और जैसी ब्रह्म है, अज्ञानी पुरुषकी आत्मा भी उतनी ही मुक्त है, उतनी ही शुद्ध है, वैसी ही परिपूर्ण है। ज्ञानी जानता है और अज्ञानी इस बातको नहीं जानता। केवल जानने-न-जाननेका फरक है।

एककी जेबमें दस रुपयेका नोट है और वह जानता है। एक मूर्ख है, उसकी जेबमें भी दस रुपयेका नोट है, किन्तु वह नहीं जानता। जाननेवालेको खयाल है कि हम बस पर चढ़कर चले जायेंगे। अनजान कहता है—'हाय-हाय ! हम घर कैसे पहुँचेंगे।

जैसे दस रुपयेका नोट दोनोंकी जेबमें है, जाननेवालेको कोई परवाह नहीं अपने पहुँचनेके बारेमें और न जाननेवालेको बड़ी फिक्र है, इसी प्रकार 'ईश्वर' कहो, 'परमात्मा' कहो या 'ब्रह्म' कहो—बड़ा-से-बड़ा साधन और बड़ा-से-बड़ा फल दोनों तुम्हारे अन्दर अध्यस्त है। कल्पना किया हुआ है कार्य-कारण भाव और साध्य-साधनभाव।

(३) तीसरी बात यह है कि यदि तत्त्वज्ञान हो गया, तुम्हें मालूम पड़ गया कि हमारे पास इतनी संपत्ति है, हमसे बड़ा तो कोई ही नहीं और हमसे छोटा भी कोई नहीं है, अद्वय तत्त्व और अपना आत्मा बिलकुल अद्वय है, तब 'तुम इस ढंगसे रहो', यह नियमन करनेवाला तुम्हारे ऊपर कोई नहीं है। स्वातन्त्र्यकी पराकाष्ठा हो जाती है तत्त्वज्ञके जीवनमें।

पहले जो 'बहुत शुद्धि-बहुत शुद्धि'का आग्रह है, वह भी जब अतिकी कोटिमें पहुँचता है, तो प्रतिबन्ध हो जाता है। ज्ञानीका जीवन संघर्षका जीवन नहीं है कि 'यह मनमें न आवे, पाँवके नीचे चींटी न आ जाय, शरीरसे मच्छर न टकरा जाय, कहीं जुआ न मर जाय ! यह जीवन तो चिन्तामय हुआ, संघर्ष-मय हुआ ! अरे ! यह तो भयाक्रान्त जीवन है। यह तत्त्वज्ञका जीवन नहीं है।

स्वामी शंकराचार्य भगवान्‌ने साफ-साफ यह बात लिखी—

नहि मोक्षदशायां विज्ञानान्तरम् आनन्दान्तरम् वा उत्पद्यते।

मोक्ष होनेके यह माने नहीं है कि तुम्हें कोई नया विज्ञान होगा या नया आनन्द होगा। अरे ! जैसे हो वैसे ही रहोगे।

वेदान्त साधनकी फिक्रको छुड़ानेवाला है, जन्म-जन्मान्तर, नरक-स्वर्ग, पाप-पुण्य, राग-द्वेषकी फिक्रको मटियामेट करनेवाला है। 'ऐसे पाँव रखो और ऐसे पाँव मत रखो'—इस पारतन्त्र्य-धर्मपारतन्त्र्य, वेदपारतन्त्र्य ईश्वरपारतन्त्र्यको चकनाचूर कर देनेवाला है। जीवनका असली मजा तो वेदान्तमें है।

तेषामात्मा परो जीवः एवं यथा संप्रकाशितः ॥

जैसे कोई आकाशको समझ जाय तो घटगत दोष-गुणके साथ आकाशका कोई सम्बन्ध नहीं है—यह जान लेता है, वैसे यदि कोई अपने आत्माको समझ जाय तो स्थूल देहगत, सूक्ष्म देहगत, लिंग देहगत, कारण देहगत किसी भी गुण से, किसी भी दोषसे कोई सम्बन्ध नहीं है (यह जान लेता है) ।

बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है—

आत्मानं चेद्विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः ।

यदि मनुष्य अपने बारेमें जान जाय कि 'मैं सत्य हूँ'—

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीर मनुसंज्वरेत् ॥

तब वह किस वस्तुकी इच्छासे और किसकी तृप्तिके लिए शरीरके पीछे जलेगा, मरेगा ? इस श्रुतिकी व्याख्यामें पंचदशीकारने बताया कि शरीर तीन हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। यह स्थूल जब तक रहेगा, तब तक इसमें जुकाम होगा और वायु बढ़ जाय तो दर्द भी होगा, बुखार भी होगा।

बोले—'हाय-हाय ! ज्ञानीके सिरमें भी दर्द ?' ये भक्त-लोग मार डालें महाराज ! कि 'कैसे ज्ञानी ?' अरे भई, शरीरमें पीड़ा सबके होती है। जब तक स्थूल शरीर रहेगा, तब तक ज्ञानी-अज्ञानी सबके शरीरमें पीड़ा होगी। अज्ञानी समझेगा कि—'हाय रे ! मैं पीड़ासे मर गया।' ज्ञानी जानता है कि 'यह भी एक मौज है।'

वृत्तिकी चंचलता, विषयकी ओर जाना, संस्कार और वासनाका उठना—यह सूक्ष्म शरीरमें होता है।

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविकाः मताः ।

चाहे ज्ञानीका सूक्ष्म शरीर होगा, चाहे अज्ञानीका जैसा संस्कार होगा, जैसे वातावरणमें रहे होंगे, वैसा संकल्प उठेगा, वैसी वृत्तिमें चंचलता आवेगी। अज्ञानी समझता है कि 'हाय-हाय ! हमारी वृत्ति चंचल हो गयी। हम तो मर गये।' ज्ञानी जानता है कि यह तो मनकी तरंग है, ऐसे ही हिलती-डोलती है ! ये तो हवाके झोंके हैं। यह तो पृथिवीकी धूलोंका बवण्डर है। आया-गया, मिट गया। आकाशमें कितने बादल आते हैं और चले जाते हैं। कितनी बार धुआँ आता है, चला जाता है। कितनी धूल आती है, चली जाती है।

कारण शरीरमें अज्ञान है। ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी, नींद तो दोनोंको आवेगी। अज्ञानवृत्ति निद्रा दोनोंको आवेगी। बोले—'अरे ! ज्ञानी होकर सोते

हैं ?' एकने कहा—'ज्ञानीको तो सपना ही नहीं आता।' श्रीउड़िया बाबा खूब हँसे और बोले—'अच्छा ? जाग्रत तो होती है न ? सपना भले न होता हो।'

अरे भाई ! नहीं होता तो जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों नहीं होती। यह आत्मदृष्टि हुई। यदि होते हैं तो जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों प्रतीत होते हैं। जो ग्रंथि थी कि 'जाग्रतवान् मैं हूँ' और इनके जो गुण हैं, धर्म हैं, पाप हैं, पुण्य हैं, सुख हैं, दुःख हैं, सो सब हमारे हैं'—अज्ञानकी यह ग्रंथि कट गयी। ज्ञानाग्निके द्वारा उस अज्ञानग्रंथिका भस्मीकरण हो गया।

तेषामात्मा ... संप्रकाशितः। जैसा आकाशका वर्णन किया, बिलकुल आकाश-के समान इन पाँचों कोशोंसे परे (आत्माका निरूपण किया)। इसका मतलब यह हुआ कि जो खाने-पीनेसे शरीर बना है, और जो खाने-पीनेसे रहता है, जो खाने-पीनेसे बिगड़ जाता है, उस अन्नकी विकारधाराके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।

खेतमें गेहूँ रहता है। आपका उससे क्या सम्बन्ध है ? जब उसके लिए पैसे देते हैं तो बोलते हैं—'अब हमारा हो गया।' खरीदके भोजन बना। मुँहमें डाला तब ? 'मैं' हो गया। फिर 'मेरा, नहीं बोलते। तो जो गेहूँ खेतमें मेरा नहीं है, चिड़िया खा जायगी, चूहा खा जायगा कि गाय खा जायगी, कि किसके पेटमें जायगा, यह पता नहीं है। वह गेहूँ पैसा देकर घरमें आने पर 'मेरा' हो गया और पेटमें आने पर 'मैं' हो गया। विष्ठा होने पर न 'मैं' रहा न 'मेरा' रहा। तो उस गेहूँको 'मैं' मानना गलत है न ? वह तो मिट्टीकी धारा है।

पानीकी धारा है। गंगाजीमें बहती है तब क्या 'मेरा' पानी है ? कुएँमें है तब क्या 'मेरा' पानी है ? गिलासमें आया तब 'मेरा' पानी ! नौकरको डाँटेंगे, क्यों मेरा पानी गिरा दिया ?' पी लिया तो पानी मैं हो गया और पिशाब होकर बह गया तो ? फिर 'मेरा' नहीं बोलेंगे। तो पहले भी मेरा नहीं था, बादमें भी मेरा नहीं है, बीचमें वह 'मैं-मेरा' है। यह बिलकुल—'मानि-मानि बन्धनमें आयो।'

इसी प्रकार सूर्यकी-अग्निकी गर्मी शरीरमें आयी और निकलती जा रही है। वह साँस नाकमें आयी पेटमें आयी और निकलती जा रही है। इसी प्रकार आकाशमें यह शरीर यहाँसे वहाँ, वहाँसे यहाँ होता जा रहा है। कोई आकाश इसमें तुम्हारा है ?

इसी प्रकार मनकी भी एक धारा होती है। अन्नकी धाराके समान, प्राणकी धाराके समान एक समष्टि मनकी धारा भी होती है और एक समष्टि बुद्धिकी धारा भी होती है। एक समष्टि अज्ञानकी धारा भी होती है। वह बहती रहती

है। उसमें 'मैं-मेरा' करना, यह विवेकी पुरुषका काम नहीं है। जिसने अपने आपको विविक्त कर लिया, माने अलग कर लिया और जान लिया कि हमारे स्वरूपमें ये हैं, तो इनसे मेरा कोई मम्बन्ध नहीं स्वरूपकी दृष्टिसे देखो तो, इसका कोई अस्तित्व नहीं। अपना आपा ही है, उसके लिए सब काम खत्म।

इसी तरह अब दूसरे ढंगसे बृहदारण्यक उपनिषद्में समझाया गया है, उस प्रसंगको लेते हैं—बृहदारण्यक उपनिषद्में एक 'मधुविद्या' है।

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम्।
पृथिव्यामुदरे चैव यथाऽऽकाशः प्रकाशितः॥

'बृहदारण्यक उपनिषद्'के दूसरे अध्यायका जो पाँचवाँ ब्राह्मण उसका नाम है मधुविद्या। यह मधुविद्या वही है जिसके बारेमें इन्द्रने 'दध्यङाथर्षण' ऋषिको कह दिया था कि 'अगर तुम किसीको उपदेश करोगे, तो हम तुम्हारा सिर काट लेंगे।'

यह वही विद्या है। यह बतानेकी बात नहीं है। दधीचि ब्राह्मण था। उसे 'दध्यङाथवर्ण' बोलते हैं। सिर काट लेनेका अर्थ यह है कि तुम अपनी श्रेष्ठता स्थापित करके बैठे हुए हो, यह नहीं रहेगी। ब्राह्मण बने बैठे हो। बड़े बड़प्पनसे कहते हो – ब्राह्मणस्य मुखमासीन्। ब्रह्मविद्या होने पर कहाँसे बड़प्पन? बड़प्पन और छोटप्पन दोनों स्वाहा! बताना मत किसीको!

अश्विनीकुमार आये, बोले—'हमको बताओ महाराज!' यह कथा ऋग्वेदकी ऋचाओंमें भी आती है और ब्राह्मण-ग्रंथोंमें भी आती है। एक नहीं भिन्न-भिन्न ब्राह्मण-ग्रंथोंमें आती है।

ऋषि बोले--बतावेंगे तो हमारा तो सिर कट जायगा!

अश्विनीकुमार बोले—'अच्छा महाराज, हम एक उपाय करते हैं। आपका सिर काटकर हम अलग कर देते हैं। आप हमें इस ब्रह्मविद्याका उपदेश कर लो, फिर देखेंगे।

अब उन्होंने घोड़ेका सिर जोड़ दिया। पुराणोंमें भी यह कथा बहुत है। अबसे २५–३० वर्ष पहले तो लोग कहते थे कि यह गप्प है। लेकिन अब वैज्ञानिक लोग जिस ढंगसे उन्नति कर रहे हैं शरीर विज्ञानके सम्बन्धमें उसकी दृष्टिसे अब ऐसा होना सम्भव हो गया है। आगे चलकरके ऐसे प्रयोग भी हो सकते हैं।

प्रयोग करके देखो तो पशुओंके कई अंग मनुष्योंके अंगोंमें फिटकर दिये जाते हैं। यह बात तो आज विज्ञानसे सिद्ध हो गयी। अब सिर लगाया जा सकता है कि

नहीं, यह शंकास्पद है विज्ञानमें। परन्तु सम्भावना तो आ गयी है। कभी ऐसा भी हो सकता है।

यदि यह विज्ञानसे सिद्ध हो गया तो यह बात निकल आती है कि पूर्वकालमें हमारे विज्ञानने कितनी उन्नति की थी।

घोड़ेके सिरसे 'दध्यङार्वणमे' मधुविद्याका उपदेश किया, तब उनका घोड़ेका सिर कट गया। फिर उनका पुराना सिर जो रख दिया गया था, वह जहाँ-का-तहाँ जोड़ दिया गया।

मधुविद्याका स्वरूप क्या है, यह आपको बताते हैं--'द्वयोद्वयो.........संप्रकाशितम्।'

इसको बोलते हैं 'मधुविद्या।' आयुर्वेदका पंडित शहदको मधु कहता है। मधुका दृष्टान्त देकर समझाया हुआ है।

यथा वै मधु मधुकृतो निष्तिष्ठन्ति।

ये मक्खियाँ इस फूलसे-उस फूलसे रस लेकर आती हैं और सब एक जगह--

समवहारं एकतां गमयन्ति।

'तत्त्वमसि' महावाक्यं--प्रकरणमें इस मधुका एक दृष्टान्त आया है। जब सब रस मधु (शहद)में मिल जाते हैं, तो 'अहम् अमुस्य रसः', 'अहम् अमुस्य रसः—यह पता नहीं चलता। ये मक्खियाँ पहले रस पीकर उसको ऐसा निकालती हैं कि सब रस एकमें मिल जाते हैं। उसमें यह पता नहीं चलता कि 'यह अमुक फूलका रस है, यह अमुक फूलका रस है।'

ये जितने फूल खिले हुए हैं, उनमें हम भी फूल और तुम भी फूल। इसका रस है आत्मा—

स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।

सब फूलोंमें एक सामान्य रस है, हममें—तुममें खड्ग-खंभमें वह रसत्त्व सामान्य है। रसकी अनेकता, रसत्त्व जातिका तिरस्कार करके, उसका अपवाद करके केवल रसत्त्वमात्र जो है, वह तुम हो।

यहाँ 'मधु' शब्दका अर्थ ब्रह्म है। यह बात आपको सुनावेंगे कि 'मधु' शब्दका अर्थ ब्रह्म कैसे है? क्योंकि मधुविद्यामें दो दो वस्तुको लिया है—

इयम् पृथिवी सर्वेषाम् भूतानाम् मधुः।

यह पृथिवी सम्पूर्ण प्राणियोंकी मधु है। पृथिवी मधु कैसे हैं। जितने जौ-गेहूँ-अंगूर आदि हैं इनमें-से आप रस चाट जाते हैं कि नहीं? जैसे भौंरा शहद लेता

है फूल-फूलका, वैसे आप गेहूँका रस, चनेका रस, मटरका रस, अंगूरका रस, सब्जीका रस, सबका रस आप लेते रहते हैं न ? ये रस कहाँसे मिलते हैं। धरतीमें-से निकलते हैं। तो, 'इयम् पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधुः।'

इस पृथिवीमें जो मधु है, वही मधु, हमलोगोंके पेटमें भी है। अध्यात्म हुआ अपने पेटमें विद्यमान मधु अधिदैव हुआ पृथिवीमें विद्यमान मधु और अधिभूत हुआ पृथिवी और यह शरीर दोनों। यह बात बताते हैं कि जो मधु पृथिवीमें है, वही पेटमें है। इयम् पृथिवी सर्वेषाम् भूतानाम् मधुः।

जो मधु जलमें है, वही मधु वीर्यमें है। जो मिठास, जो रस जलमें है, वही मधु-रस वीर्यमें है। वह मधु है। मधुका अर्थ है---'मोदन्ते अनेन इति मधु'। जिससे लोग आनन्दित होवें, उसका नाम मधु। 'माद्यन्त्यनेनेति मधु'–जिसको पीकरके मतवाले हो जायँ उसका नाम मधु। 'मन्यते इति मधु'। ब्रह्मके लिए जब 'मधु' शब्द आया तो 'मन्यते इति मधु' हुआ--मन् ज्ञाने। जो ज्ञानस्वरूप है, उसका नाम 'मधु'।

जो इस पेटमें ज्ञानस्वरूप है और पृथिवीमें ज्ञानस्वरूप है, वह क्या है ? उसके अन्तमें बताया—

अयमेव स योऽयमात्मा इदममृतमिदं ब्रह्म, इदम् सर्वम्।

उपनिषद् ऐसे बोलती है। यह प्रत्येकके अन्तमें है। 'यही अमृत है, यही ब्रह्म है और यही सब है। कौन ? यही जो पृथिवीमें मधु है और जो पेटमें मधु है।

इसके बाद 'जल और वीर्य' मधु है; 'अग्नि और वाक्' मधु है, 'अयमग्निर्मधुः। बाहर जो अग्नि है, वह मधु है, हम बोलते हैं, यह भी मधु है। हम जो खाते हैं, तो खाने-पीनेसे गर्मी पैदा होती है। गर्मी आकर जीभके पिछले भागमें इकट्ठी होती है। गर्मी रहती है, तब हम बोल सकते हैं और गर्मी न रहे तो हम नहीं बोल सकते। यह आजकलका विज्ञान मानता है और प्राचीन महात्मा कहते हैं—'वाणीका अधिष्ठातृ देवता अग्नि है।' यह पुरानी भाषा है। हमारी जीभके पीछे जो अग्नि है और बाहर जलनेवाला जो अग्नि है, वह मधु है। यह क्या है ?

सोऽयमात्मा इदममृतं इदम् ब्रह्म।

दोनों एक है। यह अग्नि।

वायु जो बाहर चलती है, वह क्या है ? वह प्राण है 'मधु' और भीतर क्या है ? साँस चलती है, यह प्राण चलता है—यह मधु है।

बाहर आदित्य-सूर्य अधिदेवके रूपमें मधु है और आँख जो बिना रोशनीके

देख नहीं सकती, इसलिए चक्षु मधु है। दिशाएँ मधु हैं और श्रोत्र मधु है, चन्द्रमा मधु है और मन मधु है, विद्युत मधु है और शरीरमें जो तैजस् है, वह मधु है, मेघ मधु है और भीतर स्वर मधु है। आकाश मधु है और हृदयाकाश मधु है। धर्म मधु है और धर्मका फल मधु है।

मनुष्यजाति मधु है और उसमें यह मनुष्य-व्यक्ति मधु है। सब प्राणियोंकी देह मधु है और देहके भीतर जो दैह्य-जीव है, वह मधु है। इस प्रकार तेरह जोड़े लेकर-युगल लेकर बताया कि बाहर भी मधु है और भीतर भी मधु है।

द्वयोर्द्वयो……… …… संप्रकाशितम्।

इसके बाद क्या है? इसके बाद है—**इदममृतम्, इदं ब्रह्म इदं सर्वम्॥**

यह मधुका वर्णन है। इसको तुम आत्माका वर्णन, ब्रह्मका वर्णन क्यों मानते हो? ऐसा ही मान लो कि उपनिषद्में शहदका वर्णन है। मधुका वर्णन है, ब्रह्ममें। मधुके लिए वेदमें कहीं 'सोमरसो मधुः'—सोमरसका नाम 'मधु' है ऐसा वर्णन भी आता है। 'रसो वै मधुः'—रसस्वरूप परमात्मा जो ब्रह्म है, वह रसस्वरूप मधु है।

इस मधुविद्यामें ऐसा वर्णन किया गया है कि—

अस्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः।
सर्वे लोकाः सर्वेप्राणाः सर्वं एवात्मनि समर्पिताः॥

'बृहदारण्यक उपनिषद्'में 'मधुविद्या'में यह बात कही गयी कि यह जो मधु है वह आत्मा है—'अस्मिन् आत्मनि, अस्मिन् मधुनि आत्मनि'। यह मधुरातिमधुर—'मधु एव मधुरं स्वार्थेरन्'—मधुरातिमधुर, प्रियातिप्रिय, परमप्रिय, परमप्रेमास्पद, सबसे मीठा कौन है? आपको मालूम है?

कोई कहेगा—'हमारा कुत्ता सबसे मीठा है।' कोई कहेगी—'हमारा पति सबसे मीठा है' और कोई कहेगा—'हमारी पत्नी सबसे मीठी है।' पति, पत्नी, कुत्ता, अनाज, मिठाई—ये मीठे नहीं हुआ करते। सबसे मीठा वह होता है जिसमें सब मीठोंका हवन कर देते हैं। वे सब तो मजा इकट्ठा करनेके लिए हैं। थोड़ा मजा बेटेमें-से लेकर मजेदार कौन बनता है? 'मैं'। थोड़ा-मजा पति-पत्नीमें-से लेकर मजेदार कौन बनता है? 'मैं'।

दूसरेमें प्रियत्वका भ्रम होता है। असली प्रियत्व 'मैं' होता है। दूसरेकी तिजोरीमें-से पैसा निकालकर अपनी तिजोरीमें रखते हैं। तुमको दूसरेकी तिजोरी प्यारी क्यों नहीं है? अपनी तिजोरी प्यारी क्यों है? दूसरेसे सुख ले-लेकर स्वयं सुखी होते हैं। क्यों दूसरोंसे सुख ले-लेकर स्वयं सुखी होते हैं?

आँखसे कहते हैं, वहाँसे रूपका रस ले आ। कानसे कहते हैं वहाँसे शब्दका रस ले आ। त्वचासे कहते हैं वहाँसे स्पर्शका रस ले आ। जीभसे कहते हैं,

वहाँसे भोजनका रस ले आ। नाकसे कहते हैं, वहाँसे गन्धका रस ले आ। ये जब कमा-कमाकर ले आती हैं, तो इन सबके द्वारा लाया हुआ रस कौन लेता है?

न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति।
आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति॥

पत्नीको प्रसन्न करनेके लिए कोई पत्नीसे प्रेम नहीं करता, अपनेको प्रसन्न करनेके लिए पत्नीसे प्रेम करता है। यह तो एक-तरफा बात हो गयी। अब हम दु-तरफा बात बोल देते हैं। वेदमें तो यही लिखा है—'न वा अरे पत्युः कामाय पति प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति।'

पतिको प्रसन्न करनेके लिए पति प्रिय नहीं होता, अपनेको प्रसन्न करनेके लिए पति प्यारा होता है। 'न वा अरे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति'। यह तो उपनिषद्का मुख्य प्रसग है। अपने प्यारके अंग-रूप संसारके सब प्यार हैं। आत्मप्रेम अंगी है, और सब प्यार अंग हैं और सब हाथ-पाँव हैं और आत्मा तो हृदय है।

इसमें तो स्वार्थकी बात आयी। हमारे पढ़े-लिखे बाबू-लोग कहेंगे कि 'आपका सारा अध्यात्मशास्त्र व्यक्तिनिष्ठ हो गया है। आत्मलीन हो गये आप! बस, अपना सुख, अपना सुख, अपना सुख!' बड़े परोपकारी हम मानते हैं। इतनी सेवा करते हैं, इतना परोपकार करते हैं, इतनी लोकहितकी सार्वजनिक हितकी बात करते हैं। लेकिन हमारे सेठ-लोग हमको बताते हैं कि—'बड़े-बड़े परोपकारियोंको हम यों खरीदते हैं।'

कोई-कोई निकल आते हैं, वे क्यों नहीं खरीदे जाते? सो मैं बताता हूँ। हमको हिसाब बताया एक करोड़पति बड़े सेठने कि क्यों, किस आदमीको कितना देने पर खरीद लेते हैं, वह क्यों खरीदा जाता है?

वह व्यक्तिनिष्ठ नहीं है, वह आत्मलीन नहीं है। वह पढ़ा-लिखा आदमी क्यों खरीदा गया? कोई समझदार आदमी क्यों नहीं खरीदा गया? वह है व्यक्तिनिष्ठ। महापुरुषोंने इस बातको समझा। कोई अपने आत्माका उच्छेद नहीं कर सकता। जहाँ उसके स्वार्थकी बात आवेगी, सुखकी बात आवेगी, वहाँ आत्मामें तो पक्षपात हो ही जायगा। इस पक्षपातको तो नहीं छुड़ाया जा सकता।

तब क्या किया जा सकता है? अपने आत्माको सर्वरूपमें जानो, तो सर्वका पक्षपात आत्माका पक्षपात हो जायगा। तुम्हारा आत्म पक्षपात ही सर्व पक्षपात हो जायगा। जब तक अपने आत्माकी परिच्छिन्नताको तोड़ करके आत्मभाव-विश्वात्मभाव-ब्रह्मात्मभाव प्राप्त नहीं करोगे, तब तक यह व्यक्तिलीनता—यह आत्मलीनता कोई जबानी-जमा खर्चसे थोड़े ही छूटेगी?

धर्म करके लोग उसका फल अपने ही घर ले आते हैं। ईश्वरको खुश करके वरदान माँग लेते हैं कि हम सुखी रहें। योगाभ्यास करके लोग अपनेको सुखी कर लेते हैं। ज्ञानसे भी लोग अपनेको सुखी कर लेते हैं? नहीं, ज्ञान अपनेको सुखी करनेके लिए नहीं है। ज्ञान अपनी परिच्छिन्नताके भ्रमको तो तोड़नेके लिए है कि--'जो सब है वह मैं हूँ और जो मैं हूँ वह सब है।'

इसमें आत्मलीनता तो बनी रही ज्यों-की-त्यों, परन्तु आत्माकी जो परिच्छिन्नता थी, वह कट गयी और-'सबका सुख अपना सुख, सबका ज्ञान अपना ज्ञान, सबका स्वार्थ अपना स्वार्थ, सबका हित अपना हित'-अपनापनकी जितनी वृद्धि होगी, आत्मीयताकी जितनी वृद्धि होगी उतनी व्यक्तिलीनता और व्यक्तिनिष्ठा छूटेगी। इसीलिए यह आत्मदेव कैसे हैं?

अस्मिन् आत्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः।
सर्व लोकाः सर्वे प्राणाः सर्वे एव आत्मनि समर्पिताः॥

अपने इसी आत्मामें सारे प्राणी हैं, सारे देवता हैं, सारे लोक हैं, सारे प्राण हैं--सब जीव हैं। किसमें? अपने इसी आत्मामें। सबका सुख अपना सुख और अपना सुख सबका सुख। हम व्यक्ति नहीं है। सबकी तिजोरी हमारी तिजोरी।

स्वामी रामतीर्थका जहाज जब अमेरिकाके पास पहुँचा, और उनसे किसी अमेरिकन संवाददाताने पूछा—'महाराज; आप कहाँ ठहरेंगे? आपको लेनेके लिए कोई आवेगा? यहाँ आपके खाने-पीनेका, रहनेका कोई प्रबंध है?'

स्वामी रामतीर्थने रख दिया उसके कंधे पर हाथ कि—'तुम करोगे दोस्त! सारा ही प्रबन्ध तुम करोगे। हमारा तो वहाँ कोई परिचित नहीं है। न ठहरनेके लिए न स्वागतके लिए, न सत्कारके लिए न खानेके लिए।'

संवाददाता बोला-'भूखे मर जाओगे वहाँ। अमेरिकामें कोई भीख नहीं देता।'

स्वामी रामतीर्थ बोले—'तुम सब करोगे' और उसीने सब किया। जब तक वे अमेरिकामें रहे, प्रचारका सारा काम, सारा बन्दोबस्त, सारा कार्य स्वामी रामतीर्थके बारेमें उसने किया।

असलमें अपनी परिच्छिन्नता, अपनेको जो टुकड़े करके रखते हैं न, तुम अलग, मैं अलग, बस—तब इसका फल क्या होता है?

देवास्त्वं परादात् योन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद।

बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है—'ब्राह्मण उसका दुश्मन है।' किसका? 'जो ब्राह्मणको अपनेसे जुदा समझता है।' 'क्षत्रिय उसका दुश्मन है, जो क्षत्रियको अपनेसे जुदा समझता है।' देवता, वेद, लोक उसके शत्रु हैं, जो देवता, लोक, वेदसे अपनेको जुदा समझता है। और जहाँ सब अपना आपा है (सब अपने हो

जाते हैं) ? इसीसे मधुविद्याका यह प्रसंग है। इसी मधुविद्याके अन्तमें बहुत प्रसिद्ध श्रुति है—

अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं तदेतत् ब्रह्म।
अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः। इत्यनुशासनम्

यह जो मधु है, पेटमें और पृथिवी में, वीर्यमें और जलमें, वाक्में और अग्निमें, प्राणमें और वायुमें हृदयाकाशमें और महाकाशमें, नेत्रमें और सूर्यमें, मनमें और चन्द्रमामें, श्रोत्रमें और आकाशमें, यह मधु कौन है ? 'तदेतत् ब्रह्म'। यह मधु ब्रह्म है। मन्यते—यही वेदान्त विद्याके द्वारा जाना जाता है, इसलिए यह मधु है, ब्रह्म है।

अपूर्वं अनपरं अनन्तरं अबाह्यम्।

अपूर्वम् क्या है ? जिसका कोई कारण नहीं है। ब्रह्मका कोई माँ-बाप नहीं है। अपूर्वम् माने जिसके पहले कोई न हो। पहले जो होता है—पूर्ववृत्ति उसको कारण बोलते हैं। ब्रह्मके माँ-बाप कोई नहीं है—न तस्य कश्चित् जनिता। कोई मालिक होगा उसका ? न चाधिपः। मालिक भी उसका कोई नहीं है।

अनपरम्—बादमें कोई पैदा हुआ होगा ? बेटा-बेटी होगा। ब्रह्मके कोई बेटा-बेटी भी नहीं है।

अनन्तरम्—घरमें कोई श्रीमतीजी होगी उसके ? ब्रह्मके भीतर कुछ होगा ? ब्रह्मके भीतर भी कुछ नहीं है। तो बाहर रखा होगा कुछ ? 'अबाह्यं'—बाहर भी कुछ नहीं है।

जो लोग स्वदेशमें धन नहीं रखते, वे विदेशमें रख आते हैं। आप जानते ही है कि बादशाह नाराज़ हो तो अपने देशसे निकाल दे; लेकिन ईश्वर नाराज भी हो तो अपने देशसे निकाल नहीं सकता। क्योंकि दूसरा देश नहीं है। वह देश निकालेकी सजा नहीं दे सकता।

अनन्तरं अबाह्यं—उसमें बाहर और भीतरका माने देशभेद नहीं है।

अपूर्वं अनपरंसे उसमें कार्य-कारण नहीं है, कार्य-कारण वस्तु नहीं है और कार्य कारण काल, नहीं है माने पहले कुछ नहीं पीछे कुछ नहीं। साध्य-साधन भाव नहीं कि इससे ब्रह्म बनता है और ब्रह्मसे यह बनता है। न किसीसे ब्रह्म बनता है और न ब्रह्मसे कुछ बनता है। उपनिषदोंकी भाषा समझनेके लिए थोड़ी बुद्धि लगानी पड़ती है।

न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन।

न ब्रह्म किसीको खाता है और न ब्रह्म किसीसे खाया जाता है।

अनावृतं सर्वं असवृतं सर्वम्।

न उसमें कोई आवरण है न उसमें कोई संवरण है।

इसी प्रसंगमें बृहदारण्यक उपनिषद्में कहते हैं--'सर्वानुभूः' माने सर्वं अनुभवति। जो कुछ अनुभव होता है--शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध--जो कुछ मालूम पड़ता है; वह मालूम पड़ना उसी ब्रह्मके होनेसे, आत्माके होनेसे मालूम पड़ता है।

ईश्वर आपके सामने आवे और आपको मालूम न पड़े तो? यह मालूम पड़ना आत्मनिष्ठ है। यदि ईश्वरको मालूम पड़ जाय कि मैं हूँ, तो उससे तुम्हारा क्या उपकार होगा? लेकिन जब तुमको मालूम पड़े कि ईश्वर है और दर्शन देने आया है, तो तुम्हारा उपकार होगा। मालूम पड़ना आत्माका स्वरूप है, ब्रह्मका स्वरूप है। **एष सर्वानुभूः। सर्वं अनुभवति।**

यही देश-काल-वस्तु, अपना-पराया, स्थूल-सूक्ष्म-कारण, सबका अनुभव इसीको होता है। तदेतत् ब्रह्म—इसीका नाम ब्रह्म है।

मधुविद्यामें दो-दो करके जो-जो बात समझायी गयी, वह ब्रह्म है। ब्रह्म परिपूर्ण है, तुम ब्रह्म हो। इसीलिए श्रुति बोलती है—

मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वौषधीः।

इसे ब्रह्मका साधारणीकरण बोलते हैं। जैसे नाटकके समय दर्शक-समाजके मनमें रसका साधारणीकरण हो जाता है; 'शकुन्तला' विदा होने लगी और 'कण्व' रोने लगे; जैसे 'कण्व'की आँखमें आँसू आते हैं 'शकुन्तला' के बिरहकी व्यथासे, वैसे ही दर्शककी आँखोंमें भी आँसू आने लग जाते हैं। यह समाजमें रसका साधारणीकरण हो गया। 'कण्व' तो है मंचपर और श्रोता है नीचे लेकिन 'कण्व'के साथ ऐसी आत्माकी एकता हुई कि 'कण्व'के हृदयमें उदय होनेवाला जो करुणरस है—**यास्यत्यद्य शकुन्तलेति।**

आज 'शकुन्तला' जायेगी, इसके लिए उनके हृदयमें करुणा है। जो व्यथा है, वह सम्पूर्ण दर्शक समाजके भीतर आ जाती है। रसका साधारणीकरण हो गया। इसी प्रकार यह ब्रह्म—मुझमें तुझमें खड्ग-खम्भमें सबमें प्रकाशित है। 'परंब्रह्म प्रकाशितम्'। मधुज्ञानमें परं ब्रह्मको ही प्रकाशित किया गया है।

जो पेटमें है, वही पृथिवीमें है और--**यथाकाशः प्रकाशितः।**

पहले यहाँ यह बात क्यों कही? पहले जैसे घटाकाश-महाकाशका दृष्टान्त

देकर आत्मा-परमात्माको समझाया था, वैसे ही यहाँ आत्मा-परमात्माको इस प्रसंगमें समझाया है।

\+ \+ \+

बहिर्मुख मनुष्य यही जाननेकी कोशिश करता है कि हमारी खाने-पीनेकी चीज क्या है? हमारे सुनने-देखनेकी चीज क्या है? सामनेवाला आदमी कैसा है? अपने बारेमें मनुष्य नहीं सोचता है। ज्यादातर दूसरेके बारेमें सोचता है।

इसीसे बताया कि ब्रह्माजीने मनुष्यको बहिर्मुख बनाया। यह उसकी हिंसा कर दी, हत्या कर दी, वह मर गया। क्यों? सब-का-सब अपने बारेमें भूलकरके दूसरेके बारेमें सोचता है। नीति शास्त्रका एक श्लोक है—

नरः सर्षपमात्राणि परछिद्राणि पश्यति।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति॥

दूसरेके अंदर सरसों-मात्र छेद होवे तो मनुष्य देख लेता है। परन्तु अपने शरीरमें बेल-बराबर छिद्र होवे, तब भी उसे वह दिखायी नहीं पड़ता। खुद क्या करता है, यह वह नहीं सोचता। दूसरे क्या करते हैं, यह वह सोचता है।

सबसे बड़ा पाप सृष्टिमें क्या है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानं अन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

है तो कुछ और, और जानता-मानता है अपनेको कुछ और। उसने तो अपने आपको लुटा दिया। वह तो चोर हो गया। उसने तो अपने आपको खो दिया। उसने तो सृष्टिमें सबसे बड़ा पाप किया। ऐसा कौन पाप है जो उसने नहीं किया?

देखो, ये संसारी लोग अपना ज्ञान बघारते हैं कि 'मैं यह जानता हूँ' 'मैं वह जानता हूँ' — 'हमारी आँख बड़ी दूर तक देख लेती है, हमारे कान बहुत महीन आवाज भी सुन लेते हैं।' कोई स्पर्शसौंढ होते हैं—छूकर पहचान लेते हैं। कोई गन्धसौंढ होते हैं, कोई रससौंढ होते हैं। 'सौंढ' कहनेका अभिप्राय यह है कि उनकी सूँड़ लंबी होती है।

एक स्पर्शसौंढकी कथा है। राजा भोजके दरबारमें वह आया तो उससे पूछा गया कि तुम किस विषयमें निपुण हो?

वह बोला--'स्पर्शमें जरा भी फर्क हो तो हम उसे पहचान लेते हैं।

सात गद्दे बड़े नरम-नरम लगाकरके उसे सुलाया गया। सबेरे उठकर उसने बताया कि आज तो हमको नींद नहीं आयी।

'क्यों नींद नहीं आयी भाई ?'

बोले—'सात गद्दोंमें जो सबसे निचला गद्दा था, उसमें एक बाल था। उस बालकी जो ऊँचाई थी, वह गड़ती थी शरीरमें। इसलिए नींद नहीं आयी।'

एक गंधसौंढ़की कथा है। उसने कहा—'हम कैसी भी गंध हो, पहचान जायेंगे।

'अच्छा, कोई चमत्कारकी बात बताओ।' भोजन करानेवालेको भी मालूम नहीं था। उसने भोजन करते-करते बताया कि 'चावलमें मुर्देकी गंध है।' मुर्देकी गंध चावलमें कहाँसे आयी ? पता लगाया गया। मालूम पड़ा कि खेतमें धानकी खेती होनेके पहले मुर्दा जलाया गया था। खेतकी माटीमें मुर्देकी गंध थी। वह धानकी पौधमें आयी फिर धानमें आयी। धान कूटा गया तो चावल निकला, भात बना। भातमें मुर्देकी गंध आयी।

ये दुनियादार लोग अपनेको विषयोंके बारेमें बहुत बुद्धिमान समझते हैं। पर अपने बारेमें वे क्या समझते हैं ?

क्या अपने बारेमें वे समझते हैं कि आपके मनमें जो कामकी वृत्ति आती है, वह आपको बुरी जगह पर ले जायगी। क्या आप अपने बारेमें समझते हैं कि जो लोभकी वृत्ति आती है, वह आपको चोर-बेईमान बनानेकी भूमिका है ? क्या आप अपने बारेमें समझते हैं कि आपको जो क्रोध आता है, वह आपको पशु बनाने जा रहा है ? आप जब पशुत्वकी ओर बढ़ते हैं, चोर-बेईमान होनेकी ओर बढ़ते हैं, अनाचारी-व्यभिचारी होनेकी ओर बढ़ते हैं—स्त्री हो चाहे पुरुष हो ! आपके मनमें जब वृत्ति आती है, तब क्या आप उसे पहचान लेते हैं कि 'यह हमारा दुश्मन आया ?' और, आप अपने दुश्मनोंके हाथमें खेलते हैं जो आप सरीखे बादशाहको चोर बना देते हैं। आप जैसे सदाचारीको व्यभिचारी बना देते हैं, जो आप सरीखे देवताको पशु बना देते हैं।

क्या आप कभी आत्म-निरीक्षण करते हैं कि आपके मनमें क्या आता है, क्या जाता है ? वह वेदान्तकी शुरुआत है। यह समझना कि जो आदमी अपने बारेमें सोचने लगता है, वह अन्तःकरणकी शुद्धिके मार्गमें बढ़ता है और आत्म-ज्ञानके मार्गमें बढ़ता है। जो अपने बारेमें नहीं सोचता, वह न अन्तःकरणकी शुद्धि कर पाता है, न आत्मज्ञानके मार्गमें बढ़ता है।

एक आदमीने किसीको कहा—'तुमको तो गुस्सा आ गया।'

वह बोला—'तुम हमको गुस्सेवाला बताते हो। हमको तो एक ही बार आया, तुमको तो दस बार आया।' तो यह आदमी क्या साधनाके मार्गमें बढ़ सकता है? अरे, उसको एक बार गुस्सा आया, तो अपने बारेमें सोचना चाहिए था, कि 'हमको एक बार गुस्सा क्यों आया?'

रोज-रोज सिद्ध वस्तुकी ही चर्चा करते हैं न! कभी-कभी साधन पर भी ध्यान देना चाहिए। यदि आप अपने अंदर दोषको छिपाते हैं या जानबूझ करके उसको स्थान देते हैं या बुद्धिसे उसका समर्थन करते हैं तो आप अंतःकरणकी शुद्धिके मार्ग पर नहीं चल रहे हैं। और, आत्मज्ञानकी ओर नहीं बढ़ रहे हैं। धर्मशास्त्रका एक श्लोक है—

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैः यत्रतत्रोपविश्यते।
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति॥

जब आदमीको मैला कपड़ा पहननेकी आदत पड़ जाती है, तब उसको आसनकी जरूरत नहीं रहती चाहे जहाँ वह धरती पर बैठ जायगा, गंदी-से-गंदी जगहमें बैठ जायगा। इसी प्रकार जब किसीको दुराचारका अभ्यास हो जाता है, तो जो कुछ उसके अन्दर बचा-खुचा सदाचार होता है, उसे भी वह खो बैठता है। प्रचलित एक श्लोक है, सुना देते हैं—

भिक्षो! मांसनिषेवणं प्रकुरुषे? किं तेन मद्यं विना।

राजाने पूछा—'अरे भिखारी! तू माँस खाता है? भिखारी बोला—'महाराज! आप बात तो ठीक कहते हैं। माँस तो मैं खाता हूँ, परंतु बिना शराबके माँस खानेमें मजा नहीं आता है।' राजाने पूछा—

मद्यं चापि तव प्रियं? प्रियमहो वाराङ्गनाऽभि सह।

'अरे! तू शराब भी पीता है भाई?' तो बोला—'वह तब अच्छा लगता है, जब वेश्या भी पास हो'—

तासामर्थरुचिः कुतस्तव धनं? द्यूतेन चौर्येण वा।

'अरे राम! वेश्याको तो पैसा चाहिए। तेरे पास पैसा कहाँ है?' बोला—'जुआ खेलते हैं, चोरी करते हैं और पैसा ले आता हूँ।'

इसका नाम 'बेहयाई' है। निर्लज्जता!

चौर्य द्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो भ्रष्टस्य काऽन्या गतिः।

अरे भाई ! तुम चोरी भी करते हो ? जुआ भी खेलते हो ? बोला—तब क्या ? एक बार भ्रष्ट हो गये, एक बार गिर गये तो अब रास्ता ही कहाँ रहा ?

जो आत्मनिरीक्षण करता है, कि हमारे अन्दर क्या गुण है ? क्या दोष है ? वह अंतःकरण-शुद्धिके मार्ग पर बढ़ता है। यह बात मालूम पड़ जाती है कि यह मनुष्य अंतःकरण शुद्धिके मार्ग पर बढ़ रहा है कि नहीं ? इसको प्रारब्धके मत्थे मढ़ना बेईमानी है। 'यह सब दुर्गुण-दोष हमारे अन्दर हैं, हमसे जो भलाई-बुराई होती है, वह ईश्वरकी प्रेरणासे होती है'—यह ईश्वर पर दोषारोपण है। न ईश्वर, न प्रारब्ध ! न प्रकृति !! यह तो तुम्हारा प्रमाद है। इसी कारण तुम अपने बारेमें सोच-समझकरके सावधान नहीं रहते। अस्तु।

यह मालूम पड़ता है कि—'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं प्राणवाला हूँ, मैं इन्द्रियोंवाला हूँ, मैं सब बातोंको जाननेवाला हूँ। 'फिर बोले कि 'मैं कर्ता हूँ, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ; मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—मैं भोक्ता हूँ !'

ये पाँच तरहके चोले हैं—आत्माके एक भोगकी पोशाक होती है। हमको तो पहले मालूम नहीं था। दस-पन्द्रह वर्ष हुआ, एक सासको जरूरत पड़ी कि 'हम अपनी बहूको बुलावें।' उसने खबर भेजी कि 'बहुजी आ जाओ !' उसने कहा—'जाकर सासजीसे कह दो कि अब मैंने सोनेकी पोशाक (स्लीपिंगसूट) पहन ली है। अब उनके सामने कैसे आऊँ ?'

सोनेकी पोशाक अलग, नहानेकी पोशाक अलग, ऑफिसकी पोशाक अलग ! ये पोशाक अलग-अलग होती हैं। लेकिन आदमी एक होता है न ! असलमें—मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ—इसमें जो 'मैं' हूँ; 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ'—इसमें जो 'मैं' हूँ, यह मैं सबमें एक है और सुख अलग है, दुःख अलग है, पाप अलग है, पुण्य अलग है। पुण्यका फल सुख है, पापका फल दुःख है।

पाप-पुण्यके कर्त्तापनका एक अभिमान है और सुख-दुःखका भोक्तापना दूसरा अभिमान है। इन्द्रियोंवाला होनेसे जानना, प्रमातापना तीसरा अभिमान है, प्राणवत्ता चौथा अभिमान है, और मनुष्यता पाँचवाँ अभिमान है।—ये पाँच अभिमान हैं। यही आत्माके पाँच चोले हैं।

अभिमानकी तो पाँच अवस्थाएँ हैं, लेकिन इसमें जो अपना 'मैं' है वह पाँचों में एक है। पाँचोंमें होनेका अर्थ हुआ कि पाँचोंसे न्यारा है।

जाग्रतमें हैं तो स्वप्न-सुषुप्तिसे न्यारा है और जाग्रत-सुषुप्तिमें है तो स्वप्नसे न्यारा है। ये अवस्थाएं तीन हैं परन्तु आत्मा इन तीनों अवस्थाओंसे न्यारा है और उन पाँचों कोशोंसे न्यारा है। अतः उन पाँचों अभिमानोंसे न्यारा है।

अन्तःकरणकी उन अवस्थाओंसे चित्तकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं **मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध**। जब कुछ नहीं सूझता तब 'मूढ' अवस्था हो गयी। मन यहाँ-वहाँ फेंक दिया तो 'क्षिप्त' हो गया। मन स्वर्ग नरककी कल्पनामें चला गया तो 'विक्षिप्त' होगा। मन एक इष्टदेवमें लग गया तो 'एकाग्र' हो गया। मनमें कोई विषय नहीं फुर रहा है, शांत हो गया तो 'निरुद्ध' हो गया। ये मनकी पाँच दशाएँ हैं।

अन्तःकरणके चार भेद होते हैं। मनकी पाँचों अवस्थाओंमें रहने वाला पाँचोंसे न्यारा है। एक मन संकल्प करता है—'यहाँसे लोनावला जाना चाहिए।' दूसरा मन संकल्प करता है कि 'जाऊँ कि नहीं जाऊँ?' यह विकल्प करता है। मनका तीसरा हिस्सा निर्णय करता है कि 'जाना ही चाहिए।' मनका चौथा हिस्सा अभिमान करता है कि 'अच्छा, मैं चल रहा हूँ।'

संकल्प करनेवालेको मन, विकल्प करनेवालेको चित्त, निर्णय करनेवालेको बुद्धि और अहंक्रिया करनेवालेको अहंकार बोलते हैं। चित्तकी इन चारों दशाओंमें एक 'मैं' है।

तीनों अवस्थाओंमें तीनों अवस्थाओंसे न्यारा एक 'मैं' है। पाँचों कोशोंमें पाँचों कोशोंसे न्यारा एक 'मैं' है। पाँचों अभिमानोंमें पाँचों अभिमानोंसे न्यारा एक 'मैं' है।

कभी हम किसी चीजको देखते हैं—यह घड़ा है, यह घड़ी है और कभी दूसरी चीज देख लेते हैं, उलटी देख लेते हैं अर्थात् कभी जो है उससे उल्टी मान बैठते हैं।

कभी नींद आ जाती है और कभी स्मृति आ जाती है। **प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, और स्मृति**—ये वृत्तियां कभी धर्मके अनुकूल (अक्लिष्ट) होती हैं और कभी धर्मके प्रतिकूल (क्लिष्ट) होती हैं। लेकिन 'मैं' एक रहता है। माने कभी हम धर्मके अनुकूल और कभी धर्मके प्रतिकूल प्रमाणित करते हैं। 'प्रमाण— यह ब्राह्मण है, यह विद्वान् है, यह महात्मा है'—पहचान लिया। 'आओ, उसके सत्संगसे कुछ लाभ उठायें।'

बोले—'यह बहुत सुन्दर है, बहुत मधुर है, आओ, इसके संगसे कुछ भोग भोगें।'

देखो, आँख तो तुम्हारी एक ही है। उसने बताया कि 'आओ, उसके संगसे परमात्माको जानें।' (यह अक्लिष्ट प्रमाण वृत्तिका उदाहरण हुआ) और उसी आँखने एक सुन्दर वस्तु दिखायी और कहा कि 'इसके संगसे भोग भोगें।' (यह क्लिष्ट वृत्तिका उदाहरण हुआ) एकको देखकर भोगकी वृत्ति उदय हुई

और एकको देख कर सत्संगकी वृत्ति उदय हुई। लेकिन 'मैं' तो दोनोंमें एक है।

विपर्यय—'मैं देह हूँ'—यह सोलहों आने विपर्यय है। लेकिन 'मैं ब्राह्मण हूँ'—यह भी विपर्यय है। परन्तु ब्राह्मणपनेके अभिमानसे संध्यावन्दन होगा। यह धर्म-शास्त्रके अनुकूल (अक्लिष्ट) विपर्यय है। 'ब्राह्मण' संस्कृत विपर्यय है और 'मैं देह हूँ'—यह विकारी विपर्यय है, क्लिष्ट विपर्यय है।

विकल्प—ठूंठको चोर भूत या सिपाही समझ लिया—यह विकल्प हुआ उससे लगा डर तो यह क्लिष्ट विकल्प हो गया। फिर देखा—'शालिग्राम हैं', 'ईश्वर हैं'—हाथ जोड़ा, बुद्धि पवित्र हो गयी। यह अक्लिष्ट विकल्पका उदाहरण हुआ।

स्मृति—अब लो स्मृतिकी बात! जब चोरी की है उसकी याद आयी तो मनमें ग्लानि हो गयी (क्लिष्ट स्मृति) और जब गंगास्नानकी याद आयी मन पवित्र हो गया यह अक्लिष्ट स्मृति है।

निद्रा—संध्यावंदनके समय सो रहे हैं वह क्लिष्ट निद्रा है। घरमें कोई मेहमान आया हो और उसकी विदाईके समय मेजबान नींदमें हो। अपने घरमें अतिथिके शुभागमन और विदाईके समय सोना, धर्मके विपरीत क्लिष्ट निद्रा है।

कोई चोरी करनेके लिए बुलाने आये कि 'चलो हमारे साथ' और उस समय ऐसी नींद आयी कि नहीं जायेंगे। अरे भाई सो लो, तो 'प्रातः उठकर गंगास्नान करेंगे, भगवान्‌की पूजा करेंगे'—यह धर्मके अनुकूल (अक्लिष्ट) निद्रा हो गयी।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये धर्मके अनुकूल भी होते हैं और प्रतिकूल भी होते हैं। परन्तु 'मैं' तो एक ही रहता है।

इस प्रकार अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश—पाँचों क्लेशोंमें मैं एक ही रहता है। कभी बेवकूफी आती है, कभी बुद्धिमानता आती है। कभी अभिमान आता है, कभी निरभिमानता आती है। कभी राग-द्वेष आते हैं, कभी समता आती है, कभी अभिनिवेश आता है, कभी शांति आती है, कभी कुछ नहीं आता। और 'मैं'? एक ही रहता है। यह जो एक 'मैं' है, यह न सुषुप्तिमें सोवे न स्वप्नग्रस्त होवे। अपने इसी आत्माका वर्णन शास्त्रमें आता है कि तुम्हारा यह प्रत्यक्‌चैतन्य असलमें सृष्टिमें पैदा नहीं होता और नष्ट नहीं होता। स्थितिकालमें यह आत्मा तुम्हारा शरीर नहीं हैं। तो क्या है?

तुम्हारा यह आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त ब्रह्म ही है।

मुझको क्या तू ढूंढे बंदे? मैं तो तेरे पास में।

यही परमात्मा है। परमात्मा सचमुच सबके हृदयमें हैं। सब अलग-अलग

दिखायी पड़ते हैं, परन्तु सबके हृदयमें परमात्मा एक है। सबके 'मैं' का असली अर्थ 'मैं' है। अनेक विशेषण हैं और अनेक उपाधियाँ हैं, किन्तु इन अनेक विशेषणोंमें और इन अनेक उपाधियोंमें जो अनुगत सत्ता है, अनुगत ज्ञान है, अनुगत प्रियता है—अस्ति-भाति-प्रिय है, वह सबमें एक है।

ईश्वरको ढूंढना है तो पहले तुम अपने 'मैं' को ढूंढो। और फिर उपनिषद् बताता है, वेदान्त बताता है कि तुम्हारा 'मैं' बड़ा चमत्कारी है। यह तो ऐसा ही है जैसे राजकुमार गलतीसे अपनेको भिखारी मान बैठे। जब पहचान लिया जाय, निशान निकाल लिया जाय, लक्षणसे प्रमाणसे प्रसिद्ध हो जाय कि 'यह भिखारी नहीं है राजकुमार हैं'—तो वह तो सम्पूर्ण राज्यका मालिक है।

अपनी आत्माके सम्बन्धमें हीनभावका सर्वथा निराकरण करनेके लिए यह अद्वैत वेदान्त है। यह नहीं कहता कि कर्मसे तुम छोटे हो जाओगे कि बढ़ जाओगे, यह नहीं कहता कि भोगसे तुम छोटे हो जाओगे कि बढ़ जाओगे। यह नहीं कहता कि भावनासे तुम छोटे हो जाओगे कि बढ़ जाओगे।

यह इनको कीचड़से इनके दलदलसे आत्मदेवको निकालनेके लिए वहाँसे उठानेके लिए यह पद्धति है। इसीसे पहले मधुविद्यामें आपको सुनाया कि तेरह जोड़ोंका नाम लेकर बताया कि जो शरीरके भीतर है, वही बाहर है। जो व्यष्टिमें है, वही समष्टिमें हैं।



: ८ :

आत्मा स्वयं मुक्ति है

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम् ॥१३॥

अर्थ—क्योंकि जीव और आत्माके अभेदरूपसे एकत्वकी प्रशंसा की गयी है और उनके नानात्वकी निन्दा की गयी है। अतः उनकी एकता ही समीचीन है।

आगकी चिंगारीमें जो चीज है, वही मीलोंमें जलती हुई बड़ी आगमें भी है। परंतु चिंगारी और मीलोंमें जलती हुई बड़ी आगका भेद तो अवकाशके कारण होता है, देशके कारण होता है। परमात्मामें तो देशभेद है ही नहीं, कोई उपाधि नहीं। संपूर्ण उपनिषदें कहती हैं कि—

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम् ॥

आत्मा है तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म और मानकर बैठा है अपनेको कर्ता-भोक्ता संसारी जीव। श्रुति यही कहती है कि 'तुम अपने जीवभावको छोड़ो, अपने आत्माके स्वरूपको जानो।

श्रुति अभेदकी प्रशंसा करती है—आत्मा और ब्रह्मके अभेदकी स्तुति करती है। 'नानात्वं निन्द्यते'—नानात्वकी निंदा करती है। यह अभेदकी प्रशंसा और नानात्वकी निंदा सर्वथा युक्तियुक्त है, सर्वथा उचित है।

यह कोई महत्त्वकी बात नहीं है कि तुमने किस-किससे लड़ाई की ? एक सज्जन बताते थे कि 'तुम हमको क्या समझते हो ? हमने मालवीयजीको फटकार दिया, गाँधीजो-नेहरूजीको फटकार दिया। इसीमें वे अपनी तारीफ समझते हैं।

दूसरे कहते हैं—'हमारे पास वह राजा आये थे। वह सेठ आये थे ? उनकी तारीफका पैमाना यह है। देहातोंमें यह मान्यता चलती है कि जो फटकारे सो सिद्ध ! गँवार लोग ऐसा समझते हैं। 'हम तुमको बुलाने गये थे ? क्यों आये हमारे पास ?' चार गाली सुनायी !

लोग सोचते हैं—'देखो भाई ! इसे हमसे कुछ लेना-देना होता, तो गाली नहीं देता। इसे हमसे कुछ चाहिए नहीं, इसलिए गाली देता है।'

असलमें गँवारोंके मनमें जो धारणा है कि 'जो गाली दे, जो फटकारे सो सिद्ध ! तो वह पहलेसे सोच लेता है कि 'हम गाली देंगे। फटकारेंगे, तो ये मानेंगे कि यह बड़ा सिद्ध है।' अपनेको सिद्ध मनवानेके लिए वे गाली देते हैं। वैराग्यसे गाली देना दूसरी चीज है।

'फटकारे सो सिद्ध'—अब गाँवके लोग तो दूर पड़ेंगे महराज! हमने देखा, बोतल-की-बोतल पीते जा रहे हैं, गाँजेकी दम उड़ती जा रही है, गाली देते जा रहे हैं और इकट्ठे गाँवके लोगोंमें-से कोई कहता है, 'महाराज! हमें बेटा दे जाओ! कोई कहता है हमें मुकदमेमें जिता दो! 'हमारे शरीरका रोग दूर कर दो।'

बंबईमें तो कभी-कभी जब कोई जादूगर चमत्कारी या आशीर्वादी महात्मा आता है, तब भीड़ देखनेमें आती है। आप लोग यह मत समझना कि 'हम लोग बड़े बुद्धिमान् हैं। अरे भाई! श्रद्धा करना, आशीर्वाद लेना दूसरी चीज है और यह गँवारू ढंग, जादूगरीका चक्कर दूसरी चीज है। वृन्दावनमें एक बार एक कुल्हड़वाली माई पैदा हुई। वह कीर्तन करे और झट मलाईका कुल्हड़ निकाल दे।

एक बार अपने आश्रममें लोगोंने उसको बुलाया, मैंने तो कभी देखा नहीं भाई! न तो शहरमें देखा, न तो आश्रममें देखा। जिस दिन चमत्कारी लोग आते हैं न, आश्रममें उस दिन मैं जाता ही नहीं हूँ। बचपनसे हमारा स्वभाव है।

बनारसमें थे एक चमत्कारी! उनके बारेमें प्रसिद्ध था कि वह आँखसे देखें तो पत्थर फट जाय; चिड़िया मरी हुई उनके सामने रख दो और वह देखें, तो वह चिड़िया जिन्दा हो जाय! ऐसा उनके बारेमें मशहूर था कि रामको, कृष्णको बुलाकर दिखा दें। मैं रोज उनके दरवाजेके सामनेसे निकलता था, लेकिन उनके मकानके भीतर तब गया जब वह मर गये!

ये आदमी अपने मनमें लोभ-लालचकी कमजोरीके कारण जादूगरीके चक्करमें पड़ जाते हैं। परमार्थ बिलकुल दूसरी वस्तु है। इससे एकदम जुदा। वह अपने अन्तःकरणका शुद्ध करनेका मार्ग है, वह अपने आत्माकी सच्चाईको समझनेका मार्ग है। ईश्वरका जो सच्चा स्वरूप है, उसके दर्शनका मार्ग है।

ये जादूगरीके खेल! वह कुल्हड़वाली माई पकड़ी गयी! वह तो जिस दुकानसे कुल्हड़ बनवाकर मँगवाती थी, वह भी पकड़ा गया और जहाँ वह रबड़ी बनवाकर रखी जाती थी, वह भी पकड़ा गया।

एक थी माई ! वह ऐसे हाथ करे तो पेड़ा पटके और सिंदूर पटके ! अबीर-गुलाल पटके ! बड़े-बड़े आश्चर्य ! यह नहीं कि गाँवके लोग उसमें फँसते हैं। बड़े-बड़े आश्चर्य जादूके खेलमें होते हैं। महात्माका चमत्कार दूसरा होता है और जादूके खेल दूसरे होते हैं।

महात्माका चमत्कार श्रद्धा है। श्रद्धासे देखते हैं। वह कोई व्यापारकी वस्तु, कोई बाजारकी वस्तु नहीं होती। मायाके खेलमें मत फँसो। मायाको चलानेवाला जो परमात्मा है, उसको देखो।

अब देखो, अपना आत्मा क्या है। परमात्मा क्या है ? परमात्माका स्वरूप क्या है। हम क्या बतावें ? आपको ईश्वर ढूंढनेवालोंकी बेवकूफी बताते हैं। कुछ वर्षों पहलेकी बात है।

एक सज्जन कुम्भके मेलेमें प्रयागमें आये। यह बिलकुल सच्ची बात है। हमलोग कुम्भके मेलेमें थे, तबकी बात है। जहाँ चमत्कारकी बात होती मैं तो जाता ही नहीं था। हम ईश्वरकी बात करना चाहते हैं। चमत्कारकी बात करना नहीं चाहते।

हमारे साथी देखने गये, तो वह क्या करता था, चमत्कारी ? वह पेड़पर चढ़कर बैठ गया कि 'हम ईश्वरका दर्शन करावेंगे।' कुम्भमें-से कभी-कभी दस-दस, बीस-बीस हजार आदमी उस पेड़के नीचे इकट्ठे हो जाते थे। वह कहता था—'हम ईश्वरके दर्शन करावेंगे। पहले जनेऊ उतारकर फेंक दो ! दूसरी बात यह कि दो पत्थर उठाकर खटखटाओ ! तीसरी बात यह कि उस-पर थूको और चाटो ! फिर भी लोग विश्वास करते थे कि 'यह ईश्वरका दर्शन करावेगा।' आँखके अन्धे ही तो ऐसा सोचते हैं न !

परमात्मा कोई मूर्खतासे मिलते हों, ऐसा कहीं सुननेमें नहीं आया ! ईश्वर तो ज्ञानसे प्राप्त होता है। श्रुति और शास्त्र यह बताते हैं। थोड़ा ध्यान देकर देखो—ईश्वर इस समय है कि नहीं है ? अगर ईश्वर इस समय 'ईश्वर' न हो तो ईश्वर अविनाशी होगा क्या ? अगर इस समय ईश्वर 'ईश्वर' न हो तो ईश्वर मरनेवाला हो जायगा। इस समय होवे, तभी सोच सकते हैं कि पहले भी था और बादमें भी रहेगा। इस समय अगर न हो तो बादवाले यही कहेंगे न, कि 'पहले नहीं था' और पहलेवाले यही कहेंगे कि 'बादमें नहीं रहेगा।' अगर 'ईश्वर' नामकी वस्तु है तो इस समय जरूर है। नहीं तो वह अविनाशी नहीं हो सकता।

ईश्वर यहाँ है कि नहीं है ? यहाँ नहीं होगा तो ईश्वर पूर्ण नहीं होगा।

पूर्ण उसीको कहते हैं जो यहाँ भी हो और वहाँ भी हो—सब जगह हो। ईश्वर इसी समय है और यहीं है।

अब कहो कि ईश्वर इसी समय है और यहीं है, परन्तु क्या है? यह तो पता नहीं चलता। दो बात तो तुमने मानी न कि यहाँ है और अभी है। तो यहाँ और अभी जितनी चीजें हैं उनको एक बार खोद-खोदकर देख क्यों नहीं लेते कि यहाँ क्या है? यहाँ शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध है। वह तो हमेशा रहनेवाला नहीं है और हर जगह रहनेवाला नहीं है। यहाँ इन्द्रियाँ हैं, वे हमेशा और सब जगह रहनेवाली नहीं है। स्वप्नमें नहीं है, सुषुप्तिमें नहीं है, मूर्च्छामें नहीं है, समाधिमें नहीं है।

यहाँ मन है, वह भी हर समय और हर जगह रहनेवाला नहीं है। मन कहाँ हर समय और हर जगह रहता है?

यहाँ बुद्धि है। वह भी हर समय और हर जगह नहीं रहती है। सुषुप्तिमें उसका भी सफाया हो जाता है।

ऐसा लगता है कि अपना होना है। हमारे हुए बिना तो सुषुप्ति भी नहीं, स्वप्न भी नहीं और जाग्रत भी नहीं है। यह मालूम पड़ता है कि इस समय, इस जगह, सब समय और हर जगह कोई रहनेवाली चीज है तो वह अपना आत्मा है। बोले—ठीक, परन्तु यह आत्मा भला ईश्वर कैसे हो सकता है? यह तो ईश्वर नहीं हो सकता। यह तो पापी है, यह तो पुण्यात्मा है। यह तो सुखी है, यह तो दुःखी है। यह कैसे ईश्वर हो सकता है? पापीपना भी क्या हर समय, हर जगह रहता है? पुण्यात्मापना भी क्या हर समय, हर जगह रहता है? सुखीपना भी क्या हर समय, हर जगह रहता है? दुःखीपना भी क्या हर समय, हर जगह रहता है? परन्तु अपना आत्मा-अपना आपा तो हर समय हर जगह रहता है न। तो असलमें सुखी-दुःखीपना, पापी-पुण्यात्मापना सब अपनेमें माना हुआ है।

पैसा दूसरी चीज है और 'मैं' दूसरी चीज है। हड्डी-माँस दूसरी चीज है और 'मैं' दूसरी चीज है। पाप-पुण्य दूसरी चीज है और 'मैं' दूसरी चीज है। सुख-दुःख दूसरी चीज है और 'मैं' दूसरी चीज है। अपने आपको ढूँढ़ो न! दुनियामें जितने विचारक हैं वे तीन प्रकारकी बातोंपर ही विचार करते हैं।

आरभ्यते जीव-जगत्-परात्मविचारभेदेन मतं समस्तम्।
इदं त्रयं यावदहं मति स्यात् सर्वोत्तमाऽहंमतिशून्यनिष्ठा॥

दुनियामें जितने मत हैं—ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, जैन, पारसी, सिक्ख,

ये सब मत तीन बातका विचार करते हैं—जीव क्या है ? जगत् क्या है ? और, परमात्मा क्या है ? इन तीनोंका कबतक विचार होगा ? जबतक बुद्धि रहेगी। वह बुद्धि कभी सोती है, कभी जागती है और बुद्धिका साक्षी न कभी सोता है और न कभी जागता है। सीधा हिसाब है।

जगत् सत्य है कि झूठा ? अरे भाई ! सत्य है कि झूठा है, यह विचार तो बुद्धिमें होता है न ! देखो, आत्माकी ओर आनेका, अन्तर्मुख होनेका यह फल है। अरे, सच है कि झूठा है, यह विचार पड़ने दो दोजखमें ! जाने दो जहन्नुममें; उसे आगमें डाल दो कि दुनिया सच्ची है कि झूठी है !

दुनिया सच्ची है कि झूठी है, यह विचार कौन करता है ? बुद्धि ही तो !

सत्यं मृषा वा चिदिदं जडं वा ?

यह सच्चा है कि झूठा ? यह चेतन है कि जड़ ? यह कृतक है कि अकृतक ? यह कौन विचार करता है ? इसका विचार करनेवाली जो बुद्धि है, वह बुद्धि ही तो समझेगी कि सच्चा है कि झूठा ? चिद् है कि जड़ ? कृतक है या अकृतक ? स्व है कि पर ? वह बुद्धि जब सुषुप्ति दशामें सो जाती है तब भी आत्माराम जागते रहते हैं।

यह आत्माराम कौन है ? अपने आपका परिचय है ? 'महाराज मुक्ति कैसी होती है ?' एक मुक्ति होती है सालोक्य अर्थात् मरकर भगवान्के लोकमें चले जाओ ! प्रजा हो जाओ उसकी !

ठाकुरजीके नगरके पार्षद हो जाओ, वैकुण्ठवासी हो जाओ ! एक मुक्ति यह भी है कि केवल वैकुण्ठमें रहते ही नहीं, वेशभूषा भी वही। इसे सारूप्य मुक्ति कहते हैं। सोनेका पलंग जैसा नारायणका, वैसा हमारा। पीताम्बर जैसा नारायणका वैसा हमारा, मुकुट, शंख-चक्र-गदा जैसे उनके वैसे हमारे ! वही वेश, वही भूषा !

तीसरी प्रकारकी मुक्तिको सामीप्य बोलते हैं—लोक और वेश-भूषा ही नहीं नारायणके अत्यन्त अन्तरङ्ग ! मुक्तिका चौथा प्रकार है सायुज्य। भक्त बिलकुल मिल ही गये भगवान्में। जो वे, सो हम ! जो हम सो वे। कुछ भक्तोंको सृष्टि-कार्यमें विशेष अधिकार भी मिल जाते हैं—ऐसे भक्तोंकी मुक्ति सार्ष्टि मुक्ति कहलाती है।

बोले कि—नहीं, सम्पूर्ण सविशेष—सगुणका बाध होगया ! कैवल्यकी प्राप्ति हो गयी। यह छठी कैवल्य मुक्ति है। मुक्ति इतनी तरहकी होती हैं,

यह कैसे सोचा जाता है ? यह सालोक्य है, यह सामीप्य है, यह सारूप्य है, यह सायुज्य है, यह साष्टि है। यह कैवल्य है—यह कैसे मालूम पड़ता है ? तो कहा—शुद्ध बुद्धिसे इसका विचार किया जाता है। बोले, ठीक है परन्तु ये तो सब बुद्धिके विचार ही हुए न ! कैवल्यपर्यन्त सब-के-सब बुद्धिके विचार और बुद्धिके विकार हैं।

बुद्धि जब सो जाती है, तब क्या होता है ? आत्मदेव रहते हैं। अरे बाबा ! इन तीनोंको सोचनेवाली जो बुद्धि है यह ग्रंथि है। सब मुक्तियोंको सोचनेवाली बुद्धि उपाधि है। इसके साथ अपने 'मैं'को मत जोड़ो ! तुम हो द्रष्टा, अपने आत्मदेवको अर्थात् अपने 'मैं' को इससे अलग करके देखो तो ! इन सब प्रकारकी मुक्तियों और बन्धनोंका विचार करनेवाली बुद्धि है दृश्य और वह बुद्धि कभी सोवे और कभी जागे।

तब असली मुक्ति क्या है ? असली मुक्ति वह है, जब अपने स्वरूपको ब्रह्मको जान लेनेपर ये बुद्धिके विचार और बुद्धिके विकार—सब-के-सब बाधित हो जाते हैं। यह तो 'मानि-मानि बन्धनमें आयो !' वाली बात हुई।

> तस्या प्रणाशः परमार्थमुक्तिः
> रूपिण्यरूपिण्युभयात्मिका च।
> मुक्तिः त्रिरूपेति विदो वदन्ति
> इदं त्रयं या विविनक्त्यहं धीः ॥

अपना आत्मा ही असलमें परमार्थ मुक्तिस्वरूप है। वेदान्त हमको भोगासक्तिसे छुड़ाता है—हमको यह भोग चाहिए, यह भोग चाहिए, यही भोगासक्ति है। भोगोंके पीछे-पीछे घूमना भोगासक्ति है। काहेका भोग ? धनके पीछे जो पड़ता है उसमें तो भोग भी नहीं है। जो भोगके पीछे हैं वे तो जीवनमें कुछ खा-पहन भी लेते हैं और जो अगली पीढ़ीके लिए संचय करनेमें लगे हुए हैं, वे समझते हैं, हमारा बेटा तो कमायेगा नहीं ! हम उसके लिए रख जायँ। फिर वह अपने बेटेके लिए कमायेगा। तुम अपने बापका कमाया तो भोगते नहीं; खुद कमाते हो तो संचय है बेटेके लिए। तब धन तो व्यर्थ ही गया न !

जो भोग करते हैं, उनको तो कुछ मिलता भी है, लेकिन जो इकट्ठा करते हैं, सो तो दरिद्र हैं महाराज ! केवल 'हमारे पास बैंकमें इतना है या 'छिपाया हुआ इतना है !' बैंकमें भी दूसरे नामसे, लॉकरमें भी दूसरे नामसे; गरीबोंके नामसे खाता खोलके अपने पास रखते हैं। धनमें तो केवल अभिमानके सिवाय और कुछ सुख दीखता ही नहीं है सिवाय इससे कि इनके पास इतना नहीं है और हमारे पास इतना है। केवल शान दिखाना है।

भुञ्जन्ति धूर्ताः कृपणस्य वित्तम्।

कृपणके धनको धूर्त लोग खा जाते हैं। अब धनकी बात छोड़ो। मनोरथ करते हैं कि 'अभी तो हम कमा रहे हैं, आगे हम खूब भजन करेंगे।' उन सेठोंका, जो कई-कई करोड़के व्यापारी हैं और जिनके यहाँ माल पकड़ा भी जाता है और छूटता भी है, उनके भी मकान वृन्दावनमें बीस-बीस वर्षसे बने हुए हैं। उन्होंने जो आदमी वहाँ अपने मकानोंमें दरवान रखे हैं, वे हमारे पास आकर रोते हैं—'स्वामीजी! दो वर्षसे तनख्वाह नहीं भेजी। आप बम्बई जायें तो आप सिफारिश करके हमें भिजवा देना। हम भूखे मरते हैं।

बीस वर्षसे मकान बनाये हुए हैं कि हम वृन्दावनमें रहकर भजन करेंगे! तो यह मनोरथका सुख है। इसमें कुछ तत्त्व नहीं है।

ब्राह्मण आकर कहते हैं कि 'आजकल'के जमानेमें महाराज! हमें सिर्फ एक रुपया रोज मिलता है। कैसे खायँ? कैसे करें? हमसे कहते हैं कि विद्यार्थियोंको पढ़ाओ! भागवतका पाठ अपने सामने हमें बैठाकर छः घण्टे करवाते हैं और एक रुपया देते हैं। उनके घरमें जो मिस्त्री काम करता है, उसे चार रुपया देते हैं।'

पहले लोग एक पैसा भीखमे देते थे, अब नया एक पैसा भीखमें देते हैं। सब चीजकी कीमत बढ़ गयी, पर जो देनेका स्थान था, उसकी कीमत घट गयी। बहुत मनोरथ! किसीको कैसी आदत पड़ गयी।

अपने आत्मदेवका जो अनुसन्धान है, यह सच्चा सुख है; मनोरथमें सच्चा सुख नहीं है। अभिमानमें सच्चा सुख नहीं है। विषयासक्तिमें सच्चा सुख नहीं है। सच्चा सुख है अपने असली स्वरूपको जाननेमें। ईश्वर है, तो यही है, अभी है और इस शरीरके भीतर जो सबसे स्थायी चीज है, उससे मिलकर रहता है। परमात्मा छिपेगा कहाँ?

क्षण-क्षणमें जो चीजें बदलती हैं, उनमें परमात्मा छिपे तो पकड़ा जाय! जो चीजें क्षण-क्षणमें नहीं बदलती हैं, उनमें परमात्मा छिपा हुआ है। परमात्माने अपने लिए जो लिहाफ बनाया है, खोल बनाया है, जिसमें वह लिपकर रहता है, वह आप स्वयं हैं।

परमात्मासे आँख-मिचौनी खेल हो रहा है। वह छिपा हुआ है, तुम ढूँढ रहे हो। प्रलयकालमें तुम छिपे हुए थे, वह ढूँढ निकालता है और सृष्टि-कालमें वह छिपता है, तुम ढूँढ रहे हो! वह कहाँ छिपा है? वह ढूँढनेवालेमें छिपा है।

एक सेठ यात्रा करते थे। उनके पास बहुत पैसा था। एक यात्रामें एक चोरने तजवीज लिया कि उनके पास पैसा बहुत है, वह ट्रेनमें उनके साथ था। उन्हींके डिब्बेमें उसने अपनी सीट (Seat) रिजर्व करा ली। दिनमें तो सेठजी रुपया निकालकर उसे दिखा दें, गिनें। सेठ भी समझ गया था कि यह चोर है। रातको चोरके तकियेमें रुपये घुसेड़ दें। चोरने सब खोज लिया। वे शौचालय गये तब ढूँढ लिया, सो गये तब ढूँढ लिया, बेहोश करके ढूँढ लिया। कहीं सेठके पास पैसा ही नहीं। क्यों?

वह चोरके तकियेमें छिपाया गया था। जब दूसरे दिन नहीं मिला, कलकत्ता-बम्बईके सारे सफरमें नहीं मिला, तब चोरने कहा—'सेठ! मैंने मान लिया, मैं हूँ चोर! पैसा चुरानेके लिए आपके साथ लगा था। पर तुम यह बताओ कि रखते कहाँ हो?'

सेठ हँसने लगा। वह बोला—'मैं कलकत्तेमें ही समझ गया था कि तुम चोर हो!'

चोर बोला—'दिनमें तो तुम्हारे पास हजार-हजार रुपयेके नोट और रातमें कुछ नहीं? बात क्या होती है?'

सेठ—'बात कुछ नहीं होती है। तुम्हारे तकियेमें रख देता हूँ। तुम बाथरूम गये शामको, जो तुम्हारे तकियेमें रख दिया और सुबह गये तो निकालकर ले लिया।'

चोर—'अरे राम! हमारे तकियेके नीचे हजारों रुपये आये और चले गये? नहीं मिले?'

ईश्वर अपनेको कहाँ छिपाता है? ईश्वर अपनेको तुम्हारे 'मैं' में छिपाये हुए हैं। आँखमें नहीं छिपाता, कानमें नहीं छिपाता, नाकमें नहीं छिपाता! तुम ढूँढते हो कि ईश्वर कहीं मिल जाय और वह ढूँढनेके लिए—

आप ही अमृत आप अमृतघट।
आप ही पवनहारी।
आप ही ढूँढे, आप ढुंढावे।
आप ही ढूँढनहारी।
आपन खेल आप करि देखै॥

दिलमें बैठकर छिपा हुआ है। तुम ऐसे कच्चे खिलाड़ी हो कि ईश्वरको पहचान नहीं सके! ढूँढ नहीं सके, उसे पा नहीं सके? तो क्या खेल है तुम्हारा?

अभेदकी प्रशंसा और भेदकी निन्दा

जो चेतन अपने साथ अन्तःकरणको जोड़कर अपने लिए 'मैं' पदका प्रयोग करता है, उसको 'जीवात्मा' बोलते हैं।

जीव जिस चेतनके बारेमें एक अन्तःकरणको नहीं जोड़ता, किन्तु सम्पूर्ण सृष्टि कारणरूप मायाको जिसके साथ जोड़ता है, उसको 'ईश्वर' कहा जाता है।

जीव जब अपने साथ अविद्या और अन्तःकरणको नहीं जोड़ता और ईश्वरके साथ मायाको और सृष्टिको नहीं जोड़ता, तब उसका (चेतनका, चिद् वस्तुका) नाम ब्रह्म होता है। और यही उसके स्वयंके 'आत्मा' पदका, (मैं पदका) शुद्ध अर्थ है।

जीव और परमात्मा—इन दोनोंका अभेदके द्वारा अनन्य होना, माने भेद-भ्रांति मिटकर अभेद ज्ञान होकर एकताका अनुभव करना—इसकी वेदान्तोंमें प्रशंसा मिलती है और, जीव और परमात्माके भेदकी निन्दा मिलती है।

इससे यही बात सिद्ध होती है कि 'आत्मा और परमात्माका अभेद है, वेदान्तवेद्य है, वेदान्तका तात्पर्य है, स्वाभाविक है, संगत है। जो लोग भेद और नानात्वके पक्षमें हैं, वे वेदान्तके तात्पर्यको नहीं जानते, अनुभवके मार्गमें नहीं चलते, वे युक्तिहीन हैं'—यह बात इस श्लोकमें कही गयी।

भाष्यकार इसकी व्याख्या करते हैं। शास्त्रमें जिस बातकी स्तुति की जाती है, वह करनेके लिए होती है और जिस बातकी निन्दा की जाती है, वह छोड़नेके लिए होती है। झूठमूठ निन्दा-स्तुति नहीं करते ! निन्दा-स्तुति करनेकी यह प्रक्रिया भी आप ध्यानमें बैठा लो। हमारी की हुई निन्दा भी सफल होनी चाहिए और हमारी की हुई स्तुति भी सफल होनी चाहिए। निन्दामें भी प्रयोजन होता है और स्तुतिमें भी प्रयोजन होता है। निष्प्रयोजन दोनों नहीं होतीं।

एक साधु थे। वे अमुक-अमुक महन्तोंकी और मण्डलेश्वरोंकी निन्दा किया करते थे। हमने उनसे पूछा—'महाराज ! आप महात्मा होकर उनकी निन्दा क्यों करते हैं ?'

वे बोले—'उनके चक्करसे बचो, इसके लिए निन्दा करते हैं। अच्छा, तुम रामकृष्ण आदिकी स्तुति-प्रशंसा क्यों करते हो ?'

'इसलिए कि लोग उनकी उपासना करें।'

तो, स्तुतिका तात्पर्य है कि लोग उनकी उपासना करें और निन्दाका तात्पर्य है कि लोग उनकी अपासना करें माने हटा दें उनको। वेद-वेदान्तमें भी आत्मा और परमात्माकी एकताको प्रशंसा की है। इसलिए कि लोग उसके रास्ते पर चलें; और भेदकी निन्दा की है, जिससे उसको छोड़ा जा सके। भेदमें रागद्वेष बहुत है। दुनियाके लोग जबतक शरीरपर घाव न लगे तबतक दुःख नहीं मानते। इसका मतलब है कि बुद्धि बहुत स्थूल हो गयी।

हृदयमें राग-द्वेषका आना ही सबसे बड़ा दुःख है। सृष्टिमें सबसे बड़ा दुःख यही है कि संसारमें किसीसे दुश्मनी हो गयी और किसीसे दोस्ती हो गयी। बनिया लोग धनसे जितना प्रेम करते हैं, उतना अपने शरीर, परिवार-जनोंसे भी नहीं करते। वे धनके लिए पत्नीका प्रेम, बेटेका स्नेह, माँ-बापके प्रति जो आदर, श्रद्धा और धर्म है—इन सबको छोड़ देते हैं।

जो भोगी और विषयी लोग होते हैं वे पति-पत्नी आपसमें इतना प्रेम करते हैं, पिता-पुत्र आपसमें इतना प्रेम करते हैं कि उसके लिए वे धनको छोड़ देते हैं।

धर्मात्मा लोग ईश्वरसे, गुरुसे जो प्रेम करते हैं, वह एकतरफा प्रेम है। धनसे प्रेम भी एकतरफा प्रेम है। धन हमसे प्रेम नहीं करता, हम ही धनसे प्रेम करते हैं। पति-पत्नी और पिता-पुत्रका प्रेम दुतरफा प्रेम है। इधरसे प्रेम हटाकर ईश्वरके साथ, गुरुके साथ प्रेम जोड़ते हैं।

योगी लोग अपनी स्वरूप-स्थितिसे, स्वरूप-निष्ठासे प्रेम जोड़ते हैं। वेदान्ती लोग कहते हैं—'अपना स्वरूप ही प्रेम है, प्रेमीपना नहीं हैं। अपना स्वरूप ही ज्ञान है, ज्ञानीपना नहीं है।' अभेदकी प्रशंसाका तात्पर्य इसी बोधकी प्राप्ति करानेमें है। और 'नानात्व'की निन्दाका तात्पर्य ? नाना होगा, फिर मामा होगा, फिर आगे और विस्तार होगा। उससे बचकर रहना चाहिए। यही निन्दाका तात्पर्य हैं।

अब यह कहो कि 'हमको तो द्वैत ही मालूम पड़ता है; भेद ही मालूम पड़ता है' तो क्या किया जाय ? एक महात्मा थे। धरतीपर घास छील रहे थे। उनके लिए तो जैसी शालिग्रामकी पूजा, वैसा ही घास छीलना था। उनके लिए जो स्वरूपस्थिति वही घास छीलना था। वे घास छील रहे थे। एक बड़े भारी विद्वान् जो मध्वाचार्यके अनुयायी थे, आकर पूछा—'महाराज ! हमको तो युक्तिसे, शास्त्रसे, अनुभवसे यह निश्चय हुआ है कि 'द्वैत सत्य है।'

महात्मा बोले—'पण्डितजी ! द्वैत सत्य है, यह निश्चय तो चींटीका भी है, खटमलका भी है, चिड़ियाका भी है। द्वैत सत्य है, यह तो भैंस भी जानती है, गधा भी जानता है, ऊँट भी जानता है। तुमने सारा शास्त्र पढ़कर, सारी साधना करके, सारा अनुभव करके अगर यही जाना कि द्वैत सच्चा है, तो क्या जाना ? अभी तो तुम कुछ आगे नहीं बढ़े। अरे भाई, अज्ञानियोंको जैसा मालूम पड़ता है कि द्वैत सत्य है, तो शास्त्र पढ़कर, ईश्वरकी आराधना करके, अन्तर्मुख होकर, समाधि लगाकर तुमने वही जाना, तो क्या जाना ? कुछ नहीं जाना। द्वैत सत्य है—बड़ा भारी अनुभव लेकर आये हो।' डाँट दिया।

आप क्या समझते हैं कि आपकी बुद्धि और आपका अनुभव, आपका द्वैत-विषयक यह विज्ञान बहुत बड़ी वस्तु है ? अरे ! आप तो ऐन्द्रियक विषयका अनुवाद कर रहे हैं; जैसे बच्चा बोली हुई बातको दुहरा देता है।

रागमें, द्वेषमें, फँसी हुई तुम्हारी ये इन्द्रियाँ जो काम-क्रोध-लोभकी अनुयायी हैं, चोरी-बेईमानीमें फँसी हुई हैं, ये जैसा संसार देख रही हैं, उसका तुम अनुवाद कर रहे हो। वही दुहरा रहे हो। और क्या कर रहे हो ? उसमें क्या अन्तर्मुखता है ? क्या युक्ति है ?

चींटीको शक्कर मीठी लगती है, तुमको भी शक्कर मीठी लगती है। इसलिए तुम इस निश्चयपर पहुँचे कि—'अगर हम बेवकूफ होते तो चींटी तो बुद्धिमान् थी, उसको शक्कर मीठी न लगती। लेकिन जब चींटीको भी शक्कर मीठी लगती है और हमको भी शक्कर मीठी लगती है, तो हमारा गवाह कौन ? चींटी !' यही है; ऐन्द्रियक अनुभवकी दशा यही है। आप सोचकर देखना। शास्त्र कहता है कि 'विषय मीठा नहीं है। परिणाममें दुःखद है।' संत कहते हैं कि परिणाममें दुःखद है।' सन्त कहते हैं कि परिणाममें दुःखद है। भगवान् कहते हैं कि परिणाममें दुःखद है। और तुम क्या कहते हो ? कि 'यह बात अनुभवके विरुद्ध है ?'

आज तक जिसने भी परमात्माको प्राप्त किया है, त्यागके मार्गसे प्राप्त किया है। वैराग्यके मार्गसे, समाधिके मार्गसे, श्रवण-मनन-निदिध्यासनके मार्गसे परमात्माको प्राप्त किया है।

बहुत पैसा इकट्ठा करके किसीने कभी ईश्वरको खरीद लिया हो, कि बहुत भोग करके कभी किसीने ईश्वरानुभूति प्राप्त कर ली हो, यह बात क्या कभी संसारमें तुमने सुनी है ? सच्चे सुखका मार्ग दूसरा है।

यच्च सर्वप्राणिसाधारणं स्वाभाविकं शास्त्र-
बहिष्कृतैः कुतार्किकैर्विरचितं नानात्वदर्शनं निन्द्यते।

भाष्यकारने कहा—'अरे भाई! यह नानात्वदर्शन तो सर्वप्राणिसाधारण है। जुएँको भी मालूम पड़ता है कि जिसके बालमें हम हैं, उसके सिरमें खून मिलेगा पीनेको!

मच्छर कहता है—'यह शरीर हमारे पेयका खजाना है, कुआँ है, खाद्य-का कुआँ है मनुष्यका शरीर।

खटमल कहता है कि हमें इसमें-से पीनेको खून मिलेगा। यदि तुम्हारी बुद्धि इस अनुभवके ऊपर नहीं उठी, वहीं फँसी हुई है, वह द्वैत देखती है तो 'सर्वप्राणिसाधारणम्' और 'स्वाभाविकम्' अर्थात् 'वैकारिकम्' है!

संसारका सुख कब मालूम पड़ता है? जब हमारे मनमें विकार होता है, माने बिगाड़ होता है। 'विकार' शब्दमें 'र'का 'ड' हो गया है। 'का'का 'गा' हो गया है। 'विकार' 'बिगाड़' बन गया है। बिगाड़ क्या होता है? 'घरमें तो कोई मजा नहीं है, चलो, बाहर चलो!' यही बिगाड़ है।' हमारे आत्मामें तो कोई सुख नहीं है। चलो, दूसरेमें-से थोड़ा सुख लूटकर ले आवें।

जब शरीरमें कामकी उत्तेजना आती है, जब लोभके वश पानी-पानी हो जाते हैं, जब क्रोधका तनाव आता है, तब हम समझते हैं कि संसारमें सुख है। सुख तो शान्तिमें है, निवृत्तिमें है।

काशीमें एक बार शास्त्रार्थ हुआ। बात उस समयकी है जब मैंने वहाँ श्रीमद्भागवतका पाक्षिक प्रवचन किया था। १५-२० वर्ष हो गये होंगे। काशीके प्रायः बड़े-बड़े सब विद्वान् आये थे। पंडित गोपीनाथ कविराज, म० म० पं० मथुराप्रसादजी, पं० कमलाकान्तजी आदि। रामानुजसम्प्रदायके बहुत बड़े विद्वान् पं० नीलमेघाचार्यजी थे। उन्होंने शास्त्रार्थमें कहा—'यदि जीव और ब्रह्म एक हो जायेंगे, तो जीवमें जो दोष हैं—जन्म-मरण, पाप-पुण्य, सुखीपना-दुःखीपना, ये सब ब्रह्ममें प्राप्त हो जायेंगे। जब जीव और ब्रह्म एक हो गये, तो जीवमें जितनी गड़बड़ी है, वह सब ब्रह्मकी हुई।

पं० कमलाकान्त मिश्र, बोले—'तुम मान लो कि जीव और ब्रह्म एक है। तब हम यह विचार करेंगे कि ब्रह्ममें जो अच्छाई है, वह जीवकी गड़बड़ीको अपनेमें मिला लेगी कि जीवमें जो गड़बड़ी है, वह ब्रह्म अपनेमें मिला लेगा।'

एकने कहा—'यदि यह नाला समुद्रमें गिराओगे तो समुद्र गंदा हो जायगा।' उसने कहा—'जरा गिर जाने दो, तब देखो।' जब जीव और ब्रह्म एक हो जायेंगे, तब ब्रह्ममें जो अविनाशिता है, पूर्णता है, अद्वितीयता है, असंगता-अद्वैतता है, प्रत्यक् चैतन्यता है, वे जीवकी सब गड़बड़ियोंको खा जाती हैं।

शास्त्र बहिष्कृतै कुतार्किकैः !—तर्क भी करते हैं, तो कुतर्क करते हैं, कुतरते हैं। 'कुतरना' आप लोग जानते हैं ? चूहे कपड़ा कुतर देते हैं, कागज कुतर देते हैं, किताब कुतर देते हैं, 'कुतरना' शब्द कहाँसे बना है ? 'कुतर्क'में-से 'क' छोड़कर 'कुतर' ले लिया, किसी बातको केवल काटना-कुतर देना। कुतार्किक लोग ऐसा मानते हैं कि—'परमात्मा हमसे कहीं दूर है ! परमात्मा हमसे कहीं देरसे मिलेगा। परमात्मा दूसरा है, हम दूसरे हैं।

यह अपनी अलग राजधानी बनाना है। असलमें परमात्मासे अलग अपनी राजधानी बनाना नया पाकिस्तान ही बनाना है। परमात्मा हमसे दूर नहीं है, परमात्माके मिलनेमें देर नहीं है और परमात्मा कोई दूसरी वस्तु नहीं है। संसारी लोग इसमें फँसे हुए हैं। इस नानात्वकी शास्त्रमें बड़ी निन्दा है।

शास्त्रमें वर्णन आया है—

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। (मुण्डक० ३.२.९)

न तु तद्द्वितीयमस्ति। (बृहदा० ४.३.२३)

उसके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। जो इस ब्रह्मको जान लेता है, परमात्माको जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। इसकी भी बड़ी लीला है। परमात्माको जानना और परमात्मा हो जाना !

आपको कभी सुनाया हो, अभी मैं काशीमें गया। वहाँ एक वृद्ध हैं, ८५-९० वर्ष के। वे आये। थोड़ा दुःखी होने लगे। जब मैं पढ़ता था, तो वे अध्यापक थे। अबसे ४०-५० वर्ष पहले भी वे काशीके एक अच्छे वैयाकरण और एक अच्छे अध्यापक व्याकरणके माने जाते थे। व्याकरणके बड़े पंडित थे।

मैंने कहा—'क्या बात है पंडितजी ? काहेको दुःखी हो रहे हो ?'

बोले—'पंडित-सभामें-से हमारा नाम काट दिया गया है।'

मैंने पूछा—'किसके हाथमें है ?'

वे बोले—'पंडित राजराजेश्वर द्राविडके हाथमें है। उन्होने हमारा नाम काट दिया। उनसे कहकर फिरसे हमारा नाम पंडित-सभामें लिखवा दो !' पंडित-सभामें नाम रहनेसे बड़ा फ़ायदा होता है। जितनी पंडितसभाएँ होती है, उसमें जो दक्षिणा मिलती है, वह पंडितोंको भी मिलती है। पंडितसभामें नाम न हो तो दक्षिणा नहीं मिलती। बड़े-बड़े राजा लोग, सेठ लोग वहाँ आकर पंडितोंको दक्षिणा देते हैं !

मैंने पंडितजीसे पूछा—'पंडितजी ! आखिर ऐसा किया क्या कि पंडित-सभामेंसे आपका नाम कट गया ?

वे बोले—'वेदान्तियोंका शास्त्रार्थ हो रहा था। 'राजराजेश्वर द्राविड शास्त्री बैठे थे। मैंने बोलना शुरू कर दिया कि जैसे घड़ेको जाननेवाला घड़ेसे न्यारा होता है, वैसे ब्रह्मको जाननेवाला भी ब्रह्मसे न्यारा होता है। उन्होंने एक बार दो बार हमको समझाया जरूर कि 'देखो, तुम व्याकरणके पंडित हो, यह विषय वेदान्तका है। इसलिए तुम कोलाहल मत करो ? लेकिन मैं बोलता ही रहा। सो, नाराज होकर मेरा नाम ही काट दिया पंडितसभामें-से।'

अब आप सोचो! यह बात तो आप रोज ही पढ़ते हो कि देहका द्रष्टा देहसे न्यारा होता है। घड़ेका द्रष्टा घड़ेसे न्यारा होता है, तो ब्रह्मको जो देखेगा, ब्रह्मको जो जानेगा, वह ब्रह्मसे न्यारा होगा कि ब्रह्मसे एक होगा ?

यह बात भी जो दुनियादारीकी बातोंमें ही लगे रहते हैं उनकी समझमें नहीं आवेगी। किसीको जानकर, किसीसे न्यारा कब हो सकता है ? जब जो चीज जानी जाय वह दूसरी जगह होवे और जाननेवाला दूसरी जगह होवे।

रूमाल हाथमें है और आवाज (शब्द) मुँहमें हैं। तो रूमाल अलग है और आवाज अलग है। पैदा हुआ हो कोई दूसरे समयमें और जान रहा हो कोई दूसरे समयमें, तो जाननेवाला अलग होता है। चीज कोई दूसरी है और जाननेवाला दूसरा हो, तो जाननेवाला अलग होगा। लेकिन आप सोचो कि जहाँ आप परमात्माको जान रहे हैं, जाननेकी वृत्ति जहाँ है, उसी समय उसी जगह और उसी ज्ञानके रूपमें परमात्मा है कि नहीं ?

जो मुझसे अलग होगा, वह ब्रह्म ही नहीं होगा। यह चुनौती है ब्रह्मके लिए, क्योंकि वह तो 'मैं-कम ब्रह्म' हुआ, माने ब्रह्म पूर्ण है, परन्तु मुझको छोड़कर। तो, मुझको छोड़कर ब्रह्म होगा माने ब्रह्ममें मेरी कमी पड़ जायगी। वह ब्रह्म अधूरा हो जायगा। तब मेरा स्वरूप वह नहीं होगा।

बोले—'मैं ब्रह्म नहीं, ब्रह्म मैं नहीं!' उलटी बात हो जायगी। अगर ब्रह्म मैं नहीं होगा, तो मुझसे जाने जानेवाले घड़ेकी तरह जाने, जानेवाला ब्रह्म जड़ हो जायगा। अगर ब्रह्म मैं नहीं होगा, तो मैं विनाशी हो जायगा। क्षणिक हो जायगा।

जबतक मैं ब्रह्म नहीं होगा, तबतक मैं पूर्ण नहीं होगा, अविनाशी नहीं होगा। अद्वितीय नहीं होगा। जबतक मैं ब्रह्म नहीं होगा, तबतक ब्रह्म अद्वितीय नहीं होगा, पूर्ण नहीं होगा, चैतन्य नहीं होगा, अविनाशी नहीं होगा। दोनों एक होकर ही सुरक्षित रह सकते हैं।

मैं और ब्रह्म एक है तो अद्वितीय है। तब ब्रह्म दृश्य नहीं है, द्रष्टाका आत्मा स्वरूप है, इसलिए उसमें जन्म-मरण नहीं है, तब वह अन्य नहीं है, तब वह जड़ नहीं है, दृश्य नहीं है। दूर नहीं है, उसके मिलनेमें देरी नहीं है। मिला-मिलाया है।

वेदान्तका यह दावा है कि वेदान्तके सिवाय दूसरे किसी भी प्रमाणसे, युक्तिसे, बुद्धिसे, स्थितिसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। वेदान्त धर्मका फल नहीं है, उपासनाका बच्चा नहीं है।

धर्मका फल क्या है? स्वर्ग। धर्म करोगे तो स्वर्ग मिलेगा। जितना धर्म करोगे, उतना स्वर्ग मिलेगा। जितना पैसा होटेलमें जमा करो, उतने दिन होटेलमें खाओ! जैसे बड़े-बड़े होटेल हैं वैसे स्वर्ग है। वहाँ बड़ा बढ़िया बगीचा बना हुआ है—'नंदनवन' 'परिव्राज; 'चैत्तरथ; उपवन हैं 'निःश्रेयस्!' वहाँ मेनका, रंभा, विप्रचित्ती—ये सब अप्सराएँ हैं। वहाँ पीनेके लिए अमृत है। वहाँ मनमें जो बात आवे कि 'यह चीज हमें मिले' तो बटन नहीं दबाना पड़ता मनमें आते ही वहाँ वह चीज आ जाती है। विमान पर घूम लो, अप्सराके साथ रह लो, अमृत पी लो, पार्कमें रह लो। जितना सुन्दर चाहे अपना शरीर बना लो। लेकिन जब पैसा खत्म तब? निकलो यहाँसे! स्वर्ग तो एक ऐसा होटेल है, जो पैसेसे मिलता है। ऐसा समझो कि जो आदमी जितना धर्म करेगा, उसके फलस्वरूप स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

उपासना प्रेम और एकाग्रताके द्वारा परमात्माको अपने पेटमें ले लेती है। गर्भस्थ हो जाता है परमात्मा। धर्मका फल विनाशी होता है और उपासना-का फल भावसे परिच्छेद होता है। भावसे परिच्छेद अर्थात् जबतक भाव रहेगा, तबतक उस फलकी अनुभूति होगी। अगर नींद आगयी तो उपासनाके भावकी अनुभूति नहीं होगी। प्रलयमें भी नहीं होगी।

योगकी स्थिति? कहो कि स्थितिका स्वामी है ब्रह्म। प्राणायाम करके, प्रत्याहार करके, ध्यान और धारणा करके अपनी वृत्तिको अन्तर्मुख किया, अब सारी वृत्तियाँ एकमें एक जाकर शान्त हो गयी और साक्षी अलग द्रष्टा होकर उस निरोधवृत्तिको देख रहा है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (योगदर्शन १.३)

इस स्थितिका स्वामी, इस स्थितिका आश्रय, इस स्थितिका द्रष्टा पर-मात्मा नहीं है। वह तो अधूरा है। एक चित्तकी समाधिको ही जो अपनी समाधि मानकर बैठा है, उसमें पूर्णता कहाँ हँसी करने लायक भी नहीं है।

कोई योगी हो तो चिढ़ना मत भाई! प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान द्वारा लगायी हुई उस एक चित्तकी समाधिका द्रष्टा परमात्मा नहीं है। परमात्मा वह होता है जो सर्वका द्रष्टा, सर्व चित्तका द्रष्टा है। सर्व चित्तका आश्रय है, सर्व चित्तका अधिष्ठान है, सर्व जिसमें कल्पित है, सर्व जिसमें है ही नहीं। उस अद्वितीय तत्त्वका नाम परमात्मा है।

श्रीअच्युतमुनिजी महाराज गंगातटपर 'प्रस्थानत्रयी' पढ़ाते थे। प्रस्थानत्रयी माने उपनिषद्, गीता, और ब्रह्मसूत्र-क्रम ऐसा है, क्योंकि गीतार्थका निर्णय भी ब्रह्मसूत्रमें है। 'प्रस्थानत्रयी' का स्वाध्याय हो रहा था।

अच्युतमुनिजीको गंगाकिनारेके लोग बड़ा ज्ञानी मानते थे, सो महाराज, मालूम पड़ा कि एक आया है योगी और पाँच-छः मीलपर, वहाँसे दूर ठहरा है। अच्युतमुनिजी अनूपशहरमें थे और वह योगी आकर अवन्ती देवीमें ठहर गया। वहाँसे पाँच छः मील ऊपर है।

लोगोंको यह मालूम हो गया कि किसीको कोई रोग हो तो वह योगी रोग दूर कर देता है। किसी सत्संगीके सिरमें दर्द था। उसने कहा 'जरा हम परीक्षा कर आवें।' वह गया। उन्होंने जरा आँख टेढ़ी करके उसकी तरफ देखा सिरपर हाथ रख दिया। उसके सिरका दर्द दूर होगया। वह आया सत्संगियोंमें। चर्चा चली।

अब वेदान्ती लोग जो थे, वे गये उनका दर्शन करने। वे बोले—'महाराज! यह विद्या हमको सिखा दो।

योगी बोले—'वेदान्त पढ़ना छोड़ो। अब आओ, हमारे पास प्राणायाम करो, प्रत्याहार करो।' सब लोग उधर चले गये। एक नया आदमी उस दिन अच्युतमुनिजीके पास आया था। अच्युतमुनिजी अकेले कुर्सीपर बैठे थे। सूर्यकी ओर देख रहे थे। उसने पूछा—'क्या कर रहे हैं महाराजजी?

अच्युतमुनिजी बोले—'सूर्यावच्छिन्न चैतन्य और नेत्रावच्छिन्न चैतन्यकी एकताका चिन्तन कर रहा हूँ।

'महाराज! आजकल स्वाध्याय नहीं होता है क्या? सत्संग नहीं होता है क्या?

बोले—'आजकल सब लोग सिरका दर्द दूर करनेको गये हैं। अविद्याका दर्द दूर करनेकी वासना कम हो गयी है।

हमारे भी ऐसे कई भक्त हैं जो पीछे छूट गये हैं। एक आदमी हमारा बड़ा भक्त हो गया था, जब हम 'गीताप्रेम'में थे वह हमारे पास रहता था।

हम लिखवाते थे, वह लिखता था। अच्छा सत्संगी था। उसे कई अनुभव भी बहुत अच्छे हुए थे।

एक दिन आकर बैठा! बोला—'पंडितजी!' (उन दिनों हम पंडितजी ही थे) 'सिरमें बहुत दर्द है। आज मैं लिख नहीं सकता।' 'स्वामी सनातन-देवजी' बैठे थे। उस समय मुनिलालजी उनका नाम था।

मैंने कहा—'इसके सिरका दर्द कोई ले, तो मैं अभी दूर कर सकता हूँ।'

'स्वामी सनातनदेवजी'ने कहा—'मैं लेता हूँ, दूर करो।'

मैंने हाथ 'यों' करके जो 'ऐसा' किया तो वह तो था हमारा बड़ा विश्वासी, भक्त था उसको खट्टसे ऐसा लगा कि 'हमारे सिरका दर्द दूर हो गया' और 'सनातनदेवजी'को लगा कि 'हमारे सिरमें दर्द आगया।' वे बोले—'बाबा! हमको नहीं चाहिए। हम तो समझते थे कि ऐसा हो ही नहीं सकता। लो, अब तो ऐसा हो गया। अब क्या किया जाय?' दो दिन सिरदर्द भोगके रह गये। ऐसे एक दो बार और हुआ।

संकल्प और श्रद्धा—ये दो जब मिलते हैं तब इस तरहकी करामात होती है। महात्मा लोग इसे दो कौड़ीकी भी चीज नहीं समझते हैं। जो लोग जिन्दगीभर वेदान्त सुनते हैं और किसीने कहा कि 'आओ, हम तुम्हारा ध्यान लगवा दें!' तो दो पैसेका फूल और चन्दन लेकर दौड़े कि हम अपना ध्यान लगवा कर आते हैं।

इसका मतलब यह होता है कि उनकी न तो अपने साधनमें श्रद्धा है, न मन्त्रमें श्रद्धा है, न देवतामें श्रद्धा है और न तो गुरुमें श्रद्धा है। वह जो लोग सस्तेमें चमत्कार देखनेके लिए दौड़ते हैं, वे वेदान्तके अधिकारी नहीं हैं। ये सब बहुत छोटी, बहुत नीचे दर्जेकी चीजें हैं। ये तो सिद्धियोंमें भी नहीं हैं। माने योगदर्शनकी सिद्धियोंकी कक्षा भी इतनी नीची नहीं है।

तीन-चार अरब मनुष्योंसे एक मनुष्यके चित्तकी निरोधदशाको अपनी श्रेष्ठताको हेतु मानकर जो व्यक्ति बैठा हुआ है, वह कितना परिच्छिन्नका अभिमानी हुआ, यह आप सोच सकते हैं!

कहाँ अद्वितीय ब्रह्म और कहाँ यह एक परिच्छिन्न चित्तकी समाधिका अभिमान कि—'हमारा ध्यान लगता है! हमारी समाधि लगती है!' ये सब बातें वेदान्तमें नहीं चलती हैं। वेदान्त यह दावा करता है कि जबतक परिच्छिन्नताका परित्याग करके अपनेको परिच्छिन्नताके अभावका अधिष्ठान,

और परिच्छिन्नताके अभावका साक्षी अनुभव नहीं करोगे, तबतक ब्रह्मात्मैक्य बोध नहीं होगा।

जिसमें परिच्छिन्नताका अभाव, उसीमें प्रतीतिमात्र परिच्छिन्नता ! माने परिच्छिन्नता मिथ्या। तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्तिके द्वारा जबतक अपने अभेदको नहीं जानोगे, तबतक अगर तुमको मालूम पड़े कि हमको परमात्मा मिल गया, तो वह तुम्हारा भ्रम है। वह असली परमात्मा नहीं है, वह नकली परमात्मा है।

'न तु तद् द्वितीयमस्ति।' द्वैतका अपवाद कर दिया। द्वैत है ही नहीं। यदि द्वैत सच्चा होता तो श्रुति कैसे कहती—'न तु तद् द्वितीयमस्ति।' यह कहो कि हम इन्द्रियके द्वारा अनुभव करेंगे कि द्वैत नहीं है, मनसे अनुभव करेंगे कि द्वैत नहीं है, युक्तिसे सोचेंगे कि द्वैत नहीं है तो इन्द्रिय, मन, बुद्धिका द्वैत तो पहले ही सिद्ध हो गया, उनसे द्वैताभाव अनुभव नहीं हो सकता। जो इन्द्रियोंका द्रष्टा है, जो मनका द्रष्टा है, जो युक्तियोंका द्रष्टा है, जो बुद्धियोंका द्रष्टा है, वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न आत्मा ब्रह्म ही है।

'द्वैत' शब्दका अर्थ माध्वसंप्रदायमें 'संदिग्ध' किया जाता है और अद्वैत माने 'असंदिग्ध।' द्वैत ही मानो अंग्रेजीका 'डाउट' (doubt) हो गया। काव्यमें तो द्वैत शब्दका अर्थ ऐसा भी आता है कि 'जिसमें दो न हो, सो द्वैत।' 'किरातार्जुनीय'के प्रारम्भमें मंगलाचरणका श्लोक है—

युधिष्ठिरं द्वैतवनं वनेचरः
श्रियः कुरूणां अधिपत्य पालिनी।

अर्थात्—युधिष्ठिर द्वैतवनमें रहते थे। इसमें 'द्वैत' शब्दका प्रयोग है। 'द्वैत' शब्दका अर्थ टीकाकार मल्लीनाथने किया है—द्वे दूते निष्क्रान्ते-निर्गते यस्मात् तद् द्वीतं। द्वीतमेव द्वैतम्। जिसमें दो नहीं हैं, उसका नाम 'द्वैत'। जिसमें राग-द्वेष नहीं हैं, उसका नाम 'द्वैतवन।' ऐसी जगह रहते थे अजातशत्रु युधिष्ठिर। इस प्रकार द्वैतवनका अर्थ भी 'अद्वैतवन' ही हो गया।

द्वितीयाद्वै भयं भवति।

कोई दूसरा होगा तो भय जरूर होगा। यदि ऐसे कमरेमें रहते हैं, जहाँ कोई और होवे, तो संकोच जरूर होगा। दुनियामें क्या कोई ऐसा व्यक्ति है अपने जीवनमें जिससे आप अपने दिलकी सब बात कह सकते हो ? सीताराम ! पत्नीकी बात माँसे और माँकी बात पत्नीसे नहीं कहनी होती है। माँकी सब बात आप अपने पिताको नहीं बता सकते हो। स्वयं अपना आपा जितना

विश्वसनीय है जितना आस्थेय है, क्या दुनियामें कोई अन्य विश्वसनीय और आस्थेय है ? फिर आप परमात्मापर कहाँतक अपनी आस्था बढ़ाना चाहते हो ?

ऐसा देखते हैं कि दुनियामें जो आज शत्रु है, कल मित्र हो जाता है और जो आज मित्र है, कल शत्रु हो जाता है। जो आज खाने-पीनेमें अच्छा लगता है, वह कल अच्छा नहीं लगता। हमको बचपनमें खीर बहुत अच्छी लगती थी। दस वर्षकी उम्र होते-होते ऐसी ग्लानि हुई कि खीरमें जो चावल होते थे, वे कीड़े मालूम पड़ें ! उसके बाद २०-२५ वर्षतक खीर देखकर वमन आवे।

दुनिया बदलनेवाली है। कोई आप अपने साधनके वेगसे जो समाधि सिद्ध करोगे, वह वेगमें शिथिलता आनेपर टूट जायगी। व्यायाम करके जो बल पैदा करोगे, वह बुढापामें टूट जायगा। मनको अपने बलपर पक्का करोगे, वह ढीला पड़ जायगा। जो तर्क, जो युक्ति आज आपको सच्ची मालूम पड़ती है, वह वुढ़ापेमें नहीं मालूम पड़ेगी, जब आपका मन शिथिल पड़ जायगा।

संसारमें आँखके द्वारा पूर्णता देखी नहीं जा सकती, जानो नहीं जा सकती। जीभके द्वारा पूर्णता चाटी नहीं जा सकती। नाकके द्वारा पूर्णता सूँघी नहीं जा सकतो। त्वचाके द्वारा पूर्णता छूई नहीं जा सकती। वहाँ द्वैत है।

मनसे पूर्णताका ध्यान भी नहीं किया जा सकता; वह कल्पित है। पूर्णता इन्द्रियोंके द्वारा अनुभूत न होनेके कारण बुद्धिसे सोची भी नहीं जा सकती, क्योंकि बुद्धि उन्हीं बातोंके बारेमें सोचती है, जिनका प्रत्यक्ष होता है, जिनका संस्कार होता है, जो अनुभवका विषय होता है।

बिलकुल अश्रुत-अज्ञात पदार्थके सम्बन्धमें बुद्धिकी गति नहीं है। जो बुद्धिका द्रष्टा है, वह बुद्धिकी सुषुप्तिका भी द्रष्टा है, बुद्धिकी समाधिका भी द्रष्टा है, देश-काल-वस्तुकी कल्पनाका भी द्रष्टा और वह द्रष्टा परमात्मा है।

जबतक दूसरा होगा, वह तुम्हें जेलखानेमें डाल सकता है। दूसरा है, तो वह तुम्हारा शत्रु भी हो सकता है, तुमको खा सकता है। इसलिए तुम्हारे परमानन्दरूप प्रयोजनकी प्राप्ति, सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति, द्वैत मिटाये बिना नहीं हो सकती।

उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति।

जो थोड़ा भी फर्क रखता है अन्तर रखता है, उसे भय होता है। एक बात तुमसे पूछता हूँ—'परमात्माका ज्ञान सच्चा कि तुम्हारा ज्ञान सच्चा ?'

अभिमान तो कहता है कि परमात्माके बारेमें भी हम जो कहते हैं, वही सच्चा। जरा-सी आँख बन्द हो गयी पाँच-दस मिनट और मनकी गति अच्छी हो गयी तो मानते हैं, हम लूट लाये ब्रह्मको। ऐसे नहीं ब्रह्म लूटा जाता है। जबतक आत्मा और ब्रह्ममें किंचित् भी अन्तर रहेगा—उदरमन्तरं कुरुते—तबतक ब्रह्मानन्द नहीं हो सकता। आखिर दो आदमीमें फर्क क्यों है ? पेटकी वजहसे। मनुष्य औदरिक है। कौन 'वादी' है ? यह समाजवादी है, साम्यवादी है, साम्यवादी है कि पूँजीवादी है ?

मनुष्य पेटवादी है। अपने भोगके कारण, भोग सुखके लिए वह परमात्माका तिरस्कार करके बैठा है। ज्ञान किसका ठीक ? परमात्माका ज्ञान बिलकुल सच्चा ! यदि परमात्माका ज्ञान सच्चा नहीं, तो परमात्मा ही नहीं। परमात्माका ज्ञान सच्चा, तो हमारा ज्ञान उसके ज्ञानसे मिल जाना चाहिए न ? जबतक हमारा ज्ञान नहीं मिलेगा, तबतक हमारा ज्ञान झूठा।

यह पूरब है, यह पश्चिम है, यह दक्षिण है, यह उत्तर है—तुमको यह ज्ञान हो रहा है। क्या परमात्माको भी ऐसा ही मालूम पड़ता है ? जब परमात्मा शरीरधारी होकर एक जगह बैठेगा, तब उसे पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण मालूम पड़ेगा।

यदि परमात्मा अपने स्वरूपमें है, तो उसमें पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे हो ही नहीं सकता। पूर्णमें यह दिशा-भेद कहाँसे होगा ? तो, तुम्हें यह दिक् भ्रान्ति हो रही है। परमात्माके ज्ञानसे बिलकुल विरुद्ध ही तुम पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण अपने देहाभिमानके कारण, इन्द्रियोंके कारण सच मान रहे हो !

भूत-भविष्य-वर्तमान कहाँ है ? यहाँका जो दिन-रात है, पृथिवीकी और सूर्यकी जो गति है, घड़ीकी सूई घूमती है, उसके कारण भूत-भविष्य-वर्तमान मनमें होता है। परमात्माके अखण्ड स्वरूपमें भूत भविष्य-वर्तमान कहाँ है ? परमात्माके ज्ञानमें भूत-भविष्य-वर्तमान नहीं है और तुम्हारे ज्ञानमें है तो तुम्हारा ज्ञान भ्रान्त है।

परमात्माके ज्ञानमें अपना-पराया नहीं है और तुम्हारे ज्ञानमें अपना-पराया है तो तुम्हारा ज्ञान भ्रान्त है। जबतक परमात्माके ज्ञानसे तुम्हारा ज्ञान, परमात्माके आनन्दसे तुम्हारा आनन्द, परमात्माकी सत्तासे तुम्हारी सत्ता, परमात्माकी अद्वितीयतासे तुम्हारी अद्वितीयता एक नहीं हो जाती, तबतक ज्ञान नहीं है, भ्रान्ति है।

जो थोड़ा भी अन्तर परमात्मा और अपने बीचमें ले आवेगा, उसको भेद-भेद होगा। भेद बढ़ानेके लिए होता है। भेदमें अनेकको बतानेके लिए विज्ञान होता है और अनेकमें एकको बतानेके लिए ज्ञान होता है।

वेदान्त ज्ञान है। विज्ञान है शिल्पकला। एक सीमेंटको गीला करके उसमें कितना बेलबूटा बना दें भीतपर—यह विज्ञान है। एक चीजमें दूसरी चीज मिलाकर उसमें कितने रंग बना दें—यह विज्ञान है। एक लोहेकी कितनी चीज बना दें, एक एल्यूमोनियमकी कितनी चीज बना दें—इसका नाम विज्ञान है। यह विशेष ज्ञानको बढ़ानेवाला है।

ज्ञान वह है जो रागद्वेषको मिटानेके लिए, पाप-पुण्यको मिटानेके लिए, सुखीपने-दुःखीपनेको मिटानेके लिए, स्वातन्त्र्य-पारतंत्र्यके भेदको चौपट करनेके लिए एक-अद्वितीय आत्माके साथ एक करनेके लिए है। नहीं तो ?

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

जड़ अलग है, चेतन अलग है, आत्मा अलग है, परमात्मा अलग है—इनके भेदका कहीं ठिकाना है ? जड़-जड़में भेद है, जीव-जीवमें भेद है, जीव-जड़में भेद है, जीव-ईश्वरमें भेद है, ईश्वर-जड़में भेद है। भेद-पर-भेद, भेद-पर-भेद ! वेदान्त-ज्ञान लौकिक रीतिसे ज्ञान-विज्ञानको अस्वीकार नहीं करता। जब वह शरीरकी इन्द्रियोंके भेदको स्वीकार करता है, मनके भेद ज्ञान स्वीकार करता है, विषयोंके भेदको स्वीकार करता है तो विज्ञानको अस्वीकार क्यों करेगा ? ज्ञान व्यवहारको स्वीकार करता है। ये सब व्यावहारिक भेद हैं। परन्तु यह राग-द्वेष करनेके लिए नहीं है, पापी-पुण्यात्मा करनेके लिए नहीं है, स्वर्ग-नरकमें ले जानेके लिए नहीं है, जन्म-मृत्युके लिए नहीं है।

हवाई-जहाजका मोटरसे कोई द्वेष है ? नहीं। मोटर धरतीपर चलनेके लिए है, हवाई-जहाज आसमानमें उड़नेके लिए है। दोनोंमें कोई द्वेष थोड़े ही है ? यह व्यावहारिक ज्ञान व्यवहारके लिए है। परमार्थ ज्ञान सबके भीतर जो पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुखीपना-दुःखीपना, स्वर्ग-नरक, संसारीपना, परिच्छिन्न-पना—जो मानस-दुःखोंके कारण हैं, उन दुःखोंको मिटानेके लिए है।

+ + +

यह बात कहते हैं कि आत्मा और जीव, आत्मा और जगत्, आत्मा और ईश्वर—ये सब शब्द ही अलग-अलग होते हैं, उनका अर्थ जुदा-जुदा नहीं होता। 'जीवात्मनः अनन्यत्वम्' माने अन्य नहीं है। आत्मासे जीव अनन्य है, आत्मासे

ईश्वर अनन्य है, आत्मासे जगत् अनन्य है। अनन्य है अर्थात् जुदा नहीं है, खुद-ही-खुद है।

न खुदके बिना खुदा है, न खुदके बिना खुदी है। खुदा और खुदी दोनोंके मूलमें खुद बैठा हुआ है। किसको मालूम पड़े कि जीव है? किसको मालूम पड़े कि ईश्वर है? किसको मालूम पड़े कि जगत् है?

'योगवासिष्ठ'में एक जगह आता है कि 'गुरुसे बड़ा कौन है?' 'जिसने यह निश्चय किया कि गुरुमें यह-यह योग्यता है, और यह गुरु बनाने लायक है' गुरुकी योग्यताओंकी जाँच-पड़ताल करके उनके गुरु होनेके योग्य होनेका जिसने निश्चय किया, वह गुरुसे भी बड़ा है।

गुरोर्योग्यत्वनिर्णेता त्वम् ततोऽसि गुरोर्गुरुः।

गुरुकी योग्यताका निर्णय तुमने किया, इसलिए गुरुके भी गुरु तुम हो।

ईश्वरस्ययोग्यत्वनिर्णेता त्वम् ततोऽसि महेश्वरः।

ईश्वर है कि नहीं, इसका निर्णय किसने किया? जिसकी एक नजरमें ईश्वर समा गया, देख लिया—'ईश्वर ऐसा, ईश्वर ऐसा'! वहाँ तो ईश्वर छोटा हो गया। नजर बड़ी हो गयी। तो, ईश्वरके अस्तित्वका जिसने निर्णय किया, वह ईश्वरसे भी बड़ा है। ऐसा 'योगवासिष्ठ'में आता है।

अनन्यत्वं अभेदेन प्रशस्यते—प्रशंसाका भी अभिप्राय होता है—

राजानः यं प्रशंसन्ति, यं प्रशंसन्ति पण्डिताः।
साधवः यं प्रशंसन्ति, स पार्थ पुरुषोत्तमः॥

अश्वपति, राजा जनक आदि जिसकी प्रशंसा करें, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ आदि विद्वान् जिसकी प्रशंसा करें, और शुकदेव, वामदेव, दत्तात्रेय आदि अवधूत जिसकी प्रशंसा करें, माने लौकिक धन, विद्याका धन और त्यागका धन—तीनों अपने धनको जिसके आश्रित समझें, वह बड़ी चीज है।

एक बात आप ध्यानमें रखिये। जब आपको भूख-प्यास लगती है, तब आप स्वयं ही तो खाते-पीते हैं न! दूसरा आपके लिए ग्रहण नहीं करेगा और त्याग करना हो, टट्टी जाना हो तो? दूसरे को कह देंगे क्या कि तुम हमारे बदले हो आओ? त्याग आपके बदले दूसरा कोई नहीं करेगा, आपको ही करना पड़ेगा। आँखसे देखनेकी चीज है तो आपके बदले दूसरा कोई नहीं देखेगा। आपको ही देखना पड़ेगा। इसी प्रकार 'आत्मा ब्रह्म है,' यह ज्ञान आपके बदले न दूसरा कर सकता, न करा सकता है। आपको स्वयं ही यह

ज्ञान करना पड़ेगा। आपके सिवाय दूसरा कोई आत्मा-ब्रह्मकी एकता देखकर आवे और आप 'हर्रे लगे न फिटकरी रंग चोखा आवे'—घर बैठे ज्ञानी हो जाना चाहें—ऐसा नहीं हो सकता। स्वयंको इसके लिए प्रयास करना पड़ता है।

शास्त्र जिस वस्तुकी प्रशंसा करता है, उसको ग्रहण करना चाहिए और जिस वस्तुकी निन्दा करता है, उसका परित्याग करना चाहिए। आत्मा और ब्रह्मकी एकताके ज्ञानकी शास्त्रमें बड़ी प्रशंसा है। और नानात्वदर्शनकी-भेद-दर्शनकी बड़ी निन्दा है। इसलिए नानात्वदर्शन हेय है, त्याज्य है। एकत्वदर्शन ग्राह्य है, उपादेय है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ ईश० ७

जानकार पुरुष यदि जान लेता है कि यह सब कुछ दीखनेवाला अपना आत्मा ही है—यह शीशा ही है जो नगराकार दीख रहा है, यह ज्ञान ही है जो प्रपंचाकार दीख रहा है—ज्ञानसे जुदा, भानसे जुदा कोई प्रपञ्च नहीं है और भान अपना आपा है, तो उस एकत्वदर्शीको भला शोक-मोह कहाँ हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

दूसरेको दूसरेका भान हो रहा है, यह भी हमको ही भान हो रहा है। ईश्वरको संसार मालूम पड़ता है, यह भी हमको ही मालूम पड़ रहा है। ये-ये आविष्कार हो गये, यह भी हमको ही मालूम पड़ रहा है।

एकत्वमनुपश्यतः—नानात्वदर्शन अज्ञानीको भी होता है और ज्ञानीको भी होता है। लेकिन अज्ञानी नानात्वदर्शनको सच्चा समझता है और ज्ञानी नानात्वदर्शनको भ्रान्त समझता है।

ऐसा नहीं समझना कि जिसको तुम ज्ञानी मानते हो, उसको अपनी आँखसे लाल-पीला-काला-हरा मालूम नहीं पड़ता। ऐसा नहीं समझना कि उसको भैरवी और केदाराके आलापमें भेद नहीं मालूम पड़ता, उसको कोयलकी कुहू-कुहूमें और कौएकी काँव-काँवमें फर्क नहीं मालूम पड़ता। उसको भी मालूम पड़ता है। परन्तु वह जानता है कि यह बस मालूम पड़ता है। उसको भी करेला कड़वा और शक्कर मीठी लगती है। उसको भी यह कमलका इत्र है, यह गुलाबका इत्र है, यह मिट्टीका इत्र है, यह खसका इत्र है, यह मालूम पड़ता है। पर वह जानता है कि 'यह मालूम पड़ता है। मालूम पड़ना—यह ज्ञानसे पृथक् नहीं होता।

भेदको वेदान्तमें 'विशेष' बोलते हैं। भेद और विशेष—ये दोनों शब्द पर्याय हैं। जब ब्रह्मको निर्विशेष बोलते हैं, तो उसका अर्थ वेदान्तमें 'निर्भेद' ही होता है।

आप देखो, व्याकरणके हिसाबसे भिन्न क्या है? जैसे एक घड़ेको हथौड़ेसे फोड़ा तो घड़ा 'भिन्न' हो गया, माने फूट गया। एक तलवारसे लकड़ीको काट दिया, तो वह लकड़ी 'छिन्न' हो गया।

भिन्न माने भेदन, फोड़ना। छिन्न माने छेदन, कट जाना। परन्तु घड़ फूटनेपर माटीके सिवाय कुछ और हो गया क्या? बिलकुल नहीं। वेदान्तमें भिन्नका अर्थ होता है—'विलक्षण'। विलक्षण माने लक्षणकी भिन्नता। वस्तु एक होनेपर भी लक्षणकी विविधता। उदाहरणके लिए कंगनका लक्षण जुदा है और कुण्डलका लक्षण जुदा है। हस्ताभरण होना कंगनका लक्षण है और कर्णाभरण होना कुण्डलका लक्षण है। मत्स्यादि आकारविशिष्ट होकर कुण्डलका लक्षण कर्णाभरण होना है। हृदयाभरण होना हारका लक्षण है।

हारका लक्षण जुदा, कुण्डलका लक्षण जुदा, कंगनका लक्षण जुदा। लेकिन ये सब लक्षण जुदा-जुदा होनेपर भी क्या सोनेमें भेद हो गया? एक ही स्वर्णको लक्षण-भेदसे हार, कंगन, कुण्डल बोलते हैं। परन्तु हैं तो सब स्वर्ण ही। तो कुण्डल, हार और कंगनमें लक्षणगत, प्रयोजनगत, नामगत, रूपगत और आकारगत भेद होनेपर भी जैसे स्वर्णतामें किसी प्रकारका भेद नहीं है, इसी प्रकार स्त्रीभेद, पुरुषभेद, पशुभेद, पक्षीभेद, जड़भेद, चरभेद, अचरभेद—ये सारे-के-सारे भेद जो प्रपंचमें मालूम पड़ते हैं, ये विशेष हैं—ये लक्षण भेद हैं। लक्ष्यभेद नहीं हैं।

जैसे हार-कुण्डल-कटकका अर्थ वस्तुतः स्वर्ण ही है, इसी प्रकार स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, चर-अचर, देवता-दानव जितने भी परस्पर भिन्न-विशेष दिखायी पड़ते हैं, वे विशेष दिखायी पड़नेपर भी अन्ततोगत्वा तत्त्वदृष्टिसे ब्रह्म ही हैं, आत्मा ही हैं।

दृश्यसे भिन्न है द्रष्टा—इसका अभिप्राय क्या होता है? दृश्यका लक्षण है, द्रष्टाके सापेक्ष भासना। द्रष्टाका लक्षण है, दृश्यसे निरपेक्ष भासना। द्रष्टा है—दृश्य और दृश्याभाव दोनोंमें भासता है, लेकिन द्रष्टा और दृश्यके लक्षण भिन्न, भिन्न होनेपर भी द्रष्टा भी ब्रह्म ही है, दृश्य भी ब्रह्म ही है। ब्रह्मातिरिक्त न द्रष्टा है, न दृश्य है, न दृश्याभाव है।

पृथिवीसे भिन्न जल है, लेकिन जलसे भिन्न पृथिवी नहीं है। जलसे भिन्न अग्नि है, लेकिन अग्निसे भिन्न जल नहीं है। अग्निसे वायु भिन्न है,

लेकिन वायुसे भिन्न अग्नि नहीं है। वायुसे आकाश भिन्न है, लेकिन आकाशसे भिन्न वायु नहीं है। आकाशसे भिन्न मन है, लेकिन मनसे भिन्न आकाश नहीं है। मनसे भिन्न अहंकार है, लेकिन अहंकारसे भिन्न मन नहीं है। अहंकारसे भिन्न महत्तत्त्व है, लेकिन महत्तत्त्वसे भिन्न अहंकार नहीं है। महत्तत्त्वसे अव्याकृत बीजात्मा भूत सूक्ष्म पृथक् है लेकिन अव्याकृत बीजात्मा सूक्ष्म भूतसे महत्तत्त्व पृथक् नहीं है। अव्याकृतात्मासे आत्मदेव पृथक् है, लेकिन आत्मदेवसे अव्याकृत पृथक् नहीं है। यह कार्यकी कारणमें लयकी प्रक्रिया है।

असलमें यह कार्य-कारणभाव बिलकुल कल्पित है। परमात्मामें यह असली नहीं है, तो भी समझनेके लिए यह है हो।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ (ईश० ६)

आत्मामें सब और सबमें आत्मा—इसका फल होगा कि विजुगुप्सा मिट जायगी, किसीके प्रति निन्दाका भाव नहीं रहेगा, किसीके प्रति ग्लानिका भाव नहीं रहेगा। किसीके प्रति राग-द्वेषका भाव नहीं रहेगा, सब अपना आत्मा इतना स्वातन्त्र्य, इतना समत्व। इतना एकत्व इस आत्मदर्शनमें है। इसकी प्रशंसा आती है, शास्त्रमें। इसीलिए बोलते हैं—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति। (केन० २.५; बृहद० ४.४.१४)

आप देख लो! तैयारी न हो, तो मत आना इस रास्तेपर। यह वेदान्त ज्ञान हो जायगा तो अपना बेटा और दूसरेका बेटा बराबर हो जायगा। अपनी सम्पत्ति और दूसरेकी सम्पत्ति बराबर हो जायगी। बुद्धिमें जो रागद्वेष है, वह मिट जायगा। अगर तुम्हें किसीसे दोस्ती जोड़नी है और किसीसे दुश्मनी करनी हो तो इस रास्तेपर मत आना।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः।

सब भूतोंके अन्दर वही एक है। उसको जानकर प्रेत्यास्माल्लोकाद-मृता भवन्ति। अज्ञानी जनोंकी दृष्टिसे लौकिक दृष्टिसे तुम मर जाओगे, माने ऊपर हो जाओगे, परन्तु अमृत हो जाओगे! हाँ इस लोकके लिए तुम मर जाओगे। बेटा कहेगा कि बाप हमारा पक्ष नहीं करता है; बाप कहेगा कि बेटा हमारी सेवा नहीं करता है। प्रान्तवादी कहेंगे—'इनके अन्दर प्रान्तीयता नहीं है, उनके गुटमें तुम शामिल नहीं हो सकोगे। राष्ट्रवादी कहेंगे—'अरे, यह तो खयाली दुनियामें चला गया। मानवतावादी कहेगा; 'लो, यह मानवको भी

नहीं मानता है। ब्रह्मांडवादी कहेंगे—'अरे! यह क्या परमार्थ है? इसकी दृष्टिमें यह क्या अव्यावहारिकता आगयी? परन्तु वेदान्त-दर्शनसे तुम अमरत्वमें जग जाओगे, अनन्तकोटि ब्रह्मांडमें एकत्व, आत्माका दर्शन होगा।

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ (कठ० १.२.२२)

जो सड़ जाता है, जो गल जाता है, जो टूट जाता है, उसका नाम है शरीर। शीर्यते इति शरीरम्। शॄन् संहारे—मरे, उसका नाम शरीर। इस मरनेवाले शरीरमें जो अमर है, जो अशरीर है;

अनवस्थेष्ववस्थितम्—बदलती हुई जाग्रत स्वप्न-सुषुप्ति; कौमार-यौवन-वृद्धत्व आदि अवस्थाओंमें जो अवस्थारहित है, जो अल्पोंमें महान् है, जो अलग-अलग अणुमें एक विभु है;

वह कौन है? आत्मानम्—वह अपना आत्मा है। जहाँ इसका ज्ञान हुआ, 'मत्वा धीरो न शोचति'—धीर पुरुष इसका ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण शोकोंसे पार हो जाता है। यह धीर पुरुषोंका मार्ग है। 'धीरः मत्वा न शोचति। मत्वा धीरो भवति, अतएव न शोचति।' श्रीरामकृष्ण परमहंसने स्वामी-विवेकानन्दजीको कुछ चमत्कार दिखाया। उनको ऐसा लगा कि मेरे चारों ओर ब्रह्मांड पर-ब्रह्मांड घूम रहे हैं। तो वे बोले—'अरे महाशय! अभी मैं मरना नहीं चाहता।'

धीर पुरुष वह है जिसके लिए जीवन और मृत्यु दोनों एक हो जायँ। माटी तो माटी ही है, घड़ा चाहे फूटे, कि रहे। आकाश तो आकाश ही है, घड़ा चाहे फूटे, कि रहे।

ये प्रगतिशील लोग क्या करते हैं? जिनको मरना चाहिए, उनको तो रोक देना चाहते हैं और जिन नयी विभूतियोंको आना चाहिए, उनको आने नहीं देते, गर्भमें ही मार देते हैं! फिर भी अपनेको बोलते हैं—'विचारशील'! 'प्रगतिशील!!' 'मत्वा धीरो न शोचति।' शोक मत करो।

यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह॥ (तैत्तिरीय० २.१)

यह प्रशंसा है। ब्रह्मज्ञानकी महिमाका जिसमें श्रवण है, वह श्रुति आपको बता रहे हैं, अपनेको किसी तरह हीन नहीं समझना! ऐसा कोई आदमी दुनियामें नहीं है, जिसके बिना तुम रह न सको। ऐसी कोई चीज दुनियामें नहीं है, जिसके बिना तुम रह न सको; क्योंकि जो सबसे बड़ी वस्तु है सृष्टिमें

वह तुम्हारे हृदयमें रहती है। सबसे बड़ा जो महान् है, उसका निवासस्थान तुम्हारा हृदय है।

यो वेद निहितं गुहायां—गुहामें निहित है परमात्मा, उसको जो जानता है—'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह।' वह एक साथ सम्पूर्ण भोगोंको भोगता है। वेदान्तके सामान्य जिज्ञासु जैसा समझते हैं उसमें और इस फलश्रुतिमें कितना अन्तर है? लोग समझते हैं कि हमको वेदान्तका ज्ञान हो जायगा तो भोग नहीं रुचेगा, कर्म नहीं रुचेगा, संसार नहीं रुचेगा।

ये तो बोलते हैं कि जिसको ब्रह्मज्ञान हो जायगा वह एक साथ सम्पूर्ण भोगोंको भोग सकेगा। देवता भी वही होगा और अप्सरा भी वही होगा। ठीक उसी समय शुकदेव भी वही होगा और वामदेव भी वही होगा। ठीक उसी समय ब्रह्मा होकर सबका बाप वही होगा, विष्णु होकर वही लक्ष्मीसे पाँव दबवानेवाला होगा, शिव होकर वही विरक्त होकर कैलासमें होगा, नारद होकर कही वीणा बजाता होगा, समुद्र होकर, वही लहराता होगा, पृथिवी होकर वही दृढ़ होगा, वायु होकर वही सबका प्राण होगा, आकाश होकर वही सबको धारण करेगा, चन्द्रमा-सूर्य होकर वही सबको प्रकाश देगा, वह एक साथ दिन और रात दोनों होगा, वह एक साथ सृष्टि और प्रलय दोनों होगा। 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह।' सह माने एक साथ। एक श्रुति आयी है—

यक्षत्क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा वयस्वैर्वा।
ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन् इदं शरीरम्॥ (छां० ८.१२.३)

तत्त्वज्ञानीकी महिमा बताते हैं—यक्षन् = खा रहा है। क्रीडन् = खेल रहा है, बच्चोंकी तरह।

यक्षन्की व्याख्यामें 'विद्यारण्य स्वामी' 'अनुभूति प्रकाशमें' बताते हैं—

इन्द्रराजादिक हेतु नाना-खाद्यानि भक्षयन्।

इन्द्रके रूपमें वही स्वर्गमें अमृत पी रहा है। और राजाके शरीरमें हो करके वही नाना पक्वान्न खा रहा है। क्योंकि एक शरीरका जो अहम् था, अभिमान था, वह टूट गया। यह ब्रह्मज्ञानकी महिमा है कि वह एक शरीरका अभिमानी नहीं है।

रममाणः = वह खूब आनन्दविहार कर रहा है। कहाँ? स्त्रीभिर्वा वयस्यैर्वा = स्त्रियाँ उसके साथ हैं और हमजोली उसके साथ हैं।

नोपजनं स्मरन् इदं शरीरम् = उसको कभी यह ख्याल ही नहीं आता कि 'मैं देह हूँ, मैं एक देहवाला हूँ।

स यो वेद परमं ब्रह्म स ब्रह्मैव भवति।

परम ब्रह्मको जान लिया, वह तो परम ब्रह्म ही हो गया। परम ब्रह्म हो जाना माने ? असलमें वह परम ब्रह्म पहलेसे ही था। शुक्ल यजुर्वेदमें है— **तदपश्यन् तदभवन् तदासीत्।**

उसको देखा; वही हो गया, क्योंकि पहलेसे वही था।

स वा एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विज्ञानन्।
आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति॥
(छां० ७.२५.२)

'छांदोग्य उपनिषद्' ब्रह्मज्ञानकी महिमाका वर्णन करती हुई बोलती है, 'जो इस प्रकार जानता है—अहमेव ब्रह्म। मत्तो नान्यत् किंचिदस्ति—मैं ब्रह्म हूँ, मेरे सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है; एवं मन्वानः एवं विज्ञानन् एवं पश्यन्—ऐसा ही उसने मनन किया, ऐसा ही उसने ज्ञान प्राप्त किया, ऐसा ही उसे अनुभव होता है; तो क्या हुआ ? कि वह आत्मरति हो गया। रति स्त्री-पुरुषकी होती है। परन्तु आत्मरति है माने बिना स्त्री-पुरुषके ही उसे वह आनन्द प्राप्त है जो रतिका आनन्द है। जो खेलनेसे आनन्द मिलता है, वह उसे स्वयं प्राप्त है। साथी होनेसे जो आनन्द आता है, वह उसे प्राप्त है क्योंकि वह स्वयं अपना साथी है। उसे आनन्दके लिए किसी वस्तुकी, किसी कर्मकी, किसी व्यक्तिकी, किसी अवस्थाकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह स्वराट् = स्वेन राजते। उसकी जो शोभा है, वह कपड़ेकी नहीं है, वह अंगराग, चन्दन, माला, फूल, सिंहासन, आभूषण आदिकी नहीं है। स्वरूपसे ही उसकी शोभा है।

य एवं वेद अहं ब्रह्मास्मि इति, स इदं सर्वं भवति।
(बृहदा० १.४.१०)

बृहदारण्यक उपनिषद्का कहना है कि जो ऐसा जान लेता है कि "मैं ही ब्रह्म हूँ' वह सर्व हो जाता है। 'बृहत्वात् ब्रह्म'—कालसे लम्बी जिसकी आयु है, माने जिसके जीवनमें कालकी दाल नहीं गलती—मैं अमर हूँ; जो देशसे भी ज्यादा लम्बा-चौड़ा है, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, जिसमें कल्पित है; और वस्तुओंका भेद होनेपर भी जो बीजरहित उपादान सबका वही है; उपादान जिसमें कल्पित है, पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिणका भेद जिसमें कल्पित है, भूत-भविष्य-वर्तमानका कालभेद जिसमें कल्पित है, वह ब्रह्म है। जिसने ऐसे ब्रह्मको अहंके रूपमें जाना, सब वही हो गया। 'स इदं सर्वं भवति'। सब देश वही है, सब काल वही है, सब वस्तु वही है।

यह तत्त्वज्ञानकी महिमा है। एकको अनेकके रूपमें जानना—यह राग-द्वेषका कारण है। अनेकमें एकको जानना राग-द्वेषको मिटाना है। राग-द्वेषकी आत्यंतिक निवृत्ति इस ज्ञानके बिना हो ही नहीं सकती। भेदभावकी आत्यंतिक निवृत्ति इस ज्ञानके बिना हो ही नहीं सकती।

इदं सर्वं यदयमात्मा।

बृहदारण्यक श्रुति कहती है—'यह जो कुछ है, सब आत्मा ही है।

न किञ्चिदस्ति ततोऽन्यद् विभक्तम्।

दूसरी कोई वस्तु नहीं है, जो उससे अलग हो कर रहे।

एकत्वज्ञान—अभेदज्ञानकी महिमा और नानात्वदर्शनकी निन्दा श्रुतियोंमें आती है।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।
इदं सर्वं वस्तुतो नाना न भवति, नाना इव भवति॥

(कठ० २.१.११)

यह सब वस्तुतः अनेक नहीं हैं, नाना नहीं हैं बिलकुल एक है। यह नाना सरीखी मालूम पड़ती हैं। लेकिन जिसकी नजर इस नानात्वमें फँस जाती है, उसको एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें जाना पड़ेगा, दूसरेको छोड़कर तीसरेमें जाना पड़ेगा। हम भोग चाहते हैं, बहुत। शरीरमें शक्ति होती है कम। जब एक शरीरसे पूरे भोग नहीं मिलते हैं, तब एक शरीरके बाद दूसरे शरीरमें, दूसरे शरीरको छोड़कर तीसरे शरीरमें गमनागमन होता रहता है। यह शरीर तो होटल सरीखा है। जो चीज हम पसन्द करते हैं और मिलती है, तबतक इस शरीरमें रहते हैं और जब नहीं मिलती है, तो पहलेको छोड़कर दूसरेमें चले जाते हैं। तो मृत्युके बाद मृत्यु क्यों मिलती है? नानात्वदर्शनके फलस्वरूप।

द्वितीयाद्वै भयं भवति। (वृहदा० १.४.२)

दूसरेसे भय होता है।

अथ योऽन्यां देवतामुपासते, अन्योऽसावन्योऽहमस्मि इति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्। (वृहदा० १.४.१०)

जो दूसरेकी उपासना कर रहे हैं इस भावसे कि वह दूसरा है, मैं दूसरा हूँ, स्वयं भेद बना रहे हैं, उसपर तो देवता अपनी सवारी गाँठेगा। उसको बिलकुल ज्ञान नहीं है। आपने देखा होगा, देवताओंके वाहन कौन होते हैं? किसीका वाहन पशु और किसीका वाहन पक्षी। जब तुम देवताको अन्य मान

कर उसकी उपासना करने गये, तो उसके वाहनकी प्राप्ति तो होगी-ही-होगी। चाहे गरुड़ बनो या बैल बनो। और कहो कि 'वाह-वाह-वाह। हमारा कल्याण हो गया !!' वह बात दूसरी है। हंस बनो तो भी ठीक है, नहीं तो यदि कहीं 'शीतलादेवी'से प्रेम हो जाय तो ?

'शीतलादेवी'का वाहन तो बड़ा विलक्षण है। एक आदमीने 'शीतला-देवी'की आराधना की, तो 'शीतला' प्रकट हुई, दर्शन दिया और—'जो चाहिए सो वर माँगो।'

उसने कहा—'देवी ! हमें एक घोड़ा चाहिए।'

'शीतला'ने कहा—'अरे ! बेवकूफ मेरे पास घोड़ा होता तो मैं गधे पर क्यों चढ़ती ? अपना वाहन मैंने इसीलिए तो गधा बनाया कि मेरे पास घोड़ा नहीं है ! हमारे वाहन तो गधे ही हुआ करते हैं।'

ब्रह्म तं परादात् योऽन्यमात्मनो ब्रह्म वेद। (वृहदा० २.४.६)

ब्रह्म उससे दूर हो जाता है, जो अपने आत्मासे जुदा ब्रह्मको जानता है। क्यों दूर हो जाता है ? क्योंकि ब्रह्मके बारेमें आकलन तुम्हारा गलत है। जिससे कोई भिन्न होगा और जो किसीसे भिन्न होगा, वह ब्रह्म कैसे ? जो किसीके द्वारा छिन्न-भिन्न किया जायगा और ब्रह्म जिसको छिन्न-भिन्न करेगा, तो ब्रह्म ब्रह्म कैसे ? वह उसका दुश्मन होगा।

ब्रह्म तो वह होता है, जिसके माँ-बाप नहीं, पति-पत्नी नहीं, बेटा-बेटी नहीं, जिसके स्वामी-सेवक नहीं, जिसके दोस्त-दुश्मन नहीं, ब्रह्म तो बड़ा विलक्षण है। इसीसे 'छांदोग्य उपनिषद्'ने कहा—

अथ ते योऽन्यथा विदुः अन्यराजानः विदुः ते छद्मलोकाः भवन्ति।

जो यह समझते हैं कि 'आत्मा ब्रह्म नहीं है, और ब्रह्मके सिवा दूसरी चीज सच्ची है, उसे विनाशकी प्राप्ति होगी। यहाँसे वहाँ जाओ, भटको ! देशमें भटको, कालमें मरो। रूपान्तरको प्राप्त होओ ! यह इनका नतीजा है। इसीसे 'गीता'में भी कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। (गीता ७.१९)
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि। (गीता १३.२)
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्। (गीता २.२१)
सर्वभूतस्थ चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। (गीता ६.२९)

'महाभारत'में आया—

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहसंस्थिताः।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित् ॥

इस शरीरमें, इस शरीरमें, इस शरीरमें—सबके शरीरमें एक साक्षी है, एक आत्मा है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वान्तरात्मा। (श्वेता० ५.११)

जो परमात्माको जानता है, वह परमात्मासे अभिन्न हो जाता है। 'विष्णुपुराण'में आया—

यदा समस्तदेहेषु पुमानेको व्यवस्थितः।
तदा हि को भवान् कोऽहं इत्येतद् विफल वचः ॥

जब एक ही आत्मा सबके शरीरमें परिपूर्ण है और शरीर झूठा, आत्मा सच है, तब यह पूछना कि 'तुम कौन हो?' और 'मैं कौन हूँ'—यह सब व्यर्थकी बात है।

एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। 'श्रीमद्भागवत'में एक विलक्षण प्रसंग आया है—सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार अपने पिता ब्रह्माजीके पास गये और उनसे यह प्रश्न किया कि 'हमारा मन विषयोंका चिन्तन करते-करते विषयाकार हो गया है। विषयोंके संस्कार हमारे मनमें घुस गये हैं! अब, हम जब यह कोशिश करते हैं कि हमारे मनमें विषयोंका चिन्तन न हो, तो ऐसा नहीं होता। मन और विषय अलग-अलग कैसे हों?

जो लोग तीन घण्टे अकेलेमें बैठते हैं और फिर उठकर कहते हैं—'आ हा हा! तीन घण्टे तक हमारा चित्त निर्विषय रहा, ध्यान होता रहा! आ हा हा! माला फेरते रहे! भगवान्का स्मरण होता रहा!' तो इसका रहस्य, इसकी पोल आपको बताता हूँ। अगर बारह मिनटसे ज्यादा मन एक वस्तुमें लगातार रहे, तो ऐसी समाधि लग जाती है जो टूटती नहीं। यह मन तो जागता है, सोता है! लोग 'राम-राम-राम-राम' करते-करते बैठते हैं, मनमें पहले सपना आता है, माला चलनी बन्द हो जाती है फिर राम-राम बोलना बन्द हो जाता है और उसके बाद नींद आ जाती है। फिर ज्यों जागते हैं, त्यों 'राम-राम-राम-राम' होने लगता है। तीन घण्टे यदि शरीर बिना हिले रह जाय, तो समाधि लग जायगी।

सनकादिका प्रश्न तो बड़ा अच्छा लगता है, परन्तु उसका उत्तर जो वहाँ है, वह बड़ा अद्भुत है। आप किसीके चेले बनोगे तो वह जल्दी नहीं बनावेगा। मैं तो यह इसलिए बता रहा हूँ कि हमारे कोई चेला-गुरुका अभिनिवेश नहीं है।

विचित्र माया है! असलमें मनके दो हिस्से हैं—एक तो विषयका संस्कार और वासना, और एक चैतन्य। जो चैतन्य है, वह तो स्वयं ब्रह्म है, स्वयं आत्मा है। जो वासना और संस्कार हैं वे जड़ हैं। अपने मनको चैतन्य और विषय जड़को एक करके बताते हैं। हम विषयको हटावेंगे। असलमें विषयको हटाने पर मन नहीं रहेगा, चैतन्य रहेगा।

चैतन्य तो हमेशा अलग है ही है। तो अलग क्या करते हो? ब्रह्माजीने कहा—'ठीक है, विषकोंका चिन्तन करते-करते मन विषय हो गया और विषयोंका संस्कार मनमें घुस गये हैं। परन्तु मुझको इसका उत्तर नहीं आरहा है क्योंकि इस समय मेरी बुद्धि कर्ममें लगी है—'नाभ्यपद्यत कर्मधीः। जीवोंका कर्म देखना और उनको शरीर देना, यही लगा हुआ था। 'हंस भगवान्' आये। ब्रह्माजीने उनसे पूछा—'तुम कौन हो?

हंस बोले—'जो तुम हो, सो ही मैं हूँ।' तुम कौन हो?—यह पूछना गलत है। पंचभूत सबके शरीरमें एक हैं, मेरा-तेरा आत्मा एक है। फिर तुम कौन हो?—यह क्यों पूछते हो? बादमें सनकादिके प्रश्नका उत्तर दिया। हंस भगवान् बोले कि—"मनको विषयसे अलग मत करो।

जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः (भाग० ११.१३.१५)

"अरे! तुम मन और विषयको अलग करना चाहते हो? पानी और तरंगको अलग करना चहते हो? मिट्टी और घड़ेको अलग-अलग करना चाहते हो? पानी और तरंग अलग-अलग नहीं है, मिट्टी और घड़ा अलग-अलग नहीं है। आग और चिन्गारी अलग-अलग नहीं है। वायु और प्राण अलग-अलग नहीं है। महाकाश और घटाकाश अलग-अलग नहीं है। इसी प्रकार मन और विषय अलग-अलग नहीं हैं। इनको यदि अलग करना चाहते हो, तो एक असम्भव कार्य कर रहे हो!" लो, मार दिया न, बमगोला सम्पूर्ण राजयोग-सिद्धान्तपर वह गोला मारा!!

असलमें यह कर्म और संस्कार, विषय और विषय-संस्कार, और जिसमें यह विषय-संस्कार पड़ते हैं वह मनोवृत्ति—ये दोनों आत्माके स्वरूप नहीं हैं। ये आत्माके देह हैं: जोवस्थ देह उभयम्। और आत्मा? यह तो 'मैं' हूँ। आत्मा और परमात्मा एक है, इसलिए विषय, विषयका संस्कार और मन-ज्ञानको मारो।

मद्रूप उभयं त्यजेत्। (भाग० ११.१३.२६)

इस गुंडेको निकाल दो घरसे कि 'जाओ, जहाँ तुम्हें पसन्द है, वहाँ रहो! यह क्या मेरा मन, मेरा मन, मेरा मन करते रहते हो! हमने देखा, हृषिकेशमें एक ब्राह्मण पुरोहित थे। बड़े-बड़े सेठ लोग उनके घरमें जाते थे। उनका लड़का गुंडा हो गया! माने नहीं, तो उन्होंने अखबारमें पहले छपवा दिया कि 'अब इस लड़केसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। अब यह लड़का गुंडा हो गया, हमारे नाम पर कलंक लगानेवाला है!' इसके बाद पुलिसमें शिकायत करके पकड़वा दिया! अपने बच्चेकी तरह यह मनीराम है! यह अपने साथ जोड़ने लायक नहीं है। कहो—'जा'! और जहाँ 'जा' कहा, निकाला घर से, उसके बाद देखना, यह अपने विषयरहित, संस्कार रहित आत्मचैतन्यसे पृथक् रहेगा ही नहीं। तुम परमात्माके पक्षमें जाओ! आत्मासे एक होकर विषय और विषय-संस्कारसे संस्कृत मन इन दोनोंको छोड़ दो—'नाहं न मे, न मम'—न यह मैं हूँ, न ये मेरे हैं, और न ये सच्चे हैं।

+ + +

वेदशास्त्र-पुराणमें सर्वत्र द्वैतदृष्टिकी निन्दा है और अद्वैतदृष्टिकी प्रशन्सा है। क्योंकि द्वैतदृष्टि रागद्वेषकी जननी है और अद्वैतदृष्टि परमानन्द है, जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख है। रागद्वेषका नितान्त नाश अद्वैतदृष्टिमें होता है। द्वैतदृष्टि तो कीड़े-मकोड़े सभीकी होती है। ब्रह्मज्ञान होनेपर भी यदि द्वैतदृष्टि ही रही, तो कीड़े-मकोड़ेकी दृष्टिमें और मनुष्यकी दृष्टिमें भेद क्या हुआ? पशु-पक्षी भी अपनी पत्नी और बच्चोंसे प्रेम करते हैं और अपने दुश्मनोंको मारते हैं।

अगर उतनी बात जो सर्वप्राणिसाधारणमें है, वह ब्रह्मज्ञानी होनेपर भी हुई, तो क्या हुआ? इसीसे हम देखते हैं कि पुराणोंमें भी यही दृष्टि है। केवल 'विष्णुपुराण'को हम देखें—'विष्णुपुराण' सभी वैष्णवोंको सर्वथा मान्य है। उसपर तो 'श्रीरामानुजाचार्य महाराजजीकी पूरी टीका है। टीकाका नाम है— 'विष्णुचित्ती'। श्रीधरस्वामीकी भी टीका है 'विष्णुपुराण'पर। उसमें जो अवधूतोंका प्रसंग है, 'ऋभु-निदघ'का प्रसंग है, 'शिखिध्वज' और 'केशिध्वज'का प्रसंग है और बड़े-बड़े महात्माओंका, प्रह्लादका प्रसंग है, उसमें—

अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्।

मैं ब्रह्म हूँ। यह सब भी ब्रह्म है—जो कुछ कार्यकारणात्मक सृष्टिके रूपमें दिख रहा है वह भी ब्रह्मसे अलग नहीं है। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं—

अहं च इदं च सर्वं ब्रह्मैव।

जो कुछ 'मैं'के रूपमें भासता है सो, और जो कुछ यहके रूपमें भासता है सो—यह और मैं दोनों एक ब्रह्म ही है। जैसे, सोनेमें एक बालक बना दो और वह अपने हाथमें लड्डू लेकर खा रहा हो, तो बालक खा रहा है और लड्डू खाया जा रहा है—दोनों एक ही चीज है! बच्चा कहेगा कि 'यह बालक है और लड्डू खा रहा है। लेकिन सुनारसे पूछो तो वह बतावेगा कि 'यह बच्चा भी सोना है और लड्डू भी सोना है।' ब्रह्मदृष्टि सुनारकी दृष्टि है, तत्त्व दृष्टि है।

सोनेमें कई दृश्य बनाये गये। एक कुम्हार बनाया गया। थोड़ी मिट्टी अलग रखी हुई थी। चाकपर डण्डा लेकर घुमा दिया एक अवस्थामें। दूसरे दृश्यमें घड़ेको गढ़ रहा है। तीसरे दृश्यमें वह घड़ेको पीट रहा है। सूत है, उसके पास, डण्डा है उसके पास, माटी है उसके पास, चाक है उसके पास। अलग-अलग दशाओंमें कुम्हार दिखाया गया है। उसका बच्चा भी उसके पास बैठा हुआ है, उसकी पत्नी भी उसके पास है। अब बताओ घटका कारण कौन है?—मिट्टी, कुम्हार, चाक, डण्डा, सूत आदि कौन? जब तत्त्वकी परीक्षा होगी तब न मृत्तिका कारण है, न घट कार्य है। न बाप कारण है, न बेटा कार्य है। न पति-पत्नीका कोई सम्बन्ध है। केवल एक स्वर्णराशि है और वहाँ उसीमें ये सब साँचेसे गढ़ा गया है सोनेमें। गलाकर गढ़ा हुआ है, पीटकर गढ़ा हुआ है, क्योंकि वह तो सोना ही है।

आत्मदेवमें, ब्रह्ममें, स्फुरणा-मात्र गढ़ा हुआ है यह सम्पूर्ण विश्व! अपनी स्फुरणाके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। किसके लिए रोते हो और किसको पाकर हँसते हो? ये सब मनके ही सम्बन्ध हैं, जो मनुष्यको दुःखी-सुखी करते रहते हैं। असलमें दुःखी भी मन ही है और सुखी भी वही है।

जैसे कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष दोनोंमें अंधेरा और उजेला दोनों बराबर-बराबर रहते हैं, ऐसे ही, जीवनमें सुखाकार-वृत्ति और दुःखाकार वृत्ति, विक्षेप और समाधि दोनों बराबर होते हैं। एक ही वस्तु है। उसमें कारण क्या है?

जैसे एक योगी है। वह समाधिकालपर दृष्टि रखता है तो उसे वही-वही भासता है। संसारी लोग रागद्वेषके कारण विक्षेपकालपर दृष्टि रखते हैं, तो उन्हें विक्षेप-ही-विक्षेप मालूम पड़ता है। मैंने बहुत गौर करके यह विचार किया है। जिन लोगोंका ऐसा खयाल है कि विक्षेपकाल ज्यादा है और समाधि काल कम है, वह भ्रम है।

एक घटाकार वृत्ति हुई और एक पटाकार वृत्ति हुई। दो वृत्ति हुईं। दोनों विक्षेपवृत्ति हुईं, यही तो कहते हो! परन्तु दोनोंकी सन्धि समाधि है। जैसे सौ बार आप राम-राम बोलो, तो सौ बार राम-रामके बीचमें जो संधि-काल है, वह समाधि है।

जीवनका यह रहस्य इतना विलक्षण है कि केवल न समझनेसे ही लोग इसमें परेशान हैं। भ्रान्तिदर्शन है यह। इसके लिए 'विष्णुपुराण'में आया—

भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्।

यह प्रपञ्च कैसा है? भ्रान्तिदर्शनसे पाप-पुण्य, रागद्वेष, सुख-दुःख लोगोंको सता रहे हैं। प्रपञ्च केवल भ्रान्तिदर्शनसे स्थित है।

चिड़िया जाकर शीशेपर चोंच मारती है। दर्पणमें जो दूसरी चिड़िया है वह भ्रान्तिदर्शनसे स्थित है। कुत्ता शीशमहलमें भूँकता है, तो भ्रान्तिदर्शनसे भूँकता है। बच्चा शीशेमें दीखनेवाले बच्चेको मक्खन खिलाना चाहता है यह भ्रान्तिदर्शनसे है। 'विष्णुपुराण'में यह बात स्पष्ट आयी है—

द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः।

जो द्वैती है, वह अतथ्यदर्शी है। प्रह्लाद बोलते हैं—

सकलमिदमहं च वासुदेवः।

पहाड़से उनको समुद्रमें डाला गया तो वह बाहर निकल आये। हिरण्यकशिपुने उसे फिर समुद्रमें डालकर ऊपरसे पहाड़ रख दिया। तो पहाड़के नीचे बैठे-बैठे वे बोलते हैं—'सकलमिदमहं च वासुदेवः।' यह समुद्र, यह पहाड़ और यह मैं—सब वासुदेव हैं। पहाड़ हट गया, समुद्र सूख गया और नारायण आकर सामने खड़े हो गये।

श्रीमद्भागवतमें ऐसा कोई स्कन्ध नहीं है और ऐसा कोई अध्याय नहीं है, जिसमें कहीं संक्षेपसे, तो कहीं विस्तारसे अद्वैततत्त्वका वर्णन न हो।

दत्तात्रेय यदि राजा यदुको और प्रह्लादको अद्वैततत्त्वका उपदेश करते हैं, तो उसमें क्या शंका है? दत्तात्रेय, ऋषभदेवके जो प्रसंग हैं, राजा पृथुका, ध्रुवका जो प्रसंग है, ब्रह्माजीको नारायणका जो प्रथम उपदेश है, उसकी तो चर्चा ही छोड़ो। सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतके श्रवणके अनन्तर श्रीशुकदेवजी महाराजका राजा परीक्षितके लिए अन्तिम वचन है—

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले॥
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः॥

कहते हैं—'राजा परीक्षित ! तुम ऐसा अनुसन्धान करो कि **अहं ब्रह्म परं धाम**—तुम्हारा यह शोधित अहं ही ब्रह्म है अर्थात् 'मैं' ही सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंचका जो अधिष्ठान हूँ, माने मुझमें ही यह सम्पूर्ण दुनिया दीखती है और मिटती है, परन्तु मैं ज्यों-का-त्यों रहता हूँ, जैसे, जिसमें साँप दीखता है और मिट जाता है वह रज्जू ही है, उसी तरहसे जिसमें यह मायाकृत प्रपंच दीखता है और मिट जाता है, वह ब्रह्म मैं ही हूँ। तुम ऐसा अनुसन्धान करो कि "मैं ब्रह्म हूँ" और 'ब्रह्माहं परमं पदम्'—जो परमपद ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ। 'मैं ब्रह्म हूँ' और 'ब्रह्म मैं हैं'—दुहरा दिया। मैं ब्रह्म हूँ–इससे 'मैं'की परिच्छिन्नता कट गयी और ब्रह्म मैं हूँ—इससे ब्रह्मकी परोक्षता कट गयी। अपने आपको 'निरन्तःकरण-निष्कले आत्मन्याधाय'—तुम अपनेको अन्तःकरणवाला मत समझो। अपनेको अन्तःकरणसे जुदा करके, अपनेको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा जानकर ब्रह्मसे एक हो जाओ।

तुम तक्षककी भी आत्मा हो। वह विषैली जीभ लपलपाता हुआ आवे और डस ले तुम्हारे शरीरको। क्या हुआ ? अरे ! यह शरीर मेरा है, यह सर्प दुश्मन और यह संसार सच्चा है, यह तुम नहीं देखोगे। यही तत्त्वज्ञानकी महिमा है। इसीलिए उपनिषद्ने बताया—

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्।
(बृहद० ४.४.२३)

ब्रह्मज्ञानीकी यह नित्य महिमा है। किसी भी कर्मसे वह छोटा नहीं होता और किसी भी कर्मसे वह बड़ा नहीं होता। कर्ममूलक महिमा नहीं है उसकी। धनीकी महिमा है द्रव्यमूलक। कर्ताकी महिमा है कर्ममूलक। भावुककी महिमा है भावमूलक। योगीकी महिमा है स्थितिमूलक। ज्ञानीकी स्वरूपभूत महिमा है।

जिसको अपनी निष्ठामें बल नहीं भासता है वह कच्चा है। एक बात आप लोगोंको बताते हैं—एक धर्मात्मा आदमी है, उसके पाँवके नीचे चींटी मर गयी तो वह अपनेको निष्पाप नहीं समझ सकता। वह जाकर गंगास्नान करे, 'अपवित्रो पवित्रो वा' करे, ब्राह्मणको कुछ दान दे, तब उसकी वह चींटी मरनेकी ग्लानि मिटेगी।

भक्त होवे तो ? वह भगवान्का नाम लेगा, एक मिनटके लिए भगवान्-का स्मरण करेगा—'ओ हो ! प्रभु, आपने क्या लीला रची है !' बस, खतम ! यदि भक्तको प्रायश्चित्त करना पड़े और धर्मात्मा राम-राम करे, तो दोनों

अपनी निष्ठामें कमजोर हैं : लोकसंग्रहके लिए भले भक्त गंगास्नान करे और दान करे। भक्तकी निष्ठा तो यही है—

अति पापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्।
भूयः तपस्वी भवति पंक्तिपावन पावनः॥

एक क्षणके लिए भगवान्‌का स्मरण हुआ।

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थाङ्गतोऽपि वा।
यत्स्मरेत् पुण्डरीकाक्षम् स बाह्याभ्यान्तरः शुचिः॥

अपनी निष्ठासे च्युत नहीं होना।

एक योगी है। अगर वह गंगास्नान करने लगे। और साकारका स्मरण करने लगे, तो यही कहना होगा कि उसका प्राणायाम 'फेल' हो गया। अगर वह योगी है और उससे चींटी मर गयी, तो एक प्राणायाम किया और एक बार चित्तनिरोध करके अपने दृष्टास्वरूपमें स्थित हुआ और ग्लानि कट गयी।

वेदान्तीजी यदि समाधि लगाने लगें कि 'हाय-हाय! एक चीटीं मर गयी! अब समाधि लगाओ!' तो समझना कि उनको अपनी निष्ठाका पता नहीं है।

'अहम्‌कर्ता अहम्‌भोक्ता असंगोऽहम् अद्वयोऽहम्।' अपनी स्वतःसिद्ध असंगताका जो बोध है, पहलेसे ही है। यह नहीं कि 'चीटीं मैंने मार दी, चींटी मुझसे मर गयी।' चीटीं मरी, न मैंने मारी!

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थकं घातयति हन्ति कम्॥

(गीता २.१९, २१)

यह देखना होता है कि इनकी निष्ठा बलवती है कि नहीं? जिसका बोध दृढ़ होता है, उसकी निष्ठा बलवती होती है। उसके अन्दर परम स्वातन्त्र्य होता है।

एक बारकी बात है। हरद्वारमें मैं एक बड़े सेठके घरमें बैठा था। उनके घरमें हम ऐसे बैठे थे—बीचमें तो गंगास्नान करनेका छोटा-सा घाट, उसके दोनों ओर एक-एक कमरा बरामदा है। एक बरामदेमें हम बैठे थे। हर-हर, हर-हर गंगाजी बह रही थीं। एक दूसरे महात्मा उनके घरमें आये। वे आकर दूसरे बरामदेमें बैठ गये। मैं उठकर गया नहीं। उनको सेठसे कोई प्राइवेट बात करनी हो तो करें!

महात्माजीके पास एक योजना थी कि—'हम गाय रखेंगे। बड़ी भारी योजना ! इतनी गौएँ रहें उसमें, इतना दूध पैदा हो, ऐसा फार्म बनावें !'

सेठको उन्होंने कहा—'तुम पाँच लाख रुपया हमें दे दो।' यह बात हम सुन रहे थे। न सेठको कोई संकोच था बात करनेमें, न महात्माको। महात्माजीकी तो योजना प्रारब्ध थी और सेठ तो जोरसे ही बोलता है। सेठ जोर-जोरसे बोलने लगा—'देखो महात्माजी ! तुमने कभी कोई छोटी-सी बछिया भी पाली है ? अरे ! तुम पाँच गाय पालकर पहले हमको दिखा दो, तब पाँच लाखवाली योजना लेकर हमारे पास आओ।' एक बात।

यह तो मोटी बात थी। उसने जो मार्केकी बात कही और जो हमारे दिलमें गड़ गयी, वह सेठका उपदेश ही समझो।

उसने कहा—'महात्माजी ! आप पच्चीस वर्षसे तो मौन हैं और भगवान्का नाम ले रहे हैं; भगवानकी भक्ति कर रहे हैं, कि भगवान्का स्मरण करना ही सर्वोत्तम है। तो क्या पच्चीस वर्षसे जो काम कर रहे हैं, उससे भगवान्का दर्शन आपको नहीं हुआ ? परमात्माकी अनुभूति आपको उससे नहीं हुई कि अब आप गोसेवाका व्रत धारण करने जा रहे हो ?

पहली बातपर आ जाओ—अपनी जो निष्ठा है, उसमें जब सफलता नहीं मिलती, तब आदमी दूसरी निष्ठा ग्रहण करता है, आप चाहे धर्मनिष्ठ हों, चाहे योगनिष्ठ हों, चाहे ज्ञाननिष्ठ हों, आपके जीवनमें जितनी भी कठिनाइयाँ आती हैं, उन कठिनाइयोंको दूर करनेकी सामर्थ्य आपकी निष्ठामें ही होनी चाहिए। एकको छोड़कर दूसरेके पास जाना, पहलेका तिरस्कार हो जाता है। यह निष्ठाकी शक्ति है।

आपने अभी सुना-प्रह्लादको हाथियोंसे कुचलवाया गया, समुद्रमें डलवाया गया, पहाड़के नीचे दबाया गया, साँपोंसे डँसवाया गया और वह बोलते क्या हैं ? 'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः।' मैं परमात्मा, सब परमात्मा। अपनी निष्ठा ! इसमें विक्षेप मिटानेकी शक्ति है, अज्ञान मिटानेकी शक्ति है, दुःख मिटानेकी शक्ति है, पाप मिटानेकी शक्ति है। तुमको परमानन्द देनेकी शक्ति है।

एक स्त्री थी, वह कहती कि हम अपने पतिसे कुछ नहीं माँगते, निष्काम उनकी सेवा करते हैं। उसकी साड़ी फट गयी तो बोले—'पड़ोसीसे माँगकर ले आओ !' यह बात बनेगी ? बिलकुल धर्मके विपरीत हो गयी। निष्ठाके विपरीत उसने अपने पतिकी प्रतिष्ठा बढ़ायी नहीं, घटा दी ?

एक नौकर है, उसे पैसेकी जरूरत पड़ती है। वह अपने मालिकको नहीं बताता है, उससे नहीं लेता है, वह दूसरेके पास जाता है। इसका अर्थ यह है कि वह अपने मालिकके प्रति निष्ठावान् नहीं है। अपने मालिकको वह अनुदार समझता है, कृपण समझता है या गरीब समझता है। वह निष्ठावान् नहीं रहेगा।

हम प्रेम पत्नीसे करते हैं और सेवा सेठकी करते हैं। तो निष्ठा किसके प्रति रहेगी? पत्नीके प्रति या सेठके प्रति? सेठ छूट जायगा, पत्नी रहेगी, क्योंकि जहाँ प्रेम होगा, वहाँ पत्नी रहेगी और जहाँ प्रेम होगा, वहाँ निष्ठा रहेगी। ये सब मनोविज्ञानकी ही ग्रंथियाँ हैं।

राजा परीक्षितको जो अन्तिम उपदेश दिया गया, वह आपने सुना! शुकदेवजीने पूछा—'राजा परीक्षित! किमन्यत् श्रोतुमिच्छसि?' और कुछ सुनना चाहते हो क्या? 'किं भूय कथयामि ते?' अब मैं तुम्हें और क्या बोलूँ? राजा परीक्षित कहते हैं—कुछ नहीं, मैं सिद्ध हूँ, आपके प्रति अनुग्रहीत हूँ—**सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि**।

अन्तमें सूतजी सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका तात्पर्य बताते हैं—

सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥

सूतजी शौनकादि अठासी हजार ऋषियोंके बीचमें, यज्ञ करते-करते बीचके अवकाशमें भागवत सुनाते हैं। यज्ञकी पवित्र-भूमिमें नैमिषारण्य तीर्थमें ऋग्वेदी ब्राह्मणोंके समूहमें सूतजी मानो सौगन्ध खा कर कहते हैं—'सम्पूर्ण वेदान्तोंका जो सार-सार है, वह श्रीमद्भागवत है।'

बोले—'महाराज! वेदान्तोंका सार तो कोई द्वैत, कोई द्वैताद्वैत, कोई विशिष्टाद्वैत—बहुत बताते हैं।'

बोले—'अद्वितीयं वस्तु'—सम्पूर्ण वेदान्तोंका सार अद्वितीय वस्तु है।

आप जानते हैं कि धर्मनिष्ठामें कर्म बहुत किये जाते हैं, लेकिन लक्ष्य यह रहता है कि धर्म सम्पादन होवे। कर्म बहुत हैं, लक्ष्य न बदले। कर्म और धर्ममें फर्क क्या है? श्रम उसको कहते हैं, जिससे लोहा साफ हो, जिससे गेहूँ साफ हो, घर साफ हो, एल्यूमीनियम साफ हो जिससे हृदय साफ हो, उसका नाम है धर्म। धर्म माने हृदय, धोनेकी पद्धति। विदेशोंमें श्रमका आदर है, हमारे यहाँ धर्मका। हृदय स्वच्छ, निर्मल हो!

मनोवृत्तियोंका लक्ष्य एक हो, इसको भक्ति बोलते हैं। हँसे, गावें, रोवें, नाचें, लेकिन ईश्वरके लिए। कहो कि 'व्यवहारमें भी क्या सबका लक्ष्य एक होगा ? नहीं, हम सब काम एक लक्ष्यके लिए नहीं करते हैं। तुम सब काम पैसा कमानेके लिए नहीं करते हो। कुछ खानेके लिए करते हो, कुछ पहननेके लिए करते हो, कुछ स्त्रीके लिए और कुछ पुत्रके लिए भी करते हो। कुछ इज्जतके लिए भी करते हो और कुछ अपनी चोरी ढँकनेके लिए भी करते हो।

लोकमें सारा व्यवहार एक लक्ष्यसे नहीं होता, एक लक्ष्य तो धर्मके लिए होता है। लौकिक लक्ष्य ऐसा है ही नहीं कि एक होवे। उसके लिए भावात्मक लक्ष्य चाहिए। भावात्मक लक्ष्य है धर्म। सम्पूर्ण कर्म-धर्मानुष्ठान, धर्मसम्पत्तिके लिए करना; और सम्पूर्ण वृत्तियाँ भगवान्‌के लिए होना—इसका नाम है भक्ति। बहुत वृत्ति न होवे, एक ही वृत्ति होवे—इसका नाम है समाधि योग। इसमें एक भी ज्ञानके लिए नहीं है। ज्ञान अद्वितीय वस्तु है।

वृत्तिको समेट कर रखते हैं, फिर फैल जाती हैं; फिर समेटना, फिर फैलना ! बारूदको खूब शान्तिसे जमा दिया, लेकिन कभी आग भड़क जाती है। ऐसे योगमें मनोवृत्तियोंको एकाग्र कर लिए। एक वृत्ति बना ली, उसमें-से भी कभी आग भड़क उठती है।

वेदान्तज्ञान कहता है,—अपने अद्वय स्वरूपके ज्ञानसे सर्वका बाध हो गया। अपना स्वरूप एक अद्वितीय वस्तु है।

यह कैसी अद्वितीय वस्तु है ? यह बात भागवतमें खोल कर बतायी गयी है। अद्वितीय वस्तुमें भागवतकी निष्ठा है। पर अद्वितीय वस्तु कैसी ? सगुणवादी भी वस्तुको अद्वितीय मानते हैं और जड़वादी भी वस्तुको अद्वितीय मानते हैं। एक 'जड़ाद्वैतवाद है। एक 'शून्याद्वैतवाद' है। वह भी अद्वैतवाद है। विद्युत्‌के कण ऋणात्मक, धनात्मक और शून्यात्मक (ऋण-धन आवेशसे रहित) होते हैं, ये तीनों विद्युत्‌कण जिसको मालूम पड़ते हैं, वह कौन है ? और, जिसमें मालूम पड़ते हैं, वह कौन है ?

जड़ ऋणात्मक है, ईश्वर धनात्मक है और बौद्धोंका शून्यात्मक है। इनका अधिष्ठान स्वयंप्रकाश द्रष्टा है। यह भागवतमें बताया है। भागवतमें ३३५ अध्यायोंमें-से करीब-करीब ९० अध्यायोंमें श्रीकृष्णलीलाका वर्णन है बाकी जो प्रसंग हैं, वे भी कोई चीज हैं या नहीं ? तो अद्वितीय वस्तु क्या है ?

ब्रह्मात्मैकत्व लक्षणम् अद्वितीय वस्तु।
ब्रह्मात्मनो एकत्वमेवलक्षणम् यस्य तत्॥

ब्रह्म और आत्माकी एकता उस वस्तुका लक्षण है। यह 'द्रष्टा मैं' और सम्पूर्ण जगत्का अधिष्ठान, जिसमें यह जगत् मालूम पड़ रहा है, वह आधार, एक है। यह एकता जिसका लक्षण है, यह अद्वयता जिसका लक्षण है। (वह तत्त्व है।) समष्टि नहीं, सर्व नहीं, कुल नहीं, कुल दूसरी चीज है,—बहुतोंके जोड़का नाम 'कुल' होता। उन बहुतोंको 'जुज' बोलते हैं! बहुतसे जुज जब इकट्ठे किये जाते हैं तब 'कुल' बनता है। बहुतसे व्यक्ति इकट्ठे होनेपर जाति बनती है। बहुतोंके समूहीकरणका नाम 'सर्व' है। बीजात्मक 'एक' होता है। आत्मा और ब्रह्मकी एकता ही अद्वयतत्त्वका लक्षण है। उसमें न जुज हैं और न वह बहुतसे जुजो (अवयवों) का कुल अथवा समूह है। वह अनेकोंका एकरूप बीज भी नहीं है। उस अद्वितीय वस्तुमें सत् और चित्का भेद नहीं है, दृश्य और द्रष्टाका भेद नहीं है।

देखो, कोई वस्तु हम देखते हैं। हमारे और वस्तुके बीचमें कौन है? आँख न हो, तो क्या वस्तु मालूम पड़ेगी? नहीं। इसी प्रकार जाग्रत अवस्थामें हमें जो यह सम्पूर्ण दृश्य दिखायी पड़ता है तो हमारे और दृश्यके बीचमें कौन है? इन्द्रिय वृत्ति है। स्वप्नावस्थामें यह मनोवृत्ति है।

सुषुप्तिकालमें कोई वस्तु नहीं रहती है, तब वहाँ हमारे और अभावात्मक सुषुप्तिके बीचमें दिखानेवाला कौन है? दृष्टि। वह सुषुप्तिके द्रष्टासे अभिन्न है। तो द्रष्टा और दृश्यके बीचमें सन्धिस्थल कहाँ है? द्रष्टाके स्वरूपका अज्ञान ही द्रष्टा और दृश्यकी सन्धि है।

द्रष्टाको तुम ब्रह्म नहीं जानते हो, इसलिए द्रष्टा और दृश्यको तुम जुदा समझ रहे हो। कालका द्रष्टापन, देशका द्रष्टापन, वस्तुका द्रष्टापन, अभावका द्रष्टापन! यदि द्रष्टाके स्वरूपको समझते कि वह अविनाशी है, परिपूर्ण है, अद्वय है, अखण्ड है, तो दूसरी चीज आती कहाँसे?

न दृष्टि है, न दृश्य है। दृष्टि है, तो द्रष्टासे भिन्न नहीं है। इसलिए द्रष्टा 'दृङ्मात्र' है। 'दृङ्मात्र'का कथन इसलिए कि जड़से विलक्षण अपनेको ब्रह्म जानो। अपनेको जान लेनेके बाद 'सत्य' कहनेका, 'परमार्थ' कहनेका, 'दृङ्मात्र' कहनेका कोई अभिप्राय नहीं है।

सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥

इसीमें भागवतकी निष्ठा है। कोई सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, सार्ष्टि और कुछ प्रयोजन नहीं है। 'कैवल्यैक प्रयोजनम्'—यहाँ एक-मात्र प्रयोजन है 'कैवल्य'। 'कैवल्य' ही अभीष्ट है। यह बात भागवतमें बताते हैं।

सम्पूर्ण वेद-शास्त्र-पुराणका जो अभिप्राय है, वह यह है कि 'प्रत्यक् चैतन्य ही ब्रह्म है, प्रत्यक् चैतन्य ही अद्वैत है। अपना आत्मा ही ब्रह्म है। अपना आत्मा ही अद्वैत है।' इसीमें सारे शास्त्रोंका तात्पर्य है और इसकी प्रशंसा है।

एवं विधि पापकर्म न श्लिष्यंते।
तद्यथा पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्यंते॥

जैसे कमलके पत्तेपर जलका लेप नहीं होता, वैसे ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-आत्माके साथ कर्मका लेप, कर्मका संस्कार नहीं जुड़ता।

तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोः अश्लेष विनाशौ तदव्यपदेशात्। (ब्रह्मसूत्र)

इस आत्मा और ब्रह्मकी एकताका अनुभव हो जानेपर पहलेके जो पुण्य-पापकर्म हैं, वे भस्म हो जाते हैं।

इतरस्याप्यसंश्लेषः।

बादके पाप-पुण्यात्मक कर्मोंका श्लेष भी नहीं होता। यह है ब्रह्मज्ञानकी महिमा! पूर्ण स्वातंत्र्य! क्या आनन्दकी बात है!

आकार नहीं है और सत्ता है! दृश्य नहीं है और ज्ञान है। भोग नहीं है और आनन्द है। कितना स्वातन्त्र्य है कि विषय नहीं, विषय-पारतन्त्र्य नहीं। विषय नहीं, भोग नहीं है और आनन्द है! विषय नहीं हैं, इन्द्रियाँ नहीं हैं और ज्ञान है। आकार नहीं है, तदाकार वृत्ति नहीं है और सत्ता है। ऐसा सत्, ऐसा चित्, ऐसा आनन्द, ऐसा अखण्ड अद्वय परमात्माका स्वरूप है।

अद्वैत कोई बच्चोंका खेल थोड़े ही है? इसीलिए सारे शास्त्रोंमें द्वैतकी निन्दा और अद्वैतकी प्रशंसा है। इसका अर्थ है कि मनुष्यका जीवन अद्वैतकी ओर अग्रसर होना चाहिए। और द्वैतसे विमुख होना चाहिए। दोस्त-दुश्मन, भला-बुरा, जन्म-मरण, राग-द्वेष, पाप-पुण्य, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, समाधि-विक्षेप, उपासना-अपासना, इन सबसे ऊपर उठना चाहिए।

अच्छा, कहो कि इसके सिवाय और भी तो शास्त्र प्राप्त होते हैं! इसके बारेमें मनुजीने स्पष्ट लिखा है—

या वेदवाह्या स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोमूलाऽपि ताः स्मृताः॥

(मनु० १२.१५)

इस वैदिक ज्ञानके अतिरिक्त, इस औपनिषद ज्ञानके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। स्मृतियाँ? बहिरङ्ग हैं। अपने हृदयमें जो स्मृति उदय होती है, वह

देखे-सुने हुए, अनुभव किये हुए, पदार्थकी होती है। अनुभाव्य पदार्थकी स्मृति होगी, अनुभव स्वरूपकी स्मृति नहीं हो सकती। इसलिये आत्मा, ब्रह्म और उनकी एकतामें स्मृतिको प्रमाण नहीं माना जाता।

वेदान्त शास्त्रमें जहाँ प्रमाणका लक्षण बताया है, वहाँ यह बताया है कि प्रमाण वह होता है जिसका प्रमेय दूसरे किसी प्रमाणसे मालूम न पड़े; और जो (प्रमाणजन्य प्रमा) दूसरे किसी प्रमाणसे बाधित न हो और स्मृति-रूप न हो।

प्रमाणान्तरानधिगत प्रमाणान्तरा बाधित।

जैसे, हम आँखसे रूप देखते हैं, तो रूपविषयमें आँख प्रमाण है; क्योंकि रूप न तो आँखके सिवा किसी अन्य प्रमाणसे मालूम पड़ सकता है; जैसे कि कानसे, त्वचासे, रसनासे या नाकसे; और न तो आँखके सिवा किसी अन्य इन्द्रियसे प्राप्त ज्ञान, आँखके द्वारा प्राप्त रूप-ज्ञानको झूठा सिद्ध कर सकता है। आप यह कहो कि उस रूपको कान, नाक, जीभ काट दें! तो नहीं काट सकते। न दूसरे लोग उसे बता सकते हैं, न दूसरे लोग उसे काट सकते हैं और स्मृति रूप है नहीं। इसलिये रूपमें आँख प्रमाण है।

वेद आत्माके ब्रह्म होनेमें प्रमाण है। क्यों प्रमाण है? आत्माका ब्रह्म होना अन्य किसी दूसरी रीतिसे मालूम पड़ नहीं सकता। केवल वाक्यप्रमाणसे, महावाक्य प्रमाणसे ही मालूम पड़ेगा।

लोग कहते हैं कि हमने युक्तिसे, बुद्धिसे, यन्त्रसे सिद्ध कर दिया कि आत्मा-परमात्मा एक हैं। इन लोगोंकी युक्ति बचकानी होती है। दुनियाकी ऐसी कोई युक्ति नहीं है, जिसे काटा न जा सके, ऐसा कोई यन्त्र नहीं है, जिसे काटा न जा सके, ऐसा कोई हेतु नहीं है, जिसे काटा न जा सके।

सबका अपवाद करनेके बाद जो बचा हुआ है वह अपना आपा होता है। 'दशम-त्वमसि'—इस न्यायसे उसे बताया जाता है कि तुम जो बच गये हो, बिना कटे, वही अनन्त है, वही ब्रह्म है। तो इसकी स्मृति कहाँसे आवेगी जब ज्ञानके समस्त करणों और उनके विषयोंका ही निषेध हो गया?

श्रुति-स्मृतिको प्रमाण बोलते हैं! उसमें श्रुतिको 'स्वतः प्रमाण' बोलते हैं और स्मृतिको 'परतः प्रमाण' बोलते हैं। स्वतः प्रमाण माने अपने विषयमें, धर्म और ब्रह्मके विषयमें, श्रुत्यनुसारी होनेपर स्मृति प्रमाण है। वेदानुसारी होनेपर जब परतः प्रामाण्य आगया, तो स्मृतिका स्वतः प्रामाण्य चला गया। याद तो कभी-कभी गलत भी आती है।

कभी मोहन सोहन भी मालूम पड़ता है। कभी सोहन मोहन भी मालूम पड़ता है। कभी उनके नामोंमें स्मृतिसंकर भी होता है। एक ही मनमें हजारों स्मृतियाँ भरी हुई हैं। इसलिए बोलते हैं कि जहाँ-जहाँ श्रुति-स्मृति-पुराणमें भेद मालूम पड़े, वहाँ श्रुति प्रमाण है और श्रुतिके अविरुद्ध होनेपर ही स्मृति प्रमाण है। श्रुति और स्मृतिके अविरुद्ध होनेपर पुराण प्रमाण होते हैं। पहला नम्बर श्रुतिका है। दूसरा नम्बर स्मृतिका और तीसरा नम्बर पुराणका। कहानियाँ प्रमाण नहीं हुआ करतीं। तो जो वेद वाह्यस्मृति है, ज्ञानके विरुद्ध जो स्मरण है, वह बिलकुल प्रमाण नहीं है।

अगर ईश्वर सब जगह रहता है, तो जहाँ हमारा हृदय रहता है, वहाँ है कि नहीं है? जहाँसे हमारे मनमें ईश्वरके दर्शनकी इच्छा उठी है, वह इच्छा उठनेके पहले ईश्वर है कि नहीं है? जब उठी तब ईश्वर है कि नहीं है? है जहाँ इच्छा उठी, वहाँ ईश्वर है कि नहीं है? है भाई है। तो हे इच्छारानी! तुम कहाँ जा रही हो?

एक स्त्री थी। रातमें उसकी नींद टूट गयी। झट् कमरा खोलकर निकल गयी बाहर। इधर-उधर नौकरोंने कहा—'क्या बात है?' वह बोली—'हमारे पतिदेव नहीं हैं।' किवाड़ी खोलकर बाहर निकली, चिल्लाने लगी—'हमारे पतिदेव कहाँ गये?' सब पड़ोसी इकट्ठे हो गये। अब, वह हल्ला सुनकर पतिदेवकी नींद टूटी तो उसी कमरेमें-से बाहर निकले। ये इच्छाएँ भी ऐसी ही हैं।

किसी पत्रिकामें मैंने पढ़ा था—आदमने अपनी पसलीसे हौवाको बनाया। दोनों पति-पत्नीकी तरह रहने लगे। एक दिन आदमको घर लौटनेमें देर हो गयी! हौवाने पूछा—'तुम कहाँ चले गये थे?' शंका हुई उसके मनमें जैसे आजकलकी स्त्रियाँ भी किया करती हैं कि 'तुम किसी दूसरी स्त्रीके पास चले गये।'

आदमने बताया—'संसार भरमें एक ही तो तुम स्त्री हो और एक ही तो मैं पुरुष हूँ! मैं दूसरी स्त्रीके पास कहाँ जाऊँगा? तुम्हारी शंका झूठी है।' उस समय तो वह चुप हो गयी। लेकिन जब आदम नींदमें चले गये, तब वह धीरे-धीरे, उसके शरीरपरसे कपड़ा हटाकर उसकी पसली गिनने लगी। क्यों? जैसे हमको पसलीसे बना लिया था, वैसे कहीं एकाध पसलीसे और भी कोई बनाकर कहीं रखी हो। यह है वहम! इसका नाम होता है भ्रम।

मुझको क्या तू ढूँढे बंदे। मैं तो तेरे पास में।

ईश्वर कहाँ है ? जहाँ तुम्हारा संकल्प उठ रहा है, उस संकल्पके मूलमें ईश्वर बैठा है। जब संकल्प शान्त हो जाता है, तब वहाँ ईश्वर बैठा है। संकल्प जहाँ-जहाँ दौड़ रहा है, वहाँ-वहाँ ईश्वर है। संकल्पके प्रारम्भमें है, संकल्पके अन्तमें है, संकल्प कालमें है, संकल्पके मूल देशमें है, संकल्पके दौड़नेवाले देशमें हैं, संकल्पके शान्ति देशमें है, संकल्पमें आकार आनेके पहले है, संकल्पमें आकार आनेके समय है, संकल्पमें-से आकार निकल जानेके बाद है।

परमात्मा तो तुम्हारे जन्मके पहले और मृत्युके बाद भी जब तुमको नहीं छोड़ता है, तो जीवनकालमें तुमको छोड़कर कहीं चला गया है, यह सिवाय भ्रमके और कुछ हो ही नहीं सकता। तो यह भ्रम क्या है ? इसका नाम कुदृष्टि है। परमात्मा तो बिलकुल अपने पास है।

परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं है। केवल परमात्मा है। अपना आत्मा ही परमात्मा है। इसके सिवाय और कुछ नहीं है। जो लोग भटक रहे हैं, सृष्टिमें, निष्फल है उनका भटकना। कुछ लेकर नहीं आवेंगे, कुछ लेकर नहीं जावेंगे।

उत्तेजनात्मक जितने आनन्द हैं, कुछ काम करनेसे, कुछ भोगनेसे, कुछ अभ्यास करनेसे और कुछ खास तरहकी हालतमें पहुँच जानेसे होते हैं। ये टिकाऊ कोई नहीं है। मनुष्य केवल अपने सिरपर पापका बोझ लेनेके सिवा और कुछ नहीं करता है।

सर्वास्ताः निष्फल—सारी दृष्टियाँ निष्फल हैं। क्यों ? तमोमूला—ये अज्ञानमूलक हैं। तुम दर-दरके भिखारी हो रहे हो, अपने स्वरूपको न जानकर। इसीसे वर्णन करते हैं कि सारे शास्त्रोंमें अद्वैतकी प्रशंसा और द्वैतकी निन्दा मिलती है।

प्रसिद्ध महात्मा भोले बाबाजीके पास एक 'जयदेवीजी' रहती थीं। कई बार मैं बाबासे मिलता था। एक बार 'जयदेवी' आयीं, जयदेवी भी बड़ी वेदान्ती थीं। वह बोलीं—'स्वामीजी ! एक प्रश्न मैं करती हूँ। उसका उत्तर दीजिये। जैसे द्वैतकी निन्दा शास्त्रमें मिलती है, वैसे कहीं आपको अद्वैतकी निन्दा शास्त्रमें मिलती है ?'

मैंने कहा—"भाई ! हमको तो नहीं मिली।

वह बोलीं—'अच्छा, वेदान्त शास्त्रमें कहीं ऐसा लिखा है कि महा-वाक्यके अर्थके अवगमके अतिरिक्त कैवल्यमोक्ष प्राप्त करनेका और कोई उपाय है ?'

मैंने कहा—'नहीं है।'

देखो, एक बड़ी महिमा इसमें यह है कि वेदान्तमें समझदारोका आदर है, बोधका आदर है, ज्ञानका आदर है। उसमें किसी चमत्कारका, किसी योग-युक्तिका आदर नहीं है।

हमारे एक मित्र हैं, वे विदेशमें ज्यादा जाते हैं। उनके चेले बहुत हैं। कभी-कभी आते हैं, तो खूब हँसते हैं। कहते हैं—'महाराज ! वहाँ तो सब परती जमीन पड़ी है। वहाँके लोग तो कुछ जानते ही नहीं अध्यात्मके बारेमें' ऐसे बताते हैं। विदेशमें उनके हजारों चेले हैं। यहाँ भी उनके बहुत चेले हैं।

वे कहते हैं—'हमारे पास विलायती लोग आते हैं। हम कहते हैं, तुम लोगोंने काम बहुत किया, विश्राम करो। छोड़ दो हाथको—पाँवको। शरीरको छोड़ दो, मनको छोड़ दो। ढीला कर दो, ढीला ! देखो, क्या आनन्द आता है !' जब मैं कहता हूँ कि छोड़ दो, तो कोई-कोई तो बैठ जाते हैं। छोड़ देते हैं, तो उनको बड़ा आनन्द आता है। कहते हैं—'वाह-वाह-वाह ! आपने तो एक मिनटमें हमें शान्ति दे दी। इसीका नाम ब्रह्मानन्द होगा।'

असलमें शान्ति तो विश्राममें ही है। यहाँके लोगोंकी बात सुनावें ! मंत्र ध्यान कैसे-कैसे बता देते हैं। जो लोग विचार नहीं करते हैं वे तो समझते हैं, जैसे सट्टेमें हम हजारों-लाखों रुपया कमा लेते हैं, वैसे परमार्थके मार्गमें आये हैं तो लाखों कमाकर चले जायेंगे।' वह बात नहीं है यह ! यह तो अनु-भवकी बात है, अनुभव स्वरूपकी वस्तु है। पंडिताईके साथ उसका कोई रिश्ता ही नहीं है, उल्टा-पल्टा भी नहीं।

मैं अभी काशीमें गया था। एक दिन काशीके एक बहुत बड़े पंडित वैदिक अग्निहोत्री, नाव पर हमारे साथ घूमने गये। उन्होंने हमसे पूछा—'स्वामीजी ! मन बहुत चंचल रहता है, एकाग्र नहीं होता। क्या करना चाहिए ?'

मैंने सोच लिया कि अगर हम यह बतावें कि चंचल रहता है तो रहने दो ! क्या हर्ज है ? लेकिन यह बात उनसे नहीं कह सकते थे; क्योंकि

चंचलता तो उनको दुःख दे रही थी। वह भी नहीं कह सकते थे कि ईश्वरमें मन लगाओ, क्योंकि वे वेदके ज्यादा पंडित थे।

तब मैंने वेदमें ही जो बात मनको एकाग्र करनेके लिए लिखी हुई है, वह सुनायी। तो बोले—'वाह-वाह! मैं तो कितने दिनोंसे यह वेदमंत्र पढ़ता हूँ, परन्तु मेरे ध्यानमें तो यह बात आयी नहीं थी।'

पंडिताईके साथ भी परमार्थका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें जो वेदान्त विभागके अध्यक्ष हैं, वे हमारे तीसेक वर्षसे मित्र तो हैं ही, पूर्वाश्रमके सम्बन्धी भी हैं। हम लोग मिलते, तो वे रोते कि-'हाय-हाय! वेदान्तका ऐसा कोई प्रश्न नहीं है, जिसका हम उत्तर न दे सकें। ऐसी कोई शंका नहीं है कि जिसका हम समाधान न कर सकें। हम दुनियाके सब मतोंका खण्डन करके वेदान्तकी स्थापना कर सकते हैं, लेकिन शोक-मोह हृदयको घेरे हुए हैं। कोई उपाय ऐसा बताइये कि यह शोक-मोह हृदयमें-से जायँ।'

बहुत लोग पढ़ते-लिखते हैं। पंडिताईके साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। यह अनुभवका मार्ग है।

•

: ६ :

श्रुतिमें जीव और आत्माका भेद गौण है

जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम्।
भविष्यद्‌वृत्त्या गौणं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ॥१४॥

अर्थः—श्रुतिने उत्पत्तिके पहले जीव और आत्माका जो भेद बताया है, वह भविष्यद् वृत्तिसे गौण है उसे मुख्य नहीं मानना चाहिए।

अब एक शंका और उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं। शंकाके बारेमें यह एक बड़ी बात है कि यदि जिज्ञासुकी बुद्धिमें शंकाका उदय होवे और फिर उसका समाधान किया जाय, तब तो जिज्ञासुके अन्तःकरणमें-से संशयरूप दोषकी निवृत्ति हो जाती है और उसकी निष्ठा दृढ़ होती है। परन्तु यदि जिज्ञासुके मनमें शंका न हो तो पहले उसके मनमें शंका भरनी पड़ती है और फिर उसका समाधान करना पड़ता है।

प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादुत्सर्पणं वरम्।

अपने शरीरमें पहले गन्दगी पोत लें और फिर धोवें, इससे तो अच्छा यह है कि गन्दगीको अपने शरीरमें पोता ही न जाय। इसीसे वेदान्तमें पहले पढ़ने-पढ़ानेकी प्रणाली अलग थी और जिज्ञासुओंके समाधानकी प्रणाली अलग थी।

बड़े-बड़े विद्यालयोंमें अध्यापक-प्राध्यापक वेदान्तको अध्ययन-अध्यापन-की प्रणालीसे पढ़ाते हैं। इससे शास्त्रकी रक्षा होती है; परन्तु जिज्ञासु अपने समाधानकी दृष्टिसे प्रश्नोत्तर करते हैं। दोनोंमें बहुत अन्तर पड़ता है।

जो व्यक्ति जितना अध्ययनशील होता है, जितना प्रतिभाशाली होता है, जितनी बुद्धि होती है, उसके अनुसार उसका प्रश्न होता है। यहाँ प्रश्न यह है कि तुम कहते हो कि सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य आत्मा और परमात्माकी सिद्ध एकतामें है और वैष्णवादि-शाक्तादिका सिद्धान्त है—आत्मा और पर-मात्माकी साध्य एकता। सांख्य आदि दूसरे तो द्वैत ही मानते हैं। वे न सिद्ध-अद्वैत मानते हैं, न साध्य-अद्वैत।

सिद्ध-अद्वैत और साध्य-अद्वैतमें क्या फरक होता है? यह बात जब ऊँची जिज्ञासा होती है, तब समझमें आती है। वासनाके कारण, कर्तापन-भोक्तापनके कारण, देहादिके साथ एक हो जानेके कारण लोग सचमुच ईश्वरसे अलग हो गये हैं।

'हम भगवान्‌की कृपासे एक होंगे'; 'भगवान्‌के अनुग्रहसे एक होंगे;' 'भक्ति करके एक होंगे;' 'उपासना करके एक होंगे'; 'ध्यानसे एक होंगे;' 'हम अलग हैं, बादमें एक हो जायेंगे;' ऐसी एकताको साध्य एकता बोलते हैं। भक्ति-सिद्धान्तमें इस प्रकारकी एकताको 'सायुज्य' बोलते हैं। पानीमें पानी मिला दिया, सोना गलाकर सोनेमें मिला दिया, यह सब सायुज्य हुआ। जीवका प्रयत्न और ईश्वरका अनुग्रह—दोनों मिलकर एक हो गये।

अद्वैतवेदान्ती जिस एकताका वर्णन करते हैं, वह साध्य नहीं सिद्ध है। माने ध्यान, अभ्यास, प्रयत्न, ईश्वरानुग्रह, किसी साधनसे एकता नहीं होती। वह एकता तो पहलेसे मौजूद है। केवल नासमझीका पर्दा उसके ऊपर पड़ गया है। इसलिए वस्तुको समझ लेनेसे अज्ञानका पर्दा मिट गया। 'एकता' तो पहलेसे ही है। इस सिद्ध एकताको वेदान्तमें 'कैवल्य' बोलते हैं। वेदान्त सिद्धान्त पहलेसे मौजूद एकताका निरूपण करता है, साधन-साध्य एकताका निरूपण नहीं करता।

साधन-साध्य एकता विनाश्य भी होती है। ईश्वरकी इच्छासे जैसे एक होंगे, वैसे ईश्वरकी इच्छासे अलग भी होंगे। प्रयत्नकी शिथिलता, तादात्म्य-वृत्तिकी शिथिलता एकतामें बाधक होगी। वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर्य और गाणपत्यमें उपासनाकी साध्य एकताका निरूपण है।

वेदान्त जिस अद्वैतका प्रतिपादन करता है, वह सिद्ध एकता है, क्योंकि वेदान्त साधक नहीं है, ज्ञापक है। आत्मा-परमात्माकी एकता किसी साधनका फल है, यह बतानेके लिए वेदान्त नहीं है, बल्कि, एकता है-ही-है; प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। वह तो जैसी वस्तु-स्थिति है, उसे समझानेके लिए वेदान्त है।

अच्छा भाई! वेदान्तसे तुम यह बात बता रहे हो कि आत्मा-परमात्मा एक है। परन्तु वेदान्तमें ही इस बातका वर्णन आता है कि आत्मा-परमात्मा एक नहीं, अलग-अलग है। कैसे अलग-अलग सिद्ध करते हो?

देखो, यह सारी सृष्टि जो दिखायी पड़ती है, वह महाप्रलयके समयमें परमात्मामें लीन थी। वहाँ जीवका जीवत्व नष्ट तो नहीं हो गया था, वहाँ

तो अपने पूर्वकल्पकी वासनाओंको लेकर जीव सोया हुआ था। ईश्वरने देखा कि यह जीव अज्ञानका पर्दा ओढ़कर हमारे स्वरूपमें सो गया है। न यह जानता है कि 'हम परमात्मामें सो गये हैं,' अर्थात् उस समय उसके लिए न मोक्षपुरुषार्थ है। न तो यह अपनी वासनाओंको जाग्रत् करके भोग ही कर रहा है कि इसको धन मिले, भोग मिले, (माने अर्थ और काम पुरुषार्थ भी वहाँ नहीं है)। न तो यह धर्मानुष्ठान ही कर रहा है जिससे अन्तःकरण शुद्ध होवे।

अतः श्रुति यह वर्णन करती है कि जीवकी यह दशा देखकर कि न इसके पास इन्द्रिय है कि संसार देखे, न इसके पास अन्तःकरण है कि भावना करे, न इसके पास कोई विषय है कि उनका संग्रह करे। न इसका अन्तःकरण ही शुद्ध है कि अभिमान करे या उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके अज्ञानको मिटा दे। इसलिए परमात्मासे वह एक नहीं हो सकता। तब परमात्माके हृदयमें बड़ी करुणाका उदय होता है। किस जोवके हृदयमें कौन-सी वासना है यह देखकर वासनाके अनुरूप भगवान्ने जीवको शरीर दे दिया। वासना तो लीन-अन्तःकरणमें थी और अविद्याके कारण जीव सोया हुआ था।

जिसके मनमें आसमानमें उड़नेकी वासना थी, उसे चिड़िया बना दिया। जिस जीवकी वासना सिद्धिके लिए प्रबल थी कि आकाशमें उड़ें, उसे भी भगवान्ने चिड़ियाका शरीर दिया। भगवान्ने कहा 'बेटा! थोड़े दिन तुम आकाशमें उड़नेका मजा लो! किसीके मनमें इच्छा थी कि हम पानीमें रहें, लेकिन गल न जायँ। यह भी सिद्धिकी इच्छा थी। भगवान्ने कहा—'अच्छा बेटा! तुम मछली हो जाओ।' किसीके मनमें अपने दुश्मनको सतानेकी इच्छा थी कि हम तो उसको काटेंगे। भगवान्ने उसको साँप-बिच्छू बना दिया, किसीके मनमें भोगकी बहुत वासना थी। उसे अप्सरा बना दिया, देवता बना दिया।

अभिप्राय यह है कि ईश्वर पहलेसे मौजूद था, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वनिर्माणमें समर्थ! अमुक-अमुक वासनावाले जीव भी पहलेसे मौजूद थे। फिर ईश्वरने समष्टिकी सृष्टि की; जीवको उपाधियाँ दी कि तुम यह अन्तःकरण लो, ऐसी इन्द्रियाँ लो। ऐसा शरीर लो। जीव अपनी-अपनी उपाधियाँ लेकर डोलने लगे।

इस संसारमें जो जीव मनुष्यके रूपमें, पशुके रूपमें, पक्षीके रूपमें भटक रहे हैं, वे ईश्वरसे उपाधि प्राप्त करके जनम रहे हैं और मर रहे हैं। उपाधिको जन्म देनेवाला ईश्वर और उपाधिका अभिमान करनेवाला जीव और तत्-तत्

गति प्राप्त करनेवाला जीव। सृष्टिका कर्ता ईश्वर और अपनी वासानाके अनुसार सृष्टिका भोक्ता जीव।

जीवके मनमें भोगकी इच्छा भी होती है, हिंसा भी होती है और चिकीर्षा माने करनेकी इच्छा भी होती है। यह भी वासना है। परन्तु ईश्वरके मनमें भोगकी इच्छा नहीं होती, लिप्सा नहीं होती। उसके मनमें केवल चिकीर्षा ही होती है।

जीव ईश्वरपनेका भेद उपासक लोग कैसे मानते हैं, यह सुनाते हैं। 'योगभाष्य'में एक जगह लिखा है—'जो खाकर खुश हो वह जीव और जो खिलाकर खुश हो, वह ईश्वर।' 'विज्ञानभिक्षु'ने 'योगसूत्र'पर जो 'वार्तिक' लिखा है, उसमें बिलकुल स्पष्ट है—'अपने भोगसे जो संतुष्ट होता है सो जीव और जो दूसरोंको भोग देकर संतुष्ट होता है सो ईश्वर।' दुनियाके भोगमें लग जाय सो जीव और जो जीवको उसके कर्मानुसार भोगका दान करे, उसका नाम ईश्वर।

यह सृष्टि बननेके पहले भी कर्तापन और भोक्तापन था। उसीके अनुसार सृष्टि बनी। तब यह बात बनी कि हाँ भाई, सृष्टिके पूर्वसे ही जीव और ईश्वरके पृथकत्वका निरूपण मिलता है।

ऐसे कहो कि जब ये सभी जीव नहीं मिले थे, सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब प्रलयकालमें सब जीव अलग-अलग थे और उनको जन्म देनेवाला ईश्वर मौजूद था। तब—

तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। (तैत्ति० २.६)

उसीने सृष्टिका निर्माण किया और उसमें प्रवेश किया। और—

जीवेन आत्मा अनुप्राविशत्।

यह तो उपनिषदोंमें ही लिखा है। इससे मालूम होता है कि उपनिषद् प्रलयकालमें भी जीव और ईश्वरका भेद मानते हैं। इससे यह निर्णय होता है कि वे प्रलयकालमें भी बीजरूपसे वासना मानते हैं। यह सब-की-सब सृष्टि सादि है, ईश्वरकी रचना है और ईश्वरने सृष्टिकी रचना की है, ऐसा भी वर्णन उपनिषदोंमें है।

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः। (बृहद० २.१.२०)

जैसे आगमें-से अनेक चिंगारियाँ निकलती हैं, वैसे परमात्मामें-से अनेक जीवरूप चिंगारियाँ निकलती हैं। इन सब बातोंको देखनेसे मालूम पड़ता है

कि जीव और ईश्वरका भेद पहले भी था। ईश्वर और जीवका भेद माननेपर कई बातें समझमें आती हैं।

गणितज्ञ बड़ी-से-बड़ी संख्याका ऐसा विभाग कर देंगे कि पहली ही बारमें शून्य शेष बच जाय। परन्तु यदि बच्चा हो तो कई बार प्रयत्न करनेपर ऐसा कर सकेगा और शायद नहीं भी कर सके। तो समझानेकी रीति बच्चोंके लिए जुदा और बड़े-बूढ़ोंको समझानेके लिए जुदा होती है।

यह शरीर जीव नहीं है। इस जगत्का कर्ता ईश्वर है जो कर्मके अनुसार फल देता है। यह बात व्युत्पत्ति बढ़ानेके लिए कही गयी है। जब देह नहीं था, तब भी हम थे और जब देह नहीं रहेगा, तब भी हम रहेंगे। तो, 'हम अन्नमय कोशवाले नहीं हैं। हम प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-कोशसे युक्त सूक्ष्म शरीरवाले हैं—यह बतानेके लिए कहा गया।

वेदान्तियोंको अगर कहा जाय कि 'गाँव-गाँवमें तुम वेदान्तकी पाठ-शाला खोल दो, लोगोंको यह समझाओ कि तुम देहसे परे हो'—तो बड़ा मुश्किल पड़ेगा।

नये-नये बच्चे पैदा होंगे, मूर्ख लोग भी रहेंगे, पागल लोग भी रहेंगे, जिनकी बुद्धि कमजोर हो ऐसे लोग भी रहेंगे। तो उनको कैसे समझाओगे कि देह मरनेके बाद भी आत्मा रहता है? इसके लिए सनातन धर्मकी रीति यह है कि मृतात्माका श्राद्ध किया जावे।

गाँव-गाँवमें मूर्ख लोग भी श्राद्ध करते हैं। और विद्वान भी। बाप मर जानेपर बच्चे भी श्राद्ध करते हैं। क्यों? यह विश्वास मनुष्यके चित्तमें बिना विज्ञानके, बिना स्वाध्याय और बिना वेदान्तके बैठा देते हैं कि 'मरनेके बाद भी आत्मा रहता है।' यह कितना उपयोगी है! देह आत्मा नहीं है, देहसे न्यारा आत्मा है।

क्या सब लोग प्रशिक्षित ही होंगे? क्या विश्वासके आधारपर किसीको चलना नहीं है? क्या दुनियामें विश्वास नामके तत्त्वकी आवश्यकता है ही नहीं? ये धनी-धूनी और पढ़े-लिखे लोगोंका ऐसा विचार है कि ऐसा कोई समय आवेगा! जब संसारमें श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता नहीं रहेगी, लेकिन यह बात गलत है। यह सारी बात हम पूर्वपक्षके आधार पर कर रहे हैं।

श्राद्धसे 'वेदपर विश्वास करना चाहिए'—यह बात आयी कि नहीं आयी? वेदपर विश्वास नहीं करोगे तो श्राद्ध ही कैसे करोगे? वेदके तात्पर्यका निर्णय कैसे करना चाहिए, यह सीखनेकी रुचि पैदा होगी कि नहीं होगी?

देहसे अतिरिक्त आत्मा है। इसका फल होगा जब मरे हुए माँ-बापका श्राद्ध करना चाहिए, तो जिन्दा माँ-बापपर कितनी श्रद्धा करनी चाहिए ! एक ओर तो माँ-बापपर श्रद्धा, दूसरी ओर देहसे अलग अपनेको जानना, तीसरी ओर वेद-पुराणपर श्रद्धा और चौथी ओर हमारे द्वारा किये गये श्राद्धके फलको हमारे पितरतक पहुँचानेकी मशीनरी या ईश्वरके विधानका ज्ञान। कोई ऐसा विधाता है, जो हमारे द्वारा किये हुए श्राद्धका फल पितरतक पहुँचा देता है। और न पहुँचे तो ? जैसे मनीआर्डर जिसको भेजो उसको न मिले, तो भेजनेवालेके पास वापिस आजाता है, ऐसे ही जिसे कर्मफल भेजो उसे न मिले, तो कर्मके कर्ताको वह प्राप्त होता है।

वस्तुतः कर्मका फल कर्त्ताको ही मिलता है। यही वेदान्तका सिद्धान्त है। आपको यह बात नमूनेके तौर पर बतायी। यह बात जाननेकी जरूरत भी है कि देहसे अतिरिक्त आत्मा है। विवेककी कक्षामें यह आता है। हमारी आँख ऐसी बनी, चींटीकी आँख ऐसी बनी; साँपकी आँख ऐसी बनी; साँपके पास हाथ पाँव नहीं और चिड़ियाके पास दो ही पाँख उड़नेको—यह भेद कैसे बन गया ? वासनाके अनुसार बन गया।

समुद्रमें तरंग कैसे उठती हैं ? जब सबकी मिट्टी एक है, तो अलग-अलग शरीर कैसे बना ? सबके पञ्चभूत एक हैं तो अलग-अलग भोग और अलग-अलग बुद्धि, अलग-अलग शरीर—यह निर्माण कैसे बना ? इससे पूर्वकर्मकी सिद्धि होती है। पूर्वकर्मके अनुसार भगवान् सबको देते हैं।

ये सब बातें पूर्वसृष्टिके सम्बन्धमें कही गयी हैं। 'प्रागुत्पत्तेः।' तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य ज्ञानकी उत्पत्ति होनेके पहले ही है और यदि यह ज्ञान हो जाय तो ? सर्व आत्मा ही है।

आप पंचदशीमें पढ़ते होंगे—

ईशकार्यं जीव भोग्यं जगद्द्वाभ्यां समन्वितम्। (४.१८)

मिट्टी-पानी-आग-हवा-आसमान ये सब ईश्वरसृष्टि है और यह हमारी पत्नी, यह हमारा बेटा, यह हमारा मकान, यह हमारा पैसा, यह किसने बनाया ? जीवकी बनायी सृष्टि जुदा और ईश्वरकी बनायी सृष्टि जुदा। यह तो साफ ही बँटवारा मालूम पड़ता है। एक जीव और एक ईश्वर–यह बातको वेदान्तसे भी सिद्ध होती है।

कर्मकाण्डकी श्रुति बताती है—'तुम कर्ता हो।' बहुत बढ़िया ! पाप-पुण्यका विभाग बताया। आपको मालूम पड़े कि पापसे दुःख मिलता है, पुण्यसे सुख होता है। तो पापकर्म मत करो, पुण्य करो। वासनाके अनुसार पुनर्जन्म होता है, नरक-स्वर्ग होता है, तो वासनाको शुभ बनाओ या नष्ट करो।

पाप-पुण्यसे धर्मका समर्थन हुआ और वासनाको शुभ बनाओ, इससे भक्तिका समर्थन हुआ। वासनाको मिटाओ, इससे योगका समर्थन हुआ। इसलिए जो लोग वेदके एक अंशको प्रमाण और एक अंशको अप्रमाण मानते हैं, उनकी तो सारी बात ही कट गयी। कर्मकाण्ड तो बहुत उपयोगी वस्तु है। वेदकी व्याख्याकी रीति आ गयी। कहाँ विधि है, कहाँ परिसंख्या है, कहाँ अर्थवाद है। वेदकी व्याख्याकी रीति जब कर्मकाण्डमें आ जाती है, तब उपनिषद्की व्याख्या समझनेमें सुगमता हो जाती है।

वेदपर श्रद्धा करनेसे वेदकी व्याख्या-रीति आयी और देहातिरिक्त आत्मा है, यह विश्वास हुआ। पाप-पुण्यकी सिद्धिसे धर्मकी सिद्धि हो गयी और शुभवासना करनेसे उपासनाकी सिद्धि हो गयी। जन्मसे बचना चाहते हो तो वासना-क्षय करो—इससे योगकी सिद्धि हो गयी। अब केवल एक ही बात अटकी रह गयी। यह क्या है? कि अज्ञान बना हुआ है। जबतक अज्ञान बना हुआ है, तबतक सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति, सच्चा सुख नहीं है। बेवकूफीमें आदमी पड़ा रहे, फँसा रहे, और अपनेको सुखी भी माने? लोग तो हँसते हैं कि 'देखो, यह कितना बेवकूफ है?'

एक व्यापारीने व्यापार किया। वह बड़े धोखेमें पड़ गया। किसी मिनिस्टरके बेटेके चक्करमें पड़ गया। बेटेने लाखों रुपयेका नुकसान करवा दिया, ले लिया, ठग लिया! वह तो समझता था कि करोड़ों रुपयेकी आमदनी होनेवाली है। वह समझे कि हम बड़े बुद्धिमान! जो लोग उस बेटेको समझते थे, वे हँसते थे कि यह उसकी बेवकूफीका मजा ले रहा है। बादमें जब पर्दा खुला तब वह दुःखी हो गया कि नहीं?

संसारके जीव जब अभिमान करके खुश होते हैं, तब बुद्धिमान लोग हँसते हैं कि उनका अभिमान टूट जायगा। चाहे धनका अभिमान हो, चाहे सुन्दर स्त्रीका अभिमान हो! योग्य बेटा होनेका अभिमान हो, स्वस्थ शरीरका हो, विद्याका हो, तपस्याका हो या समाधिका हो, सारे-के-सारे अभिमान एक दिन टूटनेवाले ही हैं और तब दुःख होगा। जो परिच्छिन्नका अभिमानी बनकर बैठेगा वह परिच्छिन्नके अत्यन्ताभावकी चोटसे घायल हो जायगा, मटियामेट हो जायगा। कोई अभिमान करके खुशी नहीं हो सकता।

जो लोग विषयभोग करके सुखी हैं, तो समझो कि विषय नाशवान् हैं इन्द्रियोंमें शक्ति ज्यादा है नहीं, मनकी रुचि बदल जाती है और सुषुप्तिमें भोक्तापन शान्त हो जाता है। तो क्या मजा आवेगा?

जो लोग योजना ही बना-बनाकर सोचते हैं कि हम सुखी हो जायेंगे—

'भविष्यदवृत्त्या'—तो भविष्य तो उनके हाथमें है नहीं ! अभिमान करके जो खुश हैं, वे बेवकूफीसे खुश हैं। विषय भोगवाले भी बेवकूफीसे खुश हैं। और आगेके लिए मनोराज्य करके जो खुश हैं, वे भी बेवकूफीसे खुश हैं।

अपने मनमें आदत पड़ गयी कि सीधे बैठते हैं तो बड़ा मजा आता है और टेढ़े बैठते हैं तो मजा चला जाता है—उनका मजा भी खतरेमें ही है। एक साधु आये दिल्लीमें हमारे मित्रके घरमें। बोले—'हम तीन-चार दिन तुम्हारे घरमें ठहरना चाहते हैं।'

'महाराज, ठहरो ! बड़ी कृपा है।'

लेकिन वे बोले—'हम भजन करते हैं तीन घंटा। भजन करते समय यदि कोई आवाज हमारे कानमें पड़ जायगी, तो हम मर जायेंगे।'

गृहस्थ-मित्र बोले—'महाराज ! कृपा करो, हमारे घरमें मत ठहरो ! क्योंकि हमारे घरमें बच्चे हैं। कभी चिल्ला पड़ेंगे, कभी रो पड़ेंगे और आप तो मर जाओगे, तो हम हत्या नहीं लेना चाहते।'

ऐसा अभ्यास उनको पड़ गया था कि यदि भजनके समय आवाज उनके कानमें पड़े तो, मरते नहीं हैं, दुःखी हो जाते हैं।

ये तीन बात पर्यायवाची है वेदान्तमें—दुःखी होना, मरना और बेवकूफ होना। सच्चिदानन्द तीन तो है नहीं, एक है। आनन्दके विरुद्ध है दुःखी होना, चित्के विरुद्ध है बेवकूफ होना और सत्के विरुद्ध है मरना। सत् मरता नहीं, चित् बेवकूफ नहीं होता, आनन्द दुःखी नहीं होता। दुनियामें अपनेको मरनेवाला मानना बेवकूफी है, दुःखी मानना बेवकूफी है, बेवकूफ मानना बेवकूफी है, क्योंकि सच्चिदानन्दघन जो आत्मतत्त्व है, ब्रह्मतत्त्व है, उसमें अज्ञान नाममात्रको नहीं है।

तो फिर प्रश्न आया कि आपने जीवको कर्ता-भोक्ता बताया; ईश्वरको कर्ता बताया, और जीवोंकी वासनाके अनुसार उनके कर्मका फलभोग देनेके लिए ईश्वरने सृष्टिका निर्माण किया, ऐसा बताया। उपनिषदोंमें ही ये बातें आती हैं। पूर्वजन्ममें जो जैसा कर्म करता है, उसे उत्तर जन्ममें वैसी जाति प्राप्त होती है—

> तद्य इह रमणीय चरणाभ्याशोह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूय चरणाभ्याशो ह यत्ते कपूयांयोनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥
>
> (छां० ५.१०.७)

बुरा आचरण करोगे तो बुरी जाति मिलेगी। यह सब ठीक है। परन्तु असलमें वेदान्तका तात्पर्य यह सब बतानेमें नहीं है।

इसको दूसरी ओरसे देखो—यह बात बतायी—क्योंकि संसार बनाया हुआ है इसलिए बिगड़ जायगा। तो सृष्टि-प्रलयकी जो श्रुति है, वह वैराग्यके प्रतिपादनके लिए है कि यह प्रपंच अनित्य है। इस प्रपंचमें जो मनुष्य फँसे हुए हैं, उनके स्तरकी दृष्टिसे है। सृष्टि-श्रुतिका तात्पर्य सृष्टिमें नहीं है। प्रलय-श्रुतिका तात्पर्य प्रलयमें नहीं है। वचनमात्रसे अर्थ नहीं निकलता है, तात्पर्य-वचनसे अर्थात् वचनमें जो तात्पर्य होता है उससे उसका अर्थ ग्रहण करना पड़ता है। श्रुति स्पष्ट रूपसे कहती है कि केवल सत् ही सत् था। वह एक ही था; अद्वितीय था और सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद शून्य था—

सदेव सोम्य इदमग्रे आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। (छां ६.२.१)

ऐसा श्रुति ही कहती है, श्रुति यह भी कहती है—'जीव भी था, उसकी वासना भी थी, ईश्वर भी था, उसने सृष्टि बनायी।

तत्त्वकी दृष्टिसे जो प्रतिपादन है, वह तो यह है कि—'एक-अद्वय पर-ब्रह्मके सिवाय दूसरी वस्तु नहीं है। इससे भिन्न जो प्रतिपादन है, वह जीवके जीवनमें, मनुष्यके जीवनमें उस अद्वयतत्त्वके ज्ञानकी प्राप्तिके लिए अपेक्षित तैयारीका समर्थन करनेके लिए है।

आपको बताया कि कर्मकाण्डका प्रतिपादन साधकके लिए कितना उपयोगी है। यह श्रुति 'झूठ' ही बोलती है। सच और झूठ बोलनेका जो ढंग है उसके बारेमें आप जानते हैं कि बातको बोलनेकी लोगोंको आदत पड़ जाती है, और दो-चार पीढ़ीसे पड़ी हो, तब तो उसको बिलकुल सच्ची ही समझते हैं।

बच्चेको एक लकीर कागजपर खींच देते हो, एक पंचकोण आकृति कागजपर बना देते हो और बच्चेको कहते हो कि यह 'अ' है। 'अ-कार' पंचकोण होता है। पाँच कोने होते हैं 'अ' के। योगशास्त्रकी रीतिसे जब अकारका ध्यान करना होता है, तब उसे पंचकोणका ध्यान करना पड़ता है। लेकिन उसी बच्चेको जब अंग्रेजी लिपि पढ़ाते हो, तब 'अ' दूसरे ढंगसे बताते हो कि नहीं? अरबी लिपि पढ़ाते हो तब? तमिल हो तो? तेलगू हो तो? लैटिन हो तो? रशियन हो तो? जर्मन हो तो?

अ—अक्षरका ज्ञान करनेके लिए भिन्न-भिन्न लिपियोंका उपयोग किया जाता है। किसीने कहा कि 'यह आकृति झूठी है, 'नागरीलिपि ठीक नहीं'; 'तमिलवाली ठीक है'; 'तेलगूवाली ठीक है;'—ये आपसमें लड़ते हैं पट्ठे!

असलमें बच्चेको 'अ' सिखानेके लिए सब लोग भिन्न-भिन्न लिपिका उपयोग करते हैं। तात्पर्य लिपिमें नहीं होता है, तात्पर्य 'अ'कारके बोधमें होता है। वेदान्तदर्शनमें बोलते हैं—

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यमेवावगम्यते।

असत्यका आश्रय लेकर सत्यका ज्ञान प्राप्त किया जाता है—

अक्षरावगमावलब्धये यथा स्थूलवर्तुलदृषत्परिग्रहः॥

जैसे अक्षरका बोध प्राप्त करनेके लिए मोटी-मोटी गोल-गोल गोटियोंका आश्रय लेते हैं और गोटियोंसे अक्षर बना-बनाकर बताते हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्माका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए संसारकी अनित्यता समझायी जाती है, उत्पत्ति और प्रलयकी वास्तविकताके लिए नहीं। हमारा ब्रह्मकारणवाद अद्भुत है। तुम तो कहते ही हो—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। (तैत्ति० ३.१)

परब्रह्म परमात्मासे ये सब भूत पैदा हुए। तो वेदांत जातवादी है कि अजातवादी

जन्माद्यस्य यतः। (ब्र० सू० १.१.२)

जिससे संपूर्ण विश्वप्रपंचका जन्म-क्षेम-भंग होता है, तो वेदान्त जातवादी हुआ न? क्योंकि बताता है कि ब्रह्मसे सृष्टि होती है।

निमित्तकारणके रूपमें कि उपादानकारणके रूपमें? कुम्हारकी तरह ब्रह्म है? कि माटीकी तरह ब्रह्म है? निमित्तकारणमें किसी भी कार्यका प्रलय तो होता ही नहीं। घड़ा फूटकर कुम्हारमें नहीं मिलता है, मिट्टीमें मिलता है,। संसार तो ब्रह्ममें मिलनेवाला है, तो ब्रह्म इसका निमित्तकारण नहीं होगा, उपादानकारण होगा। इससे यही बात बिलकुल साफ हो जाती है।

यदि ब्रह्म जड़ होवे और उपादानकारण होवे, तब तो वह परिणामी सिद्ध होगा—बदलनेवाला! परन्तु चैतन्य बदलनेवाला नहीं होता। एक बार कारणावस्थामें रहे और एक बार कार्यावस्थामें रहे। ऐसी जड़की तो दो अवस्था होगी, चैतन्यकी नहीं, चैतन्य तो प्रकाशक-मात्र साक्षीमात्र होगा। चैतन्यब्रह्मको जगत्का कारण मानना और उसको परिवर्तनशील भी मानना, यह बात नहीं बन सकती।

चैतन्य वह होता है, जो एकरस साक्षी रहता है, परिवर्तनोंका साक्षी रहता है। जो स्वयं परिवृत्त होता है, वह चैतन्य नहीं। पहले यह तो बताओ, कि ब्रह्म चैतन्य है, यह कैसे सिद्ध होगा? जो लोग ब्रह्मको अन्य भी मानते हैं, और चैतन्य भी मानते हैं, वे केवल चौपाटीपर बैठकर चाट ही खाने लायक हैं, वेदान्तका विचार करने लायक नहीं हैं। अन्यत्व भी और चैतनत्व भी—दोनों बात एक साथ नहीं रह सकती।

अच्छा, देखो ! हमसे ब्रह्म अलग है, तो विचार करो ! हमारे रहकर सामने ब्रह्म हमसे अलग है कि हमारे पीछे रहकर ब्रह्म हमसे अलग है ? माने दृश्य होकर ब्रह्म हमसे अलग है अथवा अज्ञात होकर ब्रह्म हमसे अलग है ? अगर दृश्य होकर ब्रह्म हमसे अलग होवे, तो वह हमसे प्रकाशित ब्रह्म जड़ हो गया न ? वह चैतन्य ही नहीं रहेगा। यदि हमारे पीछे अज्ञातरूपमें—रहस्यके रूपमें रहकर ब्रह्म हमसे अलग है, तो हम केवल आँख बन्द करके उसके बारेमें सोच सकते हैं। उसका साक्षाद्–अपरोक्ष अनुभव तो कभी नहीं हो सकता। इसका अभिप्राय है कि हमसे अलग होकर कोई भी दूसरी चीज चैतन्य हो ही नहीं सकती।

ब्रह्म किसीके अनुभवमें आया कि नहीं आया ? अनुभवमें आया, तो अनुभाव्य है, जड़ है। नहीं आया, तो कल्पित है, परोक्ष है। तब ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, चैतन्यस्वरूप है, इसकी सिद्धि कैसे होगी ? 'प्रत्यक्‌चैतन्या भेदेन।' हमसे अभिन्न हो करके ब्रह्म चैतन्य हो सकता है।

हम ब्रह्मसे अलग हों तो ? यदि हम ब्रह्मसे अलग हों तो तीन बात हमारे अन्दर आवेगी। हम या तो साढ़े तीन हाथके होंगे या अँगूठे-भरके होंगे या बिन्दी-बराबर होंगे। तीन गति हमारी हो जायगी। हम देशसे परिच्छिन्न हो जायेंगे, चाहे अणु बराबर हो जायँ ! चाहे अंगूठे भर हो जायँ, चाहे साढ़े तीन हाथके हो जायँ, हम ब्रह्मसे अलग होनेपर अपरिच्छिन्न और नित्य नहीं रहेंगे। क्षणिक चैतन्य हो जायेंगे हम। ब्रह्मसे अलग होनेपर हम जड़ वस्तुकी तरह वजनदार हो जायेंगे, तब आत्मा एक माशा, एक तोलाका होने लगेगा।

आत्मा वस्तुपरिच्छिन्न होनेपर वजनदार हो जायगा, कालपरिच्छिन्न होनेपर अनित्य, विनाशी, क्षणिकचैतन्य हो जायगा, देशपरिच्छिन्न होनेपर साढ़ेतीन हाथ, अँगूठेभर या अणु-बराबर हो जायगा। ये तीनों तो आत्माके दृश्य हैं ! ये तीनों तो चैतन्यके दृश्य हैं। कालका प्रवाह, देशकी सीमा और वस्तुका वजन ये तो दृश्य हैं। आत्मामें ये बातें आ ही नहीं सकतीं।

आत्मासे अलग होकर ब्रह्म जड़ होगा; ब्रह्मसे अलग होकर आत्मा देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न होगा। देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न आत्माका होना बिलकुल अनुभव-विरुद्ध है। इसलिए ब्रह्म न अनुभाव्य है, न तो अनुभवातीत है। ब्रह्म क्या है ? अनुभवस्वरूप है। आत्मस्वरूप है। अनुभवातीत होनेपर ब्रह्म कल्पित हो जायगा। अनुभाव्य होने पर ब्रह्म जड़ हो जायेगा।

प्रत्यक्‌चैतन्य और ब्रह्मका अभेद है। परन्तु 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य इसके ज्ञानमें साधक नहीं हैं, उत्पादक नहीं हैं, वचन वस्तुका उत्पादक नहीं होता। वचन वस्तुका ज्ञापक होता है। वचन वस्तुको पैदा नहीं करता है।

वचन केवल यथास्थित वस्तुका ज्ञापक होता है। तत्त्वमस्यादि महावाक्य आत्माकी ब्रह्मताके ज्ञापक हैं, आत्माकी ब्रह्मताके उत्पादक नहीं हैं।

मैंने पहले आपको सुनाया कि उपासना और योगमें परमात्माके साथ सायुज्य माना जाता है, वह साध्य है। वेदान्तमें आत्मा और ब्रह्मकी एकता मानी जाती है, वह सिद्ध है। साध्य एकता वचनसे उत्पन्न नहीं होती। वचनसे तो केवल वस्तुका ज्ञान होता है, वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि वचनसे वस्तुकी उत्पत्ति होवे तो ? तो जादूका खेल होगा, मायामात्र होगी। उसमें वास्तविकता नहीं होगी। इसलिए तत्त्वमस्यादि महावाक्यसे आत्मा और ब्रह्मकी एकताका जो निरूपण है, वह सिद्ध एकताका निरूपण है, साध्यका नहीं।

जिज्ञासुको चाहिए—(१) पहले वह परमानन्दकी प्राप्तिकी इच्छा करे। क्यों ? क्योंकि संसारमें बराबर आनेवाले आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःख उसको ऊपर उठनेकी प्रेरणा देते हैं।

(२) फिर वह जिज्ञासु आनन्दकी जिज्ञासा करे। कहाँ आनन्द है ? पुण्यात्मा होनेमें आनन्द है ? केवल उपासनामें आनन्द है ? केवल योगाभ्यासमें आनन्द है ? या सिद्ध आनन्दका खजाना जो अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वय है, उसका साक्षात्कार होनेमें आनन्द है ? इस आनन्दकी जिज्ञासासे क्या होगा ? परमानन्द स्वरूप परमात्मासे प्रीति होगी और परमात्मासे अतिरिक्तसे वैराग्य होगा।

(३) अब एक कदम और आगे रखो—विवेक करो। अपना आत्मा चैतन्य है और 'अतोऽन्यदार्तम्—अपनेसे जो भिन्न है, वह मरणशील है, दृश्य है, जड़ है, विकारी है। अपने ही अभावके अधिकरणमें वह भास रहा है, ज्ञान-निवर्त्य है।

जिस रीतिसे प्रपंचका मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं अद्वैतसिद्धिकार, चित्सुखीकार, उस रीतिसे विचार करते-करते यह निर्णय करो कि आत्मा स्वयंप्रकाश है। अपने-आपको जाननेके लिए किसी दूसरी रोशनीकी जरूरत नहीं है। सूर्य न हो, चन्द्रमा न हो, अग्नि न हो, बिजली न हो, दूसरा कोई हमें देख न रहा हो, दूसरा कोई प्रकाश न हो, हमारी आँख न हो, बुद्धि न हो, तब भी हम अपने-आपको जानते हैं। आत्मा द्रष्टा है, बाकी सब दृश्य है, जड़ है। दृश्य जड़से हम विविक्त नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हैं।

(४) अब अगला कदम उठाओ—आत्मा सत्, चित् और आनन्द है। ये सत्-चित्-आनन्द एक हैं, और आनन्दसे दूसरा दुःख तथा चित्से दूसरा जड़ सत् नहीं है, असत् है। असत् माने न होना। सच्चिदानन्दघन आत्मा ब्रह्म है और सृष्टि जड़ दुःखरूप असत् है, है ही नहीं, अतः ब्रह्मात्मासे भिन्न कुछ नहीं है।

(प्रश्नः—)लेकिन महाप्रलयमें इस सृष्टिका बीज रहता है, उसका प्रतिपादन श्रुतिमें है। उसको क्या करें?

(उत्तरः–) भविष्यद्वृत्त्या गौणं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ॥

बोलनेकी भाषाका निर्णय करना होता है कि 'यह अभिधावृत्ति है, लक्षणावृत्ति है, मुख्या है या गौणी है।' अभिधेयका बोध अभिधावृत्ति कराती है। अभिधेयसे सम्बद्धका बोध लक्षणावृत्ति कराती है। अभिधेयसहित अभिधेयसम्बद्धका बोध अजहत् लक्षणा कराती है। अभिधेयसे पृथक् अभिधेयसम्बद्धका बोध जहत्-लक्षणा कराती है। यह इनकी शैली होती है। यह बोलनेका ढंग है। यह नहीं समझना कि यह बड़ी दूरकी कौड़ी लायी हुई है। हम लोग रोज अपनी बोलीमें जैसे बोलते हैं, उसीका विश्लेषण, खुलासा, उसीका विवरण है।

हम कहते हैं—'दो कौर खा लो।' यह क्या हुआ? 'दो कौर खाना' अभिधेय भी है और इससे सम्बद्ध ज्यादा खाना भी इसमें आ गया? यह अजहत् लक्षणा हो गयी।

'भाई! तुमने हमको बात क्या सुनायी? हमको तो बिच्छू डंक मार गया।' यहाँ बिच्छू कहीं नहीं है, यह जहत् लक्षणा हो गयी। बिच्छूको छोड़ो, उसके डंक मारनेसे जैसे दुःख होता है, वैसा दुःख होगया। यह अर्थ जहत् लक्षणासे हुआ।

'यह वही आदमी है'—यह क्या हुआ? 'जहत् अजहत्' लक्षणा हो गयी यह, वहको छोड़कर आदमीका ग्रहण है। तो, कहीं अभिधावृत्तिसे बात कही जाती है, कहीं लक्षणावृत्तिसे बात कही जाती है। कहीं गौणीवृत्तिसे, तो कहीं मुख्यावृत्तिसे बात कही जाती है।

'इस सृष्टिके पहले जीव थे, वासना थी, बनानेवाला था, कर्ता था, भोक्ता था।' यह बात तब कही जाती है, जब इस समय तुम्हें इतना प्रपंच दिखायी पड़ रहा है। श्रीसुरेश्वराचार्य ने कहा—

अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किं न पश्यति संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम् ॥

जब तुमको बेटा दीखता है, बेटी दीखती है, पापीपना दीखता है, पुण्यात्मापना दीखता है; जब तुम इतने झूठमें फँसे हुए हो, जिसका कोई सिर-पैर नहीं; तब इसको मिटानेके लिए यदि श्रुतिने गौणीवृत्तिसे पूर्वावस्थाका वर्णन कर दिया। तो क्या आपत्ति है? वह इसीकी दृष्टिसे है–'भविष्यद्वृत्त्या गौणं तत्।'

'प्रलयमें ऐसा है'—यह बात कैसे मालूम हुई? जैसा आजकल हुआ है वह कैसे हुआ? वह जीवोंकी वासनाके अनुसार हुआ, ईश्वरके करनेसे हुआ।

यह कर्मका फल है—यह कार्य कारणात्मक संगति हुई। वर्तमान प्रपंचकी संगति बैठानेके लिए बात कही गयी है। यह तात्त्विक निरूपण नहीं है, मुख्य निरूपण नहीं है, यह गौण निरूपण है।

एक महात्मा थे। दिल्लीमें कभी-कभी आते थे। जिज्ञासु बड़ी श्रद्धा करते थे उनपर। क्योंकि उनके पास कोई संग्रह-परिग्रह नहीं था, वड़े विरक्त थे, त्यागी थे। पैदल चलकर आये। किसीने पूछा—'महाराज ! कहाँसे आये ?

महात्मा—'बस, अभी रूससे आ रहा हूँ।' अभी वैठे ही थे तबतक दूसरा आदमी आया। पूछा—'महाराज ! कहाँसे पधारे ?

'अमेरिकासे आ रहा हूँ।'

तीसरा आदमी आया, उसने पूछा— महाराज ! कहाँसे आये !

स्वर्गलोकसे अभी आ रहा हूँ। तीनों बैठे थे सामने। बोले— महाराज तीनों आदमीसे आपने तीन बात कही ! क्यों ?

महाराज बोले—'अपने स्वरूपमें न कहीं आना है, न जाना है। न कहींसे आये, न कहीं गये। आना-जाना केवल कल्पना है। तुम लोग हमारे असली स्वरूपको तो जानते नहीं, झूठी बात पूछते हो।'

गत्यागमनयोरपि जनने मरणे चैव।

'न हमारा जन्म है, न मृत्यु है; न आना है न जाना है। तुम झूठा प्रश्न करते हो, तो हम सच्चा जवाब कहाँसे दें ? हम भी झूठा ही जवाब देते हैं।' बोले—'महाराज, आप झूठ बोल गये ?'

नहीं, झूठ नहीं बोले। तुम्हारे झूठमें और झूठ मिला दिया। अब तो तुम समझो कि तुम्हारा प्रश्न भी झूठा और हमारा उत्तर भी झूठा। न आना, न जाना। दोनों नहीं हैं। फक्कड़ लोगोंकी रहनी जरा दूसरी होती है।

श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने इस कारिकाका दो तरहसे अर्थ किया है। एक तो जैसे कि श्लोक बोला गया है—'जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम्।' दूसरी तरहसे उन्होंने श्लोकमें 'एकत्व' पदका अध्याहार कर लिया है— **उत्पत्तेः प्राग् यत् एकत्वं प्रकीर्तितम्।**

सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले एकत्त्वंका जो निरूपण हुआ है वह भविष्यद् वृत्तिसे है अर्थात् श्रुति आगे भी आत्मा और ब्रह्मकी एकता बतानेवाली है इसलिए सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले भी एकत्त्वका निरूपण किया गया है।

लोकदृष्टिसे जीवात्माका जो ब्रह्मसे पृथकत्त्व देखनेमें आता है वह गौण है, मुख्य तो आत्मा और ब्रह्मकी एकता ही है। ●

: १० :

उत्पत्ति विषयक श्रुतियाँ भी अभेद साधिका हैं

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥१५॥

अर्थ—श्रुतियोंमें जो मृत्तिका, लौह और विस्फुलिंगादि दृष्टान्तोंके द्वारा सृष्टिके उदयका निरूपण किया है वह ब्रह्मात्मैक्यके अवतरणके उपाय हैं, उनमें कुछ भी भेदकी स्थापना उद्देश्य नहीं है।

यह बात बतायी कि एक श्रुति परमार्थका वर्णन करती है और दूसरी श्रुति लोगोंको सृष्टि जैसी प्रतीत होती है, उसका अनुवाद करती है।

विद्वान्-से-विद्वान् पुरुष भी इस वाक्यका प्रयोग कर सकता है कि 'आकाश नीला है' यद्यपि कोई समझदार आदमी आकाशको नीला नहीं मानता है और न समझता ही है। फिर भी व्यवहारमें जब वह बोलेगा तो उसके मुँहसे यही शब्द निकलेगा कि 'आकाश नीला है।'

यह लोकप्रतीतिका अनुवाद है। लोगोंको जैसा मालूम पड़ता है, वैसा कह देते हैं। 'मिट्टी पानीमें-से निकली'—यह भी लोकप्रतीतिका अनुवाद है। हमारे शरीरपर पसीना जमकर मिट्टी हो जाता है। 'पानी गरमीसे निकला'—यह भी लोकप्रतीतिका अनुवाद है। जहाँ गरमी होती है, वहाँ चीज गल जाती है। वहाँ पसीना निकलने लगता है। उष्मामें-से पसीना निकलता है। 'जब हलन-चलन ज्यादा होती है, तब गरमी बढ़ जाती है। 'अवकाशमें गति होती है'—यह भी लोकप्रतीतिका अनुवाद है। यह परमार्थका निरूपण नहीं है।

मनुष्यका चित्त कार्य-कारणके संस्कारसे अत्यंत आक्रांत हो जाता है। मनुष्यके चित्तकी यही स्थिति है। वह व्यवहारमें देखता है कि भोजन करनेसे भूख मिटती है, पानी पीनेसे प्यास मिटती है, माँ-बाप होनेसे बच्चेका जन्म होता है, बीज बोनेसे पौधा होता है। सृष्टिमें सर्वत्र कार्य-कारण भाव देखनेमें आता है। इसलिए इस सृष्टिरूप जो जगदंकुर है, इसकी उत्पत्ति भी किसी कारणसे हुई है और कारणमें भी इसका बीज होगा। क्योंकि मनुष्यके बीजसे मनुष्यकी उत्पत्ति, पशुके बीजसे पशुकी उत्पत्ति, आमके बीजसे आमकी उत्पत्ति, इमलीके बीजसे इमलीकी उत्पत्ति होती है।

यह सृष्टि नाना प्रकारकी देखी जाती है, व्यवहार दशामें अलग-अलग है, तो इनके बीज भी अलग-अलग होंगे। तो कारणदशामें भी इन सबका भेद मौजूद होगा। कार्यको देखकर कारणके अनुमानकी जो पद्धति है, उससे बुद्धिमान् मनुष्य कारणका अनुमान करते हैं। फिर कारणमें भी ये सब बीज थे ऐसा 'सिद्धवत् कृत्य'—मानकर, उसका अनुमान करके वर्णन करते हैं।

असलमें कार्य-कारण व्यवस्था लोकदृष्टिका अनुवाद है, परमार्थका निरूपण नहीं है। इसलिए जब कार्यका निरूपण है, तब उसके भूत, कारणका निरूपण हो ही रहा है—उसमें समाया हुआ है। कारणका निरूपण है, तब उसमें जो भविष्यद् वृत्तिसे कार्य है, वह भी समाया ही हुआ है। इसलिए कार्य-कारणका निरूपण भूत और भविष्य वृत्तिसे माने कालके पेटमें किया जाता है। जिसको कार्य-कारणका सम्बन्ध मालूम नहीं है, उसके चित्तमें ऐसी कल्पना नहीं होती।

जैसे, यह टेप जब खास तरहसे मशीनपर घुमाते हैं, तब उसमें-से आवाज निकलती है। आवाज क्यों निकलती है? क्योंकि भरी हुई है। तो जब आवाज भरी हुई है, तब निकलती है। जो इस विज्ञानको समझता है, वह कहता है—'आवाज भरी हुई है, इसलिए निकलती है।'

आदिवासियोंमें जाकर इसे बजाओ तो उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि बोली हुई आवाज इसमें भर जाती है। वे कहेंगे—'देखो, यह पट्टी बोलती है।' इसमें आवाज भर दो और इसमें से आवाज निकाल दो। दोनों बात हो सकती है।

यह पट्टी अन्तःकरण है। अन्तःकरण माने बाहर बोली हुई आवाजको जो अन्तः (भीतर) कर ले, जो बाह्य पदार्थोंके संस्कार अन्तरमें भर ले, उसका नाम 'अन्तःकरण' हुआ।

बहिस्थम् अन्तः क्रियते अनेन इति अन्तःकरणम्।

लेकिन वह अन्तःकरणरूपी पट्टी किस मसालेसे बनी है? उस उपादानका विचार करो, तो एक सत्तारूप उपादान सिद्ध होगा जिससे हजारों-लाखों तरहकी पट्टियाँ बनती हैं, जिसमें हजारों-लाखों तरहका संस्कार भरा जाता है और निकाला जाता है। परन्तु मूल सत्तामें कार्य-कारणभाव नहीं है।

चेतनमें न बहिस्थ है, न अन्तःस्थ है। बाह्यदेश भी स्फुरणा है और अन्तर्देश भी स्फुरणा है। भविष्य भी स्फुरणा है और भूत भी स्फुरणा है। इसलिए चैतन्यमें संस्कारका सम्बन्ध नहीं होता। जब परमार्थ तत्त्वका-सत्तत्त्वका निरूपण करते हैं, तो उसकी सिद्धिके लिए कार्य-कारणभावका निरूपण करते

हैं। कारणमें कार्य होनेवाला है, इसलिए बताते हैं कि कारणमें कार्य स्थित है। कार्यमें कारण अनुगत होता ही है। यह लोकदृष्टिका अनुवाद मात्र है। यह मुख्य परमार्थ तत्त्वका निरूपण नहीं है, यह गौण है, ऐसा समझना चाहिए।

यह किस बातके लिए है? इसका क्या प्रयोजन है? यह आगे बतावेंगे।

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन॥

मान लिया कि उत्पत्तिके पहले एक अजन्मा है, एक अद्वितीय है, फिर भी जब उत्पत्ति हो गयी, तब तो भेदकी सृष्टि हो ही गयी! सारे जीव अलग-अलग हो गये, क्योंकि वर्णन आता है—'जैसे एक मिट्टीसे बहुतसे घड़े, शकोरे, करवा आदि बन जाते हैं; जैसे एक लोहेसे बहुत-से औजार बन जाते हैं, जैसे एक सोनेसे बहुत-से आभूषण बन जाते हैं; एक अग्निसे बहुत-सी चिन्गारियाँ निकलती हैं; इस प्रकार यह सृष्टि बनी हुई है।'

भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिका वर्णन आता है। हमको समझदारी आवे, इसके लिए इसका वर्णन है। ऐसा क्यों? उदाहरण देकर बताते हैं। वेदोंमें आख्यायिकाएँ आती हैं। क्या?

एक बार असुरोंने यज्ञ प्रारम्भ किया, तब वाणी आदिको उन्होंने ऋत्विक् आदिके पदपर वरण किया। अब इनमें विवाद हो गया कि हममें-से कौन ऋत्विक् होवे? क्योंकि असुरका संस्पर्श होनेसे आपसमें लड़ाई होनी ही थी। जबतक दैत्य सवार नहीं होता, तबतक आदमी लड़ाई नहीं करता। आपसमें और घरमें कलहका प्रवेश, असुरका प्रवेश है। अधर्म, कलियुग और असुर—इनका परस्परमें इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि कभी कलियुग अधर्मका बाप होता है और कभी अधर्म कलियुगका बाप होता है। कभी असुर अधर्म और कलियुगकी सृष्टि करते हैं, तो कभी कलियुग अधर्म और असुरकी सृष्टि करता है। इनके बाप और बेटेका कोई नियम नहीं, कोई मर्यादा नहीं।

इनमें विवाद हुआ, तो समाधानके लिए सब प्रजापतिके पास गये। प्रजापतिने कहा—'अच्छा, तुमलोग एक-एक करके शरीरसे बाहर निकलो।' तब बोलना बन्द हो गया, सुनना बन्द हो गया, देखना बन्द हो गया, लेकिन आदमी जिन्दा रहा। तब उन्होंने कहा—'अब तुमलोग यह निर्णय करो कि जिस चीजके शरीरसे निकल जानेके बाद मनुष्य जिन्दा नहीं रहता, वह सबसे श्रेष्ठ है। असुर लोग उसे पापविद्ध नहीं कर सकते, उसमें पापकी भावना नहीं डाल सकते।

वाणी, कान, आँख एक-एक करके निकले, फिर भी मनुष्य जिन्दा रहा। परन्तु जब प्राण शरीरमें-से निकला तो शरीर जिन्दा नहीं रहा। तब प्रजापतिने यह निर्णय दिया कि 'शरीरमें प्राण सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि प्राणमें पाप और पुण्य नहीं लगते।' आँखमें पाप-पुण्य लगते हैं, क्योंकि उचितको देखो तो पुण्य-होवे और अनुचितका दर्शन करो तो उससे पाप वासना आती है।

कानसे अच्छी बात सुनो तो उससे पुण्य होता है और कानसे किसीकी निन्दा सुनो तो पाप लगता है। इसी प्रकार नाकसे गन्दी चीज सूँघो तो पाप लगेगा। वाणीसे बुरी बात बोलो तो पाप लगेगा। देवता और दैत्य सब इन्द्रियोंमें बैठे हैं। लेकिन यह जो हमारी साँस चलती है, जो प्राणवायु है, उसको असुर लोग चाहनेपर भी पापी नहीं बना सकते। जीवनका आधार है प्राण। वह कभी पापसे आविद्ध नहीं होता, इसीलिए जब आत्माकी उपासना करनी होती है, तो 'प्राण ब्रह्म' है, ऐसी उपासना की जाती है। प्राणके साथ पाप-पुण्यका सम्बन्ध नहीं है। इन्द्रियों और मनके साथ पाप-पुण्यका सम्बन्ध है। मन कभी पाप-सङ्कल्प करे तो कभी पुण्य-सङ्कल्प करे।

दूसरी आख्यायिकामें ऐसा वर्णन है कि उनमें आपसमें ही लड़ाई हो गयी। फिर आपसमें ही इन लोगोंने निर्णय किया कि 'प्राण श्रेष्ठ है।' केवल अभिप्राय इतना ही है कि 'प्राण श्रेष्ठ है।'

भिन्न-भिन्न श्रुतियोंमें, पाँच-सात स्थानोंपर, पाँच-सात प्रकारसे यह आख्यायिका आयी है! तो इन पाँच-सात आख्यायिकाओं-कहानियोंमें कौन-सी सच है?

कल्पभेदसे सब सच हैं। उतनी-उतनी बात बतानेका अभिप्राय केवल इतना ही है कि सब इन्द्रियोंमें प्राण श्रेष्ठ है।

जैसे प्राणकी श्रेष्ठताके अधिगमके लिए, समझने-समझानेके लिए अनेक आख्यायिकाओंका वर्णन एक उपाय है; ऐसे ही मिट्टी-लोहा-सोनाका दृष्टान्त तो—उपादानसे कार्य भिन्न नहीं होता है—केवल इतना ही समझानेके लिए है।

वहाँ भी यह बात कही गयी है कि—

वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। (छा० ६.१.४)

विकार तो केवल नाममात्र है, केवल मृत्तिका ही सत्य है। माने कार्य-कारणभाव मिथ्या है—यह बात बिलकुल स्पष्ट हो गयी। इसी प्रकार—

यदग्ने रोहितं रूपम्। (छा० ६.४.८)

अग्निका जो लाल रूप है, लपटें हैं, चिन्गारियाँ हैं, उनमें अग्नि ही सत्य है। छोटी-छोटी लपटें और बड़ी-बड़ी लपटें, उड़नेवाली चिन्गारियाँ सत्य नहीं हैं, उनमें केवल 'अग्निरेव सत्यम्', विकार तो केवल नाममात्र है। इसी प्रकार जेवर नाममात्र है, सोना सत्य है, शस्त्रादि नाममात्र हैं लोहा सत्य है। दोमें-से जब एकको ही सत्य बताते हैं तो दोनोंका कार्य-कारण भाव कट जाता है—

सती कार्यत्वे कारणत्वं स्यात्।

कार्यकी सत्ता होवे तब उसका कारण होवे।

कारण सत्वे कार्यत्वं स्यात्।

और यदि कारणकी सत्ता होवे तो कार्य होवे।

कार्यकारणाभावे तस्मात् जीवेशौ वा तत्त्वमसि।

तब ? कार्य भी नहीं है, कारण भी नहीं है। इसलिए न तो जीवका बाप ईश्वर है और न ईश्वरका बाप बेटा जीव है। फिर क्या है ? कि दो नहीं, एक तुम आत्मा ही हो। जब श्रुति स्पष्ट रूपसे कहती है कि 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्', अग्निरेव सत्यम्', 'आप इत्येव सत्यम्'।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि कार्य मिथ्या है। कार्य मिथ्या होनेपर कारणकी सत्ता अपने आप मिथ्या है। कार्य मिथ्या होनेपर कारणकी सत्ता अपने-आप ही मिथ्या होजाती है। बताते हैं कार्य-कारणको और उनमें एक को सत्य बताते हैं। एकको सत्य बतानेका अर्थ हुआ कि केवल तत्त्व ही सत्य है। आकृति विकृति है, वह किसी प्रकार भी सत्य नहीं है। तो यहाँ मिट्टी लौह, विस्फुल्लिंगके दृष्टान्तोंसे क्या बताया ?

उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन।

अवतारके लिए माने हमारा अवतार हो, हमारी बुद्धिका अवतार हो इसके लिए, अर्थात् हम परब्रह्म परमात्माको परमार्थ सत्ता समझ सकें, इसके लिए यह उपाय किया हुआ है।

उपायः सोऽवताराय—'आय' मुख्य होता है, 'उपाय' गौण होता है। जैसे सभापति और उपसभापतिमें सभापति मुख्य होता है, उपसभापति गौण होता है। इसी प्रकार 'आय' माने हमारे घरमें पैसा आवे, यह तो मुख्य है। नौकरी करें, किसी ऑफिसमें काम करें, या खेती करें, यह पैसा आनेका उपाय है। यह गौण है। उपाय कब तक ? जब तक उपेयकी प्राप्ति न होवे। असलमें नौकरी सच्ची नहीं है, व्यापार सच्चा नहीं है। सत्य क्या है ?

भज कलदारम् भज कलदारम् कलदारम् भज मूढ़ मते। उसके लिए तो पैसा ही सत्य है, जिस किसी उपायसे भी पैसा आवे ! उपायका अर्थ होता है।

उपादायापि ये हेयाः उपायास्ते प्रकीर्तिताः।

पहले उपादान करो, और फिर छोड़ दो। इसका नाम है उपाय। उपादान और हान-इन दोनोंको मिलाकर 'उपाय' शब्द बना है।

जैसे आपको नदी पार करना है, तो नाव बेड़ा, आदि सब नदीके पार जानेके लिए उपाय हैं। परंतु नदीके पार जानेके बाद इन सब उपायोंको छोड़ देना पड़ता है।

जबतक परमार्थ-सत्यका ज्ञान न होवे, तब तक कार्य और कारणको रीतिसे विवेक करना चाहिए। जब यह मालूम पड़े कि एक अधिष्ठान-सत्यमें कार्य और कारण दोनों कल्पित हैं, दोनों द्रष्टाको दृष्टि हैं, तब कार्य कारण दोनों अध्यस्त हैं। उधर अधिष्ठानमें भी कार्य-कारणपना दोनों अध्यस्त हैं और उधर द्रष्टाकी दृष्टिमें भी कार्य-कारणपना दोनों अध्यस्त ही हैं। अध्यस्त कार्य-कारणको बट्टे खातेमें डाल करके जब देखते हैं तो द्रष्टा और अधिष्ठानमें भेद करनेवाली कोई भी वस्तु नहीं है।

केवल ब्रह्महृद्में अवतीर्ण होनेके लिए ब्रह्मके महासमुद्रमें बुद्धिके अवतारके लिए श्रुतियोंमें यह उपाय बताया गया है।

मय्यनन्तमहाम्भोधौ अनन्ता विश्ववीचयः।
उद्यन्ति, घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः॥

मैं अनन्त महासमुद्र हूँ। न मैं देश, न काल, न वस्तु। देश-काल-वस्तु की ये तरंगें—स्फुरणाएँ, कल्पनाएँ, मौजें मुझ अनन्त ब्रह्म-महासमुद्रमें कभी उठती हैं, कभी आपसमें टकराती हैं, कभी खेलती हैं, कभी तरंगायमान होती हैं और कभी शान्त होजाती हैं। वस्तुतः यह अनन्त ब्रह्मसमुद्र स्फुरणहीन, ज्यों-का-त्यों है। संपूर्ण जगत् भी ज्यों-का-त्यों ब्रह्ममें रहने पर भी ब्रह्म ज्यों-का-त्यों है। जब यह प्रपंच पैदा नहीं हुआ था, तब भी ब्रह्म ज्यों-का-त्यों और यह नहीं रहेगा, तब भी ब्रह्म ज्यों-का-त्यों!

समुद्रके ऊपर तो अवकाश है, उस पर प्रकाश फैला हुआ है। इसलिए आँखोंसे वे तरंगें दीखती हैं। लेकिन जिस ब्रह्ममें अवकाश नहीं है। और जिस ब्रह्ममें वायुरूप निमित्त नहीं है, जिस ब्रह्ममें वायुके समान कर्मरूप, संस्काररूप कोई निमित्त नहीं है, जिसमें देखनेवाला जुदा नहीं है, उसमें तरंगायमानत्व भी लोकदृष्टिसे ही कहा गया है। लोकदृष्टिको अद्वैतमें परिनिष्ठित करनेके लिए स्फुरणरूप तरंगोंकी कल्पना की जाती है।

नास्ति भेदः कथंचन—यह ब्रह्म ऐसी चीज नहीं है कि टूटे-फूटे, जुड़े और छूटे। ब्रह्म तो सत्य, अखण्ड ज्यों-का-त्यों है।

: ११ :

उपासना परक श्रुतियाँ—अद्वैतकी प्रवेशिका

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥१६॥

अर्थ—आश्रम तीन प्रकारके होते हैं—हीन, मध्यम और उत्कृष्ट दृष्टि वाले। उनपर अनुकम्पा करके उनके लिए ही यह उपासनाका उपदेश किया गया है।

दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। (१) जब कार्य-कारण दोनों मिथ्या हैं तो उनकी उपासनाके प्रसंग जो श्रुतिमें आते हैं उनकी संगति क्या है? (२) जब एक ब्रह्म ही नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव और एकमेव अद्वितीय परमार्थ सत् है और उससे भिन्न सब जीव, जगत् असत् है—जब यही सब श्रुति-शास्त्रोंका तात्पर्य है तो शास्त्रोंमें जो 'यह करो, यह मत करो'—ऐसा विधि-निषेध प्राप्त होता है, अथवा 'ईश्वरकी उपासना करो, देवताकी उपासना करो'—ऐसा जो उपासना सम्बन्धी आदेश है, अथवा यह भी कि 'ज्ञान प्राप्त करो'—ऐसे आदेशों की क्या आवश्यकता है?

शास्त्रमें अकेले कार्य या अकेले कारणकी उपासनाकी निन्दा मिलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि न कारण पूर्ण है, न कार्य पूर्ण है; दोनों अपूर्ण हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो यऽसंभूत्यां रताः॥ (ईश० १२)

जो असंभूतिकी उपासना करता है, वह अन्धतममें प्रवेश करता है और जो संम्भूतिकी उपासना करता है, वह तो उससे भी घनघोर अन्धतममें प्रवेश करता है। जो अविद्याकी उपासना करता है वह अंधकारमें प्रवेश करता है और जो विद्याकी उपासना करते हैं, वह उससे भी ज्यादा घोर अंधकारमें जाते हैं।

वहाँ दो-दो मंत्रोंमें संभूति असंम्भूतिकी और विद्या-अविद्याकी निन्दा है। दोनोंके विषयमें तीन-तीन मंत्र हैं। आगे कारिका २५ में यह बात आवेगी कि सम्भूतिके अपवादसे कार्यका और 'कोन्वेनं जनयेत्' इस श्रुतिसे कारणका प्रतिषेध किया गया है—

संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिध्यते।
को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते॥

सम्भूतिकी उपासनाका अर्थ है कार्य ब्रह्मकी सेवा, समाजसेवा, राष्ट्रसेवा, विश्वसेवा, मानवताकी सेवा, प्राणीमात्रकी सेवा, ब्रह्माकी सेवा, विष्णुकी सेवा, रुद्रकी सेवा, हिरण्यगर्भकी सेवा, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें जो एक हिरण्यगर्भ है, उसकी सेवा—यह सब कार्य-ब्रह्मकी सेवा है। पार्थिवलिंग बनाकर उसकी पूजासे लेकर शालिग्राम और नर्मदेश्वरको पूजा, स्थूल जगत्में मूर्तिपूजा, चित्रपूजा, मातृपूजा, श्राद्ध, देवता-पूजा ये सब-का-सब सम्भूतिकी-कार्यब्रह्मकी उपासनाके अन्तर्गत है।

कारणकी उपासना क्या है? समाधिस्थ होना कारणकी उपासनाके अन्तर्गत है। वहाँ शान्ति है, कार्य नहीं है, विक्षेप नहीं है। यद्यपि एक अन्तः-करणमें स्थित समाधि भी कार्योपासनाके अन्तर्गत हो है।

ईश्वरकी उपासना? सायणाचार्य, उव्वट, महीधर ये सब असम्भूतिको ईश्वर कहते हैं। मायाविशिष्ट ईश्वरकी उपासना कारणकी उपासना है; क्योंकि मायाके द्वारा ही चैतन्य जगत्का कारण हो सकता है, स्वरूपतः नहीं हो सकता। चैतन्यत्व और कारणत्व—ये दो एक साथ जुड़ते ही नहीं। कारण परिणामी होता है—कभी बढ़ेगा, तो कभी सिकुड़ेगा, कभी संकोच होगा, कभी विकास होगा। जिसमें संकोच–विकास होगा, वह चैतन्य नहीं हो सकता, क्योंकि चैतन्य तो संकोच–विकासका साक्षी होगा, द्रष्टा होगा। बिना माया-उपाधिके चैतन्य-ईश्वरमें कर्तृत्व हो ही नहीं सकता!

उपासक लोग कहते हैं कि माया चैतन्यकी स्वाभाविक शक्ति है और अद्वैतीलोग कहते हैं कि वह उसमें अध्यारोपित है। यह बात अलग है, लेकिन बिना मायाके जगत्-कारणत्व उसमें हो ही नहीं सकता।

उपासनाके दो विभाग कर दिये—एकमें कार्य-ब्रह्मकी उपासना है और दूसरेमें कारण-ब्रह्मकी मायाविशिष्ट अथवा मायोपाधिक ईश्वरकी उपासना है।

वेदोंमें अकेले सम्भूतिकी उपासनाकी निन्दा है; माने केवल एककी, एक वर्गकी सेवा, जैसे मजदूरवर्ग आदिकी सेवामें लग जायगा तो उसे अन्धतमकी प्राप्ति होगी। तो कार्य-ब्रह्मकी उपासना छोड़ो, कारण-ब्रह्मकी करो—समाधि लगाओ! मायाविशिष्टको ढूँढो। मायाविशिष्टकी पूजा करो। परन्तु केवल कारणोपासनामें लग जाओगे, तो घोर अन्धतमकी प्राप्ति होगी।

इसका रहस्य क्या है ? वह यह है कि कारणदृष्टिके बिना जो कार्यदृष्टि रखता है, उसके मनमें राग-द्वेष हो जाता है। वह अपने राष्ट्रके लिए दूसरेके राष्ट्रको हानि पहुँचावेगा; वह अपने प्रान्तके लिए दूसरेके प्रान्तको हानि पहुँचावेगा वह अपने वर्गके लिए दूसरेके वर्गको, अपनी जातिके लिए दूसरेकी जातिको, अपने सम्प्रदायके लिए दूसरेके सम्प्रदायको हानि पहुँचावेगा। वह वेद-की तारीफ करेगा, तो बाइबिलकी निन्दा करेगा, बाइबिलकी तारीफ करेगा तो वेदकी निन्दा करेगा। केवल कार्यदृष्टि होनेसे परिच्छिन्न दृष्टि हुई और असम्भूति जो कारणवस्तु है, उसकी दृष्टि नहीं हुई। इससे उपासनामें क्या गड़बड़ हो जायगी ? 'सबमें एक ईश्वर हैं'—यह भाव छूट जानेके कारण परिच्छिन्नमें फँस जाओगे। उससे तुम्हारे हृदयमें राग-द्वेष आजायगा और उपासनाका फल नहीं मिलेगा।

अच्छा भाई, इसमें राग-द्वेष आजानेकी सम्भावना है, तो छोड़ो इसको ! आओ, हम आँख बन्दकर ईश्वरका ध्यान करेंगे। और संसारकी सेवा बिलकुल छोड़ देंगे। कार्य छोड़ दोगे, तो क्या होगा ? इधर हाथका देवता इन्द्र नाराज होगा; हाथमें लकवा लगनेकी सम्भावना है। जो बिलकुल चुपचाप बैठा ही रहे चले न तो पाँवका देवता नाराज हो जायगा। न बोले तो जीभका देवता नाराज हो जायगा। तब कर्मत्यागका जो प्रत्यवाय है वह लगेगा। शास्त्रमें जो विधान है कि रोज सन्ध्या-वन्दन करना, माता-पिताकी सेवा करना, अपने पतिसे प्रेम करना, अपने सम्प्रदायके प्रति अपना जो कर्तव्य है, अपनी जाति और अपने राष्ट्रके पति अपना जो कर्तव्य है, उनको पूर्ण करना यह भी तो शास्त्रकी ही विधि है।

केवल कारणदृष्टिमें इतने लग गये कि कार्यदृष्टिसे अपने व्यक्तित्वको अनुपयोगी कर दिया, तो कर्मत्यागका प्रत्यवाय लगेगा, क्योंकि तुममें कर्तापन-भोक्तापन तो अभी मौजूद है, ब्रह्मज्ञानी तो हुए नहीं हो !

देखो यह सिद्धान्त ! केवल ईश्वरकी उपासनामें लगकर कर्तव्यका परित्याग कर देना दोषजनक है और केवल कर्तव्यमें लगकर ईश्वरकी उपासना छोड़ देना, यह भी अपराध है। कारणदृष्टि और कार्यकी सेवा दोनों बनी रहे—कर्तव्यका पालन भी करो और सबमें जो एक ईश्वर है, उसका ध्यान भी करो। यह उपदेश करनेके लिए ईशावास्योपनिषद्के ये छहों मन्त्र हैं। सम्भूति-असम्भूतिकी अलग-अलग उपासनाकी निन्दा करते हैं, विद्या-अविद्याकी अलग-अलग निन्दा करते हैं। समुचित रूपसे कार्यब्रह्म और कारणब्रह्मको उपासनाकी प्रशंसा करते हैं।

इनमें-से परमार्थ कौन है ? कार्य-उपासना कि कारण-उपासना ? दोनों परमार्थ नहीं हैं। असली चीज यह है कि ईश्वरकी उपासनासे भी ईश्वर न्यारा है और विश्वकी सेवासे भी ईश्वर न्यारा है। परमार्थ जुदा है, तो फिर उपासनाकी चर्चा क्यों है ? अधिकार-भेदसे।

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥१६॥

आश्रमाः = जिसमें श्रम किया जाय सो आश्रम। ब्रह्मचर्याश्रममें गुरुकी सेवा, अग्निकी सेवा, सूर्यकी सेवाका श्रम है। अपने जीवनमें अच्छा अभ्यास डालनेका श्रम है।

गृहस्थाश्रममें श्रम है—माता-पिताकी सेवा, वंशवृद्धि, सम्प्रदाय, कुल-जाति आदिकी सेवाका श्रम है। वानप्रस्थाश्रम तपस्या और योगका श्रम है।

संन्यासाश्रम तपस्या, त्याग और ज्ञानकी प्रधानतासे है। वहाँ भी तज्जन्य श्रम है।

इनमें-से किसी भी आश्रमका हो, कोई भी हो; यहाँ उन आश्रमोंकी चर्चा नहीं है। यहाँ आश्रमका अर्थ है—दृष्टि किसकी कैसी है ? दृष्टि कार्यपरायण है, किसीकी दृष्टि कारण-परायण है, तो किसीकी दृष्टि परमार्थ-परायण है। मनुष्यकी नजर कहाँ जाती है ?

श्रीहरिबाबाजी महाराज, वृन्दावनमें किसी पंडितके घरमें कथा सुनने जाते थे। उनके साथ एक सेवक भी जाता था। एक दिन सेवकने कहा—'महा-राज ! कथा तो पण्डितजी बहुत बढ़िया कहते हैं, लेकिन उनके घरमें एक खूँटी पर शाल-दुशाले बहुत-से टँगे हैं। चाँदीके बर्तन वहाँ पर रखे हुए हैं ! बड़ा प्रदर्शन है वहाँ !'

बाबाने कहा—'चार महीने वहाँ जाते हमको हो गये ! मैंने तो कभी आँख उठाकर देखा नहीं कि खूँटीपर टँगा क्या है ? तुम कथा सुनने जाते हो कि उनके घरकी जाँच करने जाते हो ?

मतलब यह कि हरिबाबाजीकी दृष्टि कथापर है और सेवककी दृष्टि घरमें क्या-क्या चीज रखी है उसपर है।

लोनावला कैवल्यधाममें एक यन्त्र लगा है। जैसे ये बच्चे खिलौनेमें सिनेमा देखते हैं, सड़कपर ! ऐसा ही है वह। उसमें एक ओर बुद्धका चित्र है, एक ओर स्त्रियोंका चित्र है, एक ओर अमुक है, एक ओर अमुक है। सब एक साथ ही दीखते हैं। कोण-कोणसे रखे हुए हैं। जब आदमी उसमें देखनेके लिए

आँख डालता है वह समझता है कि हम किसको देख रहे हैं, यह इसमें कौन देखेगा? वह जिस चित्रको उसमें देखनेमें तन्मय हो जाता है, उसकी आँखमें कोण बन जाता है, उसे वह यन्त्र रिकार्ड कर लेता है। फिर उसको दिखाते हैं कि देखो, तुम्हारा मन ज्यादा किधर गया? बुद्ध, कृष्ण, स्त्री, नेता—किसे देखनेमें कितने मिनट सेकण्ड तक तुम्हारा मन टिका? तब मनुष्यको पता लगता है कि हमारा मन कैसा है? यही अधिकारका भेद है।

कौन कार्यकी उपासनामें टिकता है, कौन कारणकी उपासनामें टिकता है, कौन परमार्थका जिज्ञासु है, इसीका नाम अधिकार-भेद है। एक बात और सुनाते हैं—

एक सेठ एक महात्माके पास जाते थे। कहते थे—'महाराज! कुछ उपदेश करो।' महाराज चुप रहते थे। नहीं बोलते थे। उनतीस दिन सेठ आये और महात्मा न बोले। तीसवें दिन जब सेठ आये, तो महात्मा बड़े खुश थे और बोले कि—'आज तो हम तुम्हारे घर भिक्षा करनेके लिए चलेंगे।' सेठ भी बड़े प्रसन्न हुए।

भोजनके समय महात्मा चले गये अपना खप्पर लिये। बोले—'हमारे खप्परमें भोजन डाल दो।' खप्परमें तो पहलेसे ही गोबर था।

सेठने कहा—'हमने इतना बढ़िया भोजन आपके लिए घरमें बनवाया है, उसे हम गोबरमें कैसे डालें?'

महात्मा—'अब क्या करें?'

सेठ—'गोबर निकाल दो।' गोबर निकाल दिया, तो बोले—'नहीं! महाराज! अभी ठीक नहीं हुआ है। अभी गोबर लगा हुआ है।'

महात्मा—'अब क्या करें?'

सेठ—'पानीसे धो दो।'

महात्मा—'लो, धो दिया।'

सेठ—'महाराज! अभी गंध आती है।

महात्मा—'तो क्या करें?'

सेठ—'पोंछ दो रगड़कर।'

महात्मा—'लो, पोंछ देते हैं! अब?'

सेठ—'अच्छा, लो भिक्षा।'

महात्माने भिक्षा ली, खायी। जब खा-पीकर चलने लगे, तो सेठ बोला—'महाराज! आज आप खूब प्रसन्न हैं। आज कुछ उपदेश कर जाओ!'

महात्मा बोले—'तुम मूर्ख हो! उपदेश तो तुमको कर दिया, तुम समझते नहीं हो!'

सेठ—'क्या उपदेश किया महाराज!'

महात्मा—'तुम्हारे मूड़में तो गोबर भरा है। हम अपना बढ़िया उपदेश कैसे डालें उसमें? पहले गोबर निकालो। फिर उसको धोओ, मल पहले दूर करो, फिर वासना दूर करो; फिर विक्षेप दूर करो! जब तुम्हारा मूड़ बिलकुल साफ होगा, और उसमें हम अपना बढ़िया भोजन परोसेंगे, तो तुम तुरन्त उसे खाकर तृप्त हो जाओगे। जबतक तुमने गोबर भरकर रखा है, तबतक हमारा उपदेश उसमें कहाँ रहेगा?'

\+ + +

जब एक अद्वय तत्त्व ही परमार्थ है तब कर्म करो चाहे मत करो, उपासना करो, चाहे मत करो, ज्ञान प्राप्त करो चाहे मत करो, उस अद्वय तत्त्वमें क्या फर्क पड़ता है! इसका उत्तर देते हैं--

'एक ही अद्वय तत्त्व है'--यदि यह ज्ञान हो गया होता, तब तो उपदेश करनेकी जरूरत नहीं थी परन्तु बात तो यह है कि यह ज्ञान है नहीं। वस्तु तो एक ही है--'एक अद्वय'--परन्तु ऐसी समझ, ऐसा ज्ञान, ऐसा अनुभव है कहाँ? यह अनुभव प्राप्त करनेके लिए चले, तो सब एक तरहके अधिकारी तो होते नहीं। भिन्न-भिन्न प्रकारके लोग होते हैं।

अद्वैतमें निष्ठावान महात्मा लोगोंका तो ऐसा खयाल है कि जो जहाँ है, वहीं ठीक है। जो धर्ममें लगा है, वह धर्ममें ठीक है। जो अर्थमें लगा, जो भोगमें लगा है वह वहीं ठीक है। चिड़िया चिड़ियाकी जगह ठीक है, चींटी चींटीकी जगह ठीक है। जुआँ जुएँकी जगह ठीक है। सब अद्वितीय, ब्रह्म हैं, सबमें वही है, सब आत्मा ही है। किसीको अपनी जगहसे गड़बड़ानेकी कोई जरूरत नहीं है।

न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानं कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥ (गीता ३.२६)

जो जहाँ फँस गया, वहाँ फँस जाने दो उसे। बोले--'ये लोग अगर दुनियामें फँसकर भी सुखका अनुभव करते, धन कमाके, भोग करके, धर्म करके सुखी हो लेते, एक दूसरेके प्रेममें फँसकर सुखी हो लेते, इनको सच्चा सुख मिल

जाता, तो कुछ कहनेकी जरुरत नहीं थी। परन्तु ये तो सिर पीटते हैं कि हमारे पास इतना पैसा है और शान्ति नहीं है। हमने इतने-इतने भोग किये, परन्तु दिल जल रहा है। हमने इतना दान-पुण्य किया, लेकिन अभी परमार्थका अनुभव नहीं हुआ। ये तो खुद ही सिर पटकते रहते हैं।'

अद्वैती महात्माओंका ऐसा खयाल रहता है कि जबतक मनुष्य संसारमें रहकर, दुःखी होकर, त्यागकी भावना लेकर, विरक्त हो करके, उपस्थित न हो और अपनी पूरी बुद्धि लगाकर जिज्ञासा न करे, तबतक उसको यह परमार्थ, यह अद्वैत तत्त्व बतानेकी कोई जरूरत ही नहीं है। अवधूत लोग लाउडस्पीकर लगाने नहीं जाते। लोगोंको निमंत्रण देने नहीं जाते। बेख्वाहिस, बेपरवाह अपने स्वरूपमें बैठते हैं। जिसको हजार बार जरूरत हो, आकर नाक रगड़े, बारह वर्ष सेवा करे, फिर भी बता दे तो बता दे कि 'तुम ब्रह्म हो!' नहीं तो न बतावें।

यह कोई लायब्रेरीमें बैठकर स्टडी (Study) करनेकी विद्या नहीं है। ज्ञानकी यह रीति ही है कि जो तुम्हारा लक्ष्य है, उसके साधनको छोड़कर तुम्हारे चित्तमें जो कुछ भी आता है, वह सब गोबर है, निष्प्रयोजन है। आप घड़ेको समझना चाहते हैं, तो कपड़ा उस समय आपके दिमागमें नहीं होना चाहिए। कपड़ेको समझना चाहते हैं, तो घड़ा नहीं होना चाहिए। एक वस्तु दिमागमें होनी चाहिए, एक वस्तु दिलमें होनी चाहिए। तब वह वस्तु समझमें आती है।

एक साथ तो ये दोनों उँगलियाँ भी नहीं दिखती हैं। हमारी दृष्टि बड़ी तीव्र गतिसे एक बार दाहिनीपर और एक बार बायींपर जाती है और हमें मालूम हो रहा है कि दोनों एक साथ दिख रही हैं। यह विज्ञान-सिद्ध बात है कि दो उँगली एक साथ नहीं दीख सकतीं। आप यह बताओ कि आप किसी चीजको देखते हैं, तो 'देखनेवाली हमारी आँखें दो हैं,' यह क्या आपको मालूम पड़ता है? रोशनी बिलकुल एक मालूम पड़ती है। दोनों आँखोंकी दो जगहसे निकलनेवाली रोशनी एक न हो तो एक केन्द्रपर जाकर न मिलें। तब एकसे एक चीज देखोगे, दूसरीसे दूसरी चीज देखोगे।

एक पंडित थे, कथावाचक! एक दिन रामायणकी कथा कहकर बाहर निकले, तो सामने पानवालेने दुकान लगा रखी थी, 'वह बोला--'पा लागी पंडितजी!'

पंडितजी--'अच्छे हो भाई!'

पानवाला—'अच्छे हैं महाराज ! एक कानसे आपकी कथा सुनते हैं और एक कानसे ग्राहकको बात सुनते हैं।'

पंडितजी—'क्यों नहीं, इसीसे तो दुकान है तुम्हारे पास।'

'दु-कान' अर्थात् कान दो हो गये हैं तुम्हारे ! यह बात बिलकुल पक्की है कि एक समयमें अपने अन्तःकरणमें एक ही वस्तु प्रकट हो सकती है, दो वस्तु नहीं। इसका नतीजा बड़ा विचित्र है।

आप मनमें किसी एक मूर्तिका ध्यान करो। आपको मालूम पड़ेगा कि मैं सिरसे पाँवतक एक स्त्रीको—एक पुरुषको देख रहा हूँ। परन्तु यह हो ही नहीं सकता। एक बार आँख दीखेगी, एक बार नाक दीखेगी, एक बार पाँव दीखेगा, एक बार मुँह दीखेगा। एक आकृति दो सेकण्डसे अधिक समय नहीं दीखती, बादमें आकृति दीखती ही नहीं। दो सेकण्ड मन जहाँ एकमें रहेगा, आकृतिका भेद मिट जायगा। यह ध्यान करनेपर ही मालूम पड़ता है।

लोग तो तरह-तरहके होते हैं। 'वेद भगवान्'ने अनुकम्पा की कृपा की कि जो जैसा अधिकारी हो, उसको वैसी उपासनाका उपदेश करके धीरे-धीरे उसको आगे बढ़ावें ! कई लोग ऐसे हैं, जिन्हें मामूली बात भी समझमें नहीं आती है और वे ब्रह्मकी बात करते हैं। आश्चर्य होता है।

मनुष्यकी वृत्ति तीन प्रकारकी होती है। एक-कार्यको पकड़नेवाली, एक कारणको पकड़नेवाली और एक कार्य-कारणातीत तत्त्वको पकड़नेवाली।

आश्रमास्त्रिविधा—आश्रम माने अधिकारी। ये तीन प्रकारके हैं—कार्यको पकड़नेवाला, कारणको पकड़नेवाला और कार्यकारणातीत तत्त्वको पकड़नेवाला।

कारणतत्त्व अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वान्तर्यामी, निराकार प्रभु—परमेश्वर जो सबमें परिपूर्ण है। कार्यब्रह्म और कारणब्रह्मकी उपासना दोष-मुक्त तब होगी जब उसमें ईश्वर-बुद्धि बनी रहेगी। चाहे वह प्रतीक दृष्टि हो, चाहे भौगोलिक दृष्टि हो, जातीय दृष्टि हो या पारिवारिक दृष्टि हो। पूजा-सेवा सबकी करो, लेकिन ईश्वर-बुद्धि मत छोड़ो, यह शास्त्रका अभिप्राय है। ईश्वरदृष्टि करेगा तो सर्वत्र समबुद्धि रहेगी; इसीसे

स क्रतुं कुर्वीत, आत्मेत्येव उपासीत्।

ये सब श्रुतियाँ कर्तव्य-पालनके लिए कर्मका विधान करती हैं और उपासनाका विधान करती हैं। दूसरी श्रुति कहती है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।
(बृहद० २.४.५)

आत्माका दर्शन करना चाहिए ।

'तीन श्रुति हो गयी—एकने कहा कि 'कर्म करना चाहिए' । एकने कहा—'उपासना करनी चाहिए । एकने कहा—'आत्माका दर्शन करना चाहिए ।' ये तीन तरहकी श्रुति क्यों ?

जो देहाभिमानी है—उसके लिए कर्म-उपासनाका विधान है । किसी-किसीको ऐसा भ्रम होता है कि 'मैं निरभिमानी हूँ, मुझे किसीसे आसक्ति नहीं है ।' परन्तु उसे बेटेसे भी प्रेम है, धनसे भी प्रेम है, सुखभोगसे भी प्रेम है, मरनेका भी डर है । इसलिए शरीरसे भी प्रेम है । माने वह अपने अन्दर जो खामी है, उसे तो समझता ही नहीं है । अनेक आसक्तियाँ हैं, अभिमान है । ऐसा पुरुष यदि कर्म न करे, तो क्या करेगा ?

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। (गीता ३.२३)

गीतामें श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—'लोग कर्म छोड़ देंगे, तो तमोगुणसे ग्रस्त हो जायेंगे । आलस्य, निद्रा, प्रमाद, निकम्मापन कर्म छोड़नेसे आ जायगा ऐसे लोग हीनदृष्टि हैं । वे जुआ खेलना पसन्द करते हैं, संध्यावन्दन करना पसन्द नहीं करते । वे विषयकी पूजा करना आवश्यक समझते हैं, परन्तु भगवान्‌की पूजा नहीं कर सकते । वे दूसरोंकी निन्दा करना पसन्द करते हैं, पर भगवान्‌का नाम नहीं ले सकते । ऐसे हीनदृष्टिवाले लोगोंको ईश्वरदृष्टि-पूर्वक, ईश्वरभावपूर्वक अपने कर्तव्यकर्म करने चाहिए, क्योंकि ईश्वरभाव ऊपर ले जायगा । उनके लिए श्रुतिमें कर्म और उपासनाका वर्णन है ।

जो उत्तमदृष्टि सम्पन्न हैं, उनके लिए विचारका मार्ग है । उपास्थ ईश्वर कार्य है या कारण ? ईश्वरका कार्य माननेसे विनाशकी प्राप्ति होती है । चाहे दुनियामें तुम किसीको भी ईश्वर मानो—पार्थिव लिंगसे लेकरके हिरण्य-गर्भ पर्यन्त, मृत्यु तो कार्यके साथ लगी ही हुई है । उसमें ईश्वर-बुद्धि तो तुम्हें जोर लगाकर ही करनी पड़ेगी ।

स्वामी दयानन्दजीकी श्रद्धा कितनी सुकुमार थी कि इतनेसे ही उनकी श्रद्धा टूट गयी कि—'अरे चुहिया शंकरजीके लिंगपर चढ़ गयी और चावल खाती है, शिव बचाते क्यों नहीं हैं ?'

यह दर्शनशास्त्रका तर्क नहीं है । यह न्यायमीमांसा या वेदान्तका कोई

अकाट्य तर्क नहीं है। परन्तु केवल श्रद्धापर आदमी पाँव रखे तो डगमगाता रहता है; कब धक्का लग जाय। श्रद्धा है बहुत अच्छी चीज पर ईश्वरदृष्टि रहे तो श्रद्धा चलती रहेगी।

एक सज्जन थे। उन्होंने शालिग्रामपर शक्कर ज्यादा चढ़ायी। स्नानके समय भूल गये। कौआ शालिग्रामको उठाकर ले गया। अब वे रोयें कि—'हाय-हाय! हमारे शालिग्राम-भगवान् क्या हुए? रूठ गये भगवान्।'

किसीके मनमें शंका हुई—'अरे! कोई शक्कर लगी थी क्या?'

'हाँ! स्नान तो शक्करसे कराया था।' तो उन्होंने तजवीज किया। एक कौएके घोंमलेंमें-से शालग्राम मिल गये। वे कहने लगे—'हाय! भगवान् हमसे ज्यादा कौएको पसंद करते हैं।'

आपको मैं हँसी उड़ानेके लिए यह बात नहीं सुना रहा हूँ। यदि ईश्वर-दृष्टि हो गयी, तो चित्र पुराने पड़ते हैं तो दूसरे कर लेते हैं, शालिग्राम भी दूसरे आ जाते हैं। परन्तु ईश्वरदृष्टि बनी रहनी चाहिए। ईश्वरदृष्टि होगी, तो दुःख ज्यादा नहीं होगा।

उत्तम दृष्टि क्या है? उत्तम दृष्टि वह है कि जो कार्य है वह विनाशी है और जिसकी हम कारणरूपमें उपासना करते हैं, वह अदृश्य है, वह हमारे सामने नहीं है। हमारी बुद्धिके पीछे है कारण और हमारी बुद्धिके सामने है कार्य। बुद्धि स्वयं है कार्य और बुद्धि जिसके साथ खेलती है वह भी है कार्य, और बुद्धि जिसके साथ सोती है वह है कारण। कारणमें मिलनेके समय बुद्धि सो जाती है, समाधि लग जाती है। कार्यके साथ खेलनेके समय बुद्धि अपने बच्चेके साथ खेलती है।

जो जिज्ञासु होते हैं, वे यह विचार करते हैं कि असलमें परमात्माका स्वरूप क्या है। बुद्धिसे बड़े तो हम हैं। कैसे? बुद्धि सोवे तो और बुद्धि जगे तो दोनोंमें हम रहते हैं। तो—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।

अरे बाबा, आत्मदर्शन करो, अपने आपको जानो। यह उत्तम दृष्टि हुई।

आखिर वेदको यह क्या जरूरत पड़ी कि वह एकसे कहे—'आत्माको जानो।' एकसे कहे—'उसकी उपासना करो।' एकसे कहे—'कर्म करो' तो कहा—'अनुकम्पया'—वेद भगवान् हैं इसलिये वे अनुकम्पा करते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०.११)

भगवान् कहते हैं—'मैं उनके ऊपर कृपा करता हूँ।' किसके ऊपर?

मच्चित्ता मद्गतप्राणः बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ (गीता १०-१०९)

भगवान् तो जब उनकी ओर कोई चलता है प्रेमसे, तो हाथमें जलती मशाल लेकर, टॉर्च लेकर आते हैं। जैसे तुम किसीके घर जा रहे हो, उससे मिलनेके लिए और वह तुम्हें लेनेके लिए हाथमें टॉर्च लेकर आता है कि रास्तेमें तुम्हें कोई तकलीफ न हो!

तुम नदीपर जाकर खड़े फिक्र कर रहे हो कि हम कैसे नदी पार करें? उसने उस पारसे देख लिया। खुद नाव खेकर ले आया! 'बैठ जाओ, हम तुम्हें ले चलते हैं। हम तुम्हें टॉर्च दिखाकर अपने घर ले चलते हैं!' यह ईश्वरकी अनुकम्पा ही हुई न?

'आश्रयेण सौकर्यापादकत्व'—अपने पास पहुँचनेमें सुविधा कर देना—यह शरण्य भगवान्का स्वभाव है! तो वेद क्या करते हैं? वेद तो ज्ञानस्वरूप हैं। वे अपने पास पहुँचनेमें सुविधा कर देते हैं। जिनको 'कार्यमें ईश्वर है'—ऐसी उपासना करनेका उपदेश देते हैं, उनको भी ईश्वरके पास खींचते हैं, ज्ञानके पास खींचते हैं। जिनको कारणोपासनाका उपदेश करते हैं, उनको भी अपने पास खींचते हैं, क्योंकि दोनोंकी समुच्चित उपासना एकमें एक साथ की हुई है। ईश्वरदृष्टिसे शालिग्रामकी उपासना करो और निराकार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् रूपमें ईश्वरकी उपासना करते हुए भी उसे घट-घट वासी समझो।

कारणमें कार्यदृष्टि क्या है? ईश्वरको कारण रूप जानते हुए भी घटघटवासी समझना और घटघटकी पूजा करते हुए भी उसमें व्यापक-रूपसे ईश्वरको देखना—यह कार्यमें कारण-दृष्टि है। दोनों मिलाकर आगे चलें। यह उपदेश क्यों किया? कि वेद भगवान् बड़े कृपालु, बड़े करुणावरुणालय हैं—अनुकम्पया।

वेद भगवान्का पुरुषवत् वर्णन करते हैं। जैसे कोई किसी अन्धेको देखे और उसे उठाकर अपनी मोटरमें बिठा देते हैं कि चलो, हम तुम्हें पहुँचा देते हैं अपनी जगहपर! जैसे कोई अनाथ है, गरीब है, बालक है, उसको उसके घर पहुँचा दिया। किसीको रास्ता ही वता दिया—'तुम इस रास्ते चले जाओ!'

किसी अन्धे, अनाथ, गरीब बालकको खुद उठाकर पहुँचा देना—यह अनुकम्पा हुई। समझदार हो तो!

जब श्रीकरपात्रीजी महाराज बम्बई आये हुए थे, एक सज्जन उनसे मिलना चाहते थे। किसीने उनको बता दिया कि 'नरीमान पॉइण्ट'पर 'प्रेमकुटीर'के पास स्वामीजी ठहरे हुए हैं। वह आदमी आवे, बार-बार घूमे, पूछा भी और अनेक भवनोंमें गया भी; लेकिन करपात्रीजीका पता न लगे।

हमलोग आये तो हमसे भी पूछा—वह बिल्डिंग कौन-सी है, जिसमें करपात्रीजी ठहरे हुए हैं ?'

हमने बताया—'अरे भाई! जिस बिल्डिंगमें वे ठहरे हैं, उसके नीचे ही तुम खड़े हुए हो!'

वह बोला—'मैं सबेरे आठ बजेसे यहाँ आकर खड़ा हूँ और दस दफे आ चुका, लोगोंसे पूछ चुका! पता नहीं लगा!'

यह क्या है ? ईश्वरको तुम सर्वान्तर्यामी मानते हो, तो क्या वे तुम्हारे आँख-कान-नाक-दिल-दिमागके अन्तर्यामी नहीं हैं ? उनको सर्वव्यापक मानते हो, तो क्या वे तुम्हारे शरीरमें नहीं हैं ? भीतर नहीं हैं ?

'अन्तः प्रविष्टो शास्ता जनानाम्'—वह तुम्हारे भीतर बैठकर हुकूमत कर रहे हैं। जहाँ तुम्हारे मनमें यह इच्छा उठती है कि 'हम गुड़ खायँ' और जहाँ यह इच्छा उठती है कि 'ईश्वरकी ओर चलें'—इन इच्छाओंके मूलमें बैठा हुआ कौन है ? कौन इन इच्छाओंको देखता है ? कौन इन इच्छाओंको जानता है ? इन इच्छाओंका जो मूल है, वह कौन है ?

तुम्हें चाट खानेकी इच्छा हो, तो यहाँसे चलकर दुकानपर जाना पड़ेगा। लेकिन ईश्वरको पानेकी इच्छा होती है तो क्या ईश्वरको पानेके लिए यहाँसे चलकर किसी दुकानपर जानेकी जरूरत है ? कहीं दूसरी जगह ईश्वर मिलेगा ? क्या अभी 'साहब' बाथरूममें हैं ? घण्टे भर इन्तजार करना पड़ेगा ?

ग्यारह बजे दिनमें लोग बताते हैं—'साहब अभी सो ही रहे हैं।' ईश्वर तो सोता नहीं रहता है। वह तो बाथरूममें फँसा नहीं रहता है! उसको तुमसे मिलनेमें कोई परहेज तो है नहीं! उसपर तुम्हारा कुछ कर्ज तो है नहीं कि माँगने जा रहे हो ?

ईश्वरके मिलनेमें देर क्या है ? जहाँ इच्छा उदय हुई, उसके प्रारम्भिक भागमें ईश्वर स्थित है। इच्छाके अन्तिम भागमें भी स्थित है और इच्छाके मध्य भागमें भी स्थित है। जहाँ तुम्हारे दिलमें इच्छा फुरफुरा रही है, वहाँ जरा ईश्वरको ढूँढो! अन्तर्यामी हो तो, सर्वज्ञ हो तो, निराकार हो तो, सर्व-व्यापी हो तो, वैष्णवों शैवों-शाक्तोंका हो तो, वेदान्तियोंका हो तो और ईसाई

मुसलमानोंका हो तो ! ईश्वर तो वह है न कि जहाँ, जब, जिससे इच्छाओंका उदय-विलय हो रहा है, वहाँ ईश्वर मौजूद है। श्रुतिने वर्णन किया कि 'उन उत्तम अधिकारियोंको भटकनेकी जरूरत नहीं है। पुराणने भी कहा—

इदं तीर्थं इदं तीर्थं भ्राम्यन्ति तामसाः जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मोक्षष्यन्ति प्रिये ॥

यह पुराणका वचन है, किसी वेदान्तीका वचन नहीं है ! 'अरे ! तुम्हारा हृदय सब तीर्थोंका तीर्थ है, जहाँसे ज्ञानगंगा निकलती है। जहाँसे भक्ति-यमुना प्रवाहित होती है। वह तीर्थ, जहाँसे 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यजन्या सरस्वती निकलती है।

तीर्थ कहाँ है ? तुम्हारे हृदयमें। वह जगत्कारण रूप ज्योतिर्लिंग, वह शालिग्रामवत् ब्रह्माण्डमें शयन करनेवाला जगत्कारण रूप नारायण कहाँ है ? तुम्हारे हृदयमें है। वह बीजमें शयन करनेवाले नारायण तुम्हारे हृदयमें हैं। ब्रह्मा तुम्हारे हृदयमें हैं, विष्णु, शिव, हिरण्यगर्भ, निराकार ईश्वर—ये सब तुम्हारे हृदयमें हैं। वेदान्तियोंने कहा —'ढूँढने कहाँ जा रहे हो ? तुम जरा अपने आपको तो देखो !

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।

एक आदमीने सायंकाल नया जूता पहना। रातको पी ली ताड़ी और सड़कपर गिर पड़ा, सो गया। किसीने उसके नये जूते चुरा लिये और पुराने पहना दिये। किसी परिचित बैलगाड़ीवालेने पुकारा—'ऐ अमुक, उठो ! सड़क पर सो रहे हो ?'

अब वह उठा तो देखा कि उसके पैरमें नये जूते नहीं हैं। वह बोला—'ठहरो, मैं वह नहीं हूँ। मैं तो नये जूतेवाला था। यह तो पुराने जूतेवाला है।'

आदमी जब जूतेको ही अर्थात् चामको ही अपनी पहचान बना ले, कि 'वही चामवाला, वही खूनवाला, वही हड्डीवाला, वही पीबवाला, वही वासनावाला'—यह बिलकुल झूठी बात है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः !'

आत्माका दर्शन करो। कैसे दर्शन करें ? यह उत्तम अधिकारीकी बात है। जगत्में ईश्वरको ढूँढना कार्यदृष्टि है। आँख बन्द करके सुषुप्ति-समाधिमें ईश्वरको ढूँढना कारणदृष्टि है। अपने-आपको ढूँढना कार्यकारणातीत दृष्टि है। क्योंकि अपना आपा कार्यका भी साक्षी है और कारणका भी साक्षी है। यह कभी कार्य होकर मरता नहीं और कभी कारण होकर जनमता नहीं।

कारण कार्याकार जन्म-ग्रहण करता है और कार्य मर करके कारण हो जाता है। कार्य जो मर करके, फूट करके कारण हो जाता है, वह मैं नहीं

हूँ। कारण, जो जन्मके कार्य बन जाता है, वह कारण मैं नहीं हूँ। तब मैं कौन हूँ ? ज्ञानरूप द्रष्टा। कैसे मालूम पड़े ? 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

यह आत्मा मशीन पर ढूँढनेसे नहीं मिलेगा; यह दूरबीन-खुर्दबीनकी चीज नहीं है। जो विषय है, उसको हम आत्मा नहीं बोलते हैं। जिसको विषयका ज्ञान होता है, उस विषयीको आत्मा बोलते हैं। उसमें भी जो नित्य है उसको आत्मा बोलते हैं।

विषय नहीं विषयी, अनित्य नहीं नित्य, दृश्य नहीं, दृष्टा—अरे भाई ! जिसमें द्रष्टा और दृश्यका भेद कल्पित है, जो इस कल्पनाका अधिष्ठान है, प्रकाशक है, स्वयं प्रकाश-अधिष्ठान है वह आत्मा है। ये सारी बातें केवल आपके ऊपर कृपा करके कही गयी हैं।

सोऽन्वेष्टव्यः विजिज्ञासितव्यः।

उसका अन्वेषण करो, उसकी जिज्ञासा करो। वेदान्तकी जिज्ञासामें और संसारकी जिज्ञासामें एक बड़ा भारी फर्क है। कई विचारक तो घबड़ा जाते हैं। कोई जब यह पूछनेके लिए आवेगा कि 'घड़ी क्या है ?' तो हम अपने हाथसे उठाकर उसके हाथमें दे देंगे कि 'यह घड़ी है।' जिज्ञासापूर्ति हो गयी और घड़ीका ज्ञान हो गया।

परन्तु यदि कोई आकर पूछेगा कि आत्मा क्या है ? तो क्या यही तरीका रहेगा कि घड़ीकी तरह आत्मा उठाकर उसके हाथमें दे दें ? यह तरीका नहीं होगा। 'जिज्ञासा माने क्या ?'

'ज्ञानकी इच्छा।' अच्छा, यह जिज्ञासा तुमको हो रही है कि दूसरेको हो रही है ?'

'हो तो हमको ही रही है।'

'तो जिसको ज्ञानकी इच्छा हो रही है, उसका नाम आत्मा है। जब ज्ञानकी इच्छा नहीं थी, तब भी तुम थे। इसका अर्थ यह है कि तुम स्वयं अपने बारेमें पूछ रहे हो कि 'मैं कौन हूँ ?'

जिज्ञासाके बाद काट देंगे जिज्ञासाको। घड़ी मिलनेसे घड़ीकी जिज्ञासा पूर्ण होगी और जिज्ञासा कटनेसे आत्मज्ञान होगा ! इसमें बिलकुल कुछ भी बाकी नहीं बचता। इसमें शेष नहीं है और इसमें उपलब्धि नहीं है।

आत्मा-अनात्माका कैसा विभाग है ? जरा बाँटो तो ! कितना आत्मा और कितना अनात्मा ? बाँटते-बाँटते आत्मा और अनात्मामें विभाग ही नहीं रहेगा। इसलिए न शेष बचेगा और न तो उपलब्धि होगी। ज्यों-का-त्यों !

ना कछु हुआ, न है कछु, ना कछु होवनहार।
अनुभव का दीदार है, अपना रूप अपार॥

इस प्रकार (१) ईश्वरभावपूर्वक कार्योपासनाके द्वारा अन्तःकरणशुद्धि और (२) सर्वकार्यमें व्यापकताका भाव करते हुए ईश्वरकी उपासना तथा (३) दोनोंका जो द्रष्टा है, उसका अनुसन्धान। ये तीन प्रकारके अधिकारियोंके लिए तीन प्रकारकी उपासना बतायी गयी है। यह दयालु वेदकी अनुकम्पा है कि मनुष्य सन्मार्गगामी होकर एकत्वदृष्टिको प्राप्त करे, क्योंकि श्रुति कहती है—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केन० ५)

वे चार विभाग आपके ध्यानमें होंगे (१) विषय और विषयी—सम्पूर्ण जगत् विषय है और आत्मा विषयी है। (२) सम्पूर्ण जगत् अनित्य है और आत्मा नित्य है (३) जगत् दृश्य है, आत्मा द्रष्टा है। (४) इन सबका अधिष्ठान साक्षी—आत्मा, ब्रह्म।

करणोंके द्वारा जगत्को देखना, यह विषय-विषयीभाव है। करणोंके बिना सुषुप्तिपर्यत जगत्को देखना, साक्षीभास्य जगत्को देखना, यह दृश्य और द्रष्टाका विवेक है। दृश्य और द्रष्टा जिसमें कल्पित है, वह प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्व है। ये चार विभाग करके अपने मनमें जो शंका हो, उसको दूर करो।

मनसे जिसका मनन होता है, जो मननका कार्य है, मननका विषय है, वह नहीं; जो मननको प्रकाशित कर रहा है, उसको तुम ब्रह्म समझो। मनका प्रकाशक जो आत्मा है, उसको ब्रह्म समझो। 'नेदं यदिदमुपासते'—जिसकी तुम 'यह-यह' उपासना कर रहे हो वह ब्रह्म नहीं है।

अन्यकी उपासना उत्तम दृष्टि नहीं है, मध्यम-दृष्टि है और केवल कर्म-परायणता हीन दृष्टि है। आत्मदर्शन सम्यक्दर्शन है, क्योंकि श्रुति सिद्धका बोध करती है। जिसको यह बोध हो मया है, उसके लिए कोई विधि और निषेध नहीं है।

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधि को निषेधः?

निस्त्रैगुण्यमार्गमें जो विचरण करते हैं, उनके लिए क्या विधि है और क्या निषेध है? 'यह करो' और 'यह मत करो'—यह उनके लिए नहीं है। पूर्ण स्वातन्त्र्य है, यही उनका सुख है।

●

अद्वैत-दर्शन अविरोधी सिधान्त है

:१२:

शास्त्र और युक्तिसे यह सिद्ध है कि अपने आत्माको अद्वयरूपमें जानना सम्यक् दर्शन है। जो इससे बहिर्भूत द्वैतवादी दर्शन हैं वे सब मिथ्या दर्शन हैं। वे इसलिए भी मिथ्या-दर्शन हैं क्योंकि वे अपने-अपने सिद्धान्तोंमें दुराग्रही हैं और इसलिए वे राग-द्वेषादि दोषोंके आश्रय हैं। परन्तु अद्वैत-दर्शन तो 'अविवादोऽविरोधश्च' (मा० का० ४.२) है।

यदि सोनेमें एक तस्वीर बनायी जाय, आमने-सामने रावण और राम आपसमें लड़ते हुए—तो क्या सोनेमें वास्तवमें कहीं लड़ाई है? घड़े पर डण्डा मारो तो घड़े-डण्डेमें लड़ाई भले है, लेकिन डण्डेमें जो आकाश है और घड़ेमें जो आकाश है, उसमें कहीं लड़ाई है? आकाश तो दोनोंका एक ही है।

द्वैतदर्शन रागद्वेषादि-दोषास्पद है। चार्वाक् भी द्वैत मानते हैं, परस्पर-भेद मानते हैं। स्त्री-पुरुषका भेद मानते हैं, पशु-मनुष्यका भेद मानते हैं, मिट्टी-पानी तेज-वायुका भेद मानता है। जैन भी भेद मानते हैं, पर दोनोंमें एक राय है क्या?

न्याय भी भेद मानता है और सांख्य भी भेद मानता है। न्याय बोलता है—'परमाणुओंसे सृष्टि हुई' और सांख्य बोलता है—प्रकृतिसे सृष्टि हुई।' दोनों जीवात्माको मानते हैं; सांख्य द्रष्टा पुरुषके रूपमें और न्यायकर्ता-भोक्ताके रूपमें दोनोंमें कोई मतैक्य है क्या? वह उनका खण्डन करनेपर तुले हुए हैं और वह उनका खण्डन करनेपर तुले हुए हैं।

बोले—'दोनोंमें समन्वय है।'

हाँ, तुम कर लो समन्वय। तुम्हारी अपनी दृष्टिका प्रतिपादन होगा यह। परन्तु जिनका समन्वय करते हो, उनको तो बिलकुल बट्टे-खातेमें ही डाल दिया। हम 'गौतम' और 'कपिल'का समन्वय कर देते हैं। लेकिन 'गौतम' और 'कपिल' जब इकट्ठे होंगे तो उनका क्या कभी समन्वय होगा? वे आपसमें क्या कभी समन्वयकी बात करेंगे?

'एनीबेसेण्ट' कहती थीं—'ईसाई-धर्मका जो सार है और हिन्दू धर्मका जो सार है, वह बिलकुल एक ही है, इसलिए थियोसॉफिकल सोसायटी'में आ जाओ।' उसने ईसाई धर्मका और हिन्दूधर्मका समन्वय कर दिया। लेकिन कहीं वैदिक पंडितोंने माना कि ईसाई धर्मके साथ हमारा समन्वय है? क्या ईसाइयोंने माना कि हिन्दूधर्मके साथ हमारा समन्वय है—कि आओ, हमलोग होम करेंगे,

देवताओंकी पूजा करेंगे, यज्ञोपवीत पहनेंगे ! क्या हिन्दू मानने लग जायेंगे कि हम बपतिस्मा करायेंगे ? रामकृष्ण परमहंस कहेंगे कि 'समन्वय' है', परन्तु उन-उन धर्मोंवाले थोड़े ही कहेंगे कि समन्वय है। वे तो दूसरे धर्मको नीचे दबाकर अपने धर्मको ऊपर उठायेंगे। तब उनका धर्मावेश पूरा होगा।

असलमें हमलोग समन्वय अद्वैत दृष्टिसे करते हैं। कहते हैं कि 'देखो, चार्वाक् दुनियाका मोह मिटाता है।' जैन महापुरुषोंपर श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। बौद्ध प्रपञ्चके शून्यत्वका निरूपण करके--निश्चय करके हमारी वासनाको मिटानेमें सहायक होते हैं।

न्याय-वैशेषिक ईश्वरकी स्थापना करते हैं। सांख्य-योग आत्मविवेक करते हैं। मीमांसा श्रुत्यर्थ-निरूपणकी प्रक्रिया बताती है। ये सब अन्तमें वेदान्तमें पहुँचानेके लिए हैं। मगर यह तो हमने, अद्वैतियोंने कहा।

जरा 'जैमिनी'से पूछो—'तुम क्या वेदान्तमें पहुँचाते हो ? 'गौतम'से पूछो—तुम क्या वेदान्तमें पहुँचाते हो ? असलमें जो द्वैतवादी लोग हैं, उनमें परस्पर मेल होना बड़ा कठिन है।

यदि शिवका गोरापन और नारायणका कालापन मिलाकर नयी मूर्ति बनायी जाय, तो जैसे 'थियोसॉफिकल सोसायटी' तीसरी बन गयी, वैसे वह तीसरी मूर्ति बन जायगी। तीसरा सम्प्रदाय बन जायगा। स्मार्त पाँचोंकी पूजा करते हैं। वे भी जब पूजा करते हैं, तो एकको बीचमें बैठाते हैं। यहाँ विष्णु प्रधान है, यहाँ शिव प्रधान है। लोग यहाँ स्मार्त सिद्धान्तको कम जानते हैं। वे तो हैं स्मार्ट (Smart) जो कहते हैं, 'आओ, थोड़ी-थोड़ी, पूजा सबकी करते हैं।' सबका आदर करो, भाई ! एकका अनादर और एकका आदर करनेकी अपेक्षा सबका आदर करना, यह तो स्मार्ट (Smart) ही हुआ न। आदर सबका करना, लेकिन जब पूजा करनी होती है तब एककी प्रधानता माननी पड़ती है।

समन्वय कौन करता है ? समन्वय हम अद्वैती करते हैं। द्वैतवादी तो आपसमें परस्पर विरुद्ध हैं और अद्वैतवादी--'अविवादोऽविरुद्धश्च !' शिवावच्छिन्न चैतन्य और विष्णु-अवच्छिन्न चैतन्य, एक; गणेशावच्छिन्न चैतन्य और एक सूर्यविच्छिन्न चैतन्य, एक गणेशोपाधिक चैतन्य, सूर्योपाधिक चैतन्य, देव्योपाधिक चैतन्य एक; और गणेश-सूर्य-देवी आदिका अधिष्ठान गणेश-देवी-सूर्यादिका प्रकाशक एक अखण्ड चैतन्य है। अद्वैतीने कहा--हमारे तो कोई झगड़ा ही नहीं। हम सबमें और सब हममें ! इस दृष्टिसे देखें तो कोई विवाद या विरोध नहीं रहता।

परस्पर विरुध्यन्ते—एक दृश्य दूसरे दृश्यका विरोधी होता है। दृश्य द्रष्टाके विरोधी नहीं होते। दृश्य-दृश्यके विरोधी होते हैं। दृश्य अधिष्ठानके विरोधी नहीं होते। रज्जुमें कल्पित सर्प और मालाका परस्पर विरोध भले ही हो, परन्तु रज्जुसे उनका कोई विरोध नहीं है, क्योंकि दोनोंका अधिष्ठान एक ही रज्जु है। और असलमें तो सर्प और मालाका भी विरोध वास्तविक नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों असत् हैं, दोनों भ्रान्तियाँ हैं।

जो सब नामोंमें सब रूपोंमें अनुगत है और सबसे व्यावृत्त है, जिसमें नामरूप केवल उपासनाकी दृष्टिसे कल्पित है, वह जो तत्त्व है, उसमें तो किसीका विरोध ही नहीं है। अगर कोई अविरोधी सिद्धान्त है तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह वेदान्त-सिद्धान्त ही है।

× × ×

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परं विरुद्ध्यन्ते तैरयं न विरुद्ध्यते॥ १७॥

अर्थ :—द्वैतवादी अपने-अपने सिद्धान्तोंकी व्यवस्थामें दृढ़ आग्रही हैं। अतः वे आपसमें विरोध रखते हैं; परन्तु यह अद्वैत दर्शन उनका विरोध नहीं करता।

कहते हैं कि 'द्वैतदर्शन मिथ्यादर्शन है' क्यों? तो रागद्वेषादिदोषानास्पदत्वात्? क्योंकि आपसमें राग-द्वेष करते हैं। राग, द्वेष, मद, मोह—ये दोष जिससे मिटे, वह सच्चा दर्शन और जिससे हृदयमें ये दोष बढ़ें, वह असत्य-दर्शन। माने, हमारी नजर इतनी गहराईमें पहुँचनी चाहिए कि जहाँसे हम शुद्ध वस्तुको लेकर निकलें और हृदय शुद्ध हो जाय।

हम गंगाजीमें जल लेने जाते हैं, तो कहते हैं कि—'किनारेपर मत लो, जल गंदला है।' है तो गंगाजल! बड़ा पवित्र! शंकरजी पर चढ़ाने योग्य है परन्तु बोले—'नहीं, थोड़ा भीतर जाकर गहराईमें-से जल ले आओ जिसमें मैल न हो, स्वच्छ हो! निर्मल हो! तुम संसारका रहस्य समझने चले और उसमें-से गंदगी छानकर लाये, तो क्या समझा?

रागमें दोष क्या है? राग माने—दुनियामें जिसे मुहब्बत बोलते हैं, संस्कृत भाषामें इसीको राग बोलते हैं। रागका मतलब होता है, हमारे हृदयके शीशे-पर किसी वस्तु या व्यक्तिका इतना रंग चढ़ जाना कि बस, वही-वही दीखे। लोग बोलते भी हैं कि 'भाई! आजकल तो इनपर इन्हींका रंग चढ़ा है। रागमें हानि यह होती है कि उसमें पक्षपात होता है; जिससे राग होता है, उसका

पक्षपात होता है। अपने बेटेका पक्षपात करते हैं, अपनी पत्नीका पक्षपात करते हैं। पक्षपात करनेसे एकके साथ होता है पक्षपात और दूसरेके साथ हो जाता है अन्याय। इसलिए रागमें भी उतनी ही क्रूरता है जितनो क्रूरता द्वेषमें है। क्योंकि किसीसे द्वेष हो दुश्मनी हो तो उसको नुकसान पहुँचायेंगे।

द्वेषका फल जैसे हिंसा है, वैसे रागका फल भी हिंसा है। राग भी जहर है, द्वेष भी जहर है। दोनोंमें फर्क यह है कि राग मीठा जहर है, द्वेष कड़वा जहर है। राग होगा तो जहरके साथ मजा भी आता रहेगा। जिससे द्वेष होगा, उसका काम जाने-अनजाने बिगाड़ देंगे।

एक गृहस्थ-संत थे 'संत'को वर्णाश्रमका भेद मालूम नहीं रहता। संतपना कहीं भी उतर आता है--स्त्रीमें, पुरुषमें, ब्राह्मणमें, शूद्रमें, संन्यासीमें, गृहस्थमें।

उनके घर आये साधु। भोजन करनेके लिए बैठाया। उनकी श्रीमतीजी दूध ले आयीं परसनेके लिए जबतक साधुओंको परसती रहीं, तबतक तो दूध गिरानेके समय मुँह पर कलछी लगा लेतीं कि मलाई न गिरे। जब पतिको परसना हुआ, तब कलछी हटा ली। इस प्रकार अपने पतिको मलाई परस दिया और साधुको मलाई-रहित दूध परस दिया।

वे गृहस्थ अपनी पत्नीपर नाराज हो गये। केवल इतना पक्षपात करने मात्रसे ही उन्होंने अपनी पत्नीका परित्याग कर दिया कि 'तुमने घरमें आये हुए सन्त-मेहमानका तिरस्कार कर दिया।'

दो भाई थे। हमको जहाँतक जानकारी है कि बिलकुल बम्बईकी बात है। दोनोंके बच्चे थे घरमें और बराबर उम्रके थे। दोनों भाइयोंमें बड़ा प्रेम था। बड़ा भारी व्यापार था। एक दिन छोटे भाई बाजार गये दो आम ले आये। जब घरमें घुसे तो दोनों बच्चे दौड़े उनकी तरफ। एक बायीं तरफ और एक दाहिनी तरफ। बायें हाथकी तरफ अपना बेटा था और दाहिने हाथकी तरफ बड़े भाईका बेटा। उनके दाहिने हाथमें बड़ा आम था और बायें हाथमें छोटा आम! तो उन्होंने क्या किया कि आम देते समय अपना हाथ घुमा दिया—बायाँ हाथ दाहिनी ओर कर दिया और दाहिना-हाथ बायीं ओर कर दिया, अपने बेटेकी ओर!

यह बात बड़े भाई देख रहे थे। खाया-पिया, मिले-जुले, हँसे-खेले। जब रातको दोनों बैठे, तो बोले कि 'भाई! आओ, हम बाँट-बखरा कर लें।' अब छोटा भाई बड़ा दुःखी हुआ कि हमसे ऐसी क्या गलती हो गयी कि आप कहते हैं कि 'आओ, बाँट-बखरा कर लें?'

उन्होंने कहा--'नहीं भाई, गलती तो कुछ नहीं हुई। सवाल छोटे-बड़े आमका नहीं अपने-परायेकी भावनाका सवाल है। छोटे लोग इस बातको नहीं समझते। क्रियामें छोटापन-बड़ापन नहीं होता। अगर वह छोटा भाई उस एक बड़े आमके बदलेमें सौ आम लाकर बड़े भाईके बेटेको दे दें तब भी वह समस्या हल नहीं होती है। क्योंकि उसमें जो मनोवृत्ति है पक्षपातकी, वह सौ आम दे देनेसे नहीं बदलती है। बड़े लोग बाहरकी क्रियाको, बाहरकी वस्तुको नहीं देखते हैं। वे देखते हैं कि 'इसमें मनोभाव क्या है?'

जब एकसे राग हो जाता है, पक्षपात हो जाता है, तो दूसरेकी हिंसा निश्चित रूपसे होती है। इसीलिए द्वैतदर्शन रागद्वेषास्पद है। रागमें भी हिंसा है, द्वेषमें भी हिंसा है। राग करते समय मीठा लगता है, परन्तु परिणाममें हिंसा है। द्वेष करते समय कड़वा लगता है और परिणाममें हिंसा है।

नतीजेकी दृष्टिसे दोनों एक हैं और वर्त्तमान-वृत्तिकी दृष्टिसे दोनों जुदा-जुदा हैं। इसलिए मनुष्यको उस बातसे बचना चाहिए जिससे अपने हृदयमें राग-द्वेष आता हो।

द्वैतदर्शन राग-द्वेषदोषास्पद है। उसमें मद है, मान है। इसलिए वह परमेश्वर नहीं है। मद और मानमें सच्चा ज्ञान प्रकट नहीं होता। नशेमें ज्ञान कलुषित होता है। जैसे भांगके नशेमें हों, शराबके नशेमें हों, तो पहचान तो रहे हैं कि यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह बेटा है, यह बेटी है लेकिन उस समयका जो व्यवहार है, उससे मालूम होता है कि ज्ञानमें शुद्धि नहीं है, पवित्रता नहीं है। मद नशा है। और मान तो दूसरेको छोटा मानकर ही व्यवहार करता है।

द्वैतीलोग क्या करते हैं? 'कपिल' कहते हैं—'जिसने परमाणु बताया, वह गलत, माने 'गौतम' गलत। 'कणाद' कहते हैं—'जिसने गुणोंको साम्यावस्थासे सृष्टि बतायी और सब विशेष चीजोंको मूलमें स्वीकार नहीं किया वह गलत।' कणाद कहते हैं कि कपिल गलत और कपिल कहते हैं कि कणाद गलत।

शंकराचार्य भगवान्‌ने द्वैतवादियोंमें इनका नाम लिया है—'कणाद', 'कपिल', 'गौतम' आदि।

बुद्ध कहते हैं कि बाह्यार्थवाद है, कि आंतरार्थवाद है, कि उभयार्थवाद है कि अनुभयार्थवाद है? वे तो मानो व्यवहारका बिलकुल अपलाप ही कर रहे हों। शून्य-ही-शून्य!

अर्हत् कहते हैं—'सब द्वैत-ही-द्वैत है। जीव अलग-अलग हैं, जगत् अलग-अलग हैं, तीर्थंकर अलग-अलग हैं। इनमें शैव-वैष्णवोंका नाम शंकराचार्य

भगवान्‌ने नहीं लिया है। इसका अर्थ यह है कि शैव-वैष्णव आदिके भेद ज्यादा करके उनके बाद हुए हैं।

श्रौत-स्मार्त मतावलंबियोंमें जो लड़ाई हुई है, वह शंकराचार्यके बाद हुई है। उनके समयमें शैव-वैष्णवोंकी कोई लड़ाई नहीं थी। एकने कहा कि नर्मदा-नदीमें-से जो पाषाण निकलता है, वह ईश्वर है। दूसरेने कहा कि—'गण्डकी नदीमें-से जो पाषाण निकलता है, सो ईश्वर है।' गण्डकी-नर्मदा दोनों तो बह रही हैं। दोनोंमें-से शालग्राम और लिंग निकलते जा रहे हैं। मनुष्य इन दोनोंको लेकर आपसमें लड़ाई कर रहे हैं कि यह ईश्वर कि यह ईश्वर! इस द्वैतके लिए मनुष्य-मनुष्यको मार डालता है, मनुष्य-मनुष्यकी हिंसा करता है। यह द्वैतका कार्य है। ये अपने सिद्धान्तसे टस-से-मस होते हों, यह बात बिलकुल नहीं है।

द्वैतिनो निश्चिता दृढम्—द्वैतवादी लोग दृढ़रूपसे निश्चित हो गये हैं।

'परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते'—परस्पर विरोध करते हैं। कहते हैं—'जैसा हमको दीखता है, वह ठीक है। जैसा तुमको दिखता है, सो गलत है। क्या तुम्हारे ही आँख है? उसके आँख नहीं है?'

एक दिन दो जने परस्पर विवाद कर रहे थे। एक ने कहा—सामने जो है वह माला है। दूसरेने कहा—माला नहीं है, साँप है। दोनोंमें शर्त लग गयी। तीसरा आदमी सामने खड़ा हँस रहा था। पूछा—'अरे भाई, तुम हँस क्यों रहे हो?'

वह बोला—'हम तो जानते हैं कि 'न साँप है न माला है। वहाँ तो रस्सी है। तुम उसमें कल्पना कर रहे हो, कि साँप है और तुम उसीमें कल्पना कर रहे हो कि माला है। वह न माला है न साँप है। वह तो रस्सी है।'

जिसका रस्सीका ज्ञान है, उसको न मालापर शर्त लगानी है न साँपपर शर्त लगानी है। क्यों? क्योंकि दोनोंका दर्शन मिथ्या है।

'तैरवं न विरुध्यन्ते'—माला कहनेवाला भी रस्सीका विरोध नहीं करता और साँप कहनेवाला भी रस्सीका विरोध नहीं करता; क्योंकि वे दोनों बेचारे तो रस्सीको जानते ही नहीं। वे तो अपनी-अपनी जानकारीको लेकर उड़ रहे हैं।

अद्वैतका विरोध कोई नहीं करता। एक-दूसरेका विरोध तो करते हैं। रस्सी तो साँपमें भी है और मालामें भी है। जो मूलतत्त्व है ईश्वर, वह शालिग्राममें भी है और नर्मदाशंकरमें भी है। ईश्वर परमाणुमें भी है और ईश्वर प्रकृतिमें भी है। जो ईश्वरको देखता है, उसके लिए शालिग्राममें और नर्मदा-शंकरमें विरोध कहाँ है? जो ईश्वरको देखता है, उसके लिए परमाणमें और प्रकृतिमें विरोध कहाँ है?

जो सब साधुओंकी पूजा करता है, वैष्णवकी, उदासीनकी, संन्यासीकी, शैवकी, शाक्तकी, वह साधुत्वकी पूजा करता है। उसमें व्यक्तिको पूजा कहाँ है? साधुत्व तो वैष्णव, शैव, शाक्त, उदासी सबमें अनुगत है। उदासी कहे कि 'संन्यासीको मत मानो' और संन्यासी कहे कि 'उदासीको मत मानो'? संन्यासी-उदासी कहे कि 'वैष्णवको मत मानो', वैष्णव कहे, 'उदासी-संन्यासीको मत मानो।' ये आपसमें लड़ते हैं। लेकिन जो साधुमात्रका प्रेमो है, उसके लिए तो कपड़ा क्या लाल और क्या गेरुआ!

चन्दन खड़ा तो क्या और पड़ा हुआ तो क्या ?

ईश्वर साधुत्व सरीखा है। द्वैत शैव-वैष्णव-उदासी-संन्यासीके ढंगका है। इसलिए साधकका काम यह होता है कि वह देखे, 'हमारे दिलपर क्या असर पड़ता है ? हृदयमें राग-द्वेष तो नहीं आता ?

अद्वैत सर्वानन्य है, सबमें एक है। एकत्व-दर्शन किसी पक्षका विरोधी नहीं है। हाथ अलग और पाँव अलग दीखते हैं परन्तु यदि हाथ मारे पाँवको और पाँव मारे हाथ को तो क्या यह ठीक है ? दोनों अलग-अलग नहीं हैं ? एक शरीरके ही अंग हैं ? शरीरको एकत्वका जब खयाल रहेगा, तब हाथ-पाँवमें विरोध नहीं होगा।

एक वहुत वुद्धिसागर थे, 'देवानां प्रियः'। यह संस्कृतमें गाली है। देवताओंके प्यारे माने पशु-पक्षी। क्योंकि देवतालोग ज्यादातर पशुओंसे काम लेते हैं। एकाध पशु उनके पास जरूर रहता है। जैसे भैरवजी कुत्ता रखते हैं, शंकर भगवान् बैल रखते हैं, विष्णु भगवान् गरुड़ रखते हैं, ब्रह्माजी हंस रखते हैं।

तो कोई देवताओंका प्यारा वुद्धिसागर था। एक दिन असावधानीसे दाँत जीभपर लग गया तो जीभ कट गयी। बड़ा गुस्सा आया उसको कि दुष्ट दाँत हमारी जीभको काट देते हैं। लेकर लोढ़ा दाँतपर मार दिया! दाँत टूट गया।

तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत्।

अब दाँत टूटने की वेदनाका गुस्सा किसके ऊपर करे ? हाथने दुष्टता की दाँतके ऊपर, लोढ़ा मार दिया, तो अब हाथ तोड़ो! फिर ? यह तो दिमागकी खराबी है, तो एक लोढ़ा दिमागपर भी लगाओ! अरे भाई ? जिसकी जीभ है उसीका दाँत है, उसीका हाथ है, उसीका दिमाग है। जब एक ही सबमें है, तो गुस्सा किसके ऊपर ? तब राग-द्वेष किससे ? श्रीमद्भागवतमें यह यह दृष्टान्त है

जिह्वा क्वचित् संदशति स्वदद्भिस्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत्।

अपना हाथ अपने को तकलीफ दे रहा है, तो क्या अपने हाथको हम काट देंगे ? एकत्वदर्शन राग-द्वेषको सर्वथा मिटानेवाला है। उसीको जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख कहते हैं। इसलिए आत्मैकत्व दर्शन, सम्यक् दर्शन है और इसका विरोध कोई भी नहीं कर सकता।

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्ध्यते ॥ १८ ॥

अर्थ—अद्वैत परमार्थ है और क्योंकि द्वैत उसीका भेद है; और क्योंकि द्वैतवादियोंके मत में परमार्थ और अपरमार्थ—दोनों प्रकारसे द्वैत ही है; इसलिए अद्वैत उनसे विरोध नहीं रखता।

असल में अद्वैतमें, परमाथ में, किसीसे विरोध नहीं है।

किसीने कहा—'जाग्रत अवस्था परमार्थ है। ठीक है, भले मानुस! जाग्रत् अवस्था परमार्थ है, परन्तु सुषुप्ति परमार्थ है कि नहीं ? अगर सुषुप्ति अवस्था न हो, केवल जाग्रत्-जाग्रत् अवस्था हो, तो आदमी पागल हो जायगा कि नहीं ? एक अवस्था वह भी है।

तब किसीने कहा-'सुषुप्ति अवस्था परमार्थ है। जाग्रत् अवस्था नहीं।' तब तो वह अन्धा ही हो गया ? सुषुप्ति अवस्था अन्धी है और जाग्रत् अवस्था हर समय क्रियाशील है, चंचल है, विक्षिप्त है। यदि केवल एक-एक अवस्था परमार्थ होवे, तो एक कालमें वे होती हैं, दूसरे कालमें नहीं रहती, तो मर गयी।

स्वामी रामतीर्थ ने एक स्थानपर कहा है कि जो लोग सत्यका, परमार्थका, विवेचन करनेके लिए चलते हैं, और केवल जाग्रत्के अनुभवके आधारपर ही परमार्थका अनुसन्धान करते हैं, (उनके विचारका कोई ठोस आधार नहीं है।)

ये यंत्र-मंत्र जितने हैं, वे सब जाग्रत्के हैं। जो मशीने हैं, विज्ञानशालाके जितने प्रयोग हैं, राकेट हैं, अणुबम हैं, सब जाग्रत्के हैं। केवल जाग्रत् अवस्थाके अनुभवोंको ही सत्य मानकर जो परमार्थकी खोज करते हैं और मनमें होने वाली स्वप्नावस्थापर विचार नहीं करते और इन दोनोंकी शान्ति जिसमें हो जाती है उस सुषुप्ति अवस्थापर विचार नहीं करते, उनके विचारका आधार ही अधूरा है।

विक्षेपके आधारपर तो विचार करे, और शान्तिके आधार पर विचार न करे, तो परमार्थ क्या ? परमार्थ उसको कहते हैं, जो जाग्रत्में हो स्वप्नमें हो, सुषुप्तिमें हो ! अर्थका परम रूप परमार्थ है।

सोना क्या ? जो गलनेकी दशामें (द्रवावस्थामें) भी हो और आभूषण अवस्थामें भी हो। ठोस हो या द्रवावस्था हो, सोना हर हालतमें सोना ही है।

ऐसे ही, मनुष्यके व्यवहारमें नाना प्रकारकी अवस्थाएँ आती हैं। उन अवस्थाओंमें कोई चीज ऐसी है, जो गली हुई हो तो, कण-कण हो तो, कंगन-हार-कुण्डल हो तो, स्त्री हो तो, पुरुष हो तो, पशु हो तो, पक्षी हो तो, धरती-पानी-आग होवे तो, प्रकृति-महत्तत्त्व होवे तो कितनी भी हालतोंमें-से उसे गुजरना पड़ता हो, लेकिन वह अविनाशी हो। उस अविनाशी तत्त्वको परमार्थ कहते हैं।

यह जाग्रत् और स्वप्न जिसमें मालूम पड़ते हैं वह परमार्थ है और यह जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति जिसको मालूम पड़ते हैं, सो परमार्थ। माने हम परमार्थको दो कक्षामें ले आना चाहते हैं। एक तो, जैसे घड़े-शकोरे फूटकर माटीमें चले गये और माटीसे घड़े-शकोरे बन गये। घड़े-शकोरे अर्थ है और माटी परमार्थ है।

मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

उसमें जो सच्चाई है, वजन है, वस्तुत्व है, वह मृत्तिकामें है; वह घड़े और शकोरे में नहीं है। इसी प्रकार अनन्त कोटि ब्रह्मांडोंकी रचना पहले हुई, अब हो रही है, आगे होगी। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड पहले फूट गये, अभी फूट रहे हैं और आगे फूट जायेंगे। ये तो सब कंगन, कुण्डल, हार और कणकी तरह, द्रवावस्थाकी तरह अदलने-बदलनेवाला काल-परिच्छेद्य पदार्थ है। इनको बोलते हैं 'अर्थ' इन सबमें जो स्वर्णरूप ईश्वर तत्त्व है वह परमार्थ है।

दुनियामें किसी शकल-सूरतका बन जाना और उसका अलग-अलग हो जाना यह अर्थ है। बदलती हुई शकलोंमें बदलती हुई अवस्थाओंमें, बदलते हुए व्यास-परिधि परिमाणोंमें, दैर्घ्य और आयाममें कोई चीज सिकुड़ जाती है, तो कोई फैल जाती है। यह संकोच और विस्तार देशमें होता है। दूसरे परिवर्तन चीजका एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें होता है कालमें। जैसे जो बच्चा था वह जवान हुआ, बूढ़ा हुआ। यह काल में परिवर्तन हुआ। जो बच्चा एक डेढ़ फुटका था, वह छः फुटका हो गया। यह देशमें विस्तार हुआ। उसका जो वजन था सात पौण्डका वह सत्तर पौण्डका होगया। यह वस्तुत्वका लक्षण है।

इस प्रकार देश, काल, वस्तुके लक्षणोंसे लक्षित वस्तुएँ सब अर्थ हैं, व्यावहारिक हैं। व्यवहारमें इनकी जरूरत पड़ती है।

अर्थ माने वांछाका, अर्थनाका विषय होना। परमार्थ क्या है ? जो अर्थके बदलते हुए स्वरूपमें भी एकरस है, वह परमार्थ है। आपको थोड़ी-सी बात इसके सम्बन्धमें सुनाते हैं।

(१) कोई भी वस्तु जब अपनी लम्बाई-चौड़ाईको (अर्थात् परिमाणको), अपने परिवर्तनको (अर्थात् परिणामको) और अपने परिणममानत्वको (माने अपने आकार-विकारको) छोड़कर जिस एक मूल सत्तामें अन्तर्भूत हो जाती है, उस मूल सत्ताको जड़ सत्ता बोलते हैं।

(२) ये सब (लम्बाई-चौड़ाई, उम्र, आकार-प्रकार) जो मालूम पड़ते हैं और यह सम्पूर्ण मालूम पड़ना जिसमें अन्तर्भूत हो जाता है, उसे चैतन्य बोलते हैं।

वृत्तियोंके मूलको चैतन्य बोलते हैं और आकार-प्रकारके मूलको जड़ सत्ता बोलते हैं। यह सत्ता और चेतनता दो है कि एक है ? यह विवेक है।

(३) जितनी आकृति-विकृति-प्रकृति और संस्कृति देखनेमें आती हैं, जितनी आधि-व्याधि-समाधि देखनेमें आती हैं, ये सब उपाधिमें होती हैं, ये औपाधिक हैं।

(४) आपको यह सुनाना चाहते हैं कि आकार-विकार-प्रकार जिसमें लीन होता है, उसका नाम जड़-सत्ता है--जड़ाद्वैत ! उस जड़ आकार-विकार-प्रकारके देखनेकी जितनी वृत्तियाँ हैं– चक्षुर्वृत्ति, श्रोत्रवृत्ति, स्पर्शवृत्ति, घ्राणवृत्ति, त्वक्-वृत्ति, रासनवृत्ति (रसनावृत्ति), ये जहाँ जा कर अपनी पराकाष्ठाको प्राप्त करती हैं, माने अपनी करणरूपताका परित्याग कर देती हैं, जहाँ आँख-आँख नहीं रहती, जो आँखको भी बनाने वाला है; जहाँ मन-मन नहीं रहता, जो मनको भी बनानेवाला है, जहाँ बुद्धि-बुद्धि नहीं रहती, जो बुद्धिको भी बनाने-वाला है; वह चेतन है। असलमें बुद्धि, मन, आँख, कान, नाक ये भी ज्ञानमें आकृति हैं, ज्ञानमें प्रकृति हैं, ज्ञानमें करण हैं।

तो, दो विभाग होते हैं--एक ज्ञान-विभाग और एक वस्तु-विभाग। ज्ञानको चैतन्य बोलते हैं और वस्तुको सत् या जड़ सत्ता बोलते हैं। इसके सम्बन्धमें जड़वादियोंका कहना है कि जड़-सत्तासे चेतनसत्ता उत्पन्न होती है। ये यंत्रवादी हैं। चेतनवादियोंका कहना है कि चेतनसत्तासे जड़सत्ता उत्पन्न होती है। ये ईश्वरवादी हैं।

जितने एकेश्वरवादी हैं, वे यही कहते हैं कि एक चैतन्य ईश्वर सम्पूर्ण जड़ सत्ताके रूपमें बन जाता है या उसे बना देता है। दोनों पक्ष हैं : कुछ ऐसा मानते हैं कि ईश्वर बनाता है और कुछ ऐसा मानते हैं कि ईश्वर बन जाता है।

तीसरा पक्ष यह है कि जड़सत्ता भी अनादि अनन्त है और चेतन सत्ता भी अनादि-अनन्त है। कुछ लोग कहते हैं कि न कोई जड़ नामकी सत्ता है और न कोई चेतन नामकी सत्ता है। शून्यमें दोनों ही सत्ता कल्पित हैं। ये प्रतीत्य-समुत्पाद्य है।

अर्थात् प्रतीत हो कर उत्पन्न होती है, उत्पन्न होकर प्रतीत नहीं होती। प्रतीत्य माने पहले प्रतीत हो कर तब उत्पन्न होती है। तो इस शून्यमें जड़सत्ता और चेतनासत्ता प्रतीतभर होती है, परमार्थतः नहीं है।

चौथा पक्ष भी है। वह कहता है—असलमें जड़सत्ता और चेतनासत्ता दो नहीं हुआ करतीं। इसका कारण एक तो जिसको हम वेदान्तमें चैतन्य कहते हैं, वह कालक्रमसे दूषित नहीं है। जिसमें परिणाम नहीं है। जिसमें परिणाम है, वह चैतन्य नहीं, वह साक्षी नहीं, वह द्रष्टा नहीं और जिसमें परिणाम है, वह अधिष्ठान नहीं।

जब दोनों ओर ढूंढने लगते हैं, तो 'निर्वृत्तिक चैतन्य' और निर्विशेष जड़ सत्ता दोनों एक ही प्राप्त होते हैं। निर्वृतिक अथवा निर्विषय चैतन्य निष्क्रिय है। निर्वृत्तिक चैतन्य निर्विषय है, अकाल है, अदेश है, अविषय है। तथा जो परमार्थरूप अधिष्ठान है, वह भी निराकार है, निर्विषय है, निर्विकार है, तो निर्विषय चैतन्य और निर्विशेष सत्—दोनोंमें भेद क्या? निर्विशेष भी कहोगे और भेद भी पूछोगे? विशेष माने तो भेद ही है। चैतन्यसे क्या विशेषता है सत्तामें? और सत्तासे क्या विशेषता है चैतन्यमें? सत्ता तो ऐसी है जो अध्यस्तरहित, अध्यारोपरहित, आरोपित आकार-विकार-प्रकार-संस्कारसे रहित, अध्यारोपित क्रिया और आकारसे रहित है। और चैतन्य कैसा? यह भी निष्क्रिय, निर्विषय तो असलमें स्वयंप्रकाश चैतन्यमें और स्वयंभू सत्तामें कोई भेद नहीं हो सकता। निर्विशेष सत्तामें और निर्विशेष चैतन्यमें कोई भेद नहीं हो सकता। भेद तो वहाँ होता है जहाँ व्यवहार होता है। व्यवहार ही में भेद होता है, प्रतिभास में ही भेद होता है, परमार्थमें भेद नहीं हुआ करता।

इसलिए जगत्के मूलमें एक ही सत्ता है और वह चिन्तमात्र है। मूल में माने आदि कालमें नहीं, आदि देशमें नहीं, आदि रूपमें नहीं। आँख बन्द करके सोचने लगे कि 'पहले पहल सृष्टि कैसे पैदा हुई होगी?' यह आदमी कालका मारा हुआ है जो आँख बन्द करके सोचता है कि 'सृष्टि आदिकाल में कैसे पैदा हुई होगी?' कालवासनासे, काल-संकारसे आक्रान्त, आस्कंदित है उसकी बुद्धि। भला बताओ! कालमें कहीं आदि होती ही नहीं। कालमें आदि तो कहीं होती ही नहीं। कालकी आदि हो तो उसके पहले उसके पहले, उसके पहले चक्र बन जायगा!

देशमें भला कहीं ओर-छोर होता है? अकबरने बीरबलसे पूछा—'बीरबल। सृष्टि पहले पहल कहाँ हुई?' बीरबलने लोहेकी एक कील उठायी और हथौड़ा

लेकर गाड़ दिया। फिर बोला—'यह है सृष्टिका बीचो-बीच। सृष्टि पहले-पहल यहाँ हुई। यही सृष्टिका आदि है।'

अकबर ने कहा—'प्रमाण दो।'

बीरबल बोला—'काटो। हमने तो प्रमाण दे दिया।' कील गाड़ दी कि यह है सृष्टिका उत्पत्तिस्थान मध्यस्थान पृथिवीका।

कालमें कोई सेकण्ड आदि नहीं होता। देशमें कोई स्थान नहीं होता। परिवर्तनशील वस्तुमें आदि-वस्तु नहीं होती। यह तो ऐन्द्रियक प्रतीतिके आधार पर, अन्तःकरण द्वारा अपनी देश-काल और वस्तुकी वासनाके साथ जोड़ करके जब शुद्ध वस्तुका हम विचार करते हैं, तब आदि और अन्तका सवाल उठता है।

कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम्। (पंचदशी २ : ३८)

हमारे प्राचीन वेदान्ती बोलते हैं—'जिसके अन्तःकरणमें कालकी वासना भरी हुई है, उसके लिए कालकी चर्चा है। सृष्टिका आदि ढूँढना है तो वह तुम हो। सृष्टिका उत्पत्ति स्थान ढूँढना हो तो वह तुम हो। सृष्टिका मूल उपादान ढूँढना हो तो वह तुम हो। तुम सच्चित् हो। तुम हो (सत् हो) और तुमको मालूम पड़ता है (चित् हो)।

तुम्हारा होना और तुमको यह मालूम पड़ना देश-काल-वस्तुसे कटनेवाला नहीं है। इसलिए अर्थका जो परम रूप है, वह सत्से उत्पन्न चित् नहीं है, चेतनासे उत्पन्न सत् नहीं है; जो सत्-चित् दोनों नहीं है, वह जगत्का परमार्थ नहीं है। परमार्थ वह है, जहाँ सत्ता और चेतनका अभेद है; जहाँ सत्ता गौण और चेतन मुख्य, या चेतन गौण और सत्ता मुख्य या सत्ता और चेतनता अलग-अलग, ऐसी कोई विशेष बात नहीं है। वह जो अपरिच्छिन्न अद्वय वस्तु है, उसे परमार्थ कहते हैं।

अद्वैतं परमार्थो हि—परमार्थ अद्वैत है। उसीमें यह सब सृष्टि क्या है? विवर्त-मानताका नाम सृष्टि है—अद्वैत वस्तुका बिना परिणाम हुए अनेकरूप भासना सृष्टि है।

द्वैतं तद्भेद उच्यते—अद्वैतके भेदको ही द्वैत कहा जाता है। 'भेद' शब्दका अर्थ क्या? घोड़ा और हाथीमें, हाथी और गायमें जैसा भेद होता है, वैसा वेदान्तमें 'भेद' शब्दका अर्थ नहीं होता। 'भेद' शब्दका अर्थ नहीं होता। 'भेद' शब्दका अर्थ है 'विलक्षण'।

एक सोनेकी पट्टी है। उस पर एक गाय बनी है, एक मनुष्य बना है। बने हुए मनुष्यसे गाय भिन्न है और बनी हुई गायसे मनुष्य भिन्न है। क्यों? क्योंकि

मनुष्यका लक्षण द्विपाद होना है और गायका लक्षण चतुष्पाद एवं सास्नावती—गलेमें ललरी, होना है। आकृतिमूलक जातिके लक्षणकी कल्पना करके हमने यह निर्णय किया कि इस सोनेकी पट्टीपर मनुष्य और गायमें भेद है। लेकिन यह तत्त्वका ज्ञान नहीं हुआ। गायसे अवच्छिन्न जो स्वर्ण है और मनुष्यसे अवच्छिन्न जो स्वर्ण है, उस स्वर्ण-स्वर्णमें किसी प्रकारका भेद नहीं है, दोनोंका स्वर्णत्व तत्त्व ज्ञान है। केवल लक्षणसे ही वहाँ भेद बना है। तात्त्विक दृष्टिसे वहाँ भेद नहीं है।

आपने सुना ही है कि सेठजी गणेश और चूहा दोनोंको बेंचनेके लिए बाजारमें गये। दोनोंकी परीक्षा की गयी, तो एक ही प्रकारका सोना दोनोंमें। एक ही प्रकारका वजन दोनोंमें। गढ़ाई तो लेनेवाला देता नहीं। दोनोंकी कीमत एक। सेठजीने कहा—'यह चूहा और यह गणेश! दोनोंकी कीमत एक कैसे हो सकती है?'

सुनारने कहा—'अरे बाबा! तुम्हारे मनमें एक गणेश और एक चूहा है। तत्त्वमें कोई फर्क नहीं है।'

जाग्रत् अवस्था जिसको मालूम पड़ती है, सुषुप्ति अवस्था भी उसीको मालूम पड़ती है। सुषुप्तिमें ज्ञानका नाश नहीं होता। हमको जो पता है कि जाग्रत् और स्वप्नसे विलक्षण भी एक अवस्था हमारे जीवनमें आती है; इससे यह सिद्ध है कि सुषुप्तिको हम जानते हैं। सुनकर थोड़े ही जानते हैं कि सुषुप्ति होती है! सुषुप्ति अनुभवकी हुई चीज है। सुषुप्ति जब अनुभवकी हुई चीज है, तो सुषुप्तिमें भी अनुभव रहता है। जिसमें जाग्रत् अवस्था नहीं है, वह सुषुप्ति और जिसमें सुषुप्ति नहीं है वह जाग्रत् अवस्था। यह एक द्वैत हुआ। जाग्रत् अवस्था द्वैत है। सुषुप्ति अवस्था द्वैतका अभाव है। जो द्वैतको देखता है, वही द्वैतके अभावको देखता है। जिसमें द्वैत दीखता है, उसीमें द्वैतका अभाव दीखता है। इसलिए 'जो भी वस्तु अपने अभावके अधिकरणमें भासती है, वह मिथ्या है'। यह मिथ्यात्वका लक्षण है, परिभाषा है कि 'जो चीज अपने अभावके अधिकरणमें भासे, वह मिथ्या'।

जैसे सर्प अपने अभावके अधिकरण रज्जुमें भासता है, इसलिए मिथ्या है। यह जाग्रत अवस्था अपने अभाव सुषुप्तिके अधिकरणमें भासती है, इसलिए यह जाग्रत् अवस्था मिथ्या है और इसी प्रकार यह सुषुप्ति अवस्था भी मिथ्या है। दोनों एक ही कक्षामें निक्षिप्त हैं।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—ये प्रातिभासिक हों या व्यावहारिक हों मिथ्या है और जिस एक स्वप्रकाश सत्तामें ये भासती हैं वही परमार्थमें एक अद्वैत वस्तु है। इसलिए जाग्रत्‌की सारी वस्तुएँ, सारी कल्पनाएँ, सारे भाव, सारी स्थितियाँ-सम्पूर्ण जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति परमार्थ-ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं। वे तो सद्ब्रह्मके विवर्त ही हैं।

तेषामुभयथा द्वैतं—जो द्वैतवादी हैं, वे तो द्वैतको ही परमार्थ मानते हैं अर्थात् उनके मतमें 'परमार्थमें भी द्वैत है, व्यवहारमें भी द्वैत है।'

अद्वैतवादी कहते हैं—'व्यवहारमें द्वैत है, परमार्थमें अद्वैत है।'

सुषुप्ति, समाधि, मूर्च्छा, इन सभी कालोंमें यह देखनेमें आता है कि मन होता है तब द्वैतकी उपलब्धि होती है। जब मन नहीं है, तब द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती। द्वैत मानस है। जब मन नहीं होता है, तब अद्वैतकी उपलब्धि होती है।

जैसे, मिट्टी है तब घड़ा है। मिट्टी नहीं है, तो घड़ा नहीं होगा। घड़ेके बिना भी मिट्टी है। इसीप्रकार ये जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाएं हैं, ये द्वैत हैं तब भी हम हैं और द्वैत नहीं है तब भी हम हैं। हमारे बिना द्वैतका भान नहीं होता और द्वैतके बिना हम रहते हैं।

आत्मसत्ता—चैतन्यसत्ता है। सत्-चित् परमार्थ है। अपने सिवा जो दूसरी सारी सत्ताएँ भासती हैं, वे परमार्थ नहीं हैं।

× × ×

ये कहते हैं कि परमार्थ है अद्वैत। द्वैत अद्वैतका समसत्ताक किसी भी प्रकार नहीं है। माने जितनी उम्र अद्वैतकी, उतनी ही उम्र द्वैतकी! जितना विस्तार अद्वैतका, उतना ही विस्तार द्वैतका, जैसे अबाधित अद्वैत, वैसे ही अबाधित द्वैत—ऐसा समानसत्ताकत्व तो द्वैत और अद्वैतका किसी भी प्रकार निश्चय होता ही नहीं। जिसमें समानसत्ताकाल नहीं होता, उसमें बाध्य-बाधक भाव भी नहीं होता! इसका अभिप्राय समझो। ये सब वेदान्तके सूत्र हैं।

जैसे स्वप्नमें आपको शेर दीखे तो वह आपके जाग्रत्‌के शरीरको नहीं खा सकता। क्यों? जाग्रतका शरीर व्यावहारिक है और सपनेका शेर प्रातिभासिक है। जो प्रातिभासिक वस्तु होती है, वह व्यावहारिक वस्तुपर असर नहीं डाल सकती।

व्यावहारिक गंगाजलसे प्रातिभासिक सपनेकी प्यास बुझ सकती है क्या ? जिस कमरेमें सो रहे हैं उसमें घड़े-के-घड़े पानी रखा हुआ है, लेकिन क्या सपनेमें प्यास लगेगी तो वह बुझेगी ? नहीं।

सपनेमें खूब भोजन करके उठो, पेटभर ! लेकिन क्या उससे जाग्रतकी भूख मिट जायेगी ? नहीं। तो जाग्रत्की आवश्यकता जाग्रत्की वस्तुसे पूरी होती है। और सपनेकी सपनेकी वस्तुसे। इसी प्रकार द्वैत-अद्वैत समानसत्ताक नहीं हैं। कैसे ?

जब मनमें फुरफुराहट रहती है, तब द्वैत मालूम पड़ता है। मनमें फुरफुराहट न रहे, तो द्वैत मालूम न पड़े। जैसे स्वप्न मनकी फुरफुराहटसे मालूम पड़ता है वैसे जाग्रतका द्वैत भी मनकी फुरफुराहटसे ही मालूम पड़ता है।

किसीने आजतक समाधिमें द्वैत देखा है ? सुषुप्तिमें द्वैत देखा है ? मूर्च्छामें द्वैत देखा है ? विचार करते-करते जब हम परमात्मामें तन्मय हो जाते हैं, तब कहीं द्वैत दीखता है ? तो बाध्य-बाधक-भाव समानसत्ताकमें होता है। यह वेदान्तशास्त्रका एक नियम है।

प्रातिभासिक सर्पसे व्यावहारिक रज्जुका कोई विरोध नहीं है, प्रातिभासिक सर्पका प्रातिभासिक मालासे विरोध है। परन्तु प्रातिभासिक सर्प या प्रातिभासिक मालाका व्यावहारिक रज्जुसे कोई विरोध नहीं है। विरोध-अनुरोध जितना होता है, सब समानसत्ताकमें होता है।

द्वैतका लय, द्वैतका जन्म, द्वैतकी स्थिति-इनसे पारमार्थिक अद्वैत कहाँ प्रभावित होता है ? वेन्दाती लोग इस बातको बड़े जोरदार ढंगसे बोलते हैं—

> यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्त्ववित्।
> ब्रह्मत्वं बुद्धयतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते ॥ (पंचदशी ७.२७५)

'हे कर्मी महाराज ! तुम साक्षीको जानते हो कि नहीं जानते हो ?'

'ना बाबा ! हम साक्षीको नहीं जानते, हम तो कर्ता-भोक्ताको जानते हैं।'

'अच्छा, ठीक है ! तो जिस साक्षीको तुम जानते ही नहीं हो, उसको हम अपना आत्मा बताते हैं असंग, साक्षी, त्रिकालाबाध्य, परिपूर्ण, अविनाशी, अद्वय, अज, अजर ब्रह्म; तो इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ा ? जितनी चीजोंको तुम जानते हो, जिनको मैं–मेरी मानते हो, उनको तो मैं न अपना 'मैं' कहता हूँ न मेरी कहता हूँ। तुम्हारा राज्य तो मैंने विश्वमें अक्षुण्य छोड़ दिया। तुम अपनी रियासतमें काम करो। हम तो वह वस्तु हैं जो तुम्हारे राज्यसे परे है।'

कई वेदान्ती ऐसे होते हैं जो कर्मियोंको कर्म करते देखते हैं, तो कहते हैं—'राम-राम ! यह तो अभी कर्ममें ही रचा-पचा है।'

अमृतसरमें पहलेके जमानेकी बात है। अब तो वहाँ कीर्तन होता है। खूब भक्ति-संकीर्तनका प्रचार हो गया है। नहीं तो किसी साधुके गलेमें रुद्राक्षकी माला देखकर स्त्रियाँ पूछ लेती थीं—'क्यों बाबा ! अभी मालामें ही लटके हो ?'

वेदान्ती लोग ऐसे पूछते हैं—'क्योंकि बाबा ! अभी कर्ममें ही अटके हो ? अभी खिलौनेसे ही खेलते हो ?'

हमारा एक अवधूत ऐसे बोलता है—'क्यों जी ! यह गुड़ियाका खेल कब तक चलेगा ? यह तो बच्चोंका काम है।'

पक्के वेदान्ती लोग बोलते हैं—ना, ना।

देहवाग् बुद्ध्यस्त्यक्ता ज्ञानिनानृतबुद्धितः ।
कर्मी प्रवर्तयत्वाभिः ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम् ॥ (पंचदशी ७.२७५)

ज्ञानीको ऐसे पूछो—'हे ज्ञानी महाराज ! तुमने देह, वाणी, अन्तःकरण—इनका परित्याग कर दिया है कि नहीं ? तुम इनसे जुदा, इनके साक्षी, असंग द्रष्टा हो कि नहीं ? अद्वय चेतन हो कि नहीं ?'

'सो तो है ! हम अद्वय चेतन हैं।'

'तब यह देहाभास, यह वागाभास, यह अन्तःकरणाभास तुमने छोड़ दिया कि नहीं ?

'सो तो छोड़ दिया।'

'तो फिर तुम्हारी छोड़ी हुई वस्तुओंको ले करके कोई कर्मी व्यवहार करता है, तो उसमें तुम्हारी क्या हानि है ? उसे व्यवहार करने दो न !'

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानास् कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत् सर्व कर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ (गीता ३.२६)

कर्मीके साथ हमारे ज्ञानीका तो कहीं कोई विरोध नहीं है। एक आदमी बैठा है दस हजार फुटकी ऊँचाई वाले पहाड़पर और एक शेर गर्जना कर रहा है नीचे मैदानमें नालेमें तो दोनोंमें क्या विरोध है ?

प्रज्ञाप्रासाद मारुह्य अशोच्यान् शोचतान् जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

एक आदमी अपने ज्ञानमें मग्न है, और एक आदमी पैसे-पैसेके लिए व्याकुल हो रहा है। अरे बाबा ! तुम अपने ज्ञानमें मगन रहो। उसे पैसे-पैसेके लिए व्याकुल होने दो। इसमें तुम्हारा क्या हानि-लाभ है ?

एक बात और इसके सम्बन्धमें जानने लायक है। वह है, 'त्याग।' त्याग शब्दका वेदान्तमें जो प्रयोग होता है, उसका अर्थ भी आपको बता देते हैं। 'भिन्न' शब्दका अर्थ आपके ध्यानमें होगा। लक्षणका भेद। घड़ेका लक्षण अलग है, शकोरेका दूसरा और करवेका तीसरा है। परन्तु वह है सब माटी। लक्षणभेदसे जो भेद होता है, वह पारमार्थिक भेद नहीं होता।

वेदान्तमें 'त्याग' शब्दका जो अर्थ है, वह भी विलक्षण है। कोई कहे कि 'अपने आत्माका त्याग कर दो', तो नहीं हो सकता! आत्माका त्याग नहीं कर सकते। 'अच्छा, तो अनात्माका त्यागकर दो?' 'अनात्मा तो है ही दूसरा! उसका हम त्याग क्या करेंगे? वह अलग, हम अलग!' अनात्माको त्यागना, पीसे हुए को क्या पीसना? मरे हुए को क्या मारना? छोड़े हुए को दुबारा क्या छोड़ना? 'पिष्टपेषण! चर्वितचर्वण!' तुम कहो कि यह शरीर हम छोड़ देंगे। अरे, तुम क्या छोड़ोगे? वह तो रोज-रोज तुमको छोड़ता जा रहा है! और, एक दिन बिलकुल छोड़ देगा! तुम क्या छोड़ोगे? तुम तो छोड़कर छोड़नेका अभिमान मोल लोगे! छोड़नेका जो पाप-पुण्य होगा, उसको अपने सिरपर और ओढ़ोगे; जिम्मेवारी लोगे। **त्यजन्तं संत्यजाम्यहम्।**

'अरे! वह तो छोड़ा हुआ है।'

वेदान्तमें 'त्याग' शब्दका अर्थ होता है, 'त्यक्तको त्यक्तत्वेन जानना। छोड़ी हुई चीजको छोड़े हुए रूपमें समझना। यही वेदान्तका त्याग है। किसी भी वस्तुको उसके यथार्थ स्वरूपमें जानना। यदि वह अत्यक्त है तो अत्यक्तके रूपमें जानना। और त्यक्तहै तो त्यक्त रूपमें जानना। इतना जान लेना ही काफी है कि 'यह चीज न मैं हूँ न मेरी है।'

वेदान्तमें क्रियारूप त्याग नहीं होता, वस्तुका त्याग नहीं होता, भावरूप त्याग नहीं होता और किसीको छोड़ना या पकड़ना रूप त्याग भी नहीं होता।

न त्यागो न ग्रहो लयः।

न किसीका त्याग होता, न किसीका ग्रहण होता और न किसीका लय होता। परन्तु लीनको लीन जानना, गृहीतको गृहीत जानना, त्यक्तको त्यक्त जानना—यही त्याग है। किसीसे रस्सीका साँप मारा नहीं जाता। रस्सीको जान लिया; साँप नहीं है—इतना ही साँपका त्याग होगा। सीपको जान लिया, तो चाँदीका त्याग हो गया। अधिष्ठानके ज्ञानसे अध्यस्त अपने-आप परित्यक्त हो जाता है।

एवं च कर्मिणः कुत्र सम्भवेत् कलहो मम ।
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत् ।।

जैसे पूरबका समुद्र और पश्चिमका समुद्र आपस में टकराता नहीं, इसी-प्रकार देह, वाणी और अन्तःकरणसे व्यवहार करनेवाला पुरुष और सम्पूर्ण व्यवहारोंसे अतीत परमार्थ--आत्मदेव, इनकी कहीं टक्कर नहीं है ।

जैसे अज्ञानीके शरीरमें व्यवहार हो रहा है, वैसे ज्ञानीके शरीरमें भी व्यवहार हो रहा है, अज्ञानी समझता है कि 'यह व्यवहार मेरा है; परन्तु ज्ञानी जानता है कि यह व्यवहार मेरा नहीं है ।

वेदान्त ज्ञानमात्रसे ही सारे काम सिद्ध कर देता है । यह वेदान्तकी महिमा है । माने, न काम करना पड़े, न भाव करना पड़े, न उपासना करनी पड़े, न पकड़कर रखना पड़े, न कर्मका परिश्रम करना पड़े, न द्रव्यका विनियोग करना पड़े । वस्तुको तो काममें लेना न पड़े, मन जोड़ना न पड़े, न योग, न उपासना और चीज ज्यों-की-त्यों जानी और काम हो गया ।

द्वैत कहाँ है ? द्वैत आधार है और अद्वैत आधेय है ? अथवा अद्वैत आधार है और द्वैत आधेय है ? अधिष्ठान आधार है । और उसमें यह प्रपञ्च नन्हा-नन्हा टुकड़ा-टुकड़ा है, यह ब्रह्माण्ड कण-कणकी तरह, चिंगारी-चिंगारीकी तरह है ।

सम्पूर्ण चिंगारी और चिंगारियोंका अभाव अपने जिस आधारमें भासता है, वह अद्वैत है । द्वैत और द्वैताभाव ये दोनों आधेय हैं ।

अद्वैतकी सत्ता अधिक हुई और द्वैतकी सत्ता न्यून हुई । जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनोंमें जो ज्ञानस्वरूप है, वह अद्वितीय है और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अलग-अलग हैं । इनके पदार्थ भी अलग-अलग हैं । ज्ञानमें जाग्रत्, स्वप्नादि भेद भासते हैं । ज्ञान अधिष्ठान है, ज्ञान प्रकाश है और उनमें जो प्रकाशित होते हैं, वे तो थोड़े हैं 'भेद' शब्द भी बहुत विलक्षण है । अद्वैतमें भेद नहीं होता । हम इसलिए यह बात सुनाते हैं कि हजार-दो हजार वर्ष पहले जिन शब्दोंका जिन अर्थोंमें प्रयोग होता था, कालक्रमसे उनमें थोड़ा परिवर्तन हो गया है । जो लोग पुरानी भाषाको सम्प्रदायसे नही समझते हैं, अपनी वुद्धिसे समझते हैं, वे अपनी बुद्धिसे जो जाना है वह मतलब तो निकाल सकते हैं, लेकिन आदि वक्ताने जिस अभिप्रायसे उस शब्दका प्रयोग किया है, वह उनकी समझमें नहीं आवेगा ।

भेद माने फूटना, भेदन । जैसे आप चनेको खेतमें गीली मिट्टीमें डाल दें तो सूखा बीज पहले गीला होगा और गीला होकर थोड़ा बड़ा होगा । बड़ा होनेके

बाद थोड़ा फूटेगा, तब उसमें-से अंकुर निकलेगा। इसको बोलते हैं--'चनेका भेद हो गया, चना फूट गया।' यह भेदनात्मक क्रिया केवल सावयव पदार्थमें हो सकती है, निरवयव पदार्थमें नहीं हो सकती। जो सावकाश पदार्थ होगा, उसीका भेदन संभव होता है। जैसे आप भीतमें एक कील गाड़ेंगे, तो सचमुच भीतमें जो ईटोंके और सिमेंटके कण हैं, उनके बीच-बीचमें थोड़ी-थोड़ी जगह बची रहती है। जब कील ठोंकते हैं तो बीचमें वह जगह निकालकर कील घुस जाती है। भित्तीका भेदन हो गया। उसमें दूसरी चीज घुस गयी, उसमें-से दूसरी चीज निकल आयी। तो, सावयव वस्तुका रूपान्तर ही भेदन है। सावयव वस्तुका अवस्थान्तर ही भेदन है।

जो निरवयव वस्तु है, माने जो बीज संस्कारसे भी भिन्न नहीं होती; उसमें भेदन, रूपान्तरण, अवस्थान्तरण सम्भव नहीं है। चना गेहूँके बीज संस्कारसे चना या गेहूँमें जो मिट्टी है, व अलग हो गयी। जिसने गोधूमके गोधुमत्वका ग्रहण कर लिया और चणकके चणकत्वका ग्रहण कर लिया; जो मिट्टी चणकाकार हो गयी या जो मिट्टी गोधूमाकार हो गयी, उसने संस्कारको ग्रहण किया तो गेहूँ और चनेका भेद हो गया। गेहूँमें फूटकर अंकुर निकला, चनेमें फूट कर अंकुर निकला और उसने माटीमें-से, पानीमें-से खाद खींच लिया। एक गेहूँका बीस गेहूँ, एक चनेका सौ चना होगया। फिर आगे परम्परा चल पड़ी।

हम जिसको जगत्का मूल बताते हैं, वह यदि चनेकी तरह बीजात्मक होता, तो उसका भेदन हो करके उसमें-से यह जगत् निकलता परन्तु वह तो चैतन्य है। सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन—

कृत्स्नस्तु प्रज्ञानघन एव। (बृहद० ४.५.१३)

वह सब-का-सब प्रज्ञानघन है।

स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। (मुंडक० २.१.२)

वह अज है, तो क्या अज फूटता है ? क्या अजका भेदन होता है ? जायमान होना ही भेदन होना है। भेदन जिसमें होगा; उसका नाश हो जायगा। भेदवान् और छिद्रवान्का नाश होता है। जिसका भी भेदन-छेदन होगा उसका नाश होगा।

जो भेदन-छेदनका अविषय है, वह अज है। वह अजन्मा होगा। जो लोग भेदको परमार्थ मानते हैं, वे अन्ततोगत्वा 'वैनाशिक-मतावलंबी' हो जाते हैं। 'सर्व पदार्थ विनाशवान् है, अविनाशी कोई पदार्थ नहीं है'—ऐसा जो बौद्धमत है, उसमें उनका अन्तर्भाव होगा।

एक बार हम एक महात्मासे बातचीत कर रहे थे। महात्मा अच्छे हैं, श्रद्धेय हैं। उन्होंने कहा—'ऐसा माननेसे तो बौद्ध-मतकी प्राप्ति होगी।' मैंने कहा—'देखो महाराज! यह तो कोई दोष नहीं हुआ। यदि यह सत्य हो और उससे बौद्ध-मतकी प्राप्ति होती हो, तो हम बौद्ध-मत स्वीकार कर लेंगे। हमको तो सत्य चाहिए। हम तो सत्यके खोजी हैं। मतका नाम लेकर आप क्यों डराते हैं?'

वे बोले—'अच्छा! जिज्ञासाका तो यह अच्छा लक्षण है। परन्तु यह बौद्धमत अनुभव-विरुद्ध है।'

युक्तिसे सिद्ध हो और अनुभव-विरुद्ध हो, तो किसको प्रमाण मानेंगे? वहाँ अनुभव प्रमाण मानेंगे। अपना जायमानत्व और मृत्युमत्व दोनों अनुभवविरुद्ध हैं। अपना न जन्म होता है न अपना विनाश होता है। क्योंकि जन्म और मृत्युका अनुभविता जन्मसे पूर्व, जन्म-मृत्यु कालमें और मृत्युके बादमें भी सदा विद्यमान है।

तब परमार्थ कौन है? अपना आपा परमार्थ है। अपना आपासे जो जुदा होगा, वह सब-का-सब छेदनात्मक-भेदनात्मक होनेके कारण देशके अधिष्ठानमें भी कल्पित ही है, कालके अधिष्ठानमें भी कल्पित है और पदार्थके अधिष्ठानमें भी कल्पित है। अधिष्ठानमें छेदन-भेदन अध्यस्त है। स्वयंप्रकाश, सर्वावभासकमें भी छेदन-भेदन अध्यस्त है। इसलिए—**'तेनायं न विरुद्ध्यते'** अद्वैत आत्माका किसीसे विरोध नहीं है।

एक बारका प्रसंग है। हम करपात्रीजी महाराजके पास गये। हमको यह स्मरण नहीं है कि मैं संन्यासी हो गया था, तव गया था या पहले गया था।

मैं दस-ग्यारह बजे गया। उन दिनों वे भिक्षा करके खाते थे। चर्चा चली। मैंने उनसे पूछा:

"हमारा प्रश्न:—दार्शनिक दृष्टिकोण है, उसमें ईश्वरको कुछ खास महत्त्व नहीं दिया हुआ है। जैसे न्यायदर्शनमें नौ द्रव्य हैं, उनमें एक द्रव्य आत्मा है। आत्माके दो भेद हैं—एक जीव, एक ईश्वर। यह तो द्रव्यरूप होनेसे गौण हो गया।

"वैशेषिकमें ईश्वर बिलकुल तटस्थ है। सांख्यमें कहते हैं कि युक्तिसे ईश्वर-की सिद्धि नहीं होती। योगमें कहते हैं कि समाधि लगानेके लिए ईश्वर उपयोगी है। अन्तिम स्थिति तो द्रष्टामें स्वरूपावस्थान ही है। समाधि लगानेके लिए क्रियायोगमें साधनरूपमें ईश्वरप्रणिधान है। परन्तु जब समाधि लग जायगी

और द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जायगा, तो ईश्वरकी स्थिति गौण हो जायगी। पूर्वमीमांसामें कर्मकी प्रधानता है। वहाँ तो कर्म अपना फल दे देता है। फल देनेके लिए भी वहाँ ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है।

"वेदान्तदर्शनमें ईश्वर है तो सही; मायासे सृष्टि करता है, मायासे स्थापन करता है, मायासे ही वह फल देता है, मायासे ही संहार करता है। लेकिन परमार्थतः वह कर्ता-भर्ता-संहर्ता, जन्म-स्थिति-भंगका कारण नहीं है।"

यह प्रश्न मैंने उनसे किया।

उत्तर :—वे समझाने लगे--बात चल गयी। और दर्शनोंकी चर्चा कोई चली कोई छूटी; वेदान्तदर्शनपर चर्चा आकर जम गयी। उन्होंने कहा—पारमार्थिक ब्रह्मसत्तापेक्षया किंचित् न्यून सत्ताकत्वं ईश्वरत्वम्।' पारमार्थिक ब्रह्मसत्ताकी अपेक्षा किंचित् न्यून सत्ताकत्व ईश्वरका लक्षण है। क्योंकि मायाकी उपाधि है।'

फिर अन्ततोगत्वा आभासवादकी बात भी कट गयी। 'माया आभासेन जीवेऽशौ करोति।'

'अच्छा, अवच्छेदवादमें ईश्वर और ब्रह्म मुख्य सामान्याधिकरण्य हैं। आभासवादमें ईश्वर और जीवका बाध सामान्याधिकरण्य हैं। जैसे घटाकाश, मठाकाश और महाकाश—इनमें मुख्य सामान्याधिकरण्य है। जो महाकाश, सो ही मठाकाश, सो ही घटाकाश। लेकिन बिम्ब और प्रतिबिम्बमें, सूर्य और सूर्या-भासमें मुख्य सामान्याधिकरण्य नहीं है, बाध सामान्याधिकरण्य है। प्रतिबिम्ब और आभास बाधित होते हैं, यद्यपि वे बिम्बसे भिन्न नहीं हैं।

फिर अवच्छेदवादमें यह उपाधि क्या है? इसका निर्वचन करना पड़ेगा।'

फिर बात अजातवादपर गयी, तदनन्तर दृष्टि-सृष्टिवादपर। यह प्रसंग आपको सुना रहे हैं कि 'ईश्वर' पदका अर्थ जबतक परमार्थभूत—असलमें आत्मा नहीं होगा, तबतक उसकी सिद्धि नहीं होगी। आत्मा ही जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति आदिमें एक है! प्रतिभासमान जो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति है, उनका प्रकाशक होनेसे उसमें संसृष्टत्वका उपचार है। माने गौणवृत्त्या उसको द्रष्टा कहते हैं। गौणवृत्त्या उसको भर्ता और संहर्ता कहते हैं।

वस्तुतः जो 'आत्मा' पदका अर्थ है, जो 'ब्रह्म' पदका अर्थ है, वही 'ईश्वर' पदका अर्थ है। उससे पृथक् होकर 'ईश्वर' पदार्थका सिद्ध होना शक्य नहीं है।

उस समय तो करपात्रीजीकी चढ़ी जवानी थी। मैं समझता हूँ, यह 'राम-राज्य परिषद्' 'धर्मसंघ' यह सब नहीं था। तबकी बात है। क्योंकि इसी बीच वे गंगा तरंगके मकानमें ठहरे हुए थे।

'गंगाशंकर मिश्र' जो सन्मार्गके संपादक थे, आये। बोले—'महाराज! पाँच बज गये।'

करपात्रीजीने कहा—'पाँच बज गये ?'

'हाँ, आज तो आपने भिक्षा ही नहीं की।'

दस बजेसे पाँच बजेतक यह ईश्वर चर्चा चली !

'अजातवाद'को लेकर आपको यह बात सुनायी कि जिस वस्तुका जन्म और मरण होता है, वह वस्तु शाश्वत नहीं हो सकती और निरवयव वस्तुमें जन्म-मरण नहीं हो सकता। स्वयं प्रकाश चिन्मात्रमें भी जन्म-मरण नहीं हो सकता। यह परब्रह्म परमात्मा ईश्वरके रूपमें या जीवके रूपमें या जगत्के रूपमें रूपान्तरित नहीं होता है।

वह फूटकर उसमें-से जगत् नहीं निकलता। जैसे गेहूँमें-से गेहूँ या उसकी पौध निकलती है, ऐसा नहीं है। तो कैसा है ? ज्यों-का-त्यों है। इतना उपद्रव होनेपर भी समुद्रके तरंगायमान होनेपर भी, तूफान चलनेपर भी, प्रलय होनेपर भी, स्थितिका इतना कोलाहल होनेपर भी और सृष्टिका इतना परिवर्तन होने पर भी, यह सब जिस मनसे मालूम पड़ रहा है, वह मन जिसमें केवल स्फुरणा-मात्र है और इस सृष्टिको देखकर जिसमें स्फुरणात्मक मनका अध्यारोप किया जाता है, वह अपना आपाही परमार्थ-वस्तु है।

जो भेदवादी हैं, वे ईश्वरपर ही प्रहार करते हैं कि 'संसार ईश्वरमें ठुस गया,' या कि 'संसार ईश्वरमें अंकुरित हो गया'। 'ईश्वरका अंकुरित होकरके जगत् बनना'—यह भी ईश्वरके ईश्वरका व्याघात है। 'ईश्वरमें दुनियाका घुस जाना'—यह भी ईश्वरके ईश्वरका व्याघात है। ये दोनों बात पूर्णमें, अविनाशी-में, अद्वयमें किसी भी प्रकार शक्य नहीं है।

'तेनायं न विरुद्ध्यते'—ये तो व्यवहारका अनुवाद करते हैं। द्वैतवादियोंको इन्द्रियोंसे जैसा संसार मालूम पड़ता है, वेद-शास्त्र-पुराणमें इस ऐन्द्रियक द्वैतका जैसा वर्णन है, उसका वे अनुवाद करते हैं। वे परम र्थका निरूपण नहीं करते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा भासमान द्वैतका जैसा अनुवाद है उस अनुवादके साथ परमार्थका कोई विरोध नहीं है।

एक आदमी अपने बच्चेके साथ कहीं जा रहा है। वर्षा ऋतु है। आकाशमें उसे इन्द्रधनुष दिखायी पड़ा। लाल है, हरा है, पीला है।

बच्चेने कहा—'पिताजी ! यह आकाश रंग कैसे गया !'

पिताजी बोले—'आकाश रंगा नहीं है बेटा, ये तो सूर्यकी किरणे हैं, आकाशमें बादल हैं। बादलकी बूंदें हैं, जलका आभास है यह उसमें सूर्यकी किरणें पड़ती हैं तो रंगीन मालूम पड़ती हैं। न बादल रंग गया, न पानी रंग गया, न सूर्यकी किरणें रंग गयीं, न आकाश रंग गया।'

बच्चा कहे—'हमें तो आँखसे दिखता है। आपको क्या दिखता है पिताजी !'

पिताजी बोले - हमको भी वैसा ही दिखता है जैसा तुमको। लेकिन हम यह बात जानते हैं कि न वहाँ आसमान रंगा, न सूर्यकी किरणें रंगी, न बादलमें कोई रंग आया; वह केवल किरणोंके वक्रीभवनसे रंग दिखायी पड़ता है।

पिताको भी वैसा दिखता है, पुत्रको भी वैसा दिखता है। पिताको ज्ञान है कि ये सूर्यकी रश्मि-ही-रश्मि है और कुछ नहीं। पुत्रको सूर्य किरणोंका ज्ञान न होनेसे कारण केवल वह ऐन्द्रियक अनुभूतिका अनुवाद कर रहा है।

ज्ञानी और अज्ञानीमें फर्क कितना ? दोनोंको दुनिया ब्रह्ममें एक सरीखी ही दिखती है।

अज्ञस्य विज्ञस्य च विभ्रमस्ति।

आँख-कान-नाक सब एक सरीखे और एक सरीखी दुनिया दिखती है।

एक दिन एक मास्टरने बताया कि सूर्य पृथिवीसे तेरह लाख गुना बड़ा है। विद्यार्थी तो कहता है कि—'हमें एक हाथकी परिधिमें सूर्य दिखायी पड़ता है।' जो 'एक हाथकी परिधिमें सूर्य बताता है वह झूठ नहीं है, क्योंकि वह तो ऐन्द्रियक प्रतीतिका अनुवाद कर रहा है। 'सूर्य पृथिवीसे तेरह लाख गुना बड़ा है'—यह विज्ञान सिद्ध-गणित सिद्ध है। सूर्यका नाप ठीक है। बच्चेको जो अपनी आँखोंसे दिखता है, वह सच्चा नहीं है।

वैज्ञानिक अनुभूति और ऐन्द्रियक अनुभूतिका सचाईमें जिस प्रकार फर्क होता है वैसे ही हमारे ज्ञानसिद्ध-अनुभवसिद्ध परमार्थमें और अज्ञानीजनोंकी बौद्धिक-मानसिक-ऐन्द्रियक अनुभूतिमें फर्क होता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानी खायगा नहीं। कहते हैं कि—'अरे महाराज ! तुम क्या ज्ञानी हो ? तुम्हें तो भूख लगती है।'

एक बार 'कल्याण'में एक लेख छपा—'ज्ञानीको कोई इच्छा नहीं होती। शुरू-शुरूकी बात है। अच्युतमुनिजी महाराज जिन्दा थे। किसीने जाकर उनको

यह लेख दिखाया। नागपुरके दिलीपचंद पोद्दार, खुरजावाले गौरीशंकर गोयन्दका—ये सब उनके भक्त थे।

अच्युतमुनिजी ने तुरन्त चिट्ठी लिखी—'हनुमानप्रसाद ! तुमने यदि कभी हमको भिक्षा करवायी और हमने कह दिया कि 'थोड़ी लाल मिर्च हमको दे दो- तो तुम मुझको अज्ञानी मानोगे न।' ऐसे लिखा।

हम तो वहाँ (कल्याण परिवारमें) रहते ही थे। जितनी चिट्ठियाँ आती थीं, उनके बारेमें भी हमको मालूम है। तो फिर या यह कहा जायगा कि 'ज्ञानीमें जो इच्छा दीखती है, वह आभासमात्र है,' या तो यह कहो कि 'वह ज्ञानी ही नहीं है'। परन्तु 'इच्छा होती नहीं है'—यह तो 'बोलना नहीं हो सकता। देखना नहीं होगा, चलना नहीं होगा, सुनना नहीं होगा।' तब ज्ञानी माने तो होगा—'माँसका लोथड़ा' !

ज्ञानीकी तो साँस भी नहीं चलनी चाहिए—ऐसा वे लोग कहते हैं जो किसी सम्प्रदाय-विरोधमें या मत-विशेषमें आग्रह-गृहीत हैं। उनके अनुसार दुनियामें कोई ज्ञानी नहीं है। असलमें यदि कोई किसीको ज्ञानी मानेगा तो उसका उपदेश सुनेगा, उपदेश सुनेगा तो वह भी ज्ञानी हो जायगा। अतः वह ज्ञान-सम्प्रदायमें जाने न पावे, इसके लिए वे ऐसी-ऐसी बातें करते हैं।

'तेनायं न विरुद्ध्यते'—व्यवहारमें जितनी बात अज्ञानी लोग करते हैं उसके साथ ज्ञानीका भेद नहीं है। क्योंकि अज्ञानी लोग अपनी बौद्धिक-मानसिक-ऐन्द्रियक अनुभूतिमें लगे हुए हैं, व्यापारी भजकलदारम्—भजकलदारम्में लगे हुए हैं। वे पारमार्थिक अनुभूकित बारेमें जो कुछ कहते हैं, वह प्रामाणिक कोटिमें नहीं पहुँचता।

फिर इस अजन्मामें यह सृष्टि कैसे दीख रही है ? अजन्मामें हमारा अंतः- कर ण कैसे दीखता है ? अजन्मामें यह आकाश और धरती कैसे दीख रहे हैं ?

एतन् अजः मायया भिद्यते, अन्यथा कथञ्चन न भिद्यते।

यह जो अज है, वह केवल मायासे जायमान् मालूम पड़ता है अन्यथा— किसी भी प्रकारसे नहीं। अब 'मायावाद' आया। परन्तु वेदान्त असलमें माया- वादी नहीं है। माया अध्यारोपित है और अध्यारोपित वस्तुसे वाद नहीं बनता। अनध्यारोपित वस्तु सिद्धवस्तु है, उससे बाद बनता है। वेदान्त 'ब्रह्मवाद' है, वेदान्त 'मायावाद' नहीं है। श्रीमद्भागवतमें तो 'ब्रह्मवाद' शब्दका अनेक बार प्रयोग है—

ब्रह्मवादः सुसंमृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ।

पैदा होनेवाली और मरनेवाली चीजोंके रूपमें, शरीर, इन्द्रिय और अंतः-करणके रूपमें यह 'अज' कैसे मालूम पड़ता है ? क्यों है ? क्या है ? हमारे भक्त-लोग बताते हैं कि 'क्यों है ? सांख्यवादी-लोग बताते हैं कि 'कैसे है ?' वेदान्ती लोग बताते हैं कि 'क्या है ?'

जैसे बच्चा यही चाहता है कि जो चीज हाथ लगे, उसको, वह मुँहमें डाल ले वैसे ही दुनियामें जो चीज होवे, उससे प्रयोजनकी सिद्धि होनी चाहिए– एक बुद्धि यह है । यह 'क्यों'-वाली बुद्धि है ।

दूसरी बुद्धि है चीजको देखकर अनुकरण करना––यह कैसे वाली बुद्धि है। कई माताएँ ऐसी मिलती हैं कि यदि उनको कोई बढ़िया चीज खानेको दी जाय तो पहले मुँहमें डालकर फिर सोचने लगती हैं कि यह चीज आज तक तो मैंने नहीं खायी थी । परन्तु है यह बहुत बढ़िया तो कैसे बनी होगी ? क्या-क्या चीजें इसमें पड़ी होंगी ? इसमें अजवाइन है कि नहीं ? सौंफ पड़ी होगी कि नहीं ? नमक पड़ा होगा कि नहीं ? वे स्वादसे पता लगा लेती हैं कि इस चीजमें क्या-क्या पड़ा है ? घरमें जाकर वैसी चीज बना लेती हैं । यह उनकी महिमा है । यह चीज कैसे बनी होगी ?'––यह बुद्धि उनकी होती है ?

सेठ लोग किसी चीजको देखती हैं तो सोचते हैं—'इसको हम किसी काममें ले सकते हैं कि नहीं ।' परन्तु जो ब्राह्मण-हृदय है, जो बचपनसे निष्कारण सन्ध्यावन्दनका अनुष्ठान कर रहा है उनकी बुद्धि 'क्या'-वाली होती है। निष्काम कर्मका नमूना है सन्ध्यावन्दन । वह यदि आदमी बचपनसे करता होवे, तो कम-से-कम यह सवाल उसका हल हो जायगा कि 'क्यों करना चाहिए ?'

ब्राह्मण-हृदय माने वैज्ञानिक । जो पदार्थके परीक्षणमें निपुण है, वह विचार करता है कि 'यह क्या है ?' हम माथेरानमें घूम रहे थे । एक फल मिला । मैंने पूछा––'यह क्या फल है ? किसीने नाम बता दिया कि 'इसका अमुक नाम है ।' पर्याप्त हो गया ।

एक डॉक्टर था । उसने उसको उठा लिया । उसके पत्ते भी तोड़ लिये । 'क्या बात है ?' डॉक्टर बोला––'हम अपनी प्रयोगशालामें इसकी जाँच करेंगे कि यह किस काम आयेगा ? किस रोगकी यह दवा हो सकती है ? क्या-क्या इसमें है । विशेषताकी जाँच प्रयोजनानुसारी होती है ।

निर्विशेष वस्तुका ज्ञान उसके लिए होता है जो वस्तुका स्वरूप जानना चाहता है । सच्ची जिज्ञासा वस्तु-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए होती है ।

●

: १३ :

अद्वैतमें द्वैत-प्रतीति मायासे है

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन ।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत् ॥१९॥

अर्थ—यह अज (अद्वैत) पदार्थ मायासे ही भेदको प्राप्त होता है अन्य किसी प्रकारसे नहीं। यदि तत्त्वतः भेदको प्राप्त हो वह अमृतस्वरूप तत्त्व मरणशीलत्वको प्राप्त हो जायेगा।

पूर्वपक्ष—अद्वैत ही द्वैतरूपमें भेद-परिणामको प्राप्त हो जाता है। माने वह परमार्थ वस्तु कभी अद्वैतरूपमें रहती है, तो कभी द्वैतरूपमें; जैसे--आम कभी खट्टा रहता है और कभी मीठा, कभी छोटा रहता है और कभी बड़ा; जब आम्र फलका पता ही नहीं है, तो अद्वैत है और जब हजारों आम निकल आते हैं तब द्वैत हो जाता है। ऐसे यह जगत् मूलमें तो अद्वैत है और बादमें अनेक हो जाता है। जैसे बिजली मूलमें एक रहती है और बल्बोंमें, पंखोंमें आ जाती है तो अनेक हो जाती है, ऐसे जगत्के मूलमें तो अद्वैत-ब्रह्म है और फिर वह जगत्रूप द्वैत बनता है। फिर जब जगत् नहीं रहता है तो अद्वैत हो जाता है। माने अद्वैत परिवर्तित होकर द्वैत बनता है। माने अद्वैत फूटकर, छिन्न-भिन्न होकर द्वैत बनता है।

उत्तर पक्ष—ठीक है, आम कच्चेसे पक्का हो जाता है, खट्टेसे मीठा हो जाता है, परन्तु फिर सड़ भी जाता है। यह मालूम है न ! जिस चीजमें फूल जाने का, फट जानेका, छिन्न-भिन्न हो जानेका स्वभाव है, वह अद्वैत कैसे होगा ? नहीं होगा। वह फिर अजन्मा, अमृत हो, यह बात भी किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इसलिए अद्वैत ही बदलकर फूटकर, द्वैत बनता है और फिर द्वैत नष्ट होकर अद्वैत हो जाता है—यह बात ठीक नहीं है।

सोनेके जेवर बन जाते हैं और फिर जेवर सोना बन जाता है—इसमें जो बनना है, वह कल्पित है। जब सोना एक परिच्छिन्न धातु होकर भी नहीं फूटता; आकाश भी जब नहीं फूलता-फटता, तो जो चैतन्य अद्वैत है, अधिष्ठान अद्वैत है, स्वयं प्रकाश अद्वैत है, सर्वावभासक अद्वैत है, वह कैसे फटेगा-फूटेगा ?

अद्वैतसे पैदा होनेके कारण द्वैत भी परमार्थ-सत्य है और द्वैतका पर्यवसान अन्तिम होनेके कारण अद्वैत सत्य है—ये दोनों बात नहीं बन सकती।

श्रीमद्भागवतमें वेद-स्तुतिमें इसका प्रसंग आया है—'सत् परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण यह जगत् सत्य है', ऐसा कहो तो?

सन् इदयुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं। (भाग० १०.८७.३६)

बापके मनुष्य होनेके कारण बेटा भी मनुष्य है—यह नियम जैसे लोकमें बनता है, वैसे 'सत्से पैदा होनेके कारण यह जगत् भी सत्य है'—ऐसा नियम बनाओ तो 'तर्कहतं'—यह बिलकुल तर्कसे विरुद्ध है, व्याहत है। क्यों?

एक सत्य वह है जिसने पैदा किया और एक सत्य वह है जो पैदा हुआ। जो पैदा हुआ, वह पहले नहीं था, इसलिए असत्य था। जो पैदा हुआ और बादमें मरेगा, नहीं रहेगा, इसलिए भी असत्य हुआ।

सत्य तो उसको कहते हैं, जिसपर कालका असर न पड़े—त्रिकाला-बाधित हो, अबाधित हो। जो पैदा हुआ, वह छोटा सत्य और जो पैदा नहीं हुआ, जिसने पैदा किया, वह बड़ा सत्य। सत्यमें दो भेद मानोगे तो छोटा सत्य कालपरिच्छिन्न होगा, वह मिथ्या सत्य होगा और बड़ा सत्य कालपरि-च्छिन्न नहीं होगा।

एक सत्य ऐसा है जो हमेशा है। वह न पैदा होता है न मरता है और एक सत्य ऐसा है जो पैदा होता है और मरता है। जो दूसरे नम्बरका सत्य है, वह तो असली सत्यसे भिन्न होनेके कारण असत्य हो गया।

जिन्दासे मुर्दा पैदा होता है—इस नियमका भी व्यभिचार है—

व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक्।

(भाग० १०.८७.३६)

शरीर जिन्दा है। उसमें बाल और नाखून मुर्दा पैदा होता है। काट दो तो दुःख ही नहीं। कहो—जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है—तो यह भी कोई नियम नहीं—'क्व च मृषा।' रस्सीमें साँप दिखता है, वहाँ तो अज्ञान है। यहाँ भी अज्ञान है। अपनी ब्रह्मताका जो अज्ञान है; उससे ही यह सृष्टि सच्चो मालूम पड़ती है। बच्चेको इन्द्रधनुष सच्चा मालूम पड़ता है पर बापको वह सच्चा नहीं मालूम पडता है, दीखता दोनोंको एक-सा है। इसी प्रकार सत्में जो सृष्टि दीखती है, यह बिलकुल इन्द्रधनुषी है, ऐन्द्रियक अनुभूति है, तात्त्विक नहीं।

बोले—'तो फिर यह भेद कहाँसे मालूम पड़ता है ?'

मालूम तो 'बिलकुल पड़ता है, यह स्फुटन !' चनासे फूटकर तना निकल आया। गुठली फूटी और पेड़ निकला। ककड़ी फूटी, मीठी हो गयी। वैसे ही यह अनुमान होता है कि ब्रह्म फूटा और जगत् हो गया। परन्तु यदि ऐसा हो तो 'वह तो कोई फोड़ा ही होगा, ब्रह्म काहेको होगा ?' तब फिर यह प्रश्न हुआ कि—'जब यह परमार्थ सत्य नहीं है, तो इसमें भेद आखिर है कैसे ?'

'मायया !' यही माया है। माया इसीको कहते हैं कि—'जिसमें भेद न हो उसीमें भेद मालूम पड़े।' जादूगर, इन्द्रजालिक ऐसा भेद करके दिखा देते हैं। जैसे, आँखमें रोग होनेपर चन्द्रमा अनेक दीखते हैं; जैसे, रस्सीका ज्ञान न होनेपर साँप-माला आदि अनेक विकल्प होते हैं; इसी प्रकार ब्रह्ममें मायासे यह प्रपञ्च दीखता है।

मायासे जो चीज दीखती है, वह जहाँ दीखती है, वहाँ होती नहीं है। आँख बँध जानेसे जादूके खेल दीखते हैं। असली बात यह है कि जो वस्तु सावयव, हिस्सेवाली होती है, वह अपने हिस्सोंके बदलनेसे बदल जाती है। समझो, जैसे एक आमका फल है। उसमें तो कण-कण अलग है। आपने देखा होगा आम नीचेसे पकता है। नीचेका पहले नरम होता है, ऊपरका कड़ा रहता है; अन्यथा टूटकर गिर जायगा। माने उसमें भी नियम है, मर्यादा है। बचपनमें हम लोग गाँवमें कभी बगीचेमें जाते थे, तो आमका निचला हिस्सा खा लेते और ऊपरवाला छोड़ देते थे। ऐसा क्यों होता है ? उसमें कण होते हैं। वे बदलते हैं।

डॉक्टरोंने हमको बताया कि दूधमें तो शक्कर है। वही दूध जब दही बन जाता है, तो उसमें शक्कर नहीं है। दूध पीयेंगे तो पेटमें शक्कर बनेगी; दही खायेंगे, मट्ठा पीयेंगे तो पेटमें शक्कर नहीं बनेगी। क्यों ? दूधके जो मीठे कण थे वे खटासमें बदल गये।

ऐसे, यदि ईश्वर दूधकी तरह सृष्टिके पहले तो मीठा रहा हो और सृष्टि बना तो खट्टा दही हो गया, तो अन्तमें क्या होगा ? सड़ जायगा। दुर्गन्ध आने लग जायगी। जो अवयववाली वस्तु होती है, वही बदल जाती है। जो वस्तु अवयववाली नहीं होती, वह नहीं बदलती। इसीसे बोलते हैं—'भेदो मिथ्या।' भेद माने गधा और घोड़ा नहीं, भेद माने स्फुटन, भेद माने

किसी चीजका अपनी अवस्थाको छोड़ देना। दूसरी अवस्थाको प्राप्त हो जाना। चनेका बीज फूल गया, फूट गया, भिद् गया, भिन्न हो गया।

भेद मिथ्या है। क्यों ? भेद ही होनेके कारण। भेद माने मिथ्या। जैसे एक चन्द्रमा दो चन्द्रमा मालूम पड़े। चीज एक है और यह दो मालूम पड़े, तो मिथ्या।

इसी प्रकार तत्त्व बिलकुल भेदरहित है। उसमें हिस्से नहीं होनेके कारण—निरवयवत्वात्, नित्य होनेके कारण, अजन्मा होनेके कारण। जो ऐसा नहीं, वह ऐसा नहीं। मिट्टी अजन्मा नहीं है, मिट्टी नित्य नहीं है, मिट्टी निरवयव नहीं है और यह जो सन्मात्र-चिन्मात्र वस्तु है, वह अजन्मा है, नित्य है, अमृत है, निरवयव है।

यदि यह बात मान ली जाय कि जो तत्त्व है, वही बदल जाता है, भेदको प्राप्त हो जाता है, तो जो स्वभावसे ही अज है, अमृत है, वह मर्त्य कैसे होगा ? स्वभाव किसी भी वस्तुका बदलता नहीं। आगका स्वभाव उष्णता है; आग हो तो वह ठण्डी कैसे होगी ? तत्त्वका स्वभाव न बदलना है ! जो तत्त्व है उसका नाम या रूप बदल सकता है, परन्तु वह वस्तुतः नहीं बदल सकता है ? 'तत्त्व' तो कहते ही उसको हैं, जो नाम-रूपके आरोपसे परे हो। आकारको तत्त्व नहीं बोलते।

सोना है। वह चौकोर है कि गोल है; कंकणाकार है, हाराकार है कि कुण्डलाकार है—आकारमें वजन नहीं होता। आकार अपने बननेके पहले नहीं था और फूटनेके बाद नहीं रहेगा। उसका वजन सोनामें कभी होता नहीं। आकारमें वजन आया नहीं। आकार फूटनेसे वजन जायगा नहीं और आकार जब है, तब सोनाके वजनमें वृद्धि हुई नहीं। इसी प्रकार नाममें भी वजन नहीं होता। घड़ेमें जो वजन है वह मिट्टीका है, उसके 'घट' नामका या 'घट' आकारका वजन नहीं है। मिट्टी वस्तु-तत्त्व है, घटके नाम-रूप मिथ्या है।

इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें ये नाम और आकार जो दीख रहे हैं, उनका कोई भार परमात्मामें नहीं है। नाम और रूपका कोई वजन नहीं होता। जितनी देर आकार दीखता है उतनी उसकी उम्र है। उतना ही उसका स्थान है जितनेमें वह परमात्मामें दीखता है। वह मालूम पड़नेसे आकारका जुदा काल या स्थान नहीं है। इसलिये वह तत्त्व नहीं है। इसलिये परमात्मामें मायासे जो यह नामरूपात्मक प्रपंच दिख रहा है उससे परमात्मामें कोई परिवर्तन नहीं

आता। यदि तत्त्वके स्वभावकी विपरीतता भी मानोगे कि आत्माका स्वभाव भी बदल जाता है तब तो यही कहना पड़ेगा कि पहले हम मुक्त थे, अब बद्ध हैं। आगे हम मुक्त हो जायेंगे। आत्मा कभी बद्ध और कभी मुक्त नहीं हुआ करता।

प्रश्न यह है कि आत्माका जो असली स्वरूप है, वह मुक्त है कि बद्ध है ? क्योंकि यदि मुक्तिरूप स्वभाव उसका बदल जाता है, तो फिर भी बदल जायगा, आत्मा कभी मुक्त होगा ही नहीं। यदि देहमें आकर आत्मा कर्ता-भोक्ता, पापी-पुण्यात्मा, सुखी दुःखी वास्तवमें हो जाय तब तो मुक्त होनेकी उम्मीद छोड़ दो ! श्रीशंकराचार्यका श्लोक है—

कर्त्तादिरूपश्चेत् माकांक्षीस्तर्हि मुक्तताम्।

यदि तुम अपने आत्माको पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, संसारी अर्थात् स्वर्ग-नरक और पुनर्जन्ममें जाने-आनेवाला और परिच्छिन्न मानते हो, तो चैतन्य परिच्छिन्न, टुकड़ा हो गया। तो तुम अपनेको मुक्त होनेकी आशा मत करो। मुक्त होनेकी आशा छोड़ दो।

नहि स्वभावोऽभावानां व्यावर्तत् तौस्थवत् रवेः।

जैसे सूर्यका स्वभाव है गरमागरम; वह बदलकर ठंडा नहीं हो सकता—इसी प्रकार यदि आत्माका स्वभाव है पापी होना, पुण्यात्मा होना, सुखी होना, दुःखी होना, स्वर्ग-नरकमें जाना, टुकड़ा होना तो वह बदल नहीं सकता। किसी भी वस्तुका जो सहज स्वभाव है, वह छूटता नहीं। यदि वस्तुका सहज स्वरूप ही नहीं है तो वह वस्तु ही नहीं है।

जिस प्रमाणसे जो बात सिद्ध होती है, उसी प्रमाणसे वह वस्तु कट सकती है। यदि सिद्ध हो दूसरे प्रमाणसे और कटे दूसरे प्रमाणसे, तो वह प्रक्रिया गलत होती है। जैसे, गुलाबकी पंखड़ीमें गन्ध नाकसे सिद्ध होती है वैसे ही नाकसे सूँघकर ही किसी गुलाबके फूलके बारेमें यह कहा जा सकता है कि वह निर्गन्ध गुलाब है। लेकिन आँखसे गुलाबको देखकर ही यदि कोई बता दे कि इसमें गन्ध है या नहीं है, तो यह गलत होगा। आँखसे गन्धका होना-न-होना सिद्ध नहीं होता। नाकसे गन्धका होना-न-होना सिद्ध होता है।

यह आत्मा मरनेके बाद रहती है या नहीं, यह बात कैसे सिद्ध होवे ? हमारे कोई भाई तो हैं, भोले-भाले हैं कि वे बताते हैं—'हमने आत्माकी फोटो

खींच ली। आँखसे देख ली ! तो वह फोटो खिचानेवाली.......आत्मा दूसरी हुआ करती है। कान पकड़कर बुलायी जानेवाली आत्मा दूसरी होती है। इस समय जो हमारा आत्मा सिद्ध है, वह नाकसे सिद्ध नहीं है, कि सूँघकर हमने निश्चय किया हो कि 'यह आत्मा है।' आत्मा कानसे सिद्ध नहीं है, जीभसे सिद्ध नहीं है, आँखसे सिद्ध नहीं है, त्वचासे सिद्ध नहीं है। बल्कि आँख-कान-नाक-त्वचा हैं—यह जिससे सिद्ध होते हैं, उसका नाम आत्मा है। आँख-कान-नाकसे जो देखा जाता है, उसका नाम आत्मा नहीं है। मनसे आत्मा सिद्ध नहीं होता, बुद्धिसे आत्मा सिद्ध नहीं होता, वासनासे आत्मा सिद्ध नहीं होता। मन जिससे सिद्ध होता है, बुद्धि जिससे सिद्ध होती है, वासना जिससे सिद्ध होती है, उसका नाम आत्मा है।

जाग्रत्कालमें जब आपको साफ-साफ मालूम पड़ता है कि 'मैं हूँ'—तब तो आप फोटोसे सिद्ध नहीं हैं न ! फोटो आपसे सिद्ध होता है। फोटोसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। हम यह बात कह रहे हैं कि जब जाग्रत्कालमें आत्माका अस्तित्व प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, आँख-कान-नाक-जीभ-त्वचासे सिद्ध नहीं होता, फोटोग्राफीसे सिद्ध नहीं होता, तब क्या अनुमानसे सिद्ध होगा ?

खुदके बारेमें अनुमान करना कि 'मैं हूँ ?' 'मैं' हूँ; क्योंकि मैं बोल रहा हूँ, यह क्या कोई स्वार्थ प्रकारका अनुमान हुआ कि परार्थ प्रकारका अनुमान हुआ ? अनुमान तो अप्रत्यक्षके विषयमें होता है ! अथवा—यों कहो कि वस्तु तो प्रत्यक्ष न हो परन्तु जिसका सम्बन्ध-लिङ्ग प्रत्यक्ष होता है, उसके बारेमें अनुमान होता है। जैसे, धुआँ और अग्निका सम्बन्ध प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है; तब धुआँ देखकर पहाड़में अप्रत्यक्ष अग्निका अनुमान करते हैं। फिर वहाँ जानेपर आग प्रत्यक्ष मिलती है। मान=प्रत्यक्ष और 'अनु' माने पिछलग्गू अतः प्रत्यक्षका जो पिछलग्गू है उसको अनुमान बोलते हैं। आत्माकी सिद्धि क्या अनुमानसे होती है ? अरे ! अनुमान जिससे सिद्ध होता है, वह आत्मा है।

हम अनुमानसे सिद्ध नहीं कर सकते हैं कि मरनेके बाद आत्मा रहती है। आत्मा अनुमानसे सिद्ध नहीं है, इसलिए आत्माके बारेमें अनुमान लगाना भी गलत है।

कहो—'हम उपमानसे सिद्ध करते हैं' तो 'आत्माके सरीखा दुनियामें और कोई नहीं है। उपमान कहाँसे आवेगा ?'

अर्थापत्ति, अनुपलब्धि प्रमाणसे भी आत्मा सिद्ध नहीं होता है। आत्मासे प्रमाण सिद्ध होता है।

तुम अपनेको शरीर भर मानोगे तो यही सिद्ध होगा कि जन्मके पहले तुम नहीं थे और मरनेके बाद तुम नहीं रहोगे, तब चार्वाक मतकी सिद्धि होगी। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानकी तो बात ही नहीं है; क्योंकि तुम अपनेको देह मानते हो ! देह न जन्मके पहले था, न मरनेके बाद रहेगा। इसलिए देह ही तुम्हारा जीवन है।

किसीने कहा—चार्वाक मतमें तो हम सरलतासे ही जीवन मुक्त हो गये। कैसे ? तो कहा—'अरे बाबा ! हमारा जन्म नहीं, हमारी मृत्यु नहीं। जन्मके पहले हम थे ही नहीं और मरनेके बाद रहेंगे ही नहीं, तो नरक नहीं, स्वर्ग नहीं, पुनर्जन्म नहीं। अब और क्या पूछना ? हमारी मुक्ति तो है-ही-है। मरे और मुक्त ! परन्तु मरकर मुक्त होनेकी इच्छा कोई नहीं करता। मनुष्यके मनमें जीवित रहनेकी एक कमजोरी है। हमने टी० वी० अस्पतालमें जाकर देखा है कि रातमें मरनेवाला जो आदमी है उसको पक्का खयाल है कि हम जिन्दा रहेंगे, अस्पतालसे निकलेंगे; वह योजना बनाता है कि हम अच्छे हो जायेंगे तो यह काम करेंगे, यह काम करेंगे, तो केवल यह खयाल होनेसे कि—'हम मरेंगे, मरनेके बाद हम मुक्त हो जायेंगे'—वासनाकी निवृत्ति ही नहीं होगी। जिन्दा रहनेकी ही एक वासना है। योजना ही बना रहा है। जिसका अन्तःकरण वासनासे भरा हुआ है, इच्छाओंसे भरा हुआ है, राग-द्वेषसे भरा हुआ है, वह क्या जीवन्मुक्त है ?

देहमें 'मैं' करनेसे अपने ऊपर जन्म-मरण आता है। ऐसा व्यक्ति जीवन्मुक्त बिलकुल नहीं हो सकता, व्याकुल रहेगा।

बोले—'अच्छा बाबा, हम देह तो नहीं हैं, पर हम इन्द्रियवाले हैं, देखनेवाले, सुननेवाले, खानेवाले, पीनेवाले, सोचनेवाले हैं।'

'अरे ! इसी वासनाके कारण तो तुम जंगलमें घूमते हो ? आप दही-बड़े-की दुकानपर क्यों जाते हैं ? आप कारखाना खरीदनेके लिए क्यों जाते हैं ? वासना है तभी जाते हैं। यह वासना आपको इसी जीवनमें घुमाती-फिराती है। यहाँसे वहाँ वासना ही तो चलाती है वर्ना चलनेका और क्या कारण है ?

हमारे शरीरमें जितनी क्रिया होती है, उसके मूलमें इच्छा रहती है ! इच्छाके बिना क्रिया नहीं होती। जब इच्छा इस जन्ममें आपको घुमा रही है,

तो शरीर छूट जानेसे क्या इच्छाका अन्त हो जायेगा ? यह मरनेके बाद भी घुमावेगी।

इच्छा कैसे होती है—आपको मालूम है ? अपने अन्दर अभाव होनेसे इच्छा होती है। पुरुष सोचता है कि एक ऐसी चीज है औरतमें जो हमारे अन्दर नहीं है ! स्त्री सोचती है कि एक ऐसी चीज है पुरुषमें जो हमारे अन्दर नहीं है। अपनेमें कमीका ज्ञान और दूसरेमें उस वस्तुकी उपस्थितिका ज्ञान-इसको विशेष-ज्ञान बोलते हैं—अपनी अभाव-कल्पनासे पीड़ित होकर, अपनी हीनभाव कल्पनासे पीड़ित होकर और दूसरेमें पूर्णाभावकी कल्पना करके हम उसके पीछे-पीछे भटक रहे हैं।

एक सेठने हमको सुनायी ऐसी ही आप बीती। वह बोला—'स्वामीजी, जरा मैं आँखका कच्चा हूँ। आँखकी वासना बड़ी प्रबल है। मैंने आज देखा कि एक स्त्री बहुत अच्छा वस्त्रादि धारण किये हुए जा रही है, तो मेरा मन हुआ कि इसको देखें, कैसी है ? मैंने उसका पीछा किया। घूमते-फिरते, वह स्त्री समझ गयी कि यह आदमी हमारा पीछा कर रहा है। जब वह अपने घरमें पहुँच गयी, तो वह खड़ी हो गयी और अपना मुँह खोल दिया; और बोली—'लो, देखो ! हमको ही देखनेके लिए इतनी देरसे आ रहे हो न ?'

'महाराज ! देखते ही चित्तमें ग्लानि हो गयी ! इतना बुरा चेहरा था उसका ! मैं मृगतृष्णामें आकर जो इतना परेशान रहा, सो यह हमारे मनकी वासना है।'

इस दुनियामें अपनेमें कमीका अनुभव करना और दूसरेमें उस वस्तुकी उपस्थितिका अनुभव करना—यही हमारे भटकनेका कारण है। गरीब समझता है कि धनमें सुख है, परन्तु धन हमारे पास नहीं है। बम्बईके लोग समझते हैं कि बिलकुल जंगलमें, पहाड़में, एकान्तमें जायेंगे, तो वहाँ बहुत सुख मिलेगा; और जो पहाड़में, जंगलमें, एकान्तमें रहते हैं, उनसे पूछो तो वे कहेंगे कि हम बम्बईमें जायेंगे तो सुख मिलेगा, इसका कारण क्या है ? उनके पास बम्बई नहीं है और बम्बईवालोंके पास एकान्त नहीं है ! यही कारण है न ?

अपनेको वासनावान् मान करके हम सृष्टिमें रहते हैं और इसके कारण जैसे जाना-आना पड़ता है, ऐसे ही मरनेके बाद भी यह वासनावान् जाता-आता रहता है। ले जानेवाला शरीर नहीं है, ले जानेवाली वासना है और वह भी ज्ञानकी गलतीसे है।

यदि तुम अपनेको परमात्मासे एक समझो, तो स्त्री और पुरुष दोनों तुम ही हो; पहाड़ और जंगल दोनों एक ही है; काम करना और चुप बैठना एक ही है, आप अपनेको निर्वासन करके देखो तो ! कहते हैं—मनके विक्षेपमें बड़ा दुःख है। तुम्हारा बच्चा नाचता है कि नहीं, हँसता है कि नहीं ? ये नाचनेवाले जो हाथ-पाँव फेंकते हैं, ठुड्डी हिलाते हैं और आँखें चमकाते हैं, इसका नाम क्या समाधि है ? इसका नाम विक्षेप है। लेकिन इस विक्षेपमें क्या दुःख है ? विक्षेपमें दुःख नहीं होता। हमारे घरमें पैसा नहीं है, महाराज, बड़ा भारी दुःख है ! पैसा न होनेका नाम दुःख है ? हम ऐसे लोगोंको दिखा दें, जिन्होंने जिन्दगी भर पैसा छुआ नहीं और उनके पास दुःख नहीं है।

पैसा होनेमें भी दुःख होता है। बम्बईमें हमारे एक सेठ हैं, वह पैसा होनेके कारण दुःखी है। वह रोता है—'महाराज ! कब इससे पिंड छूटेगा ? जरा इससे खाली होऊँ तो एकांतमें रहकर भजन करूँ। यह बात सुनते-सुनते बीस बरस बीत गये कि इस पैसेसे पिंड छूटे ! टैक्सवाला मुकद्‌मा छूट जाय, जहाँ रुपया लग गया है, वहाँसे समेट लें !' अगर वह सेठ यहाँ हो तो, तो माफ करे ! अगर आप लोगोंमें-से कोई ऐसा हो तो आप अपने लिए मत समझना। जबतक आप अपनेको वासनावान् मानोगे, तबतक अपनेको गमनागमनसे मुक्त नहीं समझ सकते हो।

विक्षेपमें दुःख नहीं है। असलमें दुःखीपनेके अभिमानमें दुःख है। क्या वासनावाले अपनेको दुःखी समझते हैं ? हम तो बहुत वासनावालोंको देखते हैं। वे अपने समान किसीको समझते ही नहीं हैं। क्या समाधिवाले सुखी हैं ? असलमें न समाधिमें सुख है, न विक्षेपमें दुःख है। जो जहाँ दुःख मानेगा, वहीं दुःख है। जहाँ सुख मानेगा वहीं सुख है।

एक शिष्य था। उसके मनमें कोई वासना थी। उसने किसी स्त्रीसे निश्चय किया कि वह अमुक समयपर उसको मिलेगी। गुरुजीको मालूम पड़ गया। गुरु लोग तो गुरु ही होते हैं। उसने शिष्यको अपने पास बुलाया, बैठाया। 'आओ, बेटा ! हम तुमको एक खेल दिखाते हैं।' एक नस उसकी दबा दी तो उसको समाधि लग गयी ! उसको भान ही नहीं हुआ ! न देशका, न कालका, न वस्तुका ! उसकी प्रेमिका आयी, और लौट गयी ! बादमें गुरुजीने उसको जगा दिया। जागा तो उसने पता लगाया कि वह स्त्री आयी कि नहीं ? अब तो दुःखी हुआ कि—'हाय-हाय ! गुरुजीने आज यह क्या किया ? प्रेम स्त्रीसे होगा तो समाधि लग भी जाय परन्तु सुख नहीं मालूम पड़ेगा।

असलमें यह वासनाका चक्कर है। वह अपनेको समाधिवान् होनेमें सुखी नहीं समझता, स्त्रीसे मिलनेमें अपनेको सुखी समझता है। वह तो समाधिको दुःख समझता है। राग-वैराग्यका यह बड़ा भारी चक्कर है। इस समय अपनेको वासनाओंसे ऊपर, विक्षेपसे ऊपर, समाधिसे ऊपर जानो!

एक आदमी समाधि लगावे और कोई आके 'खट्'की आवाज कर दे, तो यदि उसकी समाधि ही टूट जावे, तो वह कैसी समाधि है? आपने सुना होगा। एक स्त्री कहीं जा रही थी, किसीसे मिलने और रास्ते एक मुसलमान नमाज पढ़ रहा था। उसका पाँव लग गया; मुसलमानको गुस्सा आ गया। वह बोली—'हमारा एक मनुष्यसे प्रेम है। उसके पास हम जा रहे हैं। हमें तुम नमाज पढ़ते हुए दिखायी नहीं पड़े। तुम ईश्वरके प्रेमी हो, नमाज पढ़ रहे हो और तुम्हें मैं दीखती हूँ? गुस्सा आता है? यह कैसा प्रेम है?'

भगवान्का भजन करते-करते लोग क्रोधमें आजाते हैं कि 'तुमने खट्-खट् क्यों कर दिया? तुमने बात क्यों कर ली?' अच्छी ईश्वरोपासना है! अरे, क्रोधसे तो बचना पड़ता है। क्रोध तो ईश्वरोपासनाका शत्रु है।

इस समय जो आत्मा है, यही सुनता हुआ, बोलता हुआ—जो कानकी मशीन अपने साथ लगाकर सुन रहा है और जो जीभकी मशीन अपने साथ जोड़कर बोल रहा है, ब्रॉडकास्ट कर रहा है—यही आपका अपना आपा, यह कौन है? यह अजन्मा है, यह शरीर नहीं बना; इस समय वह शरीर नहीं है। इस समय भी यह वासनावान् नहीं है, पापी-पुण्यात्मा नहीं है। इस समय भी यह सुखी-दुःखी नहीं है, आने-जानेवाला नहीं है। इस समय भी यह परिच्छिन्न नहीं है।

अगर इस समय आप ऐसे हैं, और हैं; तो आपका न जन्म हुआ है, न मृत्यु होगी, न पुनर्जन्म होगा, न नरक-स्वर्गमें जायेंगे। आप नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हैं। आपका अमृतत्व स्वाभाविक है; निर्मित नहीं है, कृतक नहीं है। इसको आप अपने अनुभवसे ही जान पायेंगे।

इसमें दूरबीन-खुर्दबीन कुछ काम नहीं देते। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अनुपलब्धि, अर्थापत्ति—कोई प्रमाण काम नहीं देता। प्रमाणोंसे सिद्ध होनेवाली वस्तुके बारेमें यह बात नहीं कही जा रही है।

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
यस्य प्रसादात् सिद्धयन्ति तत् सिद्धौ किमपेक्षते॥

जिससे प्रमाता सिद्ध होता है, जिससे प्रमेय सिद्ध होता है, जिससे प्रमाण सिद्ध होता है, जिससे प्रमा माने यथार्थज्ञानकी प्रमावृत्ति सिद्ध होती है, वह वस्तु आप हैं। तत्त्वमस्यादि महावाक्य—जन्य वृत्तिका होना, अविद्याको मिटाना और अविद्याके साथ उसका भी मिट जाना जिससे सिद्ध होता है, वह वस्तु आप हैं।

फिर यह भेद काहेका है? मायाका, अविद्याका है, अपने आपको न समझनेका है सारा भेद। इस जीवनमें वासनाके वशीभूत होकर दुःखी होना, अगले जनमके लिए वासनाएँ सँजोना, नरक-स्वर्ग आदिके भावमें डूब जाना, अपनेको कर्ता-भोक्ता, पापी-पुण्यात्मा, दुःखी-सुखी समझना, अपनेको छिन्न-भिन्न मानना, यह अमृत वस्तु, यह चैतन्य वस्तु यह चिन्मात्र वस्तुमें नहीं है, क्योंकि यह छिन्न-भिन्न होनेवाली वस्तु नहीं है।

तो यह भेद क्या है? बस, केवल अविद्या। अविद्या माने बेवकूफी, नासमझी। वाकिफ माने जानकार। तुम जानकार नहीं हो, इसलिए तुम इस चक्करमें पड़े हुए हो। नहीं तो बाबा! तुम्हें अगर परमार्थको वाकफियत हो जाय, माने यह बेवकूफी, 'अविद्या' 'अज्ञान' दूर हो जाय तो सारे भेद मिट जायँ!

'भ्रान्ति' माने उलटी समझ। अज्ञान माने नासमझी। अपना स्वरूप जैसा है, वैसा उसको न समझना। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, परिपूर्ण, अद्वय चैतन्य आत्माको ब्रह्म न जानना—यह न जाननेके कारण ही सारी फजीहत दुनियामें हो रही है और भोगनी पड़ रही है।

\+ \+ \+

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥२०॥

अर्थ—कुछ वादी जन्मरहित आत्मतत्त्वके जीवरूपमें उत्पत्तिकी इच्छा करते हैं। परन्तु जो तत्त्व जन्म-मरण रहित है वह भला जन्म लेकर मरणशीलताको कैसे प्राप्त करेगा?

वादिनः—उपनिषदोंके कोई-कोई ऐसे व्याख्याता हैं—वे 'वादी' हैं, माने इस पक्षके हैं कि अजात वस्तुका भी जन्म होता है: **अजातस्यैव भावस्य जातिम् इच्छन्ति**। 'अजात' माने जिसका जन्म न हो।

एक देशसे दूसरे देशमें पैदा होना—अर्थात् देशसे देशांतरकी प्राप्तिका

नाम जन्म है—ऐसा प्रायः लोग पुराणोंको पढ़कर जानते हैं। परन्तु दर्शन-शास्त्रमें भावसे भावांतरकी प्राप्तिका नाम जन्म होता है।

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यको 'द्विज' बोलते हैं। द्विज' माने दो बार जिसका जन्म हो। यदि माताके पेटसे पैदा होना ही 'जन्म' शब्दका अर्थ होता, तो यज्ञोपवीत संस्कारसे जन्म होता है, यह बात कैसे कही जाती ? दो बार जन्म कैसे होता ? इसलिए माताके पेटसे जन्म लेनेके स्थानपर 'जन्म' शब्दका कोई और अर्थ भी है। वह अर्थ यह है कि जब एक गृहस्थ अपनेको संन्यासी मानने लगता है, तब उसका दूसरा जन्म, पुनर्जन्म हो जाता है। शरीर तो वही रहता है।

शरीर तो वही है लेकिन अहंकृति बदल गयी। पहले 'अहं गृहस्थः—' यह अभिमान था और अब 'अहं संन्यासी'—यह अभिमान हो गया। 'अहं'में जो परिवर्तन हो जाता है, वह फलात्मक होता है—'मैं संन्यासी हूँ।' पहले गृहस्थपनेमें 'मैं' था, अब संन्यासीपनेमें मैं आ गया। 'मैं'का परिवर्तन ही यहाँ जन्म हुआ ! ब्राह्मणत्वका जन्म हुआ; क्षत्रियत्वका जन्म हुआ, वैश्यत्वका जन्म हुआ, आश्रमत्वका जन्म हुआ। कैसे ? संस्कारसे।

भावसे भावान्तरकी प्राप्ति जन्म है। इसमें कहीं जाना-आना नहीं पड़ता। केवल अन्तःकरणमें भावका परिवर्तन होता है। आप निश्चय समझो—'मैं दुःखी हूँ'—यह एक जन्म है। 'मैं सुखी हूँ'—यह दूसरा जन्म है। 'मैं पापी हूँ'—यह तीसरा जन्म है। 'मैं पुण्यात्मा हूँ'—यह चौथा जन्म है। अन्तःकरणमें जिस-जिसके साथ 'मैं' जोड़ते हैं, उतने जन्म हैं, लेकिन यह जोड़ा हुआ जन्म है।

रंगमंचपर एक नट जैसे एक बार औरत होकर आवे, एक बार मर्द होकर आवे, एकबार शत्रु होकर आवे, एकबार मित्र होकर आवे—नर एक ही है, परन्तु भूमिकाके अनुसार उसके नाम हैं, उसी प्रकार आत्मा बिलकुल एक है। यह तो अपने स्वरूपके अज्ञानसे पापके साथ तादात्म्य तो पापीपना, पुण्यके साथ तादात्म्य तो पुण्यात्मापना, मोक्षके साथ तादात्म्य तो मुक्त, बन्धनके साथ तादात्म्य तो बद्ध समझते हैं।

जो लोग अजन्माका जन्म मानते हैं, उनके सामने यह प्रश्न है कि जो भावसे भावान्तरकी प्राप्ति होनेवाली वस्तु नहीं है, माने जो भाव और भावांतर दोनोंका साक्षी है, दोनोंका अधिष्ठान है, क्या वह भी बदल जायेगा ?

एक भाव, दूसरा भाव और दोनों भावोंकी सन्धि, दोनों भावोंकी शान्ति-भावोदय, भावकी उपस्थिति, भावकी सन्धि, भावका शाबल्य, भावका अन्त—इनमें जो एक है, वह भाव बदलनेसे कैसे बदल जायगा ? वह अजात है।

चौथा प्रकरण सारा इसी बातको समझानेके लिए है कि 'अजात' माने क्या ? परन्तु सामान्य बात यह है कि जात माने जन्म। वेदान्ती लोग कहते हैं कि 'जगत् अजात है।' दुनिया पैदा नहीं हुई है, वन्ध्या पुत्रवत् है। जीव भी अजात है। 'सर्वज्ञ' अल्पज्ञ दोनों अजात हैं' इनके कहनेका अभिप्राय क्या है ? सद्वस्तुमें सर्वज्ञ-अल्पज्ञ दोनों विवर्त हैं। उसमें सर्व और अल्प दोनों विवर्त हैं। सर्वज्ञानका विषय और अल्पज्ञानका विषय जो जगत् है वह भी विवर्त है और सर्वका ज्ञातृत्व और अल्पका ज्ञातृत्व भी विवर्त है।

जो सद्वस्तु है, वह पैदा नहीं होती। वह न जगत्के रूपमें न जीवके रूपमें, न नरकके रूपमें, न स्वर्गके रूपमें, न मर्त्यलोकके रूपमें, न चौदहों भुवनवाले ब्रह्मांडके रूपमें, न अनन्तकोटि ब्रह्मांडके रूपमें—न पृथक्-पृथक् और न तो इनकी समष्टिके रूपमें पैदा होती है। जो सद्वस्तु है, वह किसी भी रूपमें रूपांतरित नहीं हुई है। वह ज्यों-की-त्यों और अपना आपा है।

जो अजात और अमृत भाव है, वह फिर 'मर्त्यभाव'को कैसे प्राप्त होगा ? उसमें मर्त्यभावकी प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती।

\+ \+ \+

न भवत्यमृतं न मर्त्यं अमृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद्भविष्यति ॥२१॥

अर्थ—अमृत मरणधर्मा नहीं हो सकता और मरणशील अमृत नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार स्वभावकी विपरीतता नहीं हो सकती।

कई लोग उपनिषद्को मानते भी हैं और ऐसा स्वीकार करते हैं कि अजन्मा, अजात, अज जो ब्रह्मतत्त्व है, वह जगदाकाररूपमें परिणत हो जाता है। माने 'जात' हो जाता है। परन्तु यह बात सर्वथा युक्तिके विरुद्ध है। क्योंकि जो अजात-वस्तु है, जो अमृत-वस्तु है, वह मर्त्यभावको भला कैसे प्राप्त हो सकती है ? क्योंकि वस्तुका, तत्त्वका अन्यथाभाव नहीं होता।

काल-परिणामीभावका दृष्टान्त देनेके लिए यह बात समझायी थी कि मिट्टी कभी कड़ी होती है, कभी नरम होती है। असलमें कड़ापन और नरमपन मिट्टीका स्वभाव नहीं है। मिट्टीका स्वभाव तो गंधवत्वमात्र ही है। मिट्टी बदलती नहीं है। मिट्टी भी अपने रूपमें ज्यों-की-त्यों रहती है।

अग्निका स्वभाव उष्ण है, वह बदलता नहीं है। कोई मन्त्रसे, मणिसे प्रतिबद्ध करके उसे ठंडी कर सकते हैं; कोई जन्मसे ही अग्निका स्पर्श कर सकता है। जैसे चकोरके सम्बन्धमें यह बात प्रसिद्ध है कि वह जन्मसे ही अग्नि-स्पर्शी है—उसमें जन्मसे यह सिद्धि होती है; ऐसी दवा आ सकती है कि किसीको हाथमें-पाँवमें लगा दें, तो न जले। कोई तपस्या करके ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेता है। कोई अपनी मानसिक शक्तिसे ऐसा कर लेता है। लेकिन, सब कुछ होने पर भी, चाहे कोई कितना भी सिद्ध हो, अग्नि गरम ही रहेगी। थोड़ी देरके लिए उसे केवल प्रतिबद्ध किया जा सकता है। कोई वस्तु अपने स्वभावको नहीं छोड़ती।

ब्रह्म कोई ऐसी चीज नहीं है कि पहले कच्चा रहे, फिर पक जाय। वह तो ज्यों-का-त्यों एकरस है! जो अमृत है, वह मरणशील नहीं होता और जो मरणशील है, वह अमृत नहीं होता।

प्रकृतेः अन्यथा भावो न कथंचिद् भविष्यति।

किसी भी वस्तुकी प्रकृतिका अन्यथाभाव कैसे भी नहीं होता। गीतामें श्लोक पढ़ते होंगे—

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति। (३.३३)

आँख जब देखेगी, तब रूप ही देखेगी। अब यह कहो कि आँख गंध सूंघने लगे और नाक रूप देखने लगे, तो यह इन्द्रिय स्वभावका व्यावर्तन कैसे होगा? नेत्रकी प्रकृति है रूपका साक्षात्कार, घ्राणकी प्रकृति है गंधका साक्षात्कार। उसको कोई कभी बदल सके, ऐसा नहीं हो सकता।

अपना आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म ही है। यह अपने साक्षित्वको छोड़कर जन्मत्वको कभी ग्रहण नहीं करता। यह साक्षी कभी जन्मता नहीं कभी मरता नहीं। देहके जन्म-मरणको अपनेमें स्वीकार करके अपनेको जन्म-मरणवाला मानता है। क्यों मानता है? भ्रान्तिसे। भ्रान्ति कहाँसे आयी? अपने स्वरूपके अज्ञानसे। यह अज्ञान कहाँसे आया? अज्ञान कहींसे आता-जाता नहीं है। अज्ञान होनेके पहले भी अज्ञान मालूम नहीं पड़ता, अज्ञानकालमें भी अज्ञान मालूम नहीं पड़ता अज्ञान होनेके बाद भी अज्ञान मालूम नहीं पड़ता। अज्ञानकी अज्ञानता उसके मिट जानेके बाद मालूम पड़ती है। यह भी अज्ञानका स्वभाव है।

जबतक मनुष्य अज्ञानमें रहता है, ज्ञान ही मानता है। चाहे कितना

बड़ा अज्ञान होवे, वह पूरबको पश्चिम समझता होवे, लेकिन दूसरा कोई कहे कि 'यह पूरब है' तो वह नहीं मानेगा। वह यही कहेगा—'हमें ज्ञान है।' अज्ञानका यही स्वभाव है कि जबतक वह रहता है, वह अपनेको ज्ञान दिखाता है, अज्ञान नहीं दिखाता। इसीसे तो दुनियादार लोग उसे मिटानेकी कोशिश नहीं करते!

जो दूसरेको अज्ञानी समझता है, वह डबल अज्ञानी है। जो केवल अपनेको ही अज्ञानी समझता है, वह 'सिंगल' अज्ञानी है। जो अपने अन्दर प्रतीत होते हुए अज्ञानको जानता है, वह ज्ञानस्वरूप है।

असलमें अज्ञानको जानना ही सबसे बड़ा ज्ञान है। (क्योंकि उसको जाने बिना उसकी निवृत्तिमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती)। परन्तु यदि हम अपने ज्ञानको जानें कि कितना बड़ा ज्ञान है, तो यह सबसे बड़ा अज्ञान है (क्योंकि वह अभिमानरूप होगा)। बड़ी मजेदार बात है! ये संसारी लोग अपने अज्ञानको ही तो नहीं जानते हैं और तो सब कुछ जानते हैं! जो साधक अपनेमें ज्ञानीपनेका अभिमान रख लेता है, वह तो अपने ज्ञानका अभिमानी हो गया। अब उसे ब्रह्म-ज्ञान कैसे हो सकता है? ज्ञान कभी ज्ञानका विषय नहीं होता। ज्ञानको किससे जानोगे? ज्ञानसे? तो दो ज्ञान हो गये—एक जिससे जाना और दूसरा जो जाना गया। किन्तु ज्ञान तो अद्वैत ही होता है। अतः ज्ञानका ज्ञान नहीं होता।

अब आपको वेदान्त सम्बन्धी एक शङ्का-समाधान सुनाता हूँ। हमारे जितने प्राचीन शास्त्र हैं, उनमें पुरुषार्थ चार माने जाते हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और इनके अलग-अलग अधिकारी माने जाते हैं। शास्त्रका तात्पर्य कहीं भी ऐसा नहीं है कि धर्म-अर्थ-कामको छोड़कर केवल मोक्षके पीछे पड़ जायँ।

जो त्रिवर्ग चाहता है, उसको अर्थ-धर्म और कामका सेवन करना चाहिए। जो विरक्त अन्तःकरणवाला है, उसको मोक्ष चाहना चाहिए! हमारे वेद-शास्त्र-पुराणमें जैसा वर्णन है वह सब ठीक है। भिन्न-भिन्न अधिकारीके लिए उनके वर्णन हैं। उनकी संगति लग जाती है।

एक ऐसा ढंग चल गया है कि सब लोग अर्थ-धर्म-काम छोड़कर मोक्ष ही चाहें और मोक्षके लिए ही प्रयत्न करें। यह बात केवल अपना-अपना सम्प्रदाय बढ़ानेके लिए है। तत्त्वके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए केवल ब्रह्मको ही सत्य समझना, जगत्को मिथ्या समझना, यह तो दुनियाको

अकर्मण्य बनानेवाली बात है परन्तु यह आरोप शास्त्रपर नहीं लगता, क्योंकि जिसको संसारमें अरुचि है, जिसको संसारसे वैराग्य है, उसके लिए शास्त्र मोक्ष-साधनत्वेन ज्ञानका उपदेश करता है।

दूसरी बात यह है कि जबतक अपवाद प्रवणता नहीं होती, जबतक निवृत्ति नहीं होती, तबतक ब्रह्मज्ञान छुआ नहीं जाता। समझो, कि कोई कहे 'यन्त्रसे हमने अद्वैत सिद्ध कर दिया, तो यन्त्रसे जड़ाद्वैत सिद्ध होता है, जड़की एकता सिद्ध होती है; और अद्वैत समझनेके लिए वह उपमान हो सकता है, वह दृष्टान्त हो सकता है। 'भावना करते-करते वृत्ति चढ़ गयी और अद्वैत हो गया, तो वह भावाद्वैत है। वह टिकाऊ नहीं होता। कहो कि 'हमने ऐसी-ऐसी युक्ति खोजी और ऐसे-ऐसे तर्क खोजे कि अद्वैत मिल गया!' तो युक्ति-तर्कसे जो अद्वैत मिलता है, वह भी वेदान्तको निरर्थक करनेवाला है। वह भी उपमान हो सकता है, दृष्टान्त हो सकता है। परन्तु आत्मा और ब्रह्मकी एकताके लिए तो वेदान्तशास्त्रकी आवश्यकता है।

जो लोग कहते हैं कि हमारी इन्द्रियोंसे ही अद्वैत सिद्ध हो गया, हमारी युक्तियोंसे ही अद्वैत सिद्ध हो गया, हमारे ध्यानसे ही अद्वैत सिद्ध हो गया, वे लोग मानो यह कहते हैं कि हमें वेदान्त-शास्त्रकी कोई आवश्यकता नहीं है—माने 'तत्त्वमस्यादि महावाक्य'की कोई जरूरत नहीं है। वे लोग ऊपरसे देखनेपर तो वेदान्तके अविरोधी मालूम पड़ते हैं, कि इन्होंने युक्तिसे, तर्कसे वेदान्त सिद्ध कर दिया। और वे अपनेको बुद्धिमान् भी मानते हैं; परन्तु बुद्धिमान् होनेका अभिमान ही उन्हें हाथ लगता है, आत्मा और ब्रह्मका जो अद्वैत अनुभव है, वह उन्हें हाथ नहीं लगता।

कभी अद्वैत होता हो और कभी द्वैत होता हो, ऐसा नहीं है। विक्षेपमें भी समाधि है और समाधिमें भी विक्षेप है और समाधि-विक्षेप दोनोंका जो साक्षी है, वह अद्वैत वेदान्तवेद्य है।

जिनके मतमें अद्वैत ही सृष्टिके रूपमें परिणत हो गया उनके मतमें तो आत्मा मर ही गया।

\+ \+ \+

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम्।
कृतकेनामृतैस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥२२॥

अर्थ—जिसके मतमें स्वभावसे अमृत-पदार्थ मरणशीलताको प्राप्त हो जाता है उसके मतमें जन्म लेनेसे वह अमृत-पदार्थ अमृत कैसे बना रह सकता है?

जिसके मतमें स्वभावसे ही अज, अजर, अमर, परिपूर्ण अविनाशी अद्वैतभाव यह सब बन गया—जीव बन गया, ईश्वर बन गया, सृष्टि बन गया; और जब सृष्टि मिटेगी तब अद्वैत हो जायगा; उनका तो पहले जो अद्वैत था, वह फूट गया। सृष्टि बन गयी, भेद हो गया। उसमें-से तो सृष्टि—पेड़ निकल आया। सृष्टिके मूलमें जो चना था, कठोर, घनीभूत, वह फूटकर उसमें-से तो सृष्टि-वृक्ष निकल आया। सृष्टि रहने लग गयी। जब यह सृष्टि मिटेगी, तो जैसे चनेके सिरेपर फिर चना निकल आता है, वैसे फिर अद्वैत निकल आवेगा। इनका अद्वैत सच्चा अद्वैत नहीं है।

कृत्स्नस्तु प्रज्ञानघन एव।

चाहे सृष्टि मालूम पड़े चाहे न मालूम पड़े, चाहे व्यवहार हो चाहे समाधि हो, चाहे सृष्टि हो चाहे प्रलय हो, चाहे विक्षेप हो चाहे एकाग्रता हो, अद्वैत तो ज्यों-का-त्यों है और वही तुम हो।

जो लोग समझते हैं कि 'कृतकेनामृतः' माने बनावटी अमृत होता है, अभी तो नहीं है, फिर हो जाता है; अभी तो नहीं है, पहले था। यह जो कृतक अमृत है, वह यदि बनेगा तो स्थिर कैसे रहेगा? निश्चल कैसे रहेगा? फिर फूटेगा फिर बनेगा, फिर फूटेगा फिर बनेगा। इसीका नाम तो जन्म-मृत्यु है।

अद्वैतका जन्म हुआ तो जगत् हो गया और जगत्‌की मृत्यु हुई तो फिर अद्वैत हो गया; द्वैतकी मृत्यु हो गयी तो अद्वैतका जन्म हुआ और अद्वैतकी मृत्यु हो गयी तो द्वैतका जन्म हुआ। यह तो जनमने-मरनेवाला संसार ही रहा। क्या कार्य और क्या कारण? क्या अद्वैत?

जिनके मनमें जन्मना और मरना है, परिवर्तन है, उनके मतमें अद्वैत ठीक नहीं है। इसलिए उपनिषद्‌की जो लोग ऐसी व्याख्या करते हैं, वे गलत करते हैं।

●

: १४ :

श्रुष्टि-विषयक श्रुतिकी संगति

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा श्रुतिः।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत् ॥२३॥

अर्थः—सृष्टि परमार्थतः हो अथवा मायासे—दोनों दशाओंमें श्रुति तो समान ही होगी। उनमें-से जो निश्चित और युक्तियुक्त हो वही तात्पर्य हो सकता है, अन्य नहीं।

अद्वैत ज्ञानमें रुचि होना पुण्यका फल है। लेकिन कोई यह दिखानेके लिए कि 'देखो, हम पहलेके पुण्यात्मा हैं', अद्वैतमें रुचि दिखावे—तो वह बनावटी है; टिकेगी नहीं, फिर बदल जायगी।

लोगोंका यह जो खयाल है कि सबको अद्वैत ज्ञान होना चाहिए, वह वेदांतका अद्वैतज्ञान नहीं है। किसी भी ब्रह्मज्ञानीको यह खयाल होता है कि 'सब ब्रह्म हैं।' यह ठीक है। परन्तु कीड़े भी हैं, मकोड़े भी हैं, पशु भी हैं, पक्षी भी हैं, उनके लिए ज्ञानकी कोशिश क्यों नहीं करते? बोले—वे तो हमारे लाउडस्पीकरका भाषण समझेंगे नहीं! तो जैसे पशु-पक्षी अद्वैतज्ञानका भाषण नहीं समझ सकते, वैसे मनुष्योंमें भी बहुत-से लोग होते हैं जो अद्वैतज्ञानका भाषण नहीं समझ सकते। कारण कि वे तो छोटी-छोटी चीजोंको पकड़कर बैठे हैं।

ऐसा कोई है जो चाहता हो कि हमको सम्पूर्ण अनर्थकी निवृत्ति होकर परमानन्दकी प्राप्ति होवे, जितने शोकके कारण हैं, उनको छोड़ दें और परमानन्दस्वरूप अद्वैतका अनुभव करें?

लोग तो यह समझते हैं कि हमको यह धन मिलेगा तो हम सुखी हो जायेंगे। हमको यह काम मिलेगा तो हम सुखी हो जायेंगे। जो धनसे सुखी होना चाहते हैं, भोगसे सुखी होना चाहते हैं, कुछ काम करके सुखी होना चाहते हैं, स्थिति प्राप्त करके सुखी होना चाहते हैं, उसको तो अभी अल्पसे वैराग्य ही नहीं है।

यदल्पं तन्मर्त्यम्। (छा० ७.२४.१)

क्योंकि जो देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न है, वह तो मरनेवाली चीज और जो देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं है वही अमृत-वस्तु है और वही अपना आपा है। उसको जानकर शोक-मोह मिट जाता है—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। (ईश० ७)

एकत्वका दर्शन होवे, शोक-मोह मिट जाय। इसको भी लोग गलत रीतिसे समझ लेते हैं।

एकने कहा—'महाराज ! हमने वेदांत पढ़ लिया।' पढ़कर जाना कि शोक-मोहकी निवृत्ति हो जाती है। तो हमारा बाप क्यों मर गया ? हमारा धन क्यों चला गया ? हमारी औरत हमसे क्यों लड़ी ? क्योंकि हम तो वेदांत पढ़ते हैं। तो गलत हो गयी न बात ! उसने वेदान्तका अभिप्राय नहीं समझा।

दूसरा आया, बोला—'ठीक है। जो मरा सो मरा, जो गया सो गया ! यह तो हम मानते हैं, पर हमारे मनमें तो शोक नहीं आना चाहिए ! हमारे मनमें तो मोह नहीं आना चाहिए। वेदांत पढ़नेका यह फल तो होना चाहिए !'

बड़ी अद्भुत बात है, इसको बाबाजी लोग जानते हैं। वेदांतका रहस्य जो समझता है, वह जानता है। वेदांत उस मनका ही बाध कर देता है, जिसमें शोक-मोह रहते हैं। तो बाधित मनमें जो बाधित शोक-मोह है, उनका निषेध वेदांत नहीं करता। वेदांत तो अपने आपमें, अपने आत्मामें शोक-मोह नहीं है, यह बात बताता है। किसीकी आँखमें दो बूँद आँसू आजाय, तो यह नहीं समझना कि इसके मनमें शोक-मोह आगया या उसका वेदांत-ज्ञान मर गया। आँखमें आँसू आनेसे और मनमें शोककी छाया, मोहकी छाया आयी और चली गयी, इससे वेदांतज्ञानका नाश नहीं होता। वेदांतज्ञान उनको छायामात्र बना देता है। जैसे शीशेमें छाया पड़ी और चली गयी।

यहाँ तो ज्ञानके दर्पणमें—'दर्पणदृश्यमान-नगरीतुल्यं' शोकमोहादिका भान हुआ और उनकी निवृत्ति हुई।

अब और विवेक प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि यह तो वेदांतकी चर्चा है। जब वेदांत-दर्शन प्रारम्भ होता है तो 'वाचस्पति मिश्र-भामतीकार' यह प्रश्न उठाते हैं कि 'आत्माकी जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए' 'क्यों नहीं करनी चाहिए ?'

बोले—'दो चीजके बारेमें कोई जिज्ञासा नहीं होती। एक तो, जो बिलकुल साफ-साफ हो, जिसमें संशय न हो। दूसरे जिससे कोई प्रयोजन सिद्ध

न होता हो। सामने घड़ी रखी है। क्या किसीको संशय होता है कि 'घड़ी रखी है कि नहीं रखी है ?' सबको मालूम पड़ता है कि यह घड़ी है। क्या कोई पूछेगा कि 'यह घड़ी है ?' और पूछे, तो मालूम पड़ेगा कि बेकार पूछता है। जैसे कोई हमको पूछता है कि 'आप आगये ?' तो 'भाई, क्या तुमको हमारी उपस्थितिमें शंका है या कि अपनी आँखमें शंका है ?'

रातको दादाने पूछा—'आप जग गये ?'

मैंने कहा—'क्या हमारी बोलीमें तुमको शंका है या अपने कानमें शंका है ?'

माने बिलकुल साफ-साफ जो चीज मालूम पड़ती है, उसमें शंका नहीं होती।

जिससे कोई प्रयोजन ही न हो, उसमें भी कोई शंका नहीं होती। आपको मालूम है कि कौएके कितने दाँत होते हैं ?' नहीं मालूम है तो किसी भले मानुससे पूछकर देखो—'कौएके कितने दाँत हैं ?' तो वह डाँट देगा—'क्या बेमतलब पूछते हो ?' निष्प्रयोजन प्रश्न !

वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि आत्मा तो इतना साफ-साफ है कि घड़ी उसीको मालूम पड़ रही है। 'मैं हूँ', 'मैं जानता हूँ', 'मैं अपना प्रिय हूँ', 'मैं सच्चिदानन्द हूँ'—यह ज्ञान तो कीट-पतंगको भी है। इसके बारेमें क्या शंका है ? क्या प्रश्न करते हो और फिर अपने बारेमें जान लेनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? क्या चीज मिलेगी ? मिठाई मिलेगी खानेको ? दूसरेको जानोगे—अच्छा है तो प्रेम करोगे; बुरा है तो उसके चक्करसे बचोगे। अच्छा जानोगे तो उससे फायदा उठाओगे। दूसरेके बारेमें जानकारी तो नुकसानसे बचानेवाली और फायदा देनेवाली होती है।

आपको ये दो प्रश्न बतायें। यहाँसे वेदांत प्रारम्भ होता है ! जो लोग युक्तिसे सिद्ध कर देते हैं कि 'मैं हूँ'; 'मैं जानता हूँ'; 'मैं आनन्द हूँ'—तो वेदांत कहता है—'हाँ भाई, यह तो युक्तिसे सिद्ध है। इसके बारेमें शंका करनेकी जरूरत नहीं है।' परन्तु 'मैं हूँ'—यह तो चींटीको भी मालूम है, चिड़ियाको भी मालूम है, पशुको भी मालूम है। किसको यह बात मालूम नहीं है कि 'मैं हूँ ?' और 'मुझे सब मालूम पड़ता है।' जो कुछ आँखसे, कानसे, नाकसे मालूम पड़ता है उसमें 'सूँघनेवाला मैं', 'देखनेवाला मैं', 'सुननेवाला मैं' यह बात सबको मालूम है। इसमें वेदांतकी क्या जरूरत है ? परन्तु 'तुम ब्रह्म हो'—क्या यह तुम्हें मालूम है ? तुम अद्वय चैतन्य हो और तुम्हारे सिवा दूसरी कोई वस्तु है नहीं, यह तुम्हें मालूम है ?

'यह तो नहीं मालूम है।'

'तो फिर आओ, देखो, अद्वय चैतन्य कौन है? जिज्ञासा करो। पूछो। देखो।'

इसका अर्थ हुआ कि वेदांतकी जरूरत आ गयी। 'मैं हूँ' यह जाननेके लिए वेदांतकी जरूरत नहीं है। यह तो साफ-साफ सिद्ध है। मैं ब्रह्म हूँ कि नहीं हूँ यह जाननेके लिए वेदांतकी जरूरत है।

अब दूसरी बात—हम दूसरेको जानते हैं। अगर वह ठग हुआ तो उससे बचेंगे। भलेमानुस हुए तो फायदा उठावेंगे। सप्रयोजन है दूसरेका ज्ञान। अपने आपको ब्रह्म जानना, इसमें क्या प्रयोजन है? इसमें प्रयोजन यह है कि 'देहका जन्म-मरण हमारा जन्म-मरण नहीं है'—यह जानना। जन्म-मरणसे छूट गये न!

इस सूक्ष्म-शरीरका स्वर्ग-नरकमें आना-जाना मेरा आना-जाना नहीं है। पापी होना, पुण्यात्मा होना, सुखी होना, दुःखी होना यह मनका है, मेरा सुखी-दुःखी होना नहीं है। कितने अनर्थोंसे बच गये? मनका शोक-मोह मेरा शोक-मोह नहीं है। मनकी सुषुप्ति और मनकी समाधि न मेरी सुषुप्ति, न मेरी समाधि। संसारके सारे बन्धन, सारे कर्तव्य, सारे प्राप्तव्य, सारे त्यक्तव्य, सारे ज्ञातव्य समाप्त हो गये। बिना किसी भारके विश्राम प्राप्त हुआ।

सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति होकर परमात्माकी प्राप्ति हुई, यह वेदांतका प्रयोजन है। अपना अस्तित्व ज्ञात है और ब्रह्मता अज्ञात है। इस ज्ञाताज्ञातके सम्बन्धसे माने सामान्यरूपसे आत्माका अस्तित्व ज्ञात है परन्तु विशेषरूपसे ब्रह्मत्व ज्ञात नहीं है, इसलिए—जिज्ञासा करनी चाहिए, जानना चाहिए।

जाननेसे इस प्रयोजनकी सिद्धि होती है कि जिन चीजोंके कारण तुम डर रहे हो, कि हाय-हाय! फिर मरेंगे, फिर जनमेंगे! नरकमें जायेंगे, स्वर्ग-में जायेंगे; जिन कारणोंसे तुम दिनभरमें अपनेको हजार बार पापी-पुण्यात्मा, शोक-मोहसे ग्रस्त समझते हो; इन सब दुःखोंको मिटानेवाला यह ज्ञान है, इसलिए सप्रयोजन है।

तुम्हारे प्रियरूप—आनन्दरूपकी अनन्तता, उसकी अद्वयता, उसकी सर्वात्मकता प्रगट करनेके लिए वेदांतज्ञानकी जरूरत है।

अब यह प्रश्न हुआ कि यह बात तो ठीक है, लेकिन श्रुति भी वेदांत की सृष्टिका प्रतिपादन तो करता ही है। 'तो फिर? वेदांत झूठा पड़ जायगा

जब यह कहोगे कि ब्रह्ममें कुछ हुआ ही नहीं। एक ओर तो श्रुति कहती है कि 'ब्रह्ममें सृष्टि हुई' और एक ओर तुम कहते हो कि—'ब्रह्ममें सृष्टि हुई नहीं !' न ब्रह्मके बाहर सृष्टि न ब्रह्मके भीतर सृष्टि ! तो तुम खुद ही श्रुतिके विपरीत बोल रहे हो !

यह बात तो हम तुम्हें पहले समझा चुके हैं कि—

'उपाय-सोऽवताराय' । (कारिका १५)

यह तो ब्रह्म समझनेका एक उपाय है। इस तरहसे हम समझते हैं कि सृष्टि प्रकृतिसे, परमाणुसे, शून्यसे या चित्तसे नहीं बनी है या नित्य नहीं है। यह परमात्मामें विवर्तमात्र है। परमात्माके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है। यह समझनेके लिए यह उपाय है।

'सो तो ठीक है, लेकिन यह बताओ कि तुम जो यह कहते हो कि सारी श्रुतियाँ इस बातमें संगत होजाती हैं कि ब्रह्म अद्वितीय है तो क्या सृष्टि श्रुतियोंके जो अक्षर हैं, वे तुम्हारे अद्वितीय पक्षके अनुलोम पड़ते हैं ?' अर्थात् ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है, ब्रह्म-ही-ब्रह्म है, इससे उनका कोई विरोध नहीं है ? बोले—'हाँ, सारी श्रुतियोंके सृष्टि-प्रतिपादक जितने मंत्र हैं, वे सब अद्वैतके अनुकूल हैं।

'तो फिर वही गुर बता दो न जिससे यह मालूम पड़े !' अच्छा तो सुनो—

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा श्रुतिः ।

एक बच्चा आया सिनेमा देखकर। उसने सिनेमाको कथा सुनानेकी कोशिश की—'एक लड़की थी, एक लड़का था। दोनोंमें प्रेम होगया। दूसरे लोगोंने वड़ी बाधा डाली। अंतमें वर्णन किया कि कैसे-कैसे विघ्नोंसे उन्होंने लड़ाईकी और क्या हुआ।'

एक दूसरा आदमी आकर सच्ची घटना सुनाने लगा कि हमारे पड़ोसमें 'ऐसा-ऐसा हुआ।' दोनों एक ही तरहका वर्णन करें। वह भी कहे लड़की, वह भी कहे लड़की, वह भी कहे लड़का, वह भी कहे लड़का। वह भी कहे दोनोंमें प्रेम, दोनोंका ब्याह और वह भी कहे दोनोंमें प्रेम, दोनोंका ब्याह। घटना तो जैसे सच्ची सुनायी जाती है, वैसी ही कल्पित भी सुनायी जाती है। कोई फरक नहीं होता है। परन्तु सच्ची-झूठी (कल्पित) का फरक होता है।

आपको मालूम होगा, बंगालमें एक बहुत बड़ा मुकदमा चला था। उसमें एक गवाह पेश किया गया था। वह गवाही दे रहा था—'हाँ साहब, उन्होंने हमारे सामने ऐसा किया। बम बनानेकी सामग्री ले आये हमारे सामने

हमने देखा। हम भी थे। हमने उनको बम ले जाते देखा, हम साथ ही थे।' फिर उसने कहा—'हमने इनको बम फेंकते देखा।' जज एकदम आश्चर्यचकित बिलकुल चश्मदीद गवाह! आँखों देखी घटनाका वर्णन कर रहा है। गवाहने आगे कहा 'जज साहब! इसने बड़े जोरसे बम फेंका और धड़ाका हुआ, तो हमारी नींद टूट गयी।'

जज—'तो क्या यह सपना था?'

गवाह—'हाँ साहब, सब सपना था।'

अब बताओ! वर्णन करनेमें क्या फरक हुआ? सचमुच ऐसा मुकदमा चला था। बंगालमें, अंग्रेजोंके जमानेमें किसी क्रांतिकारीको पकड़के उन लोगोंने मुकदमा चलाया था। उन्होंने ५०० रु. में झूठा गवाह तय किया था। सामने वालोंको जब पता चला तो उन्होंने एक हजारका संकेत किया। इसपर उसने गवाही चौपट कर दी।

घटना चाहे सिनेमाकी हो या कल्पनाकी हो, उसका जब वर्णन किया जाता है, तब ऐसे ही किया जाता है, जैसे सच हो! वह तो अंतमें देखना पड़ता है, कि यहाँ वर्णन करनेवालेका अभिप्राय क्या है?

इसी प्रकार जो सृष्टिका वर्णन है, उसमें यथार्थ वस्तुसे सृष्टि हुई हो तो और मायिक वस्तुसे सृष्टि हुई हो तो, जब इसके क्रमका वर्णन करेंगे, तब बिलकुल एकही ढंगसे किया जायगा। अंतमें कह दिया कि 'यह सब सपना है; तो सब वर्णन नष्टभ्रष्ट हो जायगा कि नहीं हो जायगा?

बोले—'तो वेद-शास्त्र-पुराणमें जो सृष्टिका वर्णन है, उसमें वेद वर्णन करते-करते अंतमें कह देते हैं 'ना ना' तो कुछ है ही नहीं।

नेह नानास्ति चाम्नायात। (कारिका २४)

और वह कह देते हैं कि—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (बृहद. २.५.१९)

मायाके रूप हैं। तो यह गंधर्वनगर है, यह तो स्वप्नवत् है। यह तो मानसी रचना हैं। ठसाठस-ठोस अधिष्ठानमें यह तो कल्पना हैं।

इस तरहका वर्णन मिलता है कि वर्णन पढ़ते-पढ़ते, कहानी पढ़ते-पढ़ते तन्मय होजाते हैं, कभी-कभी नाटक देखते-देखते मनुष्य तन्मय हो जाते है।

'नीलदर्पण'की एक कहानी है—ईश्वर चन्द्र विद्यासागर नाटक देखते-देखते इतने तन्मय हो गये और नाटक इतना सच्चा लगा कि जूता निकाल-

कर, हाथमें लेकर नाटकके मंचपर चढ़ गये और जो नट, एक्टर था, उसको रंग-मंचपर ही पीटना शुरू कर दिया। नाटक बंद हुआ। इससे नाटककी प्रशंसा ही हुई कि नाटक इतना बढ़िया हुआ कि जिसको देखकर ईश्वरचन्द्र विद्यासागरको भी भ्रम होगया कि यह सच्चा है।

वर्णन तो वह, जादू तो वह, जो सिरपर चढ़कर बोले। सृष्टिका वर्णन तो ऐसा करना, जैसे बिलकुल सच्चा लगे। और अन्तमें ? अन्तमें—न ब्रह्ममें सृष्टि होती है, न ब्रह्ममें सृष्टि लीन होती है; इस समय इन्द्रियोंके कारण यह सृष्टि मालूम पड़ती है—

इन्द्रियायन सृष्टचेदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि।

यह इन्द्रियायन सृष्टि है। इन्द्रियायन सृष्टि काहे से है ? अविद्यायन सृष्टि है। यह सारी-की-सारी सृष्टि केवल अनजानपनेके कारण भास रही है।

मैंने अखबारमें पढ़ा—आजकल अमेरिकामें कोई एक रस निकला है। उसको पीकर जवान लोग बेहोश हो जाते हैं और फिर जब होशमें आते हैं, तो स्वर्गका वर्णन करते हैं—'मैं स्वर्गमें होकर आया हूँ, ऐसी अप्पसरा थी और ऐसा पार्क था।'

बनारसमें एक माता थीं, अब हैं कि नहीं यह तो मैं नहीं बता सकता हूँ। २०-२५ बरससे मालूम नहीं है। वह दस-बारह बरसके, बच्चोंको छाँट-छाँटकर बैठाती थीं। बीस-पच्चीस बच्चे बैठते और वह लेकर हार्मोनियम कीर्तन करने लगतीं। वे बच्चे पहले तो ताली पीटते, फिर आँख बन्द कर लेते, फिर सिर हिलाने लगते, उसके बाद शान्त हो जाते। उसकी आवाजमें ऐसा कुछ जादू था, वह थी तो थियोसोफिकल सोसायटीकी सदस्या, लेकिन वह करती थीं कीर्तन। बच्चे आँख बंद करके भावमग्न हो जाते। उसके बाद कीर्तन करते करते बच्चे वहीं गिर पड़ते। फिर वह उनको धीरे-धीरे उठाती और एक-एकसे पूछती—'तुमको क्या मालूम पड़ा।'

कोई बताता—'हम जब कीर्तन करते-करते बेहोश हो गये, तो ऐसा लगा कि एक नदी बह रही है, वहाँ एक बगीचा है, वहाँ ग्वाले हैं, वहाँ स्त्रियाँ पानी भर रही हैं। वहाँ फिर एक काला-काला बालक आया'। कोई बताता 'हम उड़ने लगे। उड़ते-उड़ते हमने ऐसा देखा, ऐसा देखा। ऊँचे जाकर देखा, वहाँ एक चार हाथवाला पुरुष बैठा हुआ था।' कोई बताता—'हमने पहाड़ देखा और पहाड़पर शिवजी थे।' ये सब बालक ऐसा वर्णन करते थे जैसे सचमुच देखा हो, उस स्त्रीकी मानसिक शक्ति बड़ी प्रबल थी और वह उन

सबको कीर्तन करते-करते 'हिप्नोटाइज' कर देती थी जिसका जैसा मन होता, जैसा संस्कार होता, वैसा देखता और देखकर उसका यथार्थ ही वर्णन करता।

वास्तवमें यह सृष्टि हुई है या नहीं हुई है—जैसे कोई जादूगर अपने खेलमें सृष्टि बना दे, वैसी दीखती है। सृष्टिके दीखनेमें वह सच्ची है कि झूठी है, मिथ्या है कि सत्य है-- इसका निर्णय हम बादमें करेंगे। लेकिन पहले यह बात तो समझ लो कि मिथ्याका वर्णन करनेमें और सत्यका वर्णन करनेकी रीतिमें और शब्दावलीमें कोई फरक नहीं होता है।

सारा वर्णन करके आदमी अंतमें यदि कह दे कि हमने कल्पना करके वर्णन किया है, तो उस वर्णनका अर्थ क्या होगा ? वह तो जैसे सपना टूट गया ऐसे होगा न ! श्रुतिमें यदि कहीं सृष्टिका वर्णन आया है, तो वह मायासे रचित सृष्टिका वर्णन आया है, जादूके खेलका वर्णन आया है, सच्ची सृष्टिका वर्णन नहीं आया है।

सृज्यमाने समा श्रुतिः।

श्रुति तो दोनों हालतमें बराबर ही वर्णन करती है। दोनोंमें-से जो निश्चित हो और युक्तियुक्त हो, उस बातपर विचार करें। क्योंकि किसी भी बातको कहानी बना देना, यही ता सब जगह नहीं बन सकता। कुछ भी कह दिया और बोल दिया कि 'यह तो कहानी है'—'यह तो सपना है'—'यह तो जादूका खेल है।'

ऐसा नहीं हो सकता। आर्यसमाजियोंमें एक बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति थे—'आर्यमुनि।' उत्तर प्रदेशमें बहुत प्रसिद्ध थे। उन्होंने आर्यसमाजियोंकी ओरसे 'ब्रह्मसूत्र' पर संस्कृतमें टीका लिखी है। हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि वे वेदशास्त्रके बड़े विद्वान् थे। उनको लड़कीकी शादी करनी थी। वे 'रामघाट' आये 'बाबूजी'के पास। 'बाबूजी'की उमर २१-२२ बरसकी थी। उनकी पहली पत्नी मर गयी थी, इसलिए दूसरा ब्याह करनेका विचार था। परन्तु 'बाबूजी' तो विरक्त थे। उनकी वेदान्तमें रुचि थी। ब्याह करनेका तो उनका खयाल ही नहीं था।

'आर्यमुनिजी' आकर उनको समझाने लगे कि 'तुम स्वस्थ हो, सुन्दर हो, सम्पन्न हो, उमर थोड़ी है, तुमको विवाह कर लेना चाहिए।'

बाबूजी बोले—'यह सब तुम्हारा भ्रम है। मैं तो ब्रह्म हूँ। न स्वस्थ हूँ, न सम्पन्न हूँ, न ब्राह्मण हूँ, न समझदार हूँ, मैं तो ब्रह्म हूँ। यह सब जो तुमको मालूम पड़ता है, यह तुम्हारा भ्रम है।'

'आर्यमुनि' बड़े भारी विद्वान् ! उन्होंने समझाना शुरू किया कि—'नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह संसार सत्य है। तुम्हारा जो ख्याल है कि यह माया है, यह स्वप्न है, यह इन्द्र जाल है, यह सब झूठी बात है।'

'आर्यमुनि' जितनी-जितनी बात कहते जाँय उसके बादमें बाबूजीने—जैसे गानेके अन्तमें टेक होती है, एक टेक बना ली कि—'यह तो तुम्हारा भ्रम है। और देखो, परमार्थ सत्तामें यह सब कुछ नहीं है।'

वे तो बेचारे इतने विद्वान्। दिन भर समझाकर हार गये। बात नहीं बनी। तो सब बातको अगर ऐसे ही भ्रम कहते जाँय तो वह नहीं बनता है न ! उसको समझना पड़ता है।

गौणमुख्ययोर्मुख्ये शब्दार्थप्रतिपत्तिः।

किसीने कोई बात कही तो जहाँ तक असली अर्थमें बात मानी जा सकती है, वहाँ तक उसकी बातको गौण नहीं बनाना चाहिए। जब वेदने सृष्टिका वर्णन किया और वह सत्य हो सकती है, तो मिथ्या क्यों मानना ? मिथ्या होनेकी कल्पना क्यों करना ?

बोले—धर्म-पुरुषार्थोंके लिए सृष्टि सत्य है, क्योंकि उसको तो धर्म-अधर्मका दो भेद है। अधर्म छोड़ना और धर्म करना। जो भगवद्भजन करता है, उसके लिए संसारकी ओरसे मन हटाकर भगवान्में मन लगाना सच्चा है। जिसको धन कमाना है, उसको अपनी दुकान और अपना व्यापार मिथ्या नहीं समझना चाहिए। यह उसके लिए नहीं है।

जिसको इस लोकमें और परलोकमें भोग भोगना है उसके लिए भी सृष्टि मिथ्या नहीं है। जो असलमें सच्चाईका जिज्ञासु है, सत्यको जानना चाहता है, परमानन्दको प्राप्त करना चाहता है, वह ऐसे बोलता है कि सृष्टि मिथ्या है। वैसे तो वह स्वयं परम सत्य है, वह स्वयं सच्चा ज्ञान है, वह स्वयं परमानन्द है।

क्या वह सत्यको पाना चाहता है ? सत्य ज्ञानको पाना चाहता है ? सच्चे आनन्दको पाना चाहता है ? पाना क्या है उसमें ? पानेके अर्थमें यह अर्थवाद है। क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है। वह स्वतःसिद्ध सत् है, वह स्वतःसिद्ध ज्ञान है, वह स्वतःसिद्ध आनन्द है और स्वतःसिद्ध आनन्द बना भी, तो वह असत्, अचित् और दुःखकी व्यावृत्तिके लिए कल्पित है।

यहाँ तक कि परमात्माका यह अजत्व भी जायमानत्वके निषेधके लिए ही कल्पित है। यह सब होनेपर भी जो मोक्ष-पुरुषार्थको चाहता है कि हम

संसारी बन्धनसे छूट जायँ, सांसारिक जलसे निकल जायँ, तो ठीक है, ऐसा जानो कि परमात्मामें यह सृष्टि नहीं है और बिलकुल निष्प्रयोजन है।

चाहे सृष्टिका वर्णन करनेवाली कोई भी श्रुति हो, वह अविद्या-विषयक सृष्टिका अनुवाद करनेके लिए ही है। 'क्यों?' श्रुति कहती है कि—

'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।' (मुण्डक २.१.२)

अजन्मा-ही-अजन्मा है, बाहर भी, भीतर भी। तो जब अज-ही-अज है, इससे श्रुति बाह्य और आभ्यन्तर दोनोंका निषेध कर देती है।

विधान-श्रुतिसे निषेध-श्रुति प्रबल होती है। विधानकी श्रुति एक कानून है—यह करना, यह करना, यह करना। एक दूसरा कानून बना दिया कि—'नहीं, अब यह करनेको मना करते हैं', तो निषेध श्रुति प्रबल हो जाती है।

व्याकरणमें भी यही नियम है कि उपसर्गकी अपेक्षा अपवाद प्रबल होता है। नियम बना देते हैं कि इस नियमसे यह प्रत्यय होता है। फिर नियम बना देते हैं कि इन-इन धातुओंमें, इन-इन स्थितियोंमें यह नियम लागू नहीं होता है, तो नियमका अपवाद नियमसे भी बलवान् होता है।

इसी प्रकार सृष्टिके प्रतिपादनसे सृष्टिका निषेध बलवान् होता है; क्योंकि सृष्टिका प्रतिपादन सृष्टिके व्यवहारकी दृष्टिसे है और निषेध परमार्थ ज्ञान करानेकी दृष्टिसे है। जो परमार्थ ज्ञानका इच्छुक है, उसे—'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'—ऐसी श्रुतिके बलपर सृष्टि-श्रुतियोंके गौण और निषेध-श्रुतिको मुख्य मानना चाहिए। नेति-नेति। इसलिए श्रुतिसे निश्चय किया गया—

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। और 'अजं अमृतम्।'

यह युक्तियुक्त है। श्रुतिने भी युक्ति देकर उसका निश्चय किया है। इसलिए श्रुतिका अर्थ यही है कि सृष्टिका जो वर्णन श्रुतिमें है, वह तो जैसा बच्चेको दीखता है, जैसा सपना दीखता है, उसका अनुवाद है और जो सच्ची बात है, परमार्थ है, वह यह है कि 'अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है।'

वेदान्तके मार्गमें चलनेमें बड़ा आनन्द आता है। पहले तो लगता है कि समझमें नहीं आता, बोर हो गये (ऊब गये), लेकिन पीछे ऐसा लगता है कि क्या गागरमें सागर भरा हुआ है। ऐसा मालूम पड़ता है वेदान्त ज्ञानमें कि दुःखमें सुखका स्रोत है; विक्षेपमें समाधि है; व्यवहार भी परमार्थ रूप है। पहले थोड़ी तकलीफ जरूर होती है वेदान्त समझनेवालेको, लेकिन बादमें तो यह बड़ी जीवन्त मजा देनेवाली चीज है। श्रुतिमें मायासे ही सृष्टि रचना है—

: १० :

श्रुतिसे मायासे ही सृष्टि रचना है

नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ॥२४॥

अर्थ :—'नेह नानास्ति किंचन', 'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते' तथा 'अजायमानो बहुधा विजायते'—इन श्रुतियोंके अनुसार वह परमात्मा मायासे ही उत्पन्न होता है।

पिछली कारिकामें बताया—'निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत्।' कोई कहानी सुनावे चाहे सच्ची घटना सुनावे, सुनानेकी प्रक्रियामें कोई भेद नहीं होता। जब कह दिया जाय कि 'यह कहानी है'—तो लोग समझें कि कहानी है। यह बता दें कि 'यह सच्ची घटना है', तो लोग समझें कि सच्ची घटना है। परन्तु सुनानेमें फरक नहीं होता।

कहानी पढ़ते समय मनमें विकार वैसे ही होते हैं, जैसे सच्ची घटना पढ़ते हैं। कहानी पढ़कर रोना भी आता है और हँस-हँसकर लोट-पोट भी हो जाते हैं। कहानी पढ़ते समय कोई ऐसी समस्या आती है कि उसको हल करनेमें गंभीर हो जाते हैं। उसमें भूत मालूम पड़ता है, उसमें भविष्यकी कल्पना होती है, उसमें वर्तमान मालूम पड़ता है।

कहानी पढ़-पढ़कर कितनी बार रोना आता है! मैंने 'शरच्चन्द्र' की कहानियाँ पढ़ी हैं, 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर'की कहानियाँ पढ़ी हैं, 'प्रेमचन्द्र'की कहानियाँ पढ़ी हैं। जितनी कहानियाँ पढ़ी हैं, उनके लेखकोंके और कहानियोंके नाम भी नहीं बता सकता। प्रत्येकके पढ़नेमें कुछ-न-कुछ संवेदना वैसी ही हुई है, जैसी सच्ची घटना पढ़ते समय होती है।

नाटक-सिनेमा देखकर रोना आता है। जब यह बात बता दी जाती है कि यह घटना मायामात्र है, तो उसका अर्थ होता है कि वह वस्तुका प्रतिपादन करनेके लिए नहीं है, उसके द्वारा कुछ सिखाना उद्देश्य है। किसी कामसे बच्चेको कोई कहानी सुनाते हैं, तो उसका वह मतलब नहीं है कि वैसा हुआ या वैसा है। उसमें वह बात होती है, जो हम सिखाना चाहते हैं।

बचपनमें हम लोगोंने एक कहानी पढ़ी थी—एक आदमी था, वह खलिहानमें सोता था। वह रातमें झूठे ही चिल्लाता था—'भेड़िया आया, भेड़िया आया, गाँवके लोग बेचारे लाठी ले-लेकर उसे बचानेके लिए दौड़ते। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन! अब लोग समझ गये कि भेड़िया आता नहीं है, वह झूठ-मूठ चिल्लाता है।

एक दिन सचमुच भेड़िया आगया। अब वह चिल्लाया कि 'भेड़िया आया, भेड़िया आया!' गाँवमें-से कोई नहीं गया। भेड़िया उसको खा गया।

इसका मतलब क्या हुआ? कहानीका यह अभिप्राय नहीं है कि ऐसा कभी हुआ। भेड़िया किसीको कभी खागया कि नहीं खागया। यह तो जो लोग ऐतिहासिक अनुसन्धान करते हैं, उनके सिरपर डाल दिया जाय। कहींसे भेड़ियेके पाँवका चिह्न ढूँढ लें या मरनेवालेकी हड्डी निकाल लें! ज्यादातर ऐसे ही खोज करते हैं।

बचपनमें यह कहानी पढ़ी थी। जब हम लोग पढ़ते थे, उसमें यह कहानी थी। इसका अभिप्राय भेड़ियाके आनेमें या आदमीके मरनेनें नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि आदमीको झूठमूठ इस तरहसे नहीं चिल्लाना चाहिए, क्योंकि झूठ बोलनेवाला बादमें तकलीफ पाता है, यह अभिप्राय है। इसी प्रकार शिक्षा देनेवाली जो कथाएँ होती हैं, उनके अभिप्रायको पकड़ना चाहिए। उनके अक्षरको पकड़कर, उनके तात्पर्यको पकड़ना चाहिए।

शास्त्रमें, श्रुतिमें वर्णन आता है कि एक परब्रह्म, परमात्मा सृष्टिके रूपमें हो जाता है—

स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति, पंचधा भवति।

तो वहाँ यह नहीं समझना कि चैतन्य फटकर, टुकड़े-टुकड़े होकर इतने रूपोंमें हो गया। श्रुतिकी जबान मत पकड़ना। उसमें जो अभिप्राय है, मकसद है, वक्ताका जो विवक्षित अर्थ है, मन्तव्य है उसको पहचानना चाहिए।

श्रुतिका मन्तव्य यह है कि परमाणु, प्रकृति आदि जगत्के कारण नहीं हैं। एक अद्वितीय चैतन्य ही जगत्के रूपमें भास रहा है। वह परिवर्तमान प्रपंचका वर्णन नहीं है, विवर्तमान प्रपञ्चका वर्णन है। अब श्रुति स्पष्ट रूपसे कहती है—

नेह नानास्ति किञ्चन। (कठ० २.१.११)

'इह' = इस परमार्थ तत्त्वमें; 'नाना' = अनेकता नामकी; 'किंचन न अस्ति' = कोई वस्तु नहीं है। यह आम्नाय है अर्थात् जो सम्प्रदायाविच्छेदसे अर्थात् न टूटनेवाले सम्प्रदायसे प्राप्त है और जिसके कर्ताका स्मरण नहीं, ऐसा अज्ञानज्ञापक वचन है, माने जिस चीजको किसी और तरहसे समझा नहीं सकते, उसको समझानेवाला वचन है।

आम्नान्-आम्नायते माने अपौरुषेय वेदवाणो, अपौरुषेय वेदवाणी कहती है कि यहाँ नाना नहीं है अर्थात् अनेकता नहीं है; क्योंकि अधिष्ठान एक है; क्योंकि द्रष्टा एक है; क्योंकि श्रुति द्रष्टा और अधिष्ठानको एक बताती है; क्योंकि चैतन्य और सत्ताको एक बताती है।

यदि केवल सत्ता-ही-सत्ता जगत्के मूलमें होती, चैतन्यता न होती, तो वह फूटकर प्रपञ्च बन जाती। क्योंकि सत्तामें परिवर्तन नहीं होता या सत्तामें जन्म नहीं होता—यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है। लेकिन वह सत्ता तो चैतन्य है, प्रत्यक् चैतन्य है, अपना स्वरूप है। और चैतन्य सत्तामें जन्म नहीं होता, यह समझाना बड़ा आसान है, क्योंकि अपना आपा तो हर हालतमें साक्षी ही रहता है। यदि अपना रूपान्तर होवे, अपनेमें परिवर्तन होवे, अपना ही जन्म होवे तो उस जन्मका साक्षी कौन होगा ?

थोड़ी 'आम्नाय'की बात सुनाते हैं। आम्नाय माने वेद। आप जानते हैं कि भारतीय वाङ्मयमें, हिन्दूधर्ममें, और हिन्दूधर्ममें भी सनातन, वैदिक धर्ममें वेदको अनादि और अपौरुषेय माना जाता है। एक तो, किसी पुरुषने वेदको बनाया नहीं और दूसरे, किसी देश-कालमें यह पैदा नहीं हुआ। तीसरे, इसकी आनुपूर्वी जोड़ी नहीं गयी। अर्थात् जोड़-जोड़कर ये वेद-मन्त्र नहीं बनाये गये।

आजकलके हमारे बाबूलोग सुनें तो उन्हें पहले तो मालूम पड़ेगा कि यह बिलकुल अवैज्ञानिक, अन्धविश्वासी 'दकियानूसी' बात है। परन्तु इस बातका अभिप्राय यह है कि वेद विद्या है। विद्या है माने ज्ञान है। ज्ञानकी उत्पत्ति भी ज्ञानसे ही सिद्ध होती है। अगर पहले ज्ञान न हो, तो उत्पत्ति ही सिद्ध नहीं होगी।

कहो—प्रकृतिसे ज्ञान पैदा हुआ ? तो प्रकृतिमें जो ज्ञान लीन रहता है, वही प्रकृतिमें-से निकलता है। प्रकृति माननेवालोंने भी यह नियम माना है। प्रकृतिसे असत् कार्य उत्पन्न नहीं होता है। प्रकृतिमें जो ज्ञान पहले मौजूद रहता है, वही प्रकृतिमें पैदा होता है।

कहो कि परमाणुओंको जोड़कर ज्ञान बनता है, तो परमाणु जड़ है, दृश्य है। एक परमाणु यदि ज्ञान नहीं है, तो दो परमाणुओंको जोड़नेसे ज्ञान कहाँसे पैदा होगा ? इस बातको तो कोई मानते ही नहीं है कि परमाणुओंको जोड़कर ज्ञान पैदा होता है।

अच्छा, तो कहो कि ईश्वरने ज्ञान बनाया। यह बात तो बड़ी युक्तियुक्त जँचती है। तब आपको दो तरहका ज्ञान मानना पड़ेगा। एक तरहका ज्ञान पहलेसे ईश्वरमें रहता है और दूसरी तरहका ज्ञान ईश्वर बनाता है। क्योंकि ईश्वर ज्ञान बनावेगा तो ज्ञानसे बनावेगा कि अज्ञानसे बनावेगा ? ज्ञान बनानेके पहले ईश्वरमें ज्ञान था कि नहीं था ? ईश्वर भी ज्ञान बनानेवाला सिद्ध नहीं होता है। ज्ञानसे जो मालूम पड़े सो ईश्वर होता है, ज्ञान बनानेवाला ईश्वर नहीं होता है।

वेद असलमें ज्ञानके अर्थमें है। विद्या ज्ञानका बहिरंग रूप है माने हृदयमें उतरा हुआ रूप है। वेद जो शब्दराशि है, वह तो अपराविद्या है। वेदविद्या किसीके द्वारा निर्मित नहीं है। अकृत्रिम है। इसका रचनाकाल, रचनादेश और रचयिता—ये सब सिद्ध नहीं होते। भले ही अवैज्ञानिक होवे कोई यह सिद्ध नहीं कर सकता कि ज्ञानकी उत्पत्ति कब हुई।

ज्ञानकी उत्पत्ति बतानेके लिए उत्पत्तिसे पूर्व ज्ञानका होना आवश्यक होगा जिसने उत्पत्तिको देखा। उत्पत्तिको देखना बिना ज्ञानके सिद्ध ही नहीं होता। यह आपको एक नमूनेकी बात सुनायी। इसलिए वेदविद्यापर उपनिषद्-विद्यापर बहुत विश्वास करना चाहिए।

अब पौरुषेय-अपौरुषेयकी भी थोड़ी बात बताता हूँ। वेदको अपौरुषेय क्यों कहते हैं? संसारमें पहले यह होता है कि बच्चा पहले घड़ी देखता है तो उसको गिनती बता देते हैं—१, २, ३, ४, ५, ६, ७.... और उसपर सूई घूमते हुए समझाते हैं कि यह बड़ी सूई है, यह छोटी सूई है। जब वह आँखसे देख लेता है, अच्छी तरहसे समझ लेता है, तब उसे घड़ी देखनेका ज्ञान पैदा हो जाता है। यह ज्ञान क्या हुआ? यह पौरुषेय ज्ञान हुआ। इन्द्रियोंसे देख-देखकर जो ज्ञान संचित रहता है, उसको पौरुषेय ज्ञान कहते हैं।

आजकल व्यवहारकी भाषामें जिसको ज्ञान कहा जाता है, वह ऐन्द्रियक अनुभवका, मानस अनुभवका, बौद्धिक अनुभवका अनुवाद है। आजकल जिसको ज्ञान बोलते हैं, वह बुद्धिवाद है। डॉक्टरने सौ रोगियोंपर प्रयोग करके किसी औषधिका निश्चय किया। शरीरमें कौन-सा तत्त्व है और कौन-सा तत्त्व नहीं है, उसे भरनेके लिए या निकालनेके लिए क्या करना चाहिए, यह डॉक्टरके जीवनका अनुभव है, जिसको बुद्धिवाद बोलते हैं। बुद्धिजीवी, बुद्धिमान्, बुद्धिवान् हम लोग बड़े बुद्धिमान्, बड़े वैज्ञानिक। यह इन्द्रियवादका पिछलग्गू है। पहले इन्द्रियोंसे कुछ अनुभव हो ले तब बुद्धिमान!

कहो कि—नहीं-नहीं, इन्द्रियोंसे बुद्धिमान नहीं, खुर्दबीनसे। परन्तु आँख न हो तो कोई खुर्दबीन लगाकर बता दे! आँखसे मतलब आँखका चाम नहीं, देखनेकी शक्ति।

ऐसा भी कभी हो सकता है कि बाह्य चामको इतना साफ कर दिया जाय कि जो आँखसे झाँकता है, वह बाह्य चामसे झाँकने लग जाय। क्योंकि जो रूप-तन्मात्रा है वह केवल आँखमें ही सीमित हो, सो बात तो है नहीं।

सात्त्विक-रूप-तन्मात्राएँ सारे शरीरमें व्याप्त हैं। इसलिए सारे शरीरमें आँख कहीं भी बन सकती है और कान भी कहीं भी बन सकता है, इसको असम्भव नहीं मानना।

हम वैज्ञानिक उन्नतिको इतना स्वीकार करते हैं। वह चाहे तो शरीरमें कहीं भी नाक बना दे, जीभ बना दे। क्योंकि समूचे शरीरमें गंध-तन्मात्रा और रस-तन्मात्रा व्याप्त है। इन्द्रियका गोलक शरीरमें कहाँ रहे, इसमें तात्पर्य नहीं है। कहीं भी गोलक प्रकट हो जाय और वहाँसे शब्द-स्पर्श, रूप-रस, गंध अनुभव होने लगे और उनके अभावका अनुभव होने लगे। तब भी उसका नाम ऐन्द्रियक अनुभव ही होगा। उसका नाम कुछ दूसरा नहीं होगा।

ऐन्द्रियक अनुभवका संस्कार ग्रहण करके जो मन ध्यान करता है, जो चिंतन करता है, जो निश्चय करता है, वह तो इन्द्रियोपजीवी हुआ न! माने इन्द्रियका नौकर हुआ। उसके आधारपर बुद्धि जो निश्चय करती है, वह भी इन्द्रियकी नौकर हुई। तो बाहर इन्द्रियोंसे और मशीनोंसे जो अनुभव ग्रहण कर-करके हम हृदयमें संचित करते हैं, उसका नाम 'पौरुषेय ज्ञान' होता है तथा इन्द्रियोंका, मनका, बुद्धिका और सचित संस्कारका अपवाद करके, जो न विकृत है, न संस्कृत जो विकार और संस्कारका साक्षी है, जो प्रकृत नहीं प्रकृतका भी साक्षी है—वह सहज ज्ञान अपौरुषेय है।

एक विकृत, एक संस्कृत और एक प्रकृत। सहज कामक्रोधादि विकृत हैं। 'यह दुश्मन है'—यह विकृत अनुभव है। 'यह महात्मा है'—यह संस्कृत अनुभव है। 'यह प्राणी है' या 'यह मनुष्य है'—यह प्रकृत अनुभव है।

काम, क्रोध, लोभ आदिसे जो अनुभव होते हैं वे विकृत अनुभव हैं।

धर्म संस्कारके द्वारा अंतःकरणको शुद्ध करके, संस्कृत करके—संस्कार-संपन्न करके—जो अनुभव होते हैं, वे संस्कृत अनुभव हैं।

बिना विकृति और बिना संस्कृतिके जो अनुभव होते हैं, वे प्रकृत अनुभव हैं।

लेकिन, इन सबका साक्षी जो आत्मदेव है, उसका अनुभव यंत्रसहकृत इन्द्रियोंके द्वारा या यंत्ररहित इन्द्रियोंके द्वारा या विकृत इन्द्रियके द्वारा या संस्कृत इन्द्रियके द्वारा या प्रकृत इन्द्रियके द्वारा—किसी भी इन्द्रियके द्वारा होना शक्य नहीं है। इसीलिए पौरुषेय अनुभवकी जहाँतक गति है—इन्द्रियोंमें, मनमें, बुद्धिमें, वह सब-का-सब लौकिक अनुभव है। उसको अपौरुषेय अनुभव नहीं कहते।

अपौरुषेय अनुभव वेद-भगवान् बतावेंगे। ज्ञानकी आदि नहीं होती और ज्ञानका अन्त नहीं होता। ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। जो उत्पत्तिशील होगा, वह तो नाशवान् होगा। इसलिए उसमें 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग गौण रूपसे किया जायगा, मुख्य रूपसे नहीं। आजकल ज्ञानके नामसे संपूर्ण विश्वमें जो वस्तु प्रचलित है, वह केवल पौरुषेय ज्ञान है, माने विकारजन्य ज्ञान है, संस्कार जन्य ज्ञान है अथवा प्रकृत ज्ञान है।

परंतु प्रकृत, संस्कृत और विकृतसे विलक्षण और इनको सिद्ध करनेवाला जो ज्ञान है, वह अपौरुषेय ज्ञान है। वह पौरुषेय है ही नहीं। तो ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं, ज्ञानका अंत नहीं, ज्ञानका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं। ज्ञानमें अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव भी नहीं है। यह ज्ञानका स्वरूप है।

ऐसे ज्ञानकी बोधक जो शब्दराशि है, उसको भी हम अपौरुषेय ज्ञानकी बोधक होनेके कारण अपौरुषेय बोलते हैं।

जैसे प्रेसमें छपे हुए कागजोंके बंडलका नाम अथवा अक्षरोंकी पंक्तिका नाम 'उपनिषद्'—नहीं है, अपितु उपनिषद् माने हृदयमें रहनेवाली विद्या होता है; परंतु उस विद्याकी बोधक जो पुस्तक है, उसको भी हम उपनिषद् कहते हैं। इसी प्रकार अपौरुषेय ज्ञानके बोधकको भी अपौरुषेय ज्ञान कहते हैं। इसीका नाम 'आम्नाय' होता है। इसी बातको हम ऐसे कह सकते हैं कि जिसको अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ, वह वेदकी अपौरुषेयताको भी नहीं समझ सकता। वह विश्वास करेगा, भाव करेगा, मानेगा, कहेगा, लेकिन वेदकी अपौरुषेयताका अनुभव उसको तब होगा, जब पौरुषेय ज्ञानको 'नेतिनेति'के द्वारा निषेध करके स्वयं पुरुषके रूपमें रह जायगा और अपने पुरुष-स्वरूपकी अद्वितीयताको जान जायगा। तभी वह समझ सकेगा कि अपौरुषेय ज्ञान क्या होता है। उस अनुभवका बोधक अपौरुषेय ज्ञान होता है। इसीको बोलते हैं आम्नाय माने परंपरा।

परंपरासे आम्नाय प्राप्त होता है। हमको हमारे गुरुसे, हमारे गुरुको अपने गुरुसे—अनादि गुरु-शिष्य सम्प्रदाय परंपरासे यह अविच्छेद्य रूपमें प्राप्त है।

अपौरुषेय ज्ञान कहता है कि नानात्व बिलकुल नहीं है। यह ज्ञानका निरूपण है। ज्ञानके स्वरूपमें नानात्व नहीं है।

जो लोग सृष्टिका विवेचन करते हैं, वे जब कालसंवित् और देशसंवित्को छोड़कर केवल वस्तुका विवेचन करते हैं, तब उनको सृष्टि सादि प्रतीत होती

है। 'यदि कालसंवित्, देशसंवित् और वस्तुसंवित् तीनों संवित्से, जो प्रकाशिका संवित् है वह देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं है—इस दृष्टिसे विचार करो तो यह वेदांत सचमुच जिज्ञासुको बतानेकी चीज है।

नेह नानेति चाम्नायात्—एक बार शिक्षाशास्त्री लोग वृन्दावनमें आये तो बोले—महाराज! हम चाहते हैं कि वेदांतका एक ऐसा कार्यक्रम बनाया जाय, कि निम्न कक्षासे लेकर उच्च कक्षातक सब बच्चोंको पढ़ाया जाय कि—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि।

यह तबकी बात है जब पिलानीमें बिरलाजीने शिक्षा-संस्थाकी स्थापना की थी।

पढ़ाना तो अच्छा है भाई! कौन मना करे? परंतु पढ़ानेके लिए तो संस्कृत यूनिवर्सिटी पढ़ाती है, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय पढ़ाता है, अंग्रेजीमें भी बहुत साहित्य हैं। लोग पढ़ते-पढ़ाते हैं ही, परंतु उसका ग्रहण कब होगा?

ग्रहण तब होगा, जब हमारी बुद्धि परिच्छिन्नका अपवाद करेगी, जब परिच्छिन्नकी ओरसे हटकर अपरिच्छिन्नको समझना चाहेगी, क्योंकि परिच्छिन्न बुद्धिमें बना रहे और हम अपरिच्छिन्नका ज्ञान प्राप्त कर लें, यह शक्य नहीं है। परिच्छिन्नके अपवादके लिए माने अपरिच्छिन्नका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए परिच्छिन्नका जो अपवाद करना पड़ता है, उस अपवादमें तबतक निष्ठा नहीं होगी जबतक वैराग्य और निवृत्ति मनमें नहीं होगी। अपवादके लिए यह उपयोगी है, किंतु वैराग्यसे ब्रह्मज्ञान नहीं होगा। ब्रह्मज्ञान तो महावाक्यसे होगा।

जिन परिच्छिन्न पदार्थों, भोगोंके प्रति वैराग्य है, वह निवृत्ति देता है। कर्मोंके प्रति वैराग्य है, तो वह निवृत्ति देता है। निवृत्तिकालमें अपवादकी शक्ति जाग्रत होती है। वह जब परिच्छिन्नका अपवाद कर देगी, तो अपरिच्छिन्नके आश्रयमें वृत्ति समा जायगी। वृत्ति अपनेको अपरिच्छिन्न अधिष्ठानसे भिन्न नहीं दिखावेगी। फिर जब वृत्ति उठेगी तो कहेगी कि 'यह तो अपरिच्छिन्न ही अपरिच्छिन्न है।'

इस परिच्छिन्नके अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें, वृत्तिके अभावके अधिकरणमें भासमान जो वृत्ति है, वह स्वयं मिथ्या है। वृत्त्यारूढ चैतन्य यह ज्ञान करा देगा। ज्यादा नहीं, कम-से-कम यह बात समझो कि यह आम्नाय, यह उपदेश, धर्म और अधर्मका यह भेद सन्मूलक नहीं है, उपदेशमूलक है।

इस बातको आजकलके अधकचरे लोग नहीं समझते। इस बातकी प्रगतिशीलताको, इस बातमें जो क्रान्ति है उसको वे नहीं समझते। ये (आम्नात्) कहते हैं, 'धर्म-अधर्मका भेद द्रव्यमें नहीं है। धर्म अधर्मका भेद क्रियामें, भावमें, स्थितिमें नहीं है। धर्म-अधर्मका भेद तत्त्वमें नहीं है।'

जैसे कोई बहुत बड़ा भौतिकवादी कहे कि—'हमने मिट्टीका अनुसन्धान करके देखा कि मृत्तिकामें धर्म-अधर्म नहीं है। उसने अनुसन्धान करके बताया कि जल-जलमें भेद नहीं है। पवित्र नर्मदा जल और सामान्य जलमें भेद नहीं है। इसलिये जलमें धर्माधर्म नहीं है।

भौतिकवादी अनुसन्धान करके कहता है—'एक गण्डकीकी शिलामें हमें कोई भेद नहीं लगता है।' धर्माधर्म पत्थरमें नहीं है। वह कहता है—'हमको तो ऐसे हाथ करनेमें और वैसे हाथ करनेमें कोई भेद नहीं लगता।' अर्थात् धर्म-अधर्मका भेद क्रियामें नहीं है।

'आँख बन्द करके यन्त्राकार-वृत्ति करके एक मशीनके बारेमें सोच रहे हैं, उस वृत्तिमें और षट्कोण, त्रिकोण, द्वादशकोण—इन तांत्रिक यन्त्रोंमें हमें कोई भेद नहीं मालूम पड़ता।'

'चित्त शान्त हो जाय, चाहे नशासे शान्त हो जाय, चाहे प्रयत्न या क्रियासे शान्त हो जाय—इसमें भी हमें कोई भेद नहीं मालूम पड़ता।' अर्थात् धर्माधर्मका भेद वृत्ति या स्थितिमें नहीं है। वेदान्त कहता है—ठीक है, हम भी किसी वस्तुमें, क्रियामें, भावमें स्थितिमें या तत्त्वमें वास्तविक भेद है, ऐसा प्रतिपादन कहाँ करते हैं ? हमारी दृष्टिमें वास्तविक भेद तो कहीं है ही नहीं।'

'तो फिर तुम्हारा यह धर्म-अधर्म ? तुम्हारी यह उपासना कहाँ जायगी ? तुम्हारी यह समाधि कहाँ जायगी ? यह तुम्हारा प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मका ज्ञान कहाँ जायगा ?

'हम वस्तु-भेदसे यह भेद नहीं मानते हैं। तात्त्विक भेद नहीं मानते हैं। जो लोग छोटी-छोटी बातोंमें उलझे हुए हैं, उनके दृष्टिकोणसे नहीं है यह चीज !'

उपदेशादयं वादो ज्ञाने द्वैतं न विद्यते। (मां० का० १.१८)

कारिकाकार कहते हैं, यह उपदेशसे सिद्ध है। धर्म-अधर्मका भेद वस्तुसे नहीं है। उपास्य और अपास्यका भेद 'शालिग्रामकी उपासना करो, सामान्य पत्थरकी मत करो'—यह भेद शास्त्र-वचनसे सिद्ध है, गुरु उपदेशसे सिद्ध है। शालिग्राम तोड़कर, पत्थर, तोड़कर यह सिद्ध नहीं है।

'एकने नस दबाकर समाधि लगा दी—एकने दवा खिलाकर समाधि लगा दी; एकने प्राणायाम करके समाधि लगा दी और एकने ध्यान करके समाधि लगा दी। समाधिमें क्या भेद ? यह भेद हम समाधि-दृष्टिसे थोड़े ही बोलते हैं ? उपदेशकी दृष्टिसे बोलते हैं।

'जो प्राणायाम-प्रत्याहार, यम-नियम आदिका अनुष्ठान करके समाधि लगेगी, वह अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाली होगी। दवा खिलाकर समाधि लगेगी, वह अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाली नहीं होगी। यह बात हम उपदेशसे, शास्त्र-वचनसे कहते हैं—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।

'फिर यह बात आखिर तुम स्थापित ही क्यों करते हो कि यह उपदेशप्रमाणसे सिद्ध है ?' कोई चीज मशीनसे सिद्ध न हो, इसलिये। आजकल मशीनसे यदि सिद्ध करने जाओगे तो अन्तमें यही सिद्ध होगा कि जुएँका और मनुष्यका—दोनों जन्तुका मूल एक ही है। मरनेके बाद, जलनेके बाद सब-के-सब पंचभूत हो जायेंगे ! राख हो जायेंगे। यही इनका अन्त है। यही तो सिद्ध होगा न ! खोजके अन्तमें ? तो व्यवस्थाके लिए शास्त्र-प्रामाण्यकी आवश्यकता है। व्यवहारके लिए धर्मको तुम प्रयोगशालामें मत ढूंढो। यह जो हमारा आम्नाय है, उसमें-से धर्मको निकालो।

आम्नानमें-से धर्म निकलता है, प्रयोगशालामें-से धर्म नहीं निकलता। खुर्दबीनमें-से, दूरबीनमें-से धर्म नहीं निकलता। वोटमें-से धर्म नहीं निकलता। लोकतन्त्रकी व्यवस्था धर्म नहीं है। फिर सबसे बड़ा प्रामाण्य कहाँ है, आम्नान्का ?

वेदकी बात थोड़ी सुना दी, क्योंकि आजकल हमारे जो वक्ता हैं, वे बात उतनी ही कहते हैं जितनी श्रोता पहलेसे समझते हैं, उससे आगे बोलनेकी वक्ताकी हिम्मत नहीं पड़ती। श्रोता कहते हैं—'हम बोर हो गये हैं, इसने तो हमारी मान्यता काट दी।'

अभी कम्युनिस्ट उतने प्रगतिशील नहीं हैं, जितने धर्मको 'वैदिक' कहने वाले हैं। धर्मको तात्त्विक न मानकर उसमें शास्त्र-मर्यादाके अनुसार मानने-वाले जितने प्रगतिशील हैं, भौतिक विज्ञानवादी उतने प्रगतिशील नहीं हैं। अभी तो उनको शंका है कि शायद कहीं शोध करते-करते हमको 'धर्म' नामकी चीज 'मैटर'में-से निकल आवे तो मिल जाय।

उनको तो शंका है कि कहीं मैटरमें-से ईश्वर निकल आया, तो क्या होगा ? वे तो अभी कहते हैं कि 'कोई परे चीज है, परे चीज है। हम हाथ जोड़ते हैं उसके लिए।'

आइन्स्टाइन कहते हैं—'हम सिर झुकाते हैं उसके सामने जो शक्ति जगत्‌का नियमन कर रही है।'

नियम उनको दिखता है, नियमन करनेवाली शक्ति उनको नहीं दिखती है। हम कहते हैं—'हमने तो उस शक्तिको देख लिया है अनुभव कर लिया है। हमको तो उसका साक्षादपरोक्ष हो गया है। तुम केवल विश्वास करते हो, हाथ जोड़ते हो कि कोई नियामिका शक्ति है। इसलिए आम्नायका जो प्रामाण्य है, वह इन्द्रियवादियोंका प्रामाण्य नहीं है; वह प्रियतावादियोंका प्रामाण्य नहीं है; वह तर्कवादियों और युक्तिवादियोंका प्रामाण्य नहीं है।

इसका क्षेत्र अलग है। सबका अपवाद करके भी "मैं' हूँ 'मैं' जानता हूँ, 'मैं' परम प्रिय हूँ।" परन्तु ऐसा मालूम पड़ता है कि 'मैं देहसे परे हूँ, मैं पञ्च-भूतसे परे हूँ।' ठीक है। पंचभूतसे परे हो करके एक अणु-चैतन्य भी हो सकते हो, विभुचैतन्य भी हो सकते हो, शरीरव्यापी चैतन्य भी हो सकते हो।

चैतन्यके स्वरूपमें तो यन्त्रोंकी गति है नहीं, इन्द्रियोंकी गति है नहीं, बुद्धिकी गति है नहीं, मनकी गति है नहीं।

वेद कहता है—'तुम्हारे पाँच भौतिक शरीर और पंचभूतसे परे जो चैतन्य हैं, वह न अणु-परिमाण है, न विभु-परिमाण है, न देह-परिमाण है, न शरीर व्यापी परिमाण है। क्योंकि चैतन्यका परिमाण मानने पर वह साक्षी नहीं रहेगा, वह दृश्य हो जायगा। परिमाण दृश्य होता है। परिमाण माने नाप तौल। यदि चैतन्यमें परिमाण मानोगे, तो चैतन्य तो परिमाणका भी साक्षी है! चैतन्य परिमाणका भी साक्षी है और परिणममान्‌का भी साक्षी है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि यह साक्षी कालका भी साक्षी होनेके कारण अविनाशी है; देशका भी साक्षी होनेके कारण परिपूर्ण है; वस्तुका भी साक्षी होनेके कारण वस्तुके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान है। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तुका और वस्तुके अत्यन्ताभावका साक्षी होनेके कारण इस अद्वय साक्षीमें देश-काल-वस्तु और इनका अभाव बिलकुल सोलहों आने कल्पित है। इनका कोई अस्तित्व नहीं है।

अब अपने साक्षीको 'अद्वितीय ब्रह्म' बताना—यह वेदका काम है। यह न यन्त्रका काम है, न इन्द्रियका काम है, यह न मनकी भावना है, न बुद्धिका

कोई तर्क है न कोई युक्ति है। बल्कि तर्क और युक्ति अनुभवमें कभी-कभी प्रतिबन्ध भी उत्पन्न करते हैं।

जैसे भक्तिमें कोई ज्यादा संगीत-परायण हो जाय, तो भावका रस सूख जायगा और स्वरका रस उसके दिमागमें भर जायगा। स्वरका रस जुदा है और भावका रस जुदा है। भक्तिमें भावका रस होना चाहिए। स्वरका रस प्रधान नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकार वेदान्तमें अनुभवका प्राधान्य होना चाहिए। तर्क और युक्तिका प्राधान्य नहीं होना चाहिए। तो, तर्क और युक्तिसे परे जो अनुभव-स्वरूप वस्तु है, इसको बतानेके लिए वेदान्त है। वेदान्त माने उपनिषद्। वह कहता है कि यह जो सबका साक्षी, सबका द्रष्टा है, वही सम्पूर्ण दृश्यका अधिष्ठान भी है। इसलिए देश और देशके अभावका अधिष्ठान होनेके कारण परिपूर्ण है। काल और कालके अभावका अधिष्ठान होनेके कारण अविनाशी है। वस्तु और वस्तुके अभावका अधिष्ठान होनेके कारण अद्वय है। इसमें न देश है, न काल है, न वस्तु है। यह बात वेदान्तके द्वारा, उपनिषद्के द्वारा सिद्ध होती है।

यह न तो किसी ऐन्द्रियक अनुभव का उपजीव्य, और न तो उसके पीछे-पीछे चलनेवाला उसका पिछलग्गू है।

दूसरी श्रुति कहती है—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (बृहद० २.५.१९)

'इन्द्र' शब्द बड़ा विलक्षण है। वेदोंमें 'इन्द्र' शब्द परमात्माके लिए आता है। इन्द्र मायासे 'पुरु'-रूप माने अनेक देखनेमें आता है। श्रीमद्भागवतमें एक श्लोक है—

यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैः अर्थो बहुगुणाश्रयः।
नानेव दृश्यते तद्वद् भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥

वे कहते हैं कि एक ऐसी चीज अपने हाथमें ले लो जिसमें बहुतसे गुण होवें। जैसे, एक गुलाबका फूल ले लो जिसमें गन्ध है, रस है, रूप हैं, स्पर्श है। अनेक गुण हैं गुलाबमें; लेकिन उसमें अनेकता क्यों मालूम पड़ती है ?

इन्द्रियोंके कारण। नाक कहती है कि सुगंध है! जीभ कहती है कडुवा है। आँख कहती है पीला है, सफेद है, गुलाबी इत्यादि। एक हजारसे ज्यादा किस्में गुलाबकी मिलती हैं!

गुलाबका फूल तो एक है, नाना क्यों मालूम पड़ता है ? इसलिए कि इन्द्रियाँ अलग-अलग हैं और इनका दरवाजा भी अलग-अलग है। बिलकुल भगवान्‌की भी यही दशा है। कोई अपने मनसे उनपर गोरी पालिश कर देता है कि भगवान् गोरा है। कोई अपने मनसे काले रंगकी पालिश कर देते हैं कि भगवान् काले हैं। इसी प्रकार कोई पीले रंगकी, तो कोई लाल रंगकी पालिश कर देते हैं। वे अपने मनके भावसे भगवान्‌को रँग देते हैं।

भगवान्‌को कोई बच्चा मानते हैं, कोई जवान मानते हैं, कोई प्रौढ़ मानते हैं। कोई भगवान्‌को साकार मानते हैं, तो कोई निराकार मानते हैं। मनुष्य अपने मनके रंगसे और भावसे, अपने-अपने संप्रदाय, गुरु, शास्त्र और अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार अपनी ओरसे भगवान्‌में अलगावका आधान करते हैं, अलगावका आरोप करते हैं। असली भगवान् तो एक ही है। ठीक इसी प्रकार यह जो इन्द्र देवता है, परमात्मा समझो, वह नाना क्यों दिखता है ? मायाके कारण।

उपनिषद्‌में तो 'इन्द्र' शब्दकी व्याख्या दूसरे ढंगसे की हुई है। वे कहते हैं—**'इन्द्र कस्मात्'** इन्द्रको इन्द्र क्यों कहते हैं ? **इदम् द्रष्टा।** इदम्‌का जो द्रष्टा है, उसको 'इदन्द्रः' कहते हैं।

इदन्द्रसंतम् इन्द्रः इति उच्यते।

इदन्द्रको इन्द्र बोलते हैं। इन्द्र माने द्रष्टा।

'मायाभिः पुरुरूप ईयते'—माया क्या है। दिनभरमें एक बार आपको ऐसा मालूम पड़ता होगा कि 'हमारा जीवन सुखी बीत रहा है' और एक बार मालूम पड़ता होगा कि 'दुःखी ! अरे ! बड़ी किटकिट है, छोड़ो इसको।' मनमें आया—'अरे ! खूब फायदेका काम है, करना चाहिए।' एक बार मनमें आया—'अरे भाई ! बड़ा बुरा काम हुआ।' एक बार सुखी, एक बार दुःखी। तुम तो एक ही हो ! एक बार अपनेको पापी माना, फिर पुण्यात्मा माना !

इस मनने तुमको एक बार सुखी बनाया, एकबार दुःखी बनाया। एक-बार पापी बनाया, एक बार पुण्यात्मा बनाया। इसीका नाम माया है। एक खयाल होता है कि हम इनके दोस्त और एक बार खयाल होता है कि हम इनके दुश्मन। यह दोस्त-दुश्मन किसने बनाया ? मनीरामने बनाया। यह मनकी माया है।

इन्द्रियोंकी माया क्या करती है ? कहते हैं इनको देखे बिना जी नहीं सकते। अरे भाई ! जीवन तुम्हारा अपना है कि आँखसे कोई चीज देखकर तुम जिन्दा रहते हो ? तुम्हारा जीवन इतना महत्त्वहीन है, इतना निःसत्त्व है

कि किसीको देखे नहीं, तो मर जायेंगे ? कोई कहते है—कौन-सा मुँह लेकर बाहर निकलेंगे ? अब बीस हजारकी मोटरपर चलेंगे तो कितनी बड़ी बेइज्जती है ? माने उसने अपनी जिंदगी मोटरके हवाले कर दी।

'अरे, मर गये बाबा ! ऐसा जिंदा रहनेसे तो जिंदा न रहना ही अच्छा है'—यह क्या है ? इसीका नाम माया है। हमारा मन माया रचता है, हमारी इन्द्रियाँ माया रचती हैं कि—

माया महा ठगिनि हम जानी

हम यही सूँघकर जिन्दा रहेंगे, यही देखकर जिन्दा रहेंगे, इसीको छूकर जिन्दा रहेंगे, यही खाकर जिन्दा रहेंगे—यह माया बड़ी ठगिनी है—'ब्रह्माके घर ब्रह्माणी होकर बैठी और रुद्रके घर रुद्राणी होकर बैठी और विष्णुके घर भी यही लक्ष्मी होकर बैठी है।

रमैया की दुलहिन ने लूटा बजार।

इसीका नाम माया है। यह इन्द्रियोंकी माया, मनकी माया, बुद्धिकी माया है। माया माने प्रज्ञा—इन्द्रिय प्रज्ञा, इन्द्रियोंके आधारपर ऐन्द्रियक प्रज्ञाका संचार है माया।

अपनेको ऐसा वहम होजाता है। वहम माने भ्रम। इस भ्रम·वहमको उल्टा करके देखो तो मजा आजायगा—ब्रह्म हो जायेगा। ब्रह्ममें चार अक्षर हैं: ब र ह म। इनमें-से 'ह' और 'र' के स्थान बदल दो तो होजायेगा बहरम-(ब+ह)+र+म–भरम–भ्रम। माया माने भ्रमका कारण-उल्टी बुद्धि, एकको अनेक देखना।

इन्द्रो मायाभिः—माया क्या है ? माया यह है कि सबसे अधिक प्रामाण्य हमने इन्द्रियोंको और इन्द्रियोंके पिछलग्गू जो विचार हैं उनको दिया, ऐसे लोग बुद्धिजीवी कहलाते हैं।

कोई बच्चा रबड़की या प्लास्टिककी थैलीमें दूध भरकर उसको पीता है। तो जैसे रबड़ या प्लास्टिककी थैलीमें दूध भरके उसको चूसते रहना—यह बच्चेकी जीविका है, बड़ेकी नहीं। ऐसे ही ये इन्द्रियाँ, यह मन, यह बुद्धि—ये सब प्लास्टिककी शीशी हैं। इनके ज्ञानमें रसत्वका आरोप करके और दुग्धत्वका आरोप करके उसीको चूसते रहना, अपने स्वरूपके बारेमें कुछ न जानना, यह जैसे बालकका लक्षण है, ऐसे बुद्धिजीवियोंका लक्षण है ऐन्द्रियक अनुभूतिके पीछे दौड़ना।

अब वोट तो हमेशा उन्हींके (बुद्धिजीवियोंके) पक्षमें ही रहते हैं, सो बाबा रहे, ठीक है, हमेशा रहे। हमारे शास्त्रोंने कहा है—'संसारमें ज्ञानी बहुत थोड़े होते हैं।'

सिंहन के नहीं लेहड़े, संतन की न जमात।
हीरन की नहीं बोरियाँ, हंसन की नहीं पाँत॥

महात्मा लोग, अनुभवी लोग वोटवाले नहीं हुआ करते कि वोटसे सिद्ध करो कि 'यह महात्मा है'। जो लोकोपकारी होते हैं, वे वोटसे भी सिद्ध होते हैं। परन्तु यह मार्ग तो बिलकुल निराला है।'

+ + +

कभी किसी-किसी भाग्यशालीके मनमें यह प्रश्न उठता है कि हम जो सुख-दुःखके झूलेमें झूल रहे हैं, कभी आगे कभी पीछे, कभी बाँयें, कभी दाँये, क्या यह भटकता हुआ जीवन ही सच्ची वस्तु है ?

यह प्रश्न सबके मनमें नहीं उठता, जो फँस गये हैं उनके मनमें यह प्रश्न नहीं उठता !

सूरदास नलिनी को सुअटा कहु कौने जकरथो—तोतेको कोई नलिनी जकड़ती तो नहीं है। स्वयं उसको पकड़कर बैठ जाता है। परन्तु उसको कभी अवकाश ही नहीं मिलता कि वह सोचे कि हमको किसने पकड़ रखा है ?

यह बात जरूर देखनेमें आती है कि कोई दुश्मनसे उलझ रहा है तो कोई दोस्तसे उलझ रहा है। कोई धनमें फँसा, कोई काम-धन्धेमें फँसा, कोई भोगमें फँसा, कोई वस्तुओंमें फँसा और कोई शृंगारमें फँसा। बस, संसारमें लोग फँसे हुए हैं। कभी-कभी ऐसा दिन भी आता है कि चाँटे-पर-चाँटे पड़ते हैं।

एक बार किसीने भगवान्‌से पूछा कि—'हे भगवान् ! तुमने संसारमें दुःख क्यों बना दिया ?'

भगवान्‌ने कहा—"अगर हम दुःख न बनाते तो ये दुनियादार लोग हमारी ओर कभी देखते ही नहीं और हमको मानते भी नहीं। वे कहते कि हम तो मस्त हैं, हमको ईश्वरकी क्या जरूरत है ?"

किसीकी चाममें चमक हो तो वह चलते समय इस ढंगसे चलता है कि लोग उसकी ओर देखें। एक बुढ़ियाकी अँगूठी किसीने नहीं देखी, तो उसने अपने घरमें आग दी। लोग आये आग बुझानेके लिए तो देखा उसके हाथमें अँगूठी। वे बोले—'अरे ! तुमने यह अँगूठी कब बनवायी ?'

वह बोली—'अगर तुमने कल पूछ लिया होता तो घरमें आग क्यों लगाती ?' तो घरमें आग लगाकर भी लोग अपना विज्ञापन करते हैं।

यह कृष्णपक्ष, यह शुक्लपक्ष, यह पाप, यह पुण्य, यह सुख, यह दुःख, यह राग, यह द्वेष, यह शत्रु, यह मित्र, यह लाभ, यह हानि—इन्हींको सोचनेमें, मनुष्य ऐसा लगा है कि—

कोई काहूमें मगन, कोई काहूमें मगन—इससे भी परे कुछ है, यह बात उसके ध्यानमें आती ही नहीं। कभी बड़ा जोर लगाया, चार नाम भगवान्‌का लिया, थोड़ा भावमगन हुआ तो चाहता है कि अखबारमें हमारा नाम छप जाय। उसमें-से भी यही निकालता है कि चार आदमी उसे बड़ा मानें, हमारी इज्जत करें!

एक बोला—'ऐ! तुम भगवान्‌का नाम नहीं लेते? हम भगवान्‌का नाम लेते हैं, तो हम तुमसे बहुत बड़े!' तो भगवान्‌के नामको भी लोग अपने श्रृंगार का प्रसाधन, अपना आभूषण ही बनाते हैं।

श्रुति, भगवती, वेदांत, परम कारुणिक वेद लोगोंसे कहते हैं कि 'इधरसे तुम अपनी नजर हटाओ जरा दूसरा पहलू भी तो देखो! उधर क्या है?' यह मूल बात है। यह सृष्टि जितनी मनुष्य देख पाता है, उतनी ही सत्य नहीं है। जितना तुमको मालूम है, उतनेका ही नाम ज्ञान नहीं है। जितना तुमको मिलता है, उतना ही आनन्द नहीं है। जितना सत्य तुमको मालूम है, सत्य उससे भी बहुत बड़ा है। जितना ज्ञान तुमको है, उससे बहुत ज्यादा ज्ञान है। जितना आनन्द तुमको मिलता है, आनन्द उससे बहुत बड़ी वस्तु है।

एक मुख्य बात यह है कि यह सत्य अज्ञानके सिवाय और किसी भी चीजसे ढँका हुआ नहीं है। वह ज्ञान केवल जड़तामें जमी हुई दृष्टिकी मायासे ही समझमें नहीं आ रहा है। वह आनन्द विषयभोगमें आनन्दकी कल्पना कर लेनेके कारण हमारी ओरसे तिरस्कृत कर दिया गया है।

असलमें वह आनन्द, वह चेतन, वह सत्ता तो अपना स्वरूप ही है। जैसे, जब नाटकका, सिनेमाका, थियेटरका या नृत्यका आनन्द लेना होता है, तो कामधन्धा छोड़कर उसमें जाना पड़ता है; वैसे ही यदि एक बार मन इस ओरसे हटे नहीं, तो परमात्माका आनन्द कैसे अपने हृदयमें प्रकाशित होवे? इसके लिए वेद भगवान् पुकार-पुकारकर कहते हैं कि जिसमें तुम फँसे हुए हो, वह दुःख है, वह अनित्य है। जिसमें तुम फँसे हुए हो, वह जड़ है, वह विकारी है, वह मिथ्या है।

कहनेका अभिप्राय क्या ? भाई ! एक बार तुम्हारे अन्दर जो आनन्द छिपा हुआ है, उसको प्रकट हो जाने दो ! बचपनमें मिठाई खाकर मजा लेना शुरू किया, माँका दूध पीकर मजा लेना शुरू किया और अब भी बाहर-ही-बाहर रबड़की थैली ही पीते रहोगे ? देखो तो ! तुम्हारे घरमें भी तो कुछ है ! तुम्हारे अन्दर भी तो कुछ है ! अपने बारेमे इतनी हीनता ?

एक आदमी अपने घरमें रोटी न खाय, दूसरेके घरमें रोटी खाने जाय, तो यही कहना पड़ेगा कि उसे अपने घरमें सुविधासे रोटी नहीं मिलती है इतनी हीनता है कि तुम्हारे घरमें कोई सुख ही नहीं है ? ज्ञानका कोई स्रोत नहीं है ? तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं है ? अपने अन्दर हीनताका इतना प्रबल भाव कि जब देखो तब बाहर ? जब देखो तब दूसरेमें ? रातको सोवे तो दूसरेको सोचे ? दिनको जगे तो दूसरेको सोचे ? आनन्द हो तो दूसरेके घर जाय ! बुद्धि लेनी हो तो दूसरेके पास जाय ! जिन्दगीमें जीवित रहनेके लिए दूसरेका सहारा ले ?

क्या तुम्हारी आत्मामें, तुम्हारे स्वमें, तुम्हारी स्वयंतामें कोई बल नहीं है ? यही जो बाह्याकर्षण है द्वैतका आकर्षण है, वह अपने आत्माका तिरस्कार है। आत्माका तिरस्कार माने आत्मामें रहनेवाले परमात्माका तिरस्कार। आत्मा-परमात्मा तो नाम ही दो हैं। अपने भीतर रहनेवाली मिठासका तिरस्कार करके बाहर जाते हो तो भीतरवाला मसमसाके रह जाता है। पहलेके पण्डित लोग इस बातको बहुत बुरा समझते थे। अब जो संस्कृत युनिवर्सिटी है, पहले उसका नाम 'क्वींस कॉलेज' था। मैं काशीमें था, तो भागवत पढ़नेके लिए दूसरेके पास जाता। जिस पण्डितके पास व्याकरण पढ़ने जाता था, वे हमपर बहुत नाराज होते थे। वे कहते कि तुम हमसे ही पढ़ लो ! तुम हमारे साथ रहते हो, हमारे पास रहते हो, दूसरेके पास क्यों जाते हो ?

भीतर जो आत्मदेव, परमात्मदेव हैं, वे कहते हैं कि तुम हमको छोड़कर इधर-उधर कहाँ डोलते हो ? 'देखो, तुम जाते हो कि वहाँ मजा मिलेगा, वहाँ मजा मिलेगा, तो हम भी जा रहे हैं।' तो श्रुतिने कहा—

नेह नानास्ति किञ्चन।

बेटा ! तुम जिस मृगतृष्णामें फँसकर इधर-उधर भटक रहे हो, वहाँ कुछ नहीं है। परमार्थ दृष्टिसे देखो, सच्चाईकी दृष्टिसे देखो। परमार्थ दृष्टि माने सातवें आसमानकी कोई दृष्टि नहीं, ईमानदारीकी दृष्टि, असलियतकी दृष्टि, सच्चाईकी दृष्टि, वास्तविक, वस्तुतः।

'इह' अर्थात् असलियतका विचार करनेपर परमार्थदृष्टिसे वस्तुतः 'नाना न किञ्चन', तुम समझते हो कि हमारे भीतर जो आनन्द नहीं है, वह उसमें-से

(नानात्वसे) मिलेगा ! यह बिलकुल गलत है। तुम समझते हो कि हमारे भीतर ज्ञान नहीं है। वह दूरबीन-खुर्दबीनसे निकाल लोगे ? मशीनसे जैसे रेडियोमें रिसीवर बना लेते हैं ऐसे, यह कानका रिसीवर है। योगशक्तिसे इस ग्रहण शक्तिको परिमार्जित कर सकते हैं। तब ऐसा मालूम पड़ेगा कि यह पहलेसे लगा है। वाणीसे बोलते हैं न, यह भी ब्रॉडकास्ट हो करती है। इसका यदि संशोधन किया जाय तो आदेशको दूर-दूर तक पहुँचाया जा सकता है।

एक छोटी बात मैं सुनाता हूँ, अपना जो तादात्मय है वह सबके साथ हो सकता है। इन्द्रके साथ तादात्म्य, सम्राट्के साथ तादात्म्य, ब्रह्माके साथ तादात्म्य, विष्णुके साथ तादात्म्य। यह विद्या बड़ी विलक्षण है ! निर्गुणकी बात नहीं कर रहा हूँ, सगुणकी बात कर रहा हूँ। यदि कोई गणेशकी उपासना करे और ठीक-ठीक होवे, तो ऐसा मालूम पड़ेगा कि 'मैं गणेश हूँ।' उस उपासनाका फल यही होगा।

पहले आवेंगे गणेश, सामने बैठेंगे, उनको चन्दन लगाओ, माला पहनाओ, उनकी सूँड़में खानेको लड्डू दे दो और जब तुम उनका ध्यान करने लगोगे, तो थोड़ी देरके बाद तुमको तो पता चलेगा नहीं। पहले गणेशजी तुम्हारे सामने मुँह करके बैठे होंगे; फिर वे तुमसे एक हो जायेंगे। तुमको ऐसा लगेगा कि हम ही सूँड़वाले हैं। यही महिमा है। फिर गणेशकी बुद्धि तुम्हारी बुद्धि, गणेशकी रिद्धि तुम्हारी रिद्धि, गणेशकी सिद्धि तुम्हारी सिद्धि।

सगुणके ध्यानमें, साकारके ध्यानमें हनुमानजीका ध्यान करो ! यह ध्यानकी शक्ति है। मनुजीने एक जगहपर लिखा है—

सर्वं ध्यानिकमेवास्य यदेतदभिशब्दितम्।

जो सृष्टि मालूम पड़ती है, वह सारी-की-सारी ध्यानिक है। जिस किसी वस्तुका शब्दोंके द्वारा वर्णन किया जाता है, वह सब-का-सब ध्यानिक है।

सगुण-साकारके ऋजु ध्यानमें—जो सरल-से-सरल है, उस ध्यानमें यह सिद्धि है। तो तुम्हारे परमार्थ आत्मामें जो सिद्धि है, उसको जरा प्रकट करो। वह कैसे होगा ? छोटी-छोटी सिद्धियोंको हटाओ।

सिद्धस्य वित्तिः तत एव सिद्धिः
स्वप्नोपमाना खलु सिद्धयोऽन्या।

ज्ञानकी कसौटोपर वह चीज दीखती है, जो पहलेसे मौजूद होती है। वही ज्ञानकी कसौटीपर टिकती है और केवल सद्वस्तु आत्मा ही पहलेसे सिद्ध है और उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती। अनुभवकी वस्तु यही है।

जो दूसरी सिद्धियाँ हैं, वे स्वाप्निक हैं; जैसे सपनेमें आती-जाती हैं, वैसे आती हैं। तो भाई! बज गया घण्टा! अब नाटक प्रारम्भ होनेवाला है। साधु सावधान! नेति-नेति! इधरसे मनको हटाओ। अब जरा कल-कारखानेकी ओरसे, दुकान-मकानकी ओरसे, अपने कुटुम्बकी ओरसे, अपनी देहासक्तिकी ओरसे मनको हटाकर शान्त करो। नेति-नेति!

'नेति-नेति कर देनेपर भी, सबको न कर देनेपर भी जो यह अहं-अहं नामका कुछ फुदक रहा है, इस फुदकनेको भी मना करो। यह फुदकने-वाली चीज तुम नहीं हो! तुम द्रष्टा हो, साक्षी हो।'

अरे! अब महावाक्य आया! नृत्यन्ति विद्या! सभी विद्या नृत्यन्ती-नाचती हुई हैं, स्फुरणशील हैं। उनमें जो तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्या विद्या है, वह तो महानर्तकी है। वही इस नाटककी मुख्य नायिका है। आकर उसने कहा—

तत् त्वं असि।

तुम केवल इस अन्तःकरणके, हृदयके, शरीरके साक्षी नहीं हो; तुम तो सम्पूर्ण जगत्के अधिष्ठान, साक्षात् ब्रह्म हो। अरे, एक क्षणके लिए परामर्श हुआ, 'अहं ब्रह्मस्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ।' क्योंकि मैं देशका साक्षी, कालका साक्षी वस्तुका साक्षी हूँ।

देश-संवित्, काल-संवित्, वस्तु-संवित्में मात्रसंवित् सत्य है। संवित्के बिना न देश, न काल, न वस्तु। संवित् एक अविनाशी, परिपूर्ण, अखण्ड अद्वय तत्त्व-'अहं ब्रह्मास्मि।'

'अहमेव न मत्तोऽन्यत्' मैं ही हूँ, मेरे सिवा और कुछ नहीं है। स्त्रीके रूपमें पुत्रके रूपमें, ब्रह्माके रूपमें, सम्राटके रूपमें, मैं ही हूँ। पृथिवीके रूपमें उसकी दृढ़ताके रूपमें मैं ही प्रकाशित हो रहा है। मैं ही समुद्रके रूपमें तरलित हो रहा हैं, अग्निके रूपमें दहन हो रहा है, ज्वलनशक्ति सम्पन्न हो रहा है; मुझसे अभिन्न होकर वायु गतिशील है; आकाश सबका धारक है; मन कल्पक है। वे सब--सारी अहंकृति, सारी महत्ता, कृति-प्रकृति-विकृति-संस्कृति, सारी आधि-व्याधि-समाधि-उपाधि सब मैं-से अनुप्राणित, मैं-से स्फुरित, मुझसे अभिन्न, मैं-से जुदा कुछ नहीं। और यह समाधिमें नहीं, जागरणमें! जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति; केवल कल्पना-मात्र! और अपना स्वरूप वस्तुसत्य।

बृहदारण्यक उपनिषद् स्पष्ट रूपसे कहता है—'इह'—'वस्तुतो विचार्य-माणे परमार्थे इह नाना किञ्चन नास्ति।' अनेक कुछ नहीं है। रागीके लिए अनेक चाहिए, विरक्तके लिए अनेक नहीं चाहिए. अज्ञानीके लिए अनेक चाहिए,

ज्ञानीके लिए अनेक नहीं चाहिए। जो अपरमार्थमें भटक गया है, उसके लिए अनेक चाहिए; जो परमार्थका अनुभव कर रहा है, उसके अनुभवमें अनेक नहीं है।

वह परमार्थ एक कि दो ? न एक न दो। यहाँ कि वहाँ ? न यहाँ न वहाँ।

एक माने एक बटे दो (१/२) भी होता है। एक माने एक और एक (१+१=) दो भी होता है। यह परमार्थ रूप नहीं है। जिसमें बँटवारा हो जाय और जिसमें जोड़ लग जाय, वह परमार्थरूप नहीं है। परमार्थ अद्वय, अद्वितीय सत्य है।

नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि।

कहते हैं कि यदि भूततः परमार्थतः दो चीज मौजूद होती, तो सचमुच नाना वस्तु होती। लेकिन श्रुति तो स्पष्ट रूपसे एक ऐसी बात बताती है, जो ऐन्द्रियक अनुभवसे विलक्षण है, जो मानसिक कल्पनासे विलक्षण है, बौद्धिक प्रकारसे विलक्षण है। ऐन्द्रियक ज्ञान, मानसिक ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान नहीं—बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके भी पीछे रहकर जो उनका अधिष्ठान है, जो उनका प्रकाशक है, उसका ज्ञान श्रुति बताती है।

नानात्वभावका प्रतिषेध करनेके लिए श्रुति जाग्रत् है। तो फिर सृष्टिका वर्णन क्यों है ? सृष्टिका वर्णन सृष्टिके मूलमें स्थित जो वस्तु है, उसकी एकता-की प्रतिपत्तिके लिए अर्थात् उसकी एकताको समझनेके लिए है। सो कैसे समझमें आवेगी ?

आप जानते हैं, हजारों-लाखों तरहकी सृष्टि मालूम पड़ती है। अभी-तक किसीने गिना नहीं है और कोई गिन नहीं सकता। कोई चाहे कि हम गिन लें कि सृष्टिमें कितने भेद हैं, तो भेदकी गिनती नहीं हो सकती। भेदकी गिनतीका अर्थ है अज्ञान। जो भेदकी गिनती करेगा, वह भी अज्ञानमें और जो अभिमान करेगा कि हमने संपूर्ण भेदोंको जान लिया, वह भी अज्ञानमें।

एक-एक चीजके इतने भेद होते हैं कि जानना भी मुश्किल है। मिट्टीके इतने भेद, पानीके इतने भेद, अग्नि माने तैजस्के इतने भेद, वायुके इतने भेद होते हैं ! किसी-किसीने इनको छत्तीस भेदोंमें लिया है, तो किसीने सत्तर में; किसीने नब्बे भेद माना। अंततोगत्वा दुनियाकी सब वस्तुओंकी जाँच करके कौन किसका विरोधी है, कौन किसका अनुरोधी है इसका कहीं अन्त नहीं मिलेगा।

यदि कोई चाहे कि हम एक-एक चीजको गिन-गिनकर, देख-देखकर उसका पार पा लेंगे, तो पार नहीं पा सकते। अंततोगत्वा वर्गीकरण करना पड़ता है। चार्वाकने कहा—चार चीज हैं। इसको 'लोकायत' बोलते हैं। जिसको सब लोग समझ सकें, उसका नाम है 'लोकायत'। वोट लो, दुनियाको बुलाओ!

देखो, मिट्टी ठोस, जल तरल, आग, वायव्य (गैस), वायु अतिवायव्य (गति) और ये चारों जिसमें रहते हैं, वह आकाश। आकाश उनके मतमें तत्त्व नहीं है न! चार ही तत्त्व हैं! सारी दुनियाको गिने बिना उसने वर्गीकरण कर दिया।

हमारे आस्तिक लोगोंने कहा—हमारे पास जो मशीन है, उससे पाँच चीजें मालूम पड़ती हैं। प्रयोगशाला-लेबोरेटरीकी बात नहीं करते हैं शरीर ही एक प्रयोगशाला है। इसमें शब्द-स्पर्श-रूप-स्वाद-गंध—इन पाँचोंका ज्ञान करानेवाली पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूप मशीनें हैं।

हम बनावटी मशीन नहीं लगाते। हमारे पास स्वाभाविक मशीन है, इससे देखते हैं। एक चलनेका यंत्र है, एक करनेका यंत्र है, एक बोलनेका यंत्र है, एक द्रव पदार्थके विसर्गका यंत्र है और एक ठोस पदार्थके विसर्गका यंत्र है। इनको पाँच कर्मेन्द्रियाँ बोलते हैं।

इस प्रकार हमारे शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। पाँच विषय हैं और पाँच विषयोंके आश्रयभूत द्रव्य पाँच हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। कोई कहते हैं कि जल द्रव्य नहीं है क्योंकि वह दो गैससे मिलकर बना है। परन्तु उनको हमारे सोचनेका ढंग मालूम नहीं है।

हमको जीभसे स्वाद नामकी एक ऐसी चीज मालूम पड़ती है, जो दूसरी किसी इन्द्रियसे मालूम नहीं पड़ती। तो स्वाद-ग्राहक एक इन्द्रिय है, स्वाद एक विषय है और स्वादका आश्रयभूत एक तत्त्व है। जीभ गीली हुए बिना तो स्वाद आता नहीं! इसलिए रसनेन्द्रिय रसात्मक है। तो तुम्हारी मशीनपर पानी तत्त्व या द्रव्य निकले चाहे न निकले, हमारी जीभकी मशीनपर रस सिद्ध है। नियम इसका यह है कि यंत्र हमारी इन्द्रियोंको काटनेके लिए नहीं होते हैं। खुर्दबीन या दूरबीन हमारी आँखकी ताकतको बढ़ाकर किसी चीजको दिखानेके लिए होते हैं। सुननेका यंत्र हमारी सुननेकी शक्तिको बढ़ाकर सुनानेके लिए होता है। लाउडस्पीकर हमारी बोलनेकी शक्तिको बढ़ाकर बतानेके लिए होता है।

असलमें यंत्र ऐसा होना चाहिए कि हमारी जीभसे जो स्वाद मालूम

पड़ता है. उसका और भी विश्लेषण कर दे, उसे और बढ़ा दे। जीभपर कोई ऐसा यंत्र लगना चाहिए, जो जीभपर चीज जानेसे पहले दूर ही से उसका स्वाद बता दे। वस्तु हमारी नाकमें न घुसे और उसकी गंध बता दे। यंत्र तो ऐसा होना चाहिए।

हमारी नाक तो बतावे गंध और यंत्र कहे—कोई गंध नहीं है! हमारी जीभ तो बतावे स्वाद और यंत्र कहे, कोई स्वाद नहीं है! यंत्रकी अपेक्षा हमारी जिह्वा अंतरंग है भाई! जिह्वा हमारे साथ रहती है और मशीनें अलग रहती हैं। अतः ये पाँच उपादान हैं, चार नहीं।

मूलमें ये पाँचों एक हैं। यह बात हम मानते हैं। लेकिन पाँचमें-से चार हैं—जल नहीं है, आकाश नहीं है, ऐसे नहीं। पाँचको चार मत करो, तीन मत करो। यह कहो कि पाँचों एक हैं, तो वह बात ठीक है। इसको बोलते हैं प्रकृति।

जब अणुओं-परमाणुओंसे द्रव्यकी उत्पत्ति मानते हैं, तब द्रव्य अलग-अलग मानते है। जब शक्तिका परिणाम मानते हैं, तो द्रव्य एक है। वह ठीक है। इसमें भी आपको सुनावें—इसका इतिहास जरा लम्बा है। जैसे एक वैज्ञानिक अपने विषयमें वर्षोंतक खोज करता है, वैसे हम लोग भी अपने-अपने विषयकी वर्षोंतक खोज करते हैं।

बौद्ध लोग कहते हैं कि जगत्का कोई उपादान नहीं है। सृष्टि किसी मसालेसे नहीं बनी, शून्यमें ही बन गयी, निरुपादान सृष्टि है। दूसरे, बौद्ध कहते हैं—उपादान तो है, परंतु विज्ञानमात्र ही उपादान है, चित्त ही उपादान है; वस्तु उपादान नहीं है, अंतरंग उपादान है।

इस प्रकार निरुपादानवादी और उपादानवादी—ये दो भेद सृष्टि-चिन्तकोंमें हुए। उपादानवादके भी दो भेद हो जाते हैं—बहिरंग उपादान और अंतरंग उपादान। चार्वाक परमाणुवादी, जड़ाद्वैतवादी जिसमें हैकले-डार्विन आदि हैं ये लोग बाह्य-उपादानवादी हैं, मार्क्सका मत भी जड़ाद्वैत-वादमें संनिविष्ट है। ये लोग बहिरंग उपादान मानते हैं।

विज्ञानवादी, दृष्टिसृष्टिवादी, ईश्वरवादी, कर्मसंस्कारवादी, प्रकृति-वादी, ये सब अंतरंग उपादानवादी हैं। ईश्वर भी अंतरंग है।

अन्तरङ्ग उपादानवादी सृष्टिके नानात्वको मानस मानते हैं। चाहे ईश्वरके संकल्पसे बनी माने, चाहे जीवके संकल्पसे बनी माने और चाहे स्वके संकल्पसे बनी माने। चाहे आत्मा और बुद्धिके बीचमें बैठी हुई प्रकृतिके परि-णामसे बनी माने। ये हैं सब अन्तरङ्ग।

जैन लोग हमारे सांख्यवादियोंके समान ही हैं। परन्तु सांख्यवादी प्रकृतिमें सृष्टिका लय और उससे सृष्टिकी उत्पत्ति मानते हैं। जैन मतमें चेतन और जड़ दो द्रव्य मानते हैं, परन्तु सृष्टिका अभाव कभी नहीं मानते, प्रलयावस्था नहीं मानते। हमेशा सृष्टि-ही-सृष्टि मानते हैं।

मुसलमान और ईसाई ईश्वरसे सृष्टि मानते हैं।

वेदान्तका विचार इन सबकी अपेक्षा विलक्षण है। आपको यदि चरित्रकी शिक्षा लेनी हो तो धर्मशास्त्री लोग बता सकते हैं। सत्सगमें कैसे बैठें—यह बात बतानेवाले साधु भी हैं। क्या खाना चाहिए और क्या नहीं खाना चाहिए, यह आप डॉक्टरसे या धर्मशास्त्रीसे पूछ सकते हैं। यह बताना हमारा काम थोड़े ही है? ग्रहोंके बारेमें आप ज्योतिषियोंसे जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। आपको कौन-से मन्त्रका जप करना है और किस देवताकी पूजा करनी है, कैसे उसका ध्यान करना है, यह आपके गुरु बतावेंगे। इन सब बातोंको बतानेमें हमारा अभिप्राय नहीं है!

नहीं बताना चाहिए—ऐसा गलत नहीं समझना। हमारे तो तुम! पाँव फैलाकर बैठो या पालथी मारकर बैठो, सब ठीक ही है। क्योंकि तुम्हारे पाँव भी हम ही हैं! कोई दूसरा थोड़े है? तुम्हारा सिर भी हम, तुम्हारे हाथ भी हम, तुम्हारे दिमाग भी हम। जिसको तुम 'मैं-मैं-मैं' बोलते हो, वही तो मैं हूँ। तुम्हारे एटीकेटसे-इतिकृत्यसे, हमारा सम्बन्ध नहीं है।

नागरिक-शिक्षा स्कूलमें जाकर प्राप्त करो। डॉक्टरी पढ़नी हो तो मेडिकल कालेजमें जाओ! परन्तु इस नानात्वमें जो एकत्व छिपा हुआ है और जिसके ज्ञानसे सचमुच शोक-मोहकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।

उसका स्कूल अलग है। यह पाठशाला, यह विद्यालय दूसरा है। यह तत्त्वका विचार है। छोटी-छोटी बातोंके विचारसे जिसको सन्तोष नहीं होता, वे इस विद्यालयमें आते हैं। दुनियाकी सब चीजें, सब जुज (टुकड़े), कालविशेषमें नाशको प्राप्त हो जाते हैं और कालविशेषमें सृष्टिको प्राप्त होते हैं, यह देखकर वे पूछते हैं—तो बस क्या इतना ही परमार्थ है कि इसके आगे भी कुछ है?

जिसमें इनका नाश प्रतीत होता है उसीमें इनका अस्तित्व होता है। तो अस्ति-नास्ति प्रतीति जिसमें हो रही है, वह उन चीजोंसे बड़ी होगी, वह बड़ी चीज क्या है?

तब वह काल है ? वह कोई स्थान है ? वह कोई सत्ता है ? अगर वह कोई सत्ता है तो ज्ञानात्मक सत्ता है या सत्तात्मक ज्ञान है, जिसमें वस्तुका भावाभाव दोनों प्रकाशित होते हैं ! भाव—किसी वस्तुका होना मालूम पड़ना और अभाव—किसी वस्तुका न होना मालूम पड़ना—ये दोनों भावाभाव जिसके द्वारा जिसमें प्रकाशित होते हैं, वह वस्तु तत्त्व क्या है ? और यदि वह अखण्ड है, अद्वय है, एक है तो वह अनेक कैसे मालूम पड़ता है ?

हमलोग ऐसे महात्माओंके पास जाते थे, जो बिलकुल गंगा किनारे जंगलमें धूल लगाये पड़े हैं, जिनको आजकलके पढ़े-लिखे लोग समाजका भार बोलते हैं। क्यों ? क्योंकि उनकी लूट-खसोटमें, बँटवारेमें वे भाग नहीं लेते हैं। क्योंकि दुकानपर बैठकर वे ब्लेक नहीं करते हैं। वे बच्चे पैदा करके खाद्य-संकटको बढ़ाते नहीं हैं; क्योंकि वे संग्रह करके सम्पत्तिको विलायत नहीं भेजते और घरमें दबाकर रखते नहीं।

यहाँ अद्वैतका बाजार है। बात यहाँ करनी हो, तो बिलकुल दो टूक कर लो। उनसे अगर बोलें कि—'महाराज ! नरकका डर लगता है।' तो ऐसे बोलेंगे—'देख ! अरे, जो चीज देखी नहीं, उससे क्यों डरता है ? बेवकूफ है। तेरे अनुभवमें जो कष्ट आता है, सो बोल !'

'महाराज ! एक दुश्मन है वह बड़ा दुःख देता है।'

'तेरी गलती है, जो तुझको दुश्मन दिखता है। उसके पास अगर दुश्मनी है तो वह तुझे दुश्मनी देता है। तेरे पास प्यार है, तो तू उसे प्यार दे ! जो उसकी आत्मा है, वही तेरी आत्मा है। जैसे यह प्यारा है, वैसे वह प्यारा है। फिर देख दुश्मनी कहाँ रहती है ?' यह अद्वैतका बाजार है।

इसका यह दृष्टिकोण जुदा है। भोगकी शिक्षा देनेके लिए स्कूल दूसरे हैं। कर्मकी शिक्षा देनेके लिए स्कूल दूसरे हैं। धन कमानेकी शिक्षा देनेके लिए स्कूल दूसरे हैं। और यह ! जिसका हृदय पवित्र हो, जिसके चित्तमें वैराग्य हो, सत्य विषयक जिज्ञासा हो, जो अन्तर्मुख होना चाहता हो, उसके लिए यह लो परमेश्वर ! यह लो परमात्मा !

'फिर यह दीखता क्या है ?

'यहाँ ईश्वर दीखता है।'

'ईश्वर प्राप्तिकी कीमत क्या है ?

'तुम्हारी नजर में—जो चीज ईश्वरके सिवाय मालूम पड़ती है, जिसके बारेमें तुम्हारा खयाल है कि वह ईश्वर नहीं है—उसपर अपनी नजर मत जमने दो, उसपर अपनी नजर मत गड़ाओ। यही उसकी कीमत है।'

ईश्वर कहता है, 'तुम मुझको छोड़कर दूसरेकी ओर देखते हो, इसी लिए मैं अनदेखा हूँ। अगर दूसरेकी ओर देखना छोड़ दो, तो मैं तो बिलकुल हाजिराहजूर हूँ।'

न निकट न दूर, हाजिरा हजूर! देखो, यह प्रकाश! देखो, यह तमाशा! यह स्वयं प्रकाश इन्द्रका क्या खेल हो रहा है?

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

देखो, क्या ऐश्वर्य है परमात्माका? पहले जब ऐसे चित्र बने थे कि चित्र तो फ्रेममें मढ़ा हुआ एक और दीखें तीन—एक ओरसे 'गांधी' दीखे, एक ओरसे 'नेहरू' तो एक ओरसे 'सुभाषचन्द्र बोस'—तो आश्चर्य होता। उसी प्रकार यह परमातमा एक है, बिलकुल एक, मगर तीन दीख रहा है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति एकमें दीख रही हैं।

पहले एक तस्वीर बिकती थी बाजारमें। हम लोगोंने बचपनमें देखा है। क्या तस्वीर बनती थी कि एक जंगल बना है। 'इसमें एक गधा रखा गया है, ढूँढ़ो उसको!'

सामान्य रूपसे देखें तो कहीं नहीं दीखे। जब कोई दिखा दे, 'यह लकीर, यह लकीर, यह लकीर, तो साफ-साफ दिखने लगे। कोई बता दे तो उसमें गधा बन जाय। कहे कि 'बन्दर है', तो बन्दर बन जाय। परन्तु थीं बिलकुल लकीरें।

अरे, एक तस्वीर पहले बाजारमें आती थी। ऊपरको देखो, तो सरदारजी हैं; दाढ़ी है सिरपर पगड़ी है, बाल-वाल हैं और उलट दो तो बच्चा है! एक ओरसे देखो तो बालक और एक ओरसे देखने पर सरदारजी! यह क्या है? जादूगर आगया—'अरे भाई, देख लो तमाशा।' ऐसे बोलता है। 'मैं बालक हूँ। देखो जादूका खेल।' हिप्नोटाइज कर दिया लोगोंको तो वह बालक दीखने लगा। सम्मोहन!

'देखो, मैं जवान!' तो जवान! 'देखो, मैं औरत!' तो औरत! माध्यमको ये लोग बेहोश कर देते हैं, तो जो चाहे सो कहलवा देते हैं। ये कौन हैं? यह ऐसा है, ऐसा है, ऐसा है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।'

यह जो इन्द्र है, इदन्द्र—परमात्मा, इदका दृष्टा, वह मायाके कारण अनेक-रूप दिखायी पड़ता है। 'माया' शब्दका अर्थ क्या है? एकको अनेक दिखानेका औजार है परमात्माके पास, उनका नाम 'माया' है। मीयते जगत् अनया—जिससे जगत् दिखायी पड़े।

मान् माने शब्देन मीयते जगत् अनया। परमात्माके पास एक ऐसी जादूकी मशीन है, उसे लोगोंकी आँखोंके सामने लगा देते हैं तो एक अनेक दीखने लगता है, पूर्ण परिच्छिन्न दीखने लगता है, चेतन जड दीखने लगता है; अविनाशी विनाशी दीखने लगता है; आनन्द दुःख दीखने लगता है, ज्ञान अज्ञान दीखने लगता है।

वह मशीन क्या है ? वह यन्त्र क्या है ? वह जादू क्या है ?

उसी जादूको माया बोलते हैं। हम लोगोंके बचपनमें 'इन्द्र जाल' नामकी एक पुस्तक छपती थी।

य एको जालवानीशत ईशनीभिः। (श्वे ३.१)

श्वेताश्वतर उपनिषद्में 'जालवान्' शब्द आया है। ईश्वरके पास एक जाल है। वह जाल फैला देते हैं कि वह खुद ही एक अनेक दीखने लगता है। यह जाल है।

इन्द्रजाल माने माया। निरुक्तमें 'प्रज्ञा'के कई नाम हैं, उनमें 'माया' भी एक नाम है। प्रज्ञाका एक नाम 'माया' है।

आपने देखा होगा, एक सिनेमा आता है त्रि-आयामी—(थ्री-डी सिनेमा) उसमें दर्शकोंको एक-एक चश्मा देते हैं। दर्शक लोग अपनी आँखपर चश्मा लगा लेते हैं। अब मंचपर एक आदमी बन्दूक लेकर आता है, बन्दूक तानता है, अब गोली छोड़ी। पाँच हजार दर्शक आकर बैठे हों, तो सबको ऐसा लगता है कि निशाना हमारे ऊपर लग रहा है। चश्मा हटा लो तो नहीं लगता और चश्मा लगा लो, तो लगता है कि बन्दूकका निशाना हमारे ऊपर लग रहा है। इसीको मायाका खेल बोलते हैं।

माया उसको बोलते हैं, जो अवास्तविकको भी वास्तविक करके दिखा दे। एक परमात्मा जगत्के रूपमें कैसे दीख रहा है ? पाँच इन्द्रियोंका मुखौटा जो लगा लिया है न ! जैसे एक घड़ेमें एक दिया जलाकर रख दिया जाय, और उसमें पाँच छेद हों ! एक पर लाल कागज लगा लो, एक पर हरा, एक पर पीला, एक पर काला, एक पर भूरा ! तो रोशनी एक है, परन्तु पाँच तरहकी मालूम पड़ेगी।

इसी तरह संसारमें जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध मालूम पड़ते हैं, ये ऐन्द्रियक प्रज्ञासे मालूम पड़ते हैं—

इन्द्र सृष्टं इन्द्र जुष्टं इन्द्र दत्तम्।

ये इन्द्रियाँ इन्द्र अर्थात् परमात्माके द्वारा बनायी हुई, परमात्माके साथ

लगी हुई, परमात्माके द्वारा जीवोंके साथ जोड़ी हुई हैं—यही माया है—मीयते जगत् अनया—इसीको माया बोलते हैं।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

पुरु=अनेक। पुरुमें एक षकार जोड़ दो तो शब्द बनेगा 'पुरुष'। यह पुरु ही पुरुष दिखायी पड़ रहा है। पुरु माने मरद भी और औरत भी। यह नहीं समझना कि पुरुष माने पुरुष शरीर। पुरुष माने जीव।

स्त्रीके शरीरमें, पुरुषके शरीरमें, 'अहं-अहं' जो मालूम पड़ता है वह इन्द्र है—परमात्मा है। परन्तु यह रूप तो दिखायी पड़ता है। पुरुष दिखायी नहीं पड़ता। पुरुष दिखायी नहीं पड़ता, पुरु दिखायी पड़ता है।

एक बार हमलोग 'हृषिकेश' से 'स्वर्गाश्रम' जा रहे थे। सड़कपर निकले तो 'परमार्थ निकेतन'के ठीक सामने एक दुकान बनी हुई थी, मिठाईकी, दही-बड़ेकी। जब हमलोग इस दुकानके सामने आये तो उसमें परमार्थ-निकेतनका 'प' ढक गया। अब पढ़ा जाय—'रमार्थनिकेतन।' मैंने स्वामीजीसे कहा—या तो इस दुकानको यहाँसे हटाओ या उस पर 'प' ठीक-ठीक और ऊपर लिखवाओ 'प' ढँक गया है तो 'रमार्थनिकेतन' पढ़ा जाता है।

ऐसे ही यहाँ मायाने क्या किया? 'पुरुष'में जो 'ष'-कार है न, नानात्वका संवर्तक, वह ढँक गया, तो 'पुरु' रह गया। मायाने एक पुरुषको पुरुरूप करके बना दिया—'इन्द्रो मायाभिरित्यपि।'

तुम्हारा आत्मा इस शरीरके आवरणसे ढँक गया, तो हम-तुम दोनों एक हैं, यह नहीं मालूम पड़ता। यही आत्मा—आत्माको अलग-अलग बनानेवाली माया है।

\+ + +

एक सज्जन ऐसे हैं जो सिद्ध करते हैं कि 'माण्डूक्यकारिका' बौद्ध-सम्प्रदायका ग्रन्थ है। आजकल जो रिसर्च करनेमें बिलकुल नयी बात कहे तो उसकी ओर लोग ध्यान ज्यादा देते हैं। वह मशहूर हो जाता है। परन्तु ऐसा है नहीं। यह ग्रन्थ शुद्ध वैदिक है।

नेह नानेति चाम्नायात्।

आम्नाय माने वेद। वेद कहता है—'नेह नानास्ति किञ्चन।' तो इस वेद मन्त्रको बौद्ध-सम्प्रदायमें कैसे उद्धृत किया जायगा? 'इन्द्रो मायाभिः पुरु-

रूप ईयते'—यह भी वेद मन्त्र है। 'अजायमानो बहुधा विजायते'—यह भी वेद मन्त्र है और 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिमुपासते'—'कोऽन्वेनं जनयेत्', 'स एष नेति-नेति' ये सब भी वेद मन्त्र हैं। तो बार-बार श्रुति-पर-श्रुति जब उद्धृत करते हैं तब यह ग्रन्थ बौद्ध कैसे हो सकता है? असलमें 'अर्थी दोषं न पश्यति' जब किसीके मनमें कोई स्वार्थ आ जाता है, तो उसकी नजर दोषपर नहीं जाती। मँगतेको अपने दोषका पता नहीं चलता।

यह बताया कि वेद साफ कहता है कि नानात्व नहीं है। यह तो नानात्वका निषेध हुआ। और यह भी कहते हैं कि एक ही परमात्मा मायासे अनेक रूप देखनेमें आता है। क्योंकि इन्द्रियोंसे जितना भी ज्ञान होता है, वह आविद्यक है। इसलिए मायारूप ही है।

आविद्यक क्यों है? इसका आपको एक सुगम तरीका बताता हूँ। रस्सीमें साँप देखनेका उदाहरण दिया जाता है, उसको ले लो अथवा आकाशमें नीलिमा अब भी दीखती है, उसको ले लो। वह सर्प रज्जुमें है कि द्रष्टामें है? यह विचार करो। माने क्या रज्जु परिणामको प्राप्त हो करके सर्प बन गयी है? जैसे मिट्टीसे घड़ा बना, वैसे क्या रस्सीसे साँप बन गया? लेकिन रज्जु तो ज्यों-की-त्यों रहकर ही सर्पाकार भासती है।

इसका अर्थ हुआ कि रज्जुमें दीखने वाला साँप असलमें नहीं है, उत्पन्न हुआ नहीं। अच्छा, तो क्या द्रष्टा सर्पाकार परिणामको प्राप्त हुआ है? क्या साक्षी परिणामी है? तो द्रष्टा भी साँप नहीं बना।

आकाशमें जो नीलिमा भासती है, वह जैसे चावल पककर भात बन जाता है, दूध जमकर दही बन जाता है, वैसे क्या आकाश जमकर नीलिमा बन गया है? तो क्या आकाशको देखनेवाला द्रष्टा तब्दील होकर—परिणामको प्राप्त होकर, विकृत होकर, नीलिमा हो गया है।

यह सर्प और यह नीलिमा न तो सत् अधिष्ठानमें है और न तो सत् चेतनमें है।

इसका अभिप्राय बड़ा विलक्षण हुआ। जिसको हम अधिष्ठान कहते हैं, वह काल और कालके अवयवोंका भी अधिष्ठान है। इसलिए उसको हम अविनाशी कहते हैं। वह देश और देशके अवयवोंका भी अधिष्ठान है। व्यष्टि काल और समष्टि काल दोनों का अधिष्ठान है। व्यष्टि-बीज और समष्टि-बीज दोनोंका अधिष्ठान है। उस अधिष्ठानमें न व्यष्टि काल है, न समष्टि काल। न व्यष्टि देश है न समष्टि देश। और न व्यष्टि बीज है, न समष्टि बीज।

इसी प्रकार न तो द्रष्टामें व्यष्टि देश, व्यष्टि काल और व्यष्टि वस्तु है और न तो द्रष्टामें समष्टि देश, समष्टि काल और समष्टि वस्तु है। द्रष्टा तो द्रष्टा ही है। अतः न तो, यह (द्रष्टा) बनता है, न तो वह (अधिष्ठान) बनता है। दोनों देश-काल-वस्तुसे रहित होनेसे दो हो ही नहीं सकते। जो अधिष्ठान सो द्रष्टा और जो द्रष्टा सो अधिष्ठान।

तब यह प्रश्न हुआ कि यह सृष्टि कहाँसे आगयी ? तो बताते हैं कि वस्तुतः वह (स्वप्रकाश अधिष्ठान) ज्यों-का-त्यों है। यह सृष्टि सर्पकी भाँति, नीलिमाकी भाँति या स्वप्नकी भाँति प्रतिभास-मात्र है।

वेदान्त समझनेवालोंके लिए ये ही दो बातें देखनी हैं—चेतन देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, इसलिए वह अधिष्ठान है और अधिष्ठान भी देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, इसलिए वह चेतन है। चेतन अधिष्ठान तो परिपूर्ण हैं और दोनोंके बीचमें कोई देश-काल-वस्तु है नहीं। कहीं, कभी, कुछ सृष्टि जो है, वह न कहीं है, न कभी है और न कुछ है। क्योंकि आत्मा और परमात्माके बीचमें, द्रष्टा और ब्रह्मके बीचमें कहीं, कभी और कुछ होता ही नहीं।

इसका नतीजा बहुत बढ़िया निकला। क्या ? यह कि परमात्माके सिवाय दूसरी वस्तु नहीं है। आत्माके सिवाय दूसरी वस्तु नहीं है। भले तुम भिन्न-भिन्न आकारमें देखो, परन्तु ये भिन्न-भिन्न आकार माया है।

एक कथा आयी है 'विष्णु-पुराण'में, एक ब्राह्मण था। नाम था 'निदाघ'। बड़ा सदाचारी, धार्मिक और याज्ञिक था। सदसद्विवेक सम्पन्न था। एक बार 'ऋभु' महाराज घूमते-फिरते भिक्षाके समय उसके घर पहुँच गये। उसने खूब प्रेमसे उनको भिक्षा कराई, खिलाया-पिलाया।

ऋभुजीने कहा—'तू अधिष्ठान चैतन्य ब्रह्म है और तेरे अन्दर सृष्टि बिलकुल नहीं है, तू ही अखंड सत्य है।'

'निदाघ'ने सिर झुकाया, हाथ जोड़ा—'महाराज, सत्य वचन।' थोड़े दिनोंतक यह बात उसकी बुद्धिमें रही, पर आवरण भंग तो हुआ नहीं। जब ऋभुजी चले गये, तो फिर वही अपना यज्ञ, सदाचरण, धर्मानुष्ठान करने लगे।

कई बरस बीत गये। इस बीच क्या हुआ, कि राजाकी सवारी निकली; हजारों आदमी सड़कपर खड़े रहकर राजाकी रथयात्रा देख रहे थे। हाथीपर चढ़कर राजा निकला।

'निदाघ' भी भीड़में खड़े होकर राजाकी रथयात्रा देख रहे थे। इसी बीच

'ऋभु' भी दूसरे वेशमें, जिसको देखकर महात्मा न लगें, कोई पागल हो, कोई सिड़ी हो, शरीरमें धूल लगी हुई, बाल बढ़े हुए, जैसे कोई भिखारी हो, ऐसे उस भीड़में थे।

उन्होंने देखा कि वह ब्राह्मण 'निदाघ' बड़े प्रेमसे राजाकी सवारी देख रहा है। वे उसके पास गये। 'निदाघ'ने उनको पहचाना नहीं कि यह वही महात्मा हैं जिनको मैंने एक दिन भोजन कराया था। 'शुकदेव'-'वामदेव' कोटिके ही 'ऋभुजी' हैं। ब्रह्माके पुत्र जैसे 'सनक-सनन्दन' आदि, जैसे 'नारद' हैं, वैसे ही 'ऋभु', 'आरुणी', 'हंस' ये सब ब्रह्माके पुत्र हैं। ये तो ऋषभदेवकी कोटिके, 'रैक्व'की कोटिके, 'जड़भरत'की कोटिके महात्मा हैं। उसने नहीं पहचाना, तो वे चले गये उसके पास।

पूछा—'ए पंडितजी! 'निदाघजी'! यह क्या है?

निदाघ—'तुम्हारी आँख क्या फूट गयी है? देखते नहीं हो? राजाकी यात्रा निकल रही है!'

ऋभु—'राजा कौन है?'

निदाघ—'जो हाथीपर चढ़ा बैठा है वह राजा है।'

ऋभु—'इसमें हाथी कौन है? राजा कौन है?'

निदाघ—'जो नीचे है वह हाथी है, जो ऊपर है वह राजा है।'

ऋभुने फिर पूछा—नीचे कौन है? ऊपर कौन है?

निदाघने—एक बार फिर समझाया, हाथी नीचे है, राजा हाथीके ऊपर है।

ऋभु—'कुछ समझमें नहीं आया। हाथी कौन? राजा कौन? ऊपर कौन? नीचे कौन?'

निदाघको आया गुस्सा। ऋभुके ऊपर चढ़ बैठे। 'देख, तू हाथी है, मैं राजा हूँ!' चेला गुरुके ऊपर चढ़ बैठा।

ऋभु बोले—'यह तो माटी-पर-माटी चढ़ बैठी। दोनों माटी हैं। ऐसा भी हो सकता है कि यह माटी ऊपर हो और तुम्हारेवाली माटी नीचे हो। इसमें क्या नियम है कि तुम्हीं ऊपर रहकर राजा रहो और मैं हाथी होकर नीचे रहूँ? यह क्या नियम है? यह ऊपर-नीचे तो मनका खेल है। मनकी माया है। नहीं तो स्थानमें धरती ऊपर है कि सूर्य ऊपर है? यह कहाँसे शुरू करके ऊपर-नीचे देखेंगे? ये तो आकाशमें सब-के-सब झूला झूल रहे हैं। जैसे सपनेमें नीचे-ऊपर नहीं होता, जाग्रत्‌में भी नीचे-ऊपर नहीं होता।'

अब 'निदाध'को खयाल हुआ कि यह पागल आदमी कैसी बातकर रहा है ! गौरसे मुँह देखा, तो याद आगयी कि यह तो वही महात्मा हैं ! बोले— 'आप ऋभुजी हैं ? हमारे गुरुजी हैं आप।' झट नीचे उतरकर प्रणाम किया। फिर दोनोंका बहुत बढ़िया संवाद हुआ। वेदान्तोंका वर्णन है, जैसे 'माण्डूक्य-कारिका' है, जैसे 'नैष्कर्म्यसिद्धि' है, इस ढंगका यह संवाद 'विष्णु-पुराण' में है।

यह देखो, ऊपर-नीचेकी माया ! क्या सचमुच 'ऋभु' भिखारी हो गये थे ? क्या वे सचमुच पागल हो गये थे ? वे क्या सिडी हो गये थे ? परन्तु ऐसी माया थी कि वैसे मालूम पड़ते थे। ऐसी मायाके अनेक दृष्टांत मिलते हैं।

भगवान् विष्णु और नारद एक साथ यात्रा कर रहे थे। नारदने कहा—'महाराज ! माया दिखाओ।

भगवान् बोले—'मुझको देख, बाबा ! क्या माया देखता है ?'

नारद—'नहीं महाराज !'

भगवान् बोले—'प्यास लगी है।' अब नारायणको प्यास लग गयी ! नारदजी गये जल लेने और नारायण बैठ गये। यह भूखा-प्यासा होना माया ही है। अब नारदजीने एक नदी देखी तो उसमें स्नानके लिए गये। उन्हें तो जल लेकर लौट आना था। स्नान करते ही नारदसे नारदी हो गये। वहाँ एक राजकुमार आया। उसके साथ नारदीका ब्याह हो गया। बरसों बीत गये, बारह बच्चे हो गये। पतिकी मृत्यु हो गयी। नारदी विधवा ! अब वह चिताके पास बैठकर रो रही है ! 'हाय-हाय ! मेरा तो सर्वनाश हो गया।'

इतनेमें नारायण आये—'अरे नारदजी ! कहाँ हो ? कहाँ रह गये ? भाई, तुम घंटे भरसे पानी लेने आये हो !' बीस-पचीस बरसका समय घण्टे भर हो गया। वह पति नहीं वे बच्चे नहीं ! नारदको तो बड़ा संकोच हुआ। संकोचके मारे नदीमें कूद पड़े। फिर नारदके नारद ! तो यह सब क्या है ? इसीको माया बोलते हैं। हुआ कुछ नहीं। अनेक रूप धारण करके दिखाते हैं।

माया उसको कहते हैं, जहाँ बदले कुछ नहीं, दीखे बहुत। मूल तत्त्वमें परिवर्तन नहीं होता, परिवर्तन भासता है। यह द्रष्टा भी मायावी है। क्यों ? कभी पापी भासता है, कभी पुण्यात्मा भासता है, कभी सुखी भासता है, कभी दुःखी भासता है। है तो एक, चेतन, साक्षी और पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, परिच्छिन्न भासता है। यही माया है। अधिष्ठान जो द्रष्टा है, कभी मछली भासे, कभी कछुआ भासे; 'माया' शब्दका प्रयोग ही तत्त्वतः अनहुए पदार्थके बारेमें होता है। जो तत्त्वसे न हो, अनहुआ हो भासे, इसीको माया कहते हैं।

'श्रीमद्भागवत'में 'माया' शब्दका अर्थ बतानेके लिए एक कथा है, १२वाँ स्कंध है। 'मार्कण्डेयजी'ने खूब तपस्या की। नारायण प्रसन्न हुए। नरनारायणने कहा—'मार्कण्डेयजी ! वर माँग लो !'

मार्कण्डेयजीने कहा—'आप दोनों नर-नारायणके दर्शन तो हो ही गये। जीव और ईश्वर, इन दोनोंको तो देख लिया ! अब जरा माया देखना चाहते हैं।'

नारायणने कहा—'माया मत देख ! इतना ही काफी है।'

'नहीं महाराज, देखना है।'

'अच्छा, देख लेना कभी।'

सायंकाल मार्कण्डेयजी तुंगभद्रा नदीके तटपर अपने आश्रममें ध्यान करनेके लिए बैठे। अब क्या देखते हैं ? समुद्र उमड़ता हुआ चला आ रहा है। प्रलय हो गयी ! आश्रम डूब गया ! पहाड़ डूब गया। तुंगभद्रा नदी लापता हो गयी। जहाँ देखें, वहाँ प्रलयका जल—प्रलयका जल ! बरसोंतक, मन्वंतरोंतक, कल्पोंतक मार्कण्डेयजी उस प्रलयके जलमें भटक रहे हैं। फिर देखा, अक्षयवट ! अक्षयवट पर बालक ! बालक बड़ा प्यारा लगा।

वह वट भी माया है और वह बालक भी माया है। श्वासके रास्ते फिर मार्कण्डेयजी उस बालकके पेटमें गये। वहाँ देखा फिर कोटि-कोटि कल्प और कोटि-कोटि ग्रह-उपग्रह, खगोल ! फिर साँससे बाहर आये तो फिर प्रलय ! खूब स्तुति की। ईश्वरका स्मरण हुआ।

फिर थोड़ी देरके बाद क्या देखते हैं कि वह अपने आश्रममें, तुंगभद्रा नदी-पर ! यह जो अनेकों ब्रह्मांड देखे, अनेकों ब्रह्माण्ड जिस देशमें रहते हैं, वह देश देखा। अनेकों मन्वन्तर और कल्प देखे माने काल देखा। तो कालके सारे अवयव, स्थानके सारे अवयव, वस्तुके सारे अवयव और जिसके पेटमें समा गये, सो और जो समा गया सो सब देखा।

जो समा गया सो जीव, जिसके पेटमें समा गया सो ईश्वर और वहाँ जो देश-काल-वस्तुका दर्शन हुआ सो ! इसका नाम माया।

इसी मायाका जो अधिष्ठान है, जो आश्रय है, उसको ब्रह्म कहते हैं। जिसने अनन्त कोटि ब्रह्माण्डको अपने पेटमें रखनेवाले शिशुको बनाया, जिसने उसमें घुस करके देखनेवाले मार्कण्डेयके शरीरको बनाया, जिसने जलप्रलय किया, जिसने कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड दिखाये, वह माया जिसमें केवल अध्यारोपित रीतिसे रहती है, वस्तुतः नहीं रहती; इसका नाम होता है अधिष्ठान। तत्त्व-मस्यादि महावाक्य बताते हैं कि 'तुम हो यह अधिष्ठान।'

यह 'माया' शब्दका अर्थ हुआ। पुराणोंकी इतनी कथाएँ याद आ रही हैं कि आपको १८ पुराणोंका समन्वय करके सुना दें, इस मायाके दर्शनमें।

एक बार जब कौरव-पाण्डव युद्ध समाप्त हुआ,—तो उत्तंक ऋषि गये। महाभारतमें यह कथा आती है—बड़ा उपद्रव हुआ था महाभारत युद्ध में। अट्ठारह अक्षौहिणी सेना नष्ट हो गयी। सात ही जन बचे उसमें-से घरमें स्त्रियोंका कुहराम मचा हुआ था। उत्तंकमुनि देखकर द्रवित हो गये।

वे बोले—'देखो, कृष्ण यहाँ मौजूद थे। वे चाहते तो युद्ध न हुआ होता! रोक देते, तो युद्ध कैसे होता? अरे, युधिष्ठिर ही मान जाते। तपस्या करते। क्या बात थी! उनके प्रभावसे, संकल्पसे दुर्योधनका मन बदल जाता। वह राज्य दे देता। उन्होंने लड़ाई क्यों होने दी? सारा दोष कृष्णका है। अब चलो कृष्णके पास। हम शाप देंगे उनको।'

उधरसे तो कृष्ण स्वयं ही आकर सामने खड़े हो गये। और उत्तंक क्या देखते हैं कि श्रीकृष्णके रोम-रोममें कोटि-कोटि ब्रह्मांड हैं!

जाके रोम-रोम ब्रह्मण्डा।

यस्य रोमकूपेषु समंततो अनंतानि ब्रह्माण्डानि प्रज्वलन्ति।

'महानारायणोपनिषद्'में यह नारायणका वर्णन है।

जिसके रोम-रोममें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं वह नारायण श्रीकृष्ण सामने आकर खड़े हो गये और बोले—'उत्तंक! १८ अक्षौहिणी सेना नष्ट हो गयी, तब तुम हमपर गुस्सा करते हो? जरा देखो! हमारे शरीरमें एक साथ करोड़ों ब्रह्माण्ड नये पैदा हो रहे हैं और करोड़ों ब्रह्माण्ड नष्ट हो रहे हैं। उन नष्ट होते हुए करोड़ों ब्रह्माण्डोंके लिए तुम गुस्सा क्यों नहीं करते? अरे, मैं ही रुद्र हूँ भाई, महारुद्र! महाप्रलय मैं करता हूँ, तब तुम शाप क्यों नहीं देते? १८ अक्षौहिणीसे बड़ी ममता?'

उत्तंक बोले—'माफ करो बाबा!'

अर्जुनको भी शंका हो गयी थी कि बड़े लोग मर जायेंगे। श्रीकृष्ण बोले—देख!

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च।
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणेसपत्नान् (गीता ११.३४)

सब पहलेसे मरे हुए हैं—

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्। (गीता ११.३३)

जो जिंदा दीखते हैं, वह भी माया है और जो मुर्दा दीखते हैं वह भी माया है। परमात्माके स्वरूपमें 'अनहुई' जो वस्तु 'हुई' मालूम पड़ती है, जादूका खेल यही है। चीज जैसी न हो, वैसी जादूमें करके दिखा दिया जाय—यह परब्रह्म परमात्मामें माया है। कहनेका अभिप्राय है। 'अनहुई सृष्टिका अपने अधिष्ठानमें हुई भासना माया है।'

आपको पहले ही सुनाया—सृष्टि अधिष्ठानमें देखते हैं तो अधिष्ठान विकारी नहीं हुआ। उसमें तो दृष्टिसे सृष्टि आयी, आरोपित हुई। द्रष्टामें देखते हैं, तो वह भी विकारी नहीं होता, वह भी सृष्टिके रूपमें परिणत नहीं होता। तो, सृष्टिका कारण न अधिष्ठान है, न द्रष्टा। फिर दोनोंको देखते हैं तो दोनों देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, दोनों सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदरहित हैं, तो दोनों दो कहाँ हैं ? एक है।

इसलिए न तो यह सृष्टि द्रष्टाका विकार है, न अधिष्ठानका विकार है। द्रष्टा और अधिष्ठानका एक लक्षण है। अधिष्ठान चेतन है और चेतन सत् है, अधिष्ठान है, उसमें यह सृष्टि भास रही है, तो ऐसी जगहपर भास रही है जहाँ नहीं हो सकती। एक ऐसे कालमें भास रही है, जिसमें यह नहीं हो सकती, एक ऐसी सत्तामें भास रही है, जिसमें यह नहीं हो सकती। एक ऐसे चैतन्यमें भास रही है, जिसमें यह नहीं हो सकती।

इसका नतीजा क्या निकला ?

ब्रह्मणि ब्रह्म जृम्भते।

ब्रह्ममें ब्रह्म ही है। जो है, वह भी ब्रह्म, जिसमें है वह भी ब्रह्म! जो देखता है वह भी ब्रह्म और जो देखा जाता है वह भी ब्रह्म। इसका अर्थ हुआ कि राग-द्वेष-ईर्ष्या-अविद्या-कलुष कहाँ ? जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख व्यवहारमें !

परमार्थमें न जीवन्मुक्ति है न विदेहमुक्ति, न क्रममुक्ति है, न सद्योमुक्ति। परमार्थमें सद्योमुक्ति भी नहीं है। क्रममुक्तिकी तो चर्चा ही छोड़ दो! एक बार मैंने श्रीउड़ियाबाबाजीसे पूछा—'महाराज, जीवमुक्ति अच्छी है कि विदेहमुक्ति अच्छी है ?'

बाबा बोले—'दोनोंकी कल्पना ही अमंगल है। जो लोग संसारमें बँध गये हैं, उनको छुड़ानेकी दृष्टिसे मुक्तिकी कल्पना की गयी है। यह परमार्थ-सत्य नहीं है।

अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः।

सृष्टि-श्रुतिकी संगति लगानेके लिए कि वेदमें अप्रामाण्यापात् न हो

जाय, यह कहा गया है। परमात्मा कैसा ? अजायमान। जायमान नहीं, जात नहीं, जनिष्यमाण नहीं ! 'अजायमान'—इस शब्दको एक नजरसे देखकर इसका अर्थ समझमें नहीं आवेगा।

'जायमान' शब्द होता है वर्तमानके अर्थमें। जायते इति 'जायमानः'। इस समय जो पैदा हो रहा है, इसको बोलते हैं, 'जायमान्।' तब 'अजायमान्'-का अर्थ हुआ—जो इस समय पैदा नहीं हो रहा है। इसका हुआ अर्थ 'अजात।' अर्थात् पहले भी पैदा नहीं हुआ और आगे ? 'अजनिष्यमाण' अर्थात् आगे भी पैदा नहीं होगा। तो 'अजायमान्' पद 'अजात' और 'अजनिष्यमाणका उपलक्षण है, संकेत है।

इस समय जो मालूम पड़ता है वह क्या मालूम पड़ता है ? मालूम पड़ता है, 'हम बैठे हुए हैं', यह मालूम पड़ता है; 'हम सुन रहे हैं।'—मालूम पड़ता है, 'हम बोल रहे हैं'—मालूम पड़ता है, 'हम सोच रहे हैं'—मालूम पड़ता है। तो देखा—'सोचते जा रहे हैं'—कालमें व्याप्त हो रहे हैं। 'बैठे' हुए हैं माने पूर्वक्षणमें बैठे थे, अब भी बैठे हैं और आगे भी बैठे रहेंगे। 'सुनते जा रहे हैं'—यह जो प्रवाह मालूम पड़ता है स्वप्नकी त्रिपुटीके समान बिलकुल मिथ्या है।

एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके सत्संगमें एक प्रश्न उठा। हमें बिलकुल याद है, कौन-कौन सज्जन थे जो श्रीउड़ियाबाबाजीसे पूछते थे। उन्होंने पूछा—'यह जो सुषुप्तिकी स्मृति होतो है, सो कैसे होती है ? क्योंकि सुषुप्तिमें ज्ञाता तो है नहीं। साक्षीको स्मृति होती है, यदि यह मानो तो साक्षीमें स्मृतिका आरोप करोगे। तब साक्षी संस्कारवान्, धर्मवान् हो जायगा। फिर उसका जन्म-मरण मानना पड़ेगा। इस समय हमको याद आती है कि हम रातको सोये थे। फिर 'अगली रातको सोवेंगे'—यह भी कल्पना होती है ? स्वप्नकी भी स्मृति होती है कि हमने रातको स्वप्न देखा। यह स्वप्नकी स्मृति किसको होती है ? अतःकरणावच्छिन्न शुद्ध चैतन्य प्रमाता है, उसको तो स्मृति हो नहीं सकती। द्रष्टाको स्मृति होती नहीं, साक्षीको स्मृति होती नहीं। उसके सिवाय स्मृति करनेवाला और कोई था नहीं। बुद्धि सो गयी थी। तो इस समय जो सुषुप्तिकी स्मृति हो रही है, वह किसको हो रही है।

अभिप्राय क्या ? इस समय स्मृति हो रही है और 'साक्षीको हो रही है'—यदि ऐसा मानो तो साक्षी जन्म-मरणसे मुक्त कभी होगा नहीं। यदि साक्षीको स्मृति हो रही है, तो स्मृति तो उसका धर्म होगया, लगी ही रहेगी ! यदि कहो कि साक्षीके सिवाय और कोई था, जिसको स्मरण हो रहा है, तो

वह हुआ जीव। बुद्धिके सो जानेपर भी उसकी निवृत्ति नहीं हुई। तो वह भी कभी जन्म-मरणसे मुक्त नहीं हुआ।

श्रीउड़ियाबाबाजीने इसका उत्तर दिया—'इस समय जो सुषुप्तिका स्मरण हो रहा है या स्वप्नका स्मरण हो रहा है, यह नवीन त्रिपुटी है। यह अनुभूत सुषुप्तिका स्मरण नहीं है। यह कल्पित सुषुप्तिका स्मरण है। माने सुषुप्ति न कभी हुई, न आगे कभी होगी, इस समय ही अंतःकरणमें कल्पना हो रही है कि सुषुप्ति हुई थी। जैसे स्वप्नमें यह अनुभव होवे कि हमारी उमर तीस बरसकी हुई। हर वर्षमें ३६० रातें हुईं और हर ३६० रातोंमें मैंने शयन किया, तो—'स्वप्नमें मैंने हर वर्ष ३६० रातोंमें सोना और तीस बरसतक लगातार सोना यह स्वप्नमें स्मरण होगा।' यह स्मरण सच्चा है कि झूठा? बिलकुल झूठा।

न वहाँ तीस वर्ष है, न हर वर्षमें ३६० रातें हैं। जैसे बिलकुल कल्पनात्मक त्रिपूटी स्वप्नमें उदय होती है, कि हम तीस बरससे सोते-जागते आ रहे हैं, वैसे इस समय जाग्रत अवस्थाकी बिलकुल अननुभूत स्वतंत्र त्रिपुटी है कि 'मैं स्मरण करनेवाला हूँ और स्मरण हो रहा है और रातको मैंने निद्राका अनुभव किया था।'

'रात्रिमें निद्रा थी, इस समय स्मृति है और मैं स्मरण करनेवाला हूँ—यह बिलकुल स्वतंत्र त्रिपुटी है।'

यह एक प्रश्नोत्तर आपको इसलिए सुनाया कि आप भी तो 'विचार चंद्रोदय, 'विचार सागर' 'पंचदशी' पढ़ते होंगे। महात्माओंके पास बैठकर वेदांतका जो सत्संग होता है, वह किस ढंगका होता है, आपकी बुद्धि वेदांत विचारमें कितना प्रवेश करती है यह बात आप समझ सको।

इसका नतीजा यह है कि जो जायमान् नहीं है, वह जात भी नहीं है और जो जात नहीं है, वह जनिष्यमाण भी नहीं है। इसलिए 'अजायमानो बहुधा' परमात्मा और यह जगत् भी जायमान् नहीं है, जीव भी जायमान् नहीं है और ईश्वर भी जायमान् नहीं है। इन तीनोंकी कल्पना जिसमें होती है, इस कल्पनाका साक्षी, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्व भी जायमान् नहीं है।

प्रश्न—तुम्हारी सृष्टि-श्रुतिका क्या होगा? तुम्हारा वह वेदवेदांत जिसमें—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि,
जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति।

इत्यादि श्रुतियाँ हैं उनका क्या होगा ? ब्रह्मसूत्रके **जन्माद्यस्य यतः** और गीताके

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त सर्वं प्रवर्तते ।

इन वाक्योंका क्या होगा ? सब उपनिषदोंकी व्याख्यामें शंकराचार्य संगति लगाते हैं कि सृष्टि परब्रह्म परमात्मासे हुई । 'ब्रह्मसूत्र'के भाष्यमें संगति लगाते हैं कि सृष्टि परमात्मामें हुई । 'गीता' के भाष्यमें संगति लगाते हैं कि सृष्टिका कारण परमात्मा है । यह क्या ?

उत्तर—बोले—'बस, परमात्माका स्वरूप जो है, वह अजात है ।'

'अजात' नहीं बोलते वेदान्तमें । मैं एक डिग्री नीचे उतरके परमात्माको 'अजात' बोलता हूँ । अजात-त्वोपलक्षित; जातत्वेन भासमान जगत्-जीव-ईश्वर और अजातत्वेन भासमान इनका अनिर्वचनोय कल्पित कारण; और उस अजा-तत्वसे, अव्याकृतात्मासे, उपलक्षित, संकेतित, जो विशुद्ध, अविनाशी, परिपूर्ण, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अद्वय तत्त्व; उसको—

अजः कल्पित संवृत्या परमार्थेन नास्त्यजः ।

जिसको कल्पित संवृतिसे अज कहते हैं, उसमें सृष्टि-श्रुतिकी संगति क्या ? उसमें स्थिति-श्रुतिकी संगति क्या ? उसमें प्रलय-श्रुतिकी संगति क्या ? उसमें ऐसी श्रुति है—

आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।

आनन्दसे सबकी उत्पत्ति हुई है ।

आनन्देन जातानि जीवन्ति ।

आनन्दसे उत्पन्न होकर सब आनन्दसे ही जीवित हैं ।

आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति ।

सब-के-सब आनन्दमें जाकर मिल जाते हैं ।

जिससे सृष्टि-स्थिति-प्रलय होता है, उसका नाम ब्रह्म । जिसमें सृष्टि हुई, उसीमें प्रलय हुआ । सृष्टि-प्रलय दोनों अवस्थाओंसे उपलक्षित जो वस्तु है, उसीको परमात्मा बोलते हैं । यह तो, 'उससे भिन्न सृष्टि नहीं है', यह सिद्ध करनेके लिए सृष्टि-श्रुति है ।

सृष्टिकी प्रक्रिया बतानेके लिए, सृष्टिका काल और सृष्टिका स्थान बतानेके लिए यह सृष्टि-श्रुति नहीं है । श्रुति तो परमात्माके अद्वयत्वको संकेत-से बनानेके लिए है । तो फिर सृष्टि कैसे होती है ? मायासे होती है ।

मायया जायते तु सः ।

जिसके दिमागमें सृष्टि घुस गयी है, जो देहाभिमानी है, उसके दिमाग-

में-से सृष्टिको निकाल करके और ब्रह्मको भरनेके लिए महात्मा लोग यह युक्ति करते हैं। ब्रह्मको दिमागमें भरनेके लिए कोई युक्ति नहीं करनी पड़ती। आकाशको भरनेके लिए कोई युक्ति थोड़े ही करनी पड़ती है। दूसरी चीजें जो भरी हुई मालूम पड़ती हैं, उनको निकाल देनेसे जो स्वतःसिद्ध वस्तु है, वह ज्यों-की-त्यों है।

अजायमानो बहुदा विजायते।

यह श्रुति सृष्टिका मायासे उत्पन्न होना बताती है। वास्तवमें कुछ नहीं होता—यही इसका तात्पर्य है।

महाभारतमें यह कथा है, एक बार नारदजी भगवान्के सामने खड़े हो गये। नारदजी बोले—'महाराज! आप अपना दर्शन दो।'

भगवान् बोले—'कर तो रहे हो दर्शन! और दर्शन क्या करोगे?

एक महात्माके पास गये। महात्माने पूछा—'कैसे आये?'

'महाराज! आपका दर्शन करने आये!'

'हो गया आपका दर्शन? हड्डी-मांस-चामका दर्शन करके हमारा दर्शन हो गया? अरे! तू आपका दर्शन कर, आपका! अपने आपाको देखेगा, तब तू मुझे देखेगा! अपने आपको देखा नहीं और दूसरेको देखने चला! तू भी हड्डी-मांस और दूसरेको भी हड्डी-मांस मानता है?'

नारायणने फटकार दिया नारदको—'क्यों नारद? तुम मानते हो कि मैंने भगवान्का दर्शन कर लिया। कर लिया परमात्माका दर्शन?'

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
शर्वभूतगुणैर्युक्तं न मां द्रष्टुमिहार्हसि॥

नारद! यह तुम जो देख रहे हो, यह तो मेरी माया है। क्योंकि ये शब्द मेरे, यह स्पर्श मेरा, यह रूप मेरा, यह रस मेरा, यह गन्ध मेरा—तुम इन्हें जो देख रहे हो, ये तो भूतोंके गुण हैं। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये तो भूतोंके गुण हैं। इनके सहित तुम मुझे देख रहे हो, तो तुम माया देख रहे हो। मुझे नहीं देख रहे हो।

नारदने कहा—'फिर वही दिखाओ न!'

भगवान्—'उसको देखनेके लिए आँखकी जरूरत थोड़े है? तुम अपनेको ही देख लो। तुम अपनेको देख लोगे, तो मैं दिख जाऊँगा।'

यही तो शर्त है! महात्मासे किसीने पूछा—'ईश्वर कैसा?'

महात्मा बोले—'तू जैसा।'

मायया जायते तु सः—अजायमान् होना और बहुधा जन्म लेना—यह एक साथ नहीं हो सकता। अग्नि ठंडी भी हो और गरम भी हो—ऐसा नहीं हो सकता। आत्माके एकत्वका जो दर्शन है, वही श्रुतियोंका परम तात्पर्य है; और, इसके ज्ञानमें ही प्रयोजन है।

प्रयोजन क्या है? स्व-पर भेद रखते हो—राष्ट्रवादी राष्ट्रके स्तरपर स्व-परका भेद रखते हैं। जातिवादी जातिके पैमानेपर स्व-परका भेद रखते हैं। परिवार दृष्टिवाले आजकल तो अपने बूढ़े माँ-बापको, भाईको कहते हैं कि ये हमारे परिवारसे बाहर हैं नहीं तो इन्कमटैक्स ज्यादा लगता है। यहाँतक कि टैक्ससे बचनेके लिए पति-पत्नी भी जानबूझकर अलग रहते हैं।

परिवारकी दृष्टिसे जब देखें तो अपना परिवार 'ब्राह्मण परिवार', फिर अपना परिवार 'हिन्दू परिवार', फिर अपना परिवार 'मनुष्य परिवार'। कितना बड़ा हो गया? लेकिन ईश्वरसे तो छोटा ही है! क्योंकि ईश्वरमें केवल मनुष्य ही नहीं रहते सब प्राणी रहते हैं।

तब 'प्राणी-परिवार' कर दो! मगर ईश्वरमें तो जड़ भी है। आपने दृष्टिको कितना उदार बनाया? पारिवारिक दृष्टिका विकास मानवता तक, प्राणीत्व पर्यन्त पहुँचता है।

हमारा मोहल्ला? अरे, बढ़ाओ न! क्या मोहल्लेमें फँसे हो? अच्छा, शहर हमारा! तो बम्बई-पक्षपाती! अच्छा, महाराष्ट्र! नहीं राष्ट्र! अच्छा, एशिया महाद्वीप; नहीं-नहीं, सारी पृथिवी हमारी है। अब भी ईश्वरसे छोटा है।

एक समझौता और आया, अन्तर्राष्ट्रीय। 'चन्द्रमा या मंगलपर जब हम पहुँचें, तो युद्धके लिए उसका उपयोग न करें! क्योंकि मंगल ग्रह दूसरा है, पृथिवी ग्रह दूसरा है। ईश्वर ग्रह कैसा है? मंगल ग्रहका ईश्वर और पृथिवी ग्रहका ईश्वर दो है कि एक? एकत्वका यह कितना बड़ा आधार है ईश्वर। इस ईश्वरको छोड़ देना माने एकताकी नींवको काट देना। तो स्व-परका भेद हुआ, एक भौगोलिक दृष्टिसे अपना ब्रह्माण्ड-सौरमंडल-मंगलग्रह-चन्द्रग्रह-पृथिवीग्रह। ये सब तो छोटे-छोटे हैं। हमारा ईश्वरग्रह तो इससे बहुत बड़ा है।

पारिवारिक दृष्टिका विकास, भौगोलिक दृष्टिका विकास! हमारी पारिवारिक दृष्टि कितनी बड़ी? हमारी संस्कृति कितनी बड़ी? दो सौ वर्षकी। दो हजार वर्षकी! नहीं-नहीं, हमारी हिन्दू-संस्कृति तो लाखों बरसकी है।

इस राष्ट्रसंघने जो इतिहास लिखवाया न, उसमें ऋग्वेदको एक हजार वर्षका लिखा है और पाकिस्तानको पाँच हजार वर्षका। इसके लिए लोकसभा-में वादविवाद हुआ कि यह क्या लिखा गया है?

यह संस्कृति कोई दो सौ बरसकी, पाँच सौ बरसकी हो गयी, कोई तेरह सौ-चौदह सौ बरसकी हो गयी तो कोई उन्नीस सौ-बीस सौ बरसकी हो गयी और कोई पाँच हजार बरसकी हो गयी। संस्कृतिका भी एक घेरा होता है न; हमारी संस्कृति रहे, तुम्हारी संस्कृति न रहे। परन्तु ईश्वरसे छोटी है कि नहीं ?

ईश्वरमें संस्कृति पैदा हुई और नष्ट हुई। ईश्वरमें भूगोल पैदा हुए और नष्ट हुए। ईश्वरमें मानवना पैदा हुई और नष्ट हुई। यदि सबकी सृष्टि-स्थिति और प्रलयमें तुम एक ईश्वरको पकड़ो तो कोई अन्तर्राष्ट्रीय या आन्तर् ब्रह्माण्डीय, आन्तर् प्रान्तीय या आन्तर् जातीय, आन्तर साम्प्रदायीय समझौता करनेकी जरूरत ही न पड़े।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।

बड़ी उदार दृष्टि! उदारके साथ-साथ उदात्त भी। पूर्ण भी। एक आत्मा सबमें भरपूर है,

अब हम का सौं वैर करौं ?

एक काष्ठजिह्वा स्वामी थे, उनका पद है—

मतवादिन सों अरज यही

हिन्दूसे, मुसलमानसे, सिक्खसे—सबसे यह अरज है—

अपने-अपने इष्टदेव को, व्यापक मानत हौं कि नहीं ?
जौ तुम व्यापक नाहींन मानत, जीवदशा तहँ आई रही।

और—

सब के घट में साँई रमता कटुक वचन मत बोल रे।

'घटमें'—ही नहीं, 'घट' भी साँई है। आश्चर्य तो यही है कि केवल घटमें साँई नहीं है। घट भी साँई है और घटमें भी साँई है।

जो 'विशिष्टाद्वैत' सम्प्रदाय है, वह कहनेमें तो केवल वैष्णवोंका ही आता है। नाम तो उन्हींका लिया जाता है। लेकिन शाक्तोंका भी 'विशिष्टाद्वैत' है। गाणपत्योंका भी 'विशिष्टाद्वैत' है, शैवोंका भी 'विशिष्टाद्वैत' है और सौरोंका भी 'विशिष्टाद्वैत' है। अपना-अपना विशिष्टाद्वैत सबका है।

उसमें ऐसा मानते हैं कि इस शरीरमें शरीरी जीव है। फिर ईश्वर शरीरी है और जीव शरीर है। फिर ईश्वर, जीव और शरीर—ये तीनों ब्रह्मके शरीर हैं। चिदचिद्विशिष्ट चैतन्य ब्रह्म है। कहनेका अभिप्राय क्या हुआ ? तब कहाँ राग, कहाँ द्वेष, कहाँ बन्ध, कहाँ मोक्ष ?

यह एकत्वदर्शनकी प्रशंसा है कि एकत्व-दर्शनसे शोक-मोहकी निवृत्ति हो जाती है। यह प्रशंसा है और निन्दा क्या है ?

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

नानात्व देखोगे तो मौतके बाद मौत, मौतके बाद मौत !

हमारे वेदशास्त्रका जो अभिप्राय है, जो महापुरुषोंका अनुभव है, जो परमार्थ सत्य है, वह यही बात है कि एक परमात्माके सिवा और कोई अन्य वस्तु नहीं है।

न खुदा न बन्दा था, मुझे मालूम न था।
दोनों इल्लत से जुदा था, मुझे मालूम न था॥

\+ \+ \+

परमात्मा ज्यों-का-त्यों रहता हुआ ही मायासे अनेक रूप दिखायी पड़ता है। वह सृष्टिके रूपमें उत्पन्न नहीं होता, वह सृष्टिके रूपमें मालूम पड़ता है। इसको बोलते हैं, 'सद्-विवर्त' अर्थात् वस्तु तो सत्य है कालके प्रभावसे अछूती; यह 'सत् शब्द' का अर्थ है। इसमें काल वैसे ही मालूम पड़ता है, जैसे सपनेमें मालूम पड़ता है। एक घण्टा हुआ, दो घण्टा हुआ, तीन घण्टा हुआ। लेकिन स्वप्नका द्रष्टा स्वप्नमें प्रतीयमान कालसे बिलकुल अछूता रहता है। सपनेमें कोई अस्सी बरसका हो जाय, तो जाग्रतमें वह अस्सी बरसका नहीं होता है। इसी प्रकार यह सृष्टि (आदि) और अन्तवाला (प्रलयवाला) सत् मालूम पड़ता है, परन्तु वह सृष्टि और अन्तवाला है नहीं। इसीको माया बोलते हैं।

जीवन्मुक्त महापुरुषोंका एक बहुत बढ़िया दृष्टिकोण है। वह हम आपको बताते हैं। सृष्टि उतनी है, जितनी मालूम पड़ती है। जितनी इस समय चलती मालूम पड़ रही है कि मैं प्रेमकुटीरमें प्रवचन कर रहा हूँ। कहींसे आकर बैठे हैं, सो नहीं। कहीं जायेंगे, सो नहीं। वह तो कल्पित है। जहाँसे आये हैं, हैं, सो भी कल्पित है। आना तो हो गया। उसको दुहरा नहीं सकते। और, जाना अपने हाथमें है नहीं। जितनी मालूम पड़ती है, उतनी बस, चल रही है और हम ज्यों-के-त्यों।

ये वेदान्ती तो ऐसे कट्टर हैं—जो कटके तरे माने बिना कटे जो तरे नहीं सो कट्टर। कट जाय तब तरे। दूसरा कोई तारे तो तरे, खुद नहीं तरे—इतने कट्टर हैं वेदान्ती कि ये परोक्ष सत्ता और अज्ञान सत्ता नामकी किसी चीजको स्वीकार ही नहीं करते।

जिस ग्रन्थकी (माण्डूक्य कारिकाकी) चर्चा आपको सुना रहा हूँ, इस ग्रन्थमें अज्ञात सत्ता स्वीकार की नहीं जा सकती। हमको जितना मालूम पड़ रहा है बस उतना ही है। किसीका बाप मर गया हो, यह झूठी बात है और किसीका बेटा होनेवाला है तो वह भी झूठो बात है। इस समय तुम हो—इससे बढ़कर न बाप है न बेटा!

सबसे बड़ी चीज है—तुम हो, अपने प्यारे हो, और तुमको ही यह सब मालूम पड़ रहा है। देह भी मालूम पड़ रहा है; मन भी मालूम पड़ रहा है।

एक सीधी-सादी बात यह है कि स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर—तीन शरीर मानते हैं। स्थूल शरीर द्रव्यात्मक होता है। सूक्ष्म शरीर वासनात्मक होता है। कारण शरीर अज्ञानात्मक होता है। कारण शरीर 'मैटर' नहीं है। सूक्ष्म शरीर वासनात्मक होनेके कारण वहाँ वासनाका आश्रय-भूत सूक्ष्म द्रव्य मौजूद है। वासना आखिर कहीं शून्यमें तो नहीं रहती! वासना जहाँ रहती है, वहींसे उभरती है। सूक्ष्म शरीर असलमें द्रव्यात्मक ही है। द्रव्यका ही एक भेद स्थूल है और एक भेद सूक्ष्म है। स्थूल द्रव्य मरनेपर नष्ट हो जाता है। सूक्ष्म द्रव्य तो मरनेपर भी नष्ट नहीं होता और सूक्ष्म द्रव्यके आश्रित वासना होती है। आत्मा साक्षी असंग, अधिष्ठान होता है। आपको कहानीकी तरह यह बात बताते हैं।

अज्ञान अथवा कारण शरीर नामकी कोई वस्तु, माने मैटर नहीं है। कारण शरीरको वस्तु माननेवाले योगी—सांख्यवाले होते हैं और बौद्ध होते हैं। वे पुनर्जन्म मानते हैं।

वेदान्ती कहते हैं—अपनेको न जानना अज्ञान है। अपनेको नहीं जाना इसलिए सूक्ष्म शरीरसे तादात्म्यापन्न हो करके सूक्ष्म शरीरको अपने साथ मान लिया। अपनेको जान लिया तो क्या होगा? सूक्ष्म शरीरको अपने साथ न मान करके देहके साथ मानेंगे।

विवेकका फल देखो! विवेकसे मन बना है और मनसे अन्न माने देह बना है। एक ही बात है। इसमें परस्पर कार्य-कारण भावका निरूपण कोई नहीं कर सकता है कि कौन कार्य है और कौन कारण है? बिना अन्नके मन नहीं बन सकता। और बिना मनके अन्न नहीं बन सकता। जैसा अन्न वैसा मन! जिसका चून उसका पून।

अपनेको जो जान लेता है, उस तज्ञ पुरुषके अज्ञानकी निवृत्ति हो गयी; तो स्थूल देहके साथ, ईश्वर सृष्टिके साथ अपना अहं-मम सम्बन्ध कट गया;

तो अधिष्ठानसे एकताका ज्ञान हो गया। तब यह फुरफुरानेवाले मनीराम स्थूल देहमें चले गये। इसीलिए कहते हैं कि जब ज्ञानी पुरुषका शरीर छूटेगा तो स्थूल देहके साथ उनका सूक्ष्म देह भी तत्काल ही छूटेगा। दोनों एक साथ ही भस्म होंगे।

अज्ञानी पुरुषका स्थूल शरीर भस्म होता है, उसका सूक्ष्म शरीर भस्म नहीं होता। क्यों? क्योंकि उसने सूक्ष्म शरीरको आत्माके साथ जोड़ लिया और इस (तत्त्वज्ञ)ने सूक्ष्म शरीरको देहमें फेंक दिया, देहको पंचभूतमें फेंक दिया, पंचभूतको मायामें फेंक दिया और माया तो जादूका खेल है—वह तो कुछ होता नहीं।

यह बात ध्यान देने लायक है कि अज्ञानी देहधारी है और ज्ञानी भी देहधारी है। ज्ञानीको ऐसा क्या हो गया कि मरनेके बाद उसका पुनर्जन्म नहीं होता? क्या ज्ञान होते ही सूक्ष्म शरीर भंग हो गया? नहीं, ज्ञान होते ही सूक्ष्म शरीर भंग नहीं हुआ। वह तो दिखायी पड़ता है, प्रतीत होता है। जीवन्मुक्तका भी जीवन होता है, उसकी इच्छाएँ होती हैं, उसकी बोलन होती है, उसके विचार होते हैं। होता सब है लेकिन जैसा उसका स्थूल शरीर है, वैसा ही उसका सूक्ष्म शरीर भी है। दोनों प्रतीति मात्र हैं और दोनोंमें कोई भेद नहीं है। इसलिए दोनोंमें-से किसी एकका भी नाश होगा, तब देह और सूक्ष्म शरीर दोनों उसके भंग हो जायेंगे, क्योंकि ज्ञानीका सूक्ष्म शरीर स्थूल देहसे जुदा नहीं है।

अज्ञानी लोग सूक्ष्म शरीर और आत्मा, इन दोनोंको एककर लेते हैं। यही इस कहानीका अंत है कि सूक्ष्म शरीरको डाल दो देहमें। श्रीमद्भागवतमें इस सम्बन्धमें एक बढ़ा बढ़िया प्रसंग है। वहाँ क्रममुक्तिका वर्णन है। वैसे मुक्ति तो एक ही होती है। यदि सद्योमुक्ति एक हो, क्रममुक्ति दूसरी हो, जीवन्मुक्ति तीसरी हो, विदेहमुक्ति चौथी हो, सालोक्य अलग हो, सारूप्य अलग हो, सामीप्य अलग हो, सायुज्य अलग हो, सार्ष्टी अलग हो, तो मुक्ति ही भेदग्रस्त हो जायगी।

जिसमें भेद होता है वह दृश्य, विकारी और जड़ होता है। समझानेके लिए इसमें भेदकी कल्पना करते हैं। जैसे, बच्चेको गुणा आजाय, भाग आ जाय, जोड़ आजाय, इसके लिए उसको बताते हैं, माने अध्यारोप करते हैं—फर्ज करते हैं। क्या? कि 'तुम्हारी जेबमें पाँच रुपया है।' जेबमें तो कुछ नहीं मिलेगा। पर उसको सिखाना है, इसके लिए 'तुम्हारी जेबमें पाँच रुपया है'—

यह अध्यारोप करते हैं। फर्ज करनेको अध्यारोप कहते हैं—उपाधि-इल्लत कहते हैं।

अपने साथ जो इल्लत जुड़ गयी उसका नाम उपाधि है। अब उसका अपवाद कैसे करना—तो यह सिखाया जाता है कि इस सूक्ष्म शरीरको कभी अपने साथ मत लेना। भागवतमें क्रममुक्तिके वर्णनमें बहुत बढ़िया अध्यारोप किया है।

स्थूल देहको छोड़ो यहीं। सूक्ष्म शरीरको धारण करो। चलो ऊपर। छूट गया स्थूल शरीर। उसमें वर्णन है—कैसे मूलाधारको दबाया जाय और कैसे प्राणवायुको खींचा जाय और फिर धीरे-धीरे मूलाधारसे स्वाधिष्ठानमें, फिर मणिपूरकमें, फिर विशुद्धमें, फिर आज्ञाचक्रमें, फिर सहस्रारमें खींचा जाय। फिर सहस्रारको भेदन करके शिवचक्रमें—महः जम, तप, स्वःमें; फिर स्वःलोकमें जाकर ब्रह्मलोकमें। क्या-क्या भोग हैं ब्रह्मलोकमें ? स्वर्गलोकका फर्नीचर दो नम्बरका होता है और ब्रह्मलोकमें फर्नीचर एक नम्बरका होता है। इंडिया और अमेरिका-पेरिसकी वेशभूषामें जितना अन्तर होता है, उतना फरक तो है मर्त्यलोक और स्वर्गलोककी वेश-भूषामें। जैसा अन्तर मर्त्यलोक और स्वर्गलोकमें है, वैसा ही अन्तर स्वर्गलोक और ब्रह्मलोकमें है।

ब्रह्मलोकमें बिना इच्छाके खाते हैं, बिना इच्छाके पीते हैं और स्वर्ग-लोकमें इच्छा करनेपर भोग उपस्थित होते हैं। स्वर्गलोकमें आसक्ति भोगमें होती है और ब्रह्मलोकमें आसक्ति नहीं होती। स्वर्गलोकमें ईर्ष्या, राग, द्वेष, इच्छा, श्रद्धा, निंदाका दुःख होता है। ब्रह्मलोकमें ये दुःख नहीं होते।

भागवतमें वर्णन है कि यदि कोई ब्रह्मलोकमें पहुँच जाय तो वहाँ कुछ दिन विमानपर घूमे, ब्रह्माजीसे हाथ मिलावे, कुछ दिन उनके साथ बैठे-उठे, सब खेल करे। इसके बाद क्या करे ? वर्णन है—

ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भया।

फिर हिरण्यगर्भसे और ईश्वरसे एक होकर अपनेको ब्रह्म जानना—यह ब्रह्म होनेकी प्रक्रिया है।

हर हालतमें सूक्ष्म शरीर तो स्थूल शरीरका साथी है। यह आत्माका साथी है ही नहीं। अपने आत्माके अज्ञानसे यह मान रखा है कि 'सूक्ष्म शरीर आत्माके साथ जुड़ा हुआ है। हम जहाँ जाते हैं, वहाँ सूक्ष्म शरीर जाता है'—यह तो बेवकूफीकी बात है।

सूक्ष्म शरीरसे दोस्ती करनेके कारण सूक्ष्म शरीरमें जो कल्पना होती है, वह हमें अपनी मालूम पड़ती है। यह सूक्ष्म शरीर कहीं आता-जाता नहीं है।

वह तो यहींसे विलायतको देख लेता है। वह यहांसे वृन्दावन नहीं जाता। यहीं वृन्दावनको देख लेता है। उसकी कल्पना कर लेता है। इसी प्रकार यह ब्रह्मलोकमें भी नहीं जाता। वह यहींसे ब्रह्मलोककी कल्पना कर लेता है। इसी प्रकार यह धरती-पानी-आग-हवा कुछ नहीं होता; वह कल्पना कर लेता है। अपने स्वरूपके अज्ञानसे अपने मनकी जो कल्पनाएँ हैं, वह अपने साथ जुड़ती हैं। अगर अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाय अज्ञानकी निवृत्ति हो जाय, भ्रांति मिट जाय तो मनकी कोई कल्पना अपने साथ नहीं जुड़ती है।

अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः।

श्रीमद्भागवतमें बढ़िया प्रसंग आया है। चारों सनत्कुमार अपने पिता ब्रह्माके पास गये। वे बोले—'पिताजी ! यह बताओ कि जब हम अपने मनको देखते हैं, तो उसमें विषयके सिवाय और कुछ नहीं दीखता।'

निर्विषय मनको किसीने नहीं देखा है। निर्विषय मन अपने आश्रयभूत आत्मासे पृथक् होता ही नहीं। सविषय चेतनका नाम मन है और निर्विषय मनका नाम चैतन्य है।

अपने मनको जितना देखते हैं, उसमें कुछ-न-कुछ फुरफुराता हुआ मालूम पड़ता है। विषयका चिंतन करते-करते मन विषयरूप हो गया है। विषय मनमें है और मन विषयमें है। जब देखो तब मन और विषय—ये ही दो दीखते हैं। और कुछ दीखता नहीं।

ब्रह्माजीने कहा—'बेटा ! चाहते क्या हो ?' 'हम चाहते हैं, पिताजी ! कि विषयोंमें-से मनको अलग कर दिया जाय।'

यह पूरी कथा है भागवतमें। यह प्रश्न सबके मनमें उठता है कि हमारा मन संसारमें न जाने पावे; स्त्रीमें न जाय, धनमें न जाय ! हमारा मन चंचल न हो ! शब्दस्पर्श, रूप, रस, गंधकी सेवामें न जाय। चाट-पकौड़ीमें न जाय। लोग चाहते हैं कि हमारा मन गुलाब जामुन-रसगुल्लामें न जाय।

हमारा मन कहाँ जाय ? ईश्वरमें जाय; यह तो सब लोग चाहते हैं। यह समस्या सनकादिके सामने आयी। वे बोले—'पिताजी ! हमारा मन विषयोंमें और विषय मनमें—हम एकान्तमें बैठकर समाधि लगा-लगाकर हार गये। कभी पाँच मिनटकी समाधि लगती भी है तो फिर जगते हैं तो फिर मन और जोरसे विषयोंकी ओर जाता है।

आप लोग बुरा नहीं मानना। हमने देखा है, जैसे कल एकादशी है, तो आज क्या करते हैं ? फलाहार क्या-क्या बनेगा ? इसकी योजना बनाते हैं।

हलवा-पूड़ी-कचौड़ी, चावल-दाल सब बनता है फलाहारमें। फिर एकादशीके दिन सोचते हैं कि आज तो एकादशी व्रत रहे, कल क्या बनेगा ? कढ़ी-भात बनेगा, दही बड़े बनेंगे।

इस प्रकार दशमीको एकादशीका फलाहार और एकादशीको द्वादशीका अन्नाहार ! जो लोग अपने मनको बिलकुल चुप-चुप रखनेकी बात करते हैं। उनकी बात भी हम बताते हैं। हम मनीरामके गुरु हैं ! हमारे एक चेलेका नाम मनीराम है।

मनको हम चुप रखते हैं तो होता यह है कि थोड़ी देर मनको विश्राम मिल जाता है, शक्ति मिल जाती है। तब वह और ज्यादा शक्तिसे विषयोंका चिंतन करने लगता है। वह पट् नहीं पड़ता।

हमारे एक महात्मा थे। हम उनपर श्रद्धाभक्ति तो करते थे एक तो वे जातिके कायस्थ थे। कायस्थोंमें जैसा खान-पान है, उसका उनको अभ्यास था। यह बात हम आप लोगोंको इसलिए बताते हैं कि हम पहले महात्माओंके पास जाते थे, तो वे कैसे रहते हैं इसका ढंग देखते थे।

वे संप्रदायके अघोरी थे। जैसे कहते हैं कि—'एक तो गिलोय, फिर नीम चढ़ी !' एक तो उनकी जातिमें ही, खान-पान संबंधी कोई बहुत परहेज नहीं था, दूसरे अघोरी हो गये थे। वे सैकड़ों आदमियोंके बीचमें बैठकर शराब पीते थे। हमलोग बचपनमें जब १७-१८ बरसके थे, तब सत्संगमें जाते थे। 'अरे बाबाजी आये, बाबाजी आये !'—ऐसे बोलते थे। 'पंडितजी आये,—पंडितजी आये ! आओ-आओ, बैठो-बैठो'—हाथ पकड़कर अपने आसनपर बैठा लेते थे और जबतक हम उनके पास रहते, तबतक पीना बंद।

बड़े सिद्ध थे। 'शराबका दूध बना देते हैं'—ऐसा उनके बारेमें प्रसिद्ध था। बड़े विचित्र ! मनीरामके बारेमें उन्होंने हमको बताया था।

वे एक बार मौन होगये। बोले ही नहीं, वे मौन थे, तब भी हमलोग तो जाते थे। अपनी श्रद्धा थी। दर्शन कर आते थे और विशेष करके हमारा तो वह बहुत ही आदर करते थे। हमारे अपने घरानेके कई शिष्य थे, वे भी जाते थे। बहुत-से कायस्थ भी हमारे शिष्य थे।

एक बरसमें उन्होंने हर एक शिष्यके नामसे एक-एक भजन लिखा था। माने उस शिष्यमें जो विशेषता थी। भगवान्से वह जो चाहता था या जैसी उसकी स्थिति थी वह सब एक भजनमें लिखा था। सब छपे हुए हैं। हमारे नामपर भी एक भजन लिखा था।

हुआ क्या ? जब मौन छूटनेको एक महीना बाकी रह गया, तब मीटिंग बैठी। मुख्य-मुख्य शिष्य बैठे कि महाराज जब बोलेंगे, तो पहले दिन क्या बोलेंगे ? महाराजजी भी बैठते। उसमें लिख-पढ़कर यह योजना बनती कि पहले दिन बोलेंगे तो क्या बोलेंगे ? अन्तमें यह तय हुआ कि अमुक व्यक्तिसे महाराज यह बात करेंगे। तो जब लोग मौन होते हैं तो बोलनेकी योजना बनाते हैं। हम यह बात आपको हँसीके लिए नहीं सुना रहे हैं। यह गम्भीर बात बता रहे हैं।

लोग एकान्तमें बैठते हैं और कारखाना बनानेकी योजना एकान्तमें-से निकलती है। यह मनीरामकी हालत है।

एक राजा पूजामें बैठा था और महात्मा बाहर आये, तो दरवानने वापिस कर दिया कि 'लौट जाओ। महाराज इस समय पूजामें हैं।'

महात्मा बोले—'महाराज पूजामें नहीं है ! वे तो दुकानमें जाकर जूता खरीद रहे हैं। जाकर उनसे कह देना।'

मतलब यह है कि मनीराम ऐसे हैं कि यदि तुम भूखे रहो तो और खाना माँगते हैं। मौन रहो तो और बोलना चाहते हैं। एकान्तमें बैठो तो भीड़भाड़का मनोराज्य करते हैं। यह मनीराम बड़े विलक्षण हैं।

सनकादिका मन भी ऐसा है कि जब मनको विषयसे अलग करते, तो थोड़ी देर अलग रहता, फिर विषयका चिन्तन करने लगता।

विषयको मनसे बाहर फेंक दें, यह चाहते हो कि विषयसे मनको अलग कर लें, यह चाहते हो ? तुम्हारा खयाल है कि यह मन हमारे साथ रहेगा; परन्तु यह मन तुम्हारे साथ नहीं रहेगा। यह वेदका मन्त्र आपने सुना होगा—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।

जब तुम जागोगे, तो यह दूसरेके घर जाकर बैठेगा और जब तुम सोओगे, तो तुम्हारे साथ आकर सो जायगा। यह मनका स्वभाव है। जागते ही मन सोचना शुरू कर देगा, आज दिनमें क्या काम करना है ? ऑफिसमें जाना है। तुम घरमें और मन ऑफिसमें ! और जब सोने लगोगे कि—जा भाई नींद आयी है ! तो सब छोड़कर मन तुम्हारे साथको सोने आजायेगा। बात क्या है ?

मनको विषयसे अलग करें कि विषयको मनसे अलग करें ? जो लोग पहले सीधे नहीं रहते, जिन्होंने भजन नहीं किया, ध्यान नहीं किया, जिन्होंने समाधि नहीं लगायी, वे दो-दो पैसेका फूल लेकर पहुँच जाते हैं कि बस, अब

हमारा मन गया समाधिमें ! वे दो-दो नये पैसेमें अपने मनको समाधिमें डालना चाहते हैं, यह आश्चर्य है ! वे लोग जादूका खेल-तमाशा देखना चाहते हैं।

ब्रह्माजीको इस प्रश्नका उत्तर नहीं आया। वहाँ लिखा हुआ है—'नाभ्यपद्यत कर्मधीः' ब्रह्माजी तो स्वयं कर्म करनेमें लगे हुए थे कि किस जीवका कौन-सा कर्म है, किस जीवका कौन-सा कर्म है ?

जैसे कोई कपड़ेकी दुकान बनावे वैसे ब्रह्माजीका काम है—लोगोंके शरीरकी डिजाइन बनाना। हमने देखा, एक सेठके घरमें सौ-दो-सौ तितली मरी हुई थीं और शीशेमें सजाकर रखी हुई थीं। रंग-बिरंगी तितली ! सेठ बोले—'हम जर्मनीसे ले आये हैं ये तितली ! तितली तो आप जानते हैं न ? बचपनमें हमारे मित्रके पिता श्रीलक्ष्मीनारायणजी जो कविता करते थे। यह सुनाया था—

तितली-सी उड़ती फिरे हियमें नेम न प्रेम।
बैरीस्टर बनने गये, लाये संगमें मेम॥

हमको सेठने बताया कि कपड़ोंपर बेलबूटेकी डिजाइन बनानेके लिए हमने ये तितलियाँ इकट्ठी की हैं। ब्रह्माजी किसीको केंचुआ, किसीको साँप, किसीको खरगोश, किसीको सियार बनाते हैं। ये सब डिजाइन जिसके दिमागमें आती हो, उसका मन क्या स्थिर है ? ब्रह्माजीका मन खुद ही स्थिर नहीं है। इतने जीव, उनके इतने कर्म, उनको कौन-सी पोशाक पहनावें तो फबेगी, इनकी वासनाके साथ कौन-सी पोशाक बनेगी ? उनके यहाँ तो एकदम 'ब्यूटी पार्लर' है।

ब्रह्माजीको प्रश्नका उत्तर नहीं आया, तबतक उन्होंने हंसका ध्यान किया। हंस भगवान् आये। सात्त्विकताका चोला पहनकर आये। सफेद हंस पक्षी है, निष्पक्ष नहीं हैं। निष्पक्ष न कहीं आता है न जाता है, जिसके पाँख ही नहीं, वह कहाँ उड़ेगा ? निष्पक्षमें आना-जाना नहीं है, पक्षीमें ही आना-जाना है। जो भक्तोंके पक्षपाती भगवान् हैं, वही अवतार लेते हैं। जो वैकुण्ठके पक्षपाती हैं, वे चले जाते हैं। चिड़ियाके पक्ष हों तब उड़े, आवे-जायँ ! भगवान्‌के भी पक्ष होते हैं, तब आते-जाते हैं। शुकदेवजी इसीलिए पक्षी हैं और वे कृष्णपक्षका वर्णन करते हैं। काकभुशुण्डी भी पक्षी इसीलिए हैं कि वे रामका वर्णन करते हैं।

निष्पक्षमें कुछ नहीं। पक्ष न हो तो न हम, न तुम, दफ्तर गुम। इसीलिए भगवान् पक्षी बनकर आये। ब्रह्माजीने देखा, बड़ा प्रभावशाली पक्षी है। वे उठकर खड़े हो गये, स्वागत किया और बोले—'तुम कौन हो ?'

हंस बोले—आत्मा जो तुम्हारी सो मेरी। जो तुम सो मैं, आत्मा और देह। पंचभूतमें तुम्हारे शरीरकी भी लकीर खींची हुई और हमारे शरीरकी भी लकीर खींची हुई। शरीर भी हमारा-तुम्हारा दोनोंका पंचभूतका और हम-तुम दोनों शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा!

'को भवानिति वः प्रश्नोवाचारम्भो ह्यनर्थकः।' तुम कौन हो—यह प्रश्न बिलकुल निरर्थक है।

'यह बताओ, हो कौन?'

'यही बता रहा हूँ। जो मैं सो तुम।' इसके बाद प्रश्नका उत्तर दिया। जैसे विषय है, वह एक शरीर है, वैसे मन भी एक शरीर है। शरीरको शरीरमें डाल दो। 'जीवस्य देह उभयं।' 'मद्रूप उभयं त्यजेत्।'

देखो, मैं तुम दोनों एक। मनको तुम अपने साथ मत रखो। उसको फेंक दो माटीमें। ऐसे! अरे, साधक तो डर जाय। संसारी लोग चाहते हैं कि विषय मेरे साथ रहे। नहीं तो पेटीमें दो-दो लाख, पाँच-पाँच लाख रुपया लेकर लोग क्यों चलते? तकियेके नीचेसे लाख-लाख रुपये क्यों निकालते? संसारी लोग वस्तुको अपने साथ रखना चाहते हैं।

साधक वह होता है, जो वस्तुको तो अपने साथ रखना न चाहे, मनको अपने साथ रखना चाहे।

विषयी वह होता है जो वस्तुको अपने साथ लेकर रखना चाहता है। धर्मात्मा वह है जो खास तरहके कर्ममें मग्न रहना चाहता है। भक्त वह है जो अपने मनको भगवान्‌के साथ रखना चाहता है। योगी वह है जो अपने मनको ठप्प करके रखना चाहता है। जैसे मिलमें तालाबन्दी होती है, मजदूरको भीतर नहीं आने देना चाहते। हमारा काम-धन्धा सब बन्द। ज्ञानी वह होता है जो मन और शरीर दोनोंको एक सत्तामें जान करके छोड़ देता है। छोड़ देता है माने बाधित कर देता है। न मन, न शरीर!

सूक्ष्म शरीरको स्थूल शरीरकी कोटिमें और स्थूल शरीरको विषयकी कोटिमें कर दो। विषय तो अपने अधिष्ठानमें अध्यस्त है। इसलिए स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनों नहीं है। और परमात्मा? ज्यों-का-त्यों! अजायमान है।

वहाँ फिर यह बात बतायी। वैष्णव सम्प्रदायमें इस प्रसङ्गको बड़ी उच्च कोटिका माना जाता है। वे कहते हैं—जो कुछ तुम मनसे सोचते हो, आँखसे देखते हो, कानसे सुनते हो, जीभसे बोलते हो, वह परमात्माके सिवाय दूसरा

कुछ नहीं है। तुम अपनी ओर मनको खींचते हो, यही आत्मा और परमात्मामें भेद है।

'जीवस्य देह उभयं' और 'मद्रूप उभयं त्यजेत्।'

परमात्मासे एक हो जाओ। परमात्मासे मिल गये, तो मन विषय और विषय मन ! अब उनको अलग करनेकी जरूरत नहीं है। हंसजीने यह बताया कि तुम्हारा प्रश्न यह है न, कि विषयसे मनको कैसे अलग करके रखें ?

विषय-संस्कारके बिना मन तो है ही नहीं। तुम यह चाहते हो कि मन विषयमें न जाय। लेकिन विषयाकारताके सिवा और मनमें है क्या ? इसलिए दोनोंको तुम दृश्य-कोटिमें छोड़ दो और दृश्य जिस अधिष्ठानमें अध्यस्त है, वह अधिष्ठान तुम स्वयं हो। इसलिए न विषय है, न मन है।

वही है जो कण-कणके रूपमें मालूम पड़ता है। वही है जो क्षण-क्षणके रूपमें मालूम पड़ता है। सबका सर्व एक ही अखण्ड वस्तु है। सृष्टि-श्रुति और प्रलय-श्रुति दोनों यह बतानेके लिए हैं कि यह सब परमात्माके सिवाय कोई चीज नहीं है। माटीसे घड़ा बना, तो माटीके सिवाय घड़ा नहीं। परमात्मासे सृष्टि बनी, तो परमात्माके सिवाय सृष्टि नहीं।

सृष्टि नामकी कोई क्रिया बनी या सृष्टि नामकी कोई वस्तु है या सृष्टि नामका कोई अलग परमात्मासे मेटर है—यह अभिप्राय नहीं है। अभिप्राय तो यह है कि परमात्मासे जुदा सृष्टि नहीं है।



: १६ :

श्रुति कार्य-कारण दोनोंका निषेध करती है

संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिध्यते।
को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते ॥२५॥

अर्थ—संभूतिके अपवादसे श्रुतिमें उत्पत्ति (कार्य)का प्रतिषेध किया गया है। तथा 'को न्वेनं जनयेद्'—इस श्रुतिसे कारणका प्रतिषेध किया गया है।

परमात्मा ज्यों-का-त्यों है। न तो परमात्मा किसीसे पैदा होता है और न तो परमात्मासे कुछ पैदा होता है। परमात्माका कोई बाप भी नहीं है और परमात्माका कोई बेटा भी नहीं है। वेदमें यह बात होनी चाहिए। अपरिच्छिन्न वस्तुके सम्बन्धमें केवल वेद ही प्रमाण है। केवल वेद ही क्यों प्रमाण है ?

जितने प्रमाण होते हैं, वे केवल अपने विषयको ही प्रमाणित कर सकते हैं। आँखसे केवल हम रूपको देख सकते हैं। आँखकी चाहे कितनी भी सफाई की जाय, चाहे कितनी भी वैज्ञानिक उन्नति की जाय और उसके सामने चाहे, कितने भी यंत्र लगाये जायँ, वह केवल रूपको ही प्रकाशित करेगी। वह दूसरी इन्द्रियके विषयको प्रकाशित नहीं करेगी। तब रूप तो एक परिच्छिन्न विषय हुआ न ? वह शब्द नहीं है; वह स्पर्श नहीं है, वह गंध नहीं है, वह रस नहीं है। तो केवल आँखसे कोई चाहे कि अविनाशी, अद्वितीय, परिपूर्ण प्रत्यक् चैतन्यको देख लेंगे, यह संभव नहीं है।

जब आँखसे शब्द ही नहीं दीखता, स्पर्श ही नहीं दीखता, रसका और गंधका ही पता नहीं चलता, तो विचारी आँखसे अपरिच्छिन्न माने कालसे अविनाशी, देशसे परिपूर्ण, वस्तुसे अद्वितीय और अनुभवसे बिलकुल अपना आत्मा—ऐसी वस्तुको हम आँखसे या फिर किसी भी प्रत्यक्ष प्रमाणसे कैसे देख सकते हैं ?

अच्छा भाई, आँखसे नहीं देखेंगे, कानसे नहीं सुनेंगे, त्वचासे नहीं छूयें, नाकसे नहीं सूँघेंगे, जीभसे नहीं स्वाद लेंगे, तो आओ, मनसे मनन करेंगे।

मन तो इन्हीं इन्द्रियोंके द्वारा जो देखा-सुना जाता है, उसीकी कल्पना-

करता है। ध्यान करता है और बाधकको कल्पना करता है। बाधककी कल्पना का नाम विकार है और साधककी कल्पनाका नाम साधन है, ध्यान है।

फिर ? आओ, बुद्धिसे परमात्माको देखेंगे। बुद्धि तो खुद पैदा हुई है। बुद्धिसे तो सुषुप्तिकालमें ही कोई बात नहीं समझी जा सकती है ? बुद्धिसे केवल आंशिक सत्यका ही ज्ञान होता है। अपरिच्छिन्न और परिपूर्ण सत्यका ज्ञान नहीं होता।

आप यह बात बिलकुल निश्चित समझो कि जब नेति-नेतिके द्वारा सबका निषेध कर लेते हैं और केवल स्वयं रह जाते हैं—केवल स्वयं तो 'दश-मस्त्वमासे'—जैसे बोलते हैं, 'तू दसवाँ पुरुष है' उसी प्रकार श्रुति कहती है—'तत्त्वमसि' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म' और आत्माके ब्रह्मत्वके ज्ञानसे बाकी जितने झगड़े हैं, वे सब कट जाते हैं।

तो अपरिच्छिन्न वस्तु, अविनाशी वस्तु, परिपूर्ण वस्तु अपने आत्मासे भिन्न नहीं हो सकती। कोई भी सत्य जो अपने आत्मासे भिन्न होगा, वह आंशिक सत्य होगा। इसलिए, अपने आत्माका जो ब्रह्मपना है, वह केवल श्रुतिसे ही सिद्ध होता है।

अच्छा, तो श्रुतिमें कार्य-कारण भावका वर्णन है कि कार्य-कारण भाव का निषेध है ? यह प्रश्न है। सामान्य रूपसे तो ऐसा दीखता है कि श्रुतिमें कार्य-कारण भावका वर्णन है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि
जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्य तद् ब्रह्म।

(तैत्तिरीय ३.१)

तैत्तिरीय श्रुति कहती है—ये दीखनेवाले जो भूत हैं—'भूत' नाम अन्वर्थ रखा गया है। जैसे डरे हुए आदमीको ठूँठमें भूत दीखता है, क्योंकि उस समय वह खोज नहीं कर सकता, विचार नहीं कर सकता। भयाक्रान्त पुरुषको स्थाणुमें भूत दीखता है। परन्तु यदि वह स्वस्थ होवे, बुद्धिमान् होवे, अनुसंधित्सु होवे तो उसको मालूम पड़ेगा कि वहाँ भूत है ही नहीं—तो भूत-समूहके झुण्ड-के-झुण्ड दृश्यके रूपमें जितना भी भूत दिखायी पड़ रहा है और जिससे पैदा होकर जी रहे हैं और जिसकी ओर जा रहे हैं, जिसमें तृप्त हो रहे हैं—'यत् प्रयन्ति' माने प्रगच्छन्ति म्रियन्ते च; तथा अभिसंविशन्ति—जिसमें जाकर मिल जाते हैं। वह ब्रह्म है, उसको जिज्ञासा करो। इस प्रकार सृष्टि-स्थितिका वर्णन तो परमात्मामें ही है।

जिससे सृष्टि हुई, उसका निमित्तकारण होना तो अनिवार्य ही है, उपादान कारण भले न हो। जिसमें लय हुआ, उसका उपादान कारण होना अनिवार्य है, वह निमित्तकारण भले न हो। सृष्टिकी उत्पत्ति परमेश्वरसे और प्रलय परमेश्वरमें। इसलिए सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमेश्वर है। श्रुति तो सृष्टि-स्थितिका वर्णन परमात्मामें करती है।

श्रुति कहीं-कहीं दुहरा वर्णन भी करती है। आप विचार करो—यह भी तैत्तिरीय श्रुति ही है—

तस्माद्वा एतस्माद्वा आत्मनः आकाश संभूतः। (तैत्तिरीय २.१)

उस परमात्मासे आकाशकी उत्पत्ति हुई, कि इस परमात्मासे आकाशकी उत्पत्ति हुई? उन्होंने यह निश्चय किया है कि उत्पत्ति तो मायासे होवे तब भी और सच्ची होवे तब भी, वर्णन तो एक सरीखा ही किया जायगा।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (बृहद० २.५.१९)

यह इन्द्र परमात्मा मायाके कारण अनेक रूपमें देखे जाते हैं। असलमें अनेक रूप होते नहीं है। 'नेह नानास्ति किञ्चन।' (कठ० २.१.११) वस्तुतः परमात्मामें नानात्व नहीं है।

'अजायमानो बहुधा विजायते' (यजुर्वेद ३१.१९) अजायमान हो करके ही वह बहुधा भास रहे हैं। एक दूसरी श्रुति कहती है—

न चास्य कश्चित् जनिता। (श्वेता० ५.९)

ऐसा कोई नहीं है, जिसने परमात्माको पैदा किया हो। यह तो ठीक है, परंतु परमात्माने तो सबको पैदा किया होगा। वही श्रुति कहती है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते। (श्वेता० ५.८)

परमात्माने किसीको पैदा भी नहीं किया और उसके पास कोई औजार भी नहीं है!

जब दो तरहकी श्रुति सुनते हैं, तब मनमें शंका होती है कि कार्य-कारण भावका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति ठीक है कि कार्यकारणभावका निषेध करनेवाली श्रुति ठीक है? तो बताया—

अज्ञतज्ज्ञाभ्यां व्यवस्था।

एक बमगोला ही फेंक दिया! जो परमात्माको जानता नहीं है उसके लिए तो यह सृष्टि सचमुच पैदा हुई है, उसीसे पैदा हुई है। जो परमात्माको जानता है, उसके लिए उससे कुछ पैदा नहीं हुआ है। एक अज्ञ अधिकारी है और एक तज्ज्ञ अधिकारी है। अधिकारीके लिए कार्यकारण भाव और तज्ज्ञ अधिकारीके लिए कार्यकारणभाव नहीं।

श्रुति तो यह भी वर्णन करती है कि—

आनंदाध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनंदेन जातानि जीवन्ति, आनंद प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति। (तैत्ति० ३.६)

आनंदसे ही यह सृष्टि हो रही है, आनंदसे ही रह रही है, आनंदमें हो जा रही है, आनंदमें ही तृप्त हो रही है, आनंदमें ही मिल रही है।

मधु वाता ऋतायते मधुः क्षरन्ति सिन्धवः। (ऋग्वेद० १.९.१)

आनंदकी हवा चल रही है, आनन्दकी नदियाँ बह रही हैं। आनंदका बसन्त, आनंदकी वर्षा, आनंदका ग्रीष्म, आनंदका शरद, आनंदका हेमन्त ! सब आनंद-ही-आनंद !

माधवीर्नः सन्त्वोषधीः (ऋग्वेद० १.९.१)

सब वृक्ष, सब लता, सब पेड़, सब पौधे आनन्दके। तो असलमें ये बताना क्या चाहते हैं ? बताना यह चाहते हैं कि जिनकी नजर नानामें फँस गयी है, दुनियामें फँस जाती है, वे आलसी हो जाते हैं। लौकिक बात आपको सुनाता हूँ। कोई बच्चा यह सोचने लगे कि हमारा नाना हमें बहुत-सा धन दे देगा; तो इसका फल क्या होगा ? वह पढ़नेमें भी आलसी हो जायगा। नानाके पास रहकर लोग बहुत कम पढ़ पाते हैं। वे व्यापारमें भी आलसी हो जायेंगे। खेतीमें भी वे आलसी हो जायेंगे। निकम्मे हो जायेंगे। नानाका आश्रय नहीं लेना चाहिए।

मनुष्यको स्वावलंबी होना चाहिए। नाना-मामाका आश्रय लेकर आज-तक किसीने उन्नति की है ? बापकी ही कमाईपर रहेंगे—इस चक्करमें नहीं पड़ना। माँ-बापकी कमाईसे बेटेकी उन्नति नहीं होती है। तो जैसे नानाका आश्रय लेनेकी अपेक्षा स्वावलंबन श्रेष्ठ है, इसी प्रकार नानात्वका आश्रय लेनेकी अपेक्षा प्रत्यक् चैतन्याभिन्न एकत्वका आश्रय लेना उन्नत है अर्थात् ऊँची बात है।

आओ, यह विचार करें कि नानात्वकी निंदा है श्रुतियोंमें कि नहीं है ? पहले बता चुके हैं—'नानात्वं निन्धते।'

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। (कठ० २.१.१०)

जो यहाँ नाना देखता है, अर्थात् अनेकता देखता है, भेदको देखता है, वह एक मृत्युसे दूसरी मृत्युमें जाता है। नानात्व-दर्शन दुःखका हेतु है और एकत्वदर्शन सुखका हेतु है, मोक्षका हेतु है ज्ञान और विज्ञानमें भी यही फरक किया जाता है। जो अनेकमें एकको दिखा दे, उसका नाम ज्ञान और जो एक-को अनेक बनाकर दिखा दे, उसका नाम विज्ञान।

विशेष-विशेषके ज्ञानको विज्ञान बोलते हैं और संपूर्ण विशेषोंमें जो एकत्व है, उस एकत्वका नाम ज्ञान है। श्रीमद्भागवतमें, उपनिषदोंमें, कोशोंमें, सर्वत्र, ज्ञान-विज्ञानकी परिभाषा यही दी हुई है। यहाँ सैकड़ों मनुष्य बैठे हुए हैं। इसमें यह देखना कि यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, यह वैश्य है, यह धनी है यह गरीब है, यह सुन्दर है, यह कुरूप है—यह दृष्टिकोण राग-द्वेषका, लड़ाईका कारण बनेगा। सब मनुष्य हैं—यह दृष्टि करो तो प्रेमका कारण बनेगा। मनुष्यत्व एक है और व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार यदि तत्त्व एक देखा जाय कि यह घड़ा, यह शकोरा, यह कपड़ा, यह मकान, सब पंचभूत हैं, तो चित्तमें शान्ति आवेगी।

पंचभूत भी पाँच हैं। उन सबमें एक सत्ता है और वह सत्ता अपने चैतन्यस्वरूपसे अभिन्न है—यह देखो तो शांति मिलेगी। यह देखो कि एक अखण्ड अपरिच्छन्न वस्तु परिपूर्ण है, तो शान्ति मिलेगी। आनन्द मिलेगा। इसी लिए श्रुति जन्म-मृत्युका निषेध करती है।

संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिद्धयते—ईशावास्य उपनिषद्के जिस मंत्रका आप रोज पाठ करते हैं, इसका विचार प्रारंभ करते हैं। वह मंत्र है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो यउ संभूत्यां रताः॥ (ईश० १२)

वेदका अन्तिम भाग सार-सार, निर्गलित अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए है। ऋग्वेदमें दस मण्डल हैं। उनमें दसवाँ मण्डल एकत्वका, शान्तिका प्रतिपादक है—'समानी व आकूती समाना व हृदयानि वः।'

हम सब लोगोंकी बुद्धि, हमारा निश्चय, हमारा आकलन सब एक दिशामें चले। हम सब लोगोंका हृदय एक साथ मिल जाय, समान हो जाय। यह ऋग्वेदका अंतिम सूक्त है।

ऐसे ही शुक्ल यजुर्वेदका अन्तिम अध्याय चालीसवाँ है। वह ईशावास्य उपनिषद् है। वेदका अन्तिम भाग परम तात्पर्य है—वेदान्त—सार-सार।

एक बार आप ईशावास्य उपनिषद्पर दृष्टि डालें। क्या आश्चर्य है! ईशावास्य उपनिषद्की पहली शिक्षा है कि सबमें परमात्माको देखो—

ईशावास्यमिदं सर्वम् (ईश० १)

क्या जड़ और क्या चेतन! क्या पशु, क्या पक्षी और क्या मनुष्य! सब परमात्मासे परिपूर्ण हो रहा है।

दूसरा उपदेश है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः (ईश० १)

जब सबमें ईश्वर है, तो ईश्वरने जितना दिया है उससे संतोष करो। अथवा तेन=कारणेन, त्यक्तेन=त्यागेन=त्यागपूर्वक, भुञ्जीथाः=त्यागके त्याग द्वारा सबका प्रतिपालन करो। किसीको तकलीफ न दो। भोग उतना ही करो, जिससे दूसरेको तकलीफ न पहुँचे।

मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। (ईश० १)

दूसरेके हककी जो वस्तु है, उसे हड़पो मत। एक ओर इसीमें दूसरी बात है—**'मा गृधः'**। गीध मत बनो। **'कस्यस्विद्धनम्?'** इस संसारमें धन किसका है? इसका अर्थ भी यही हुआ कि धनके सम्बन्धमें ममता न हो, भोगसे किसीको कष्ट न पहुँचे और सबमें ईश्वरदृष्टि हो।

ईशावास्य उपनिषद्का चौथा उपदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जीजीविषेच्छतं समाः। (ईश० २)

पाँचवी बात ईशावास्यके तीसरे मंत्रकी यह है कि आत्मज्ञान प्राप्त करना जरूरी है। सब कुछ जान लिया और अपने आपको न जाना तो **'अन्धं तमः'** की प्राप्ति होती है। चौथे और पाँचवें मंत्रमें बताया है कि ईश्वर कैसे परिपूर्ण हो रहा है—

अनेजदेकं....तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति। (ईश० ४)

ईश्वर सबमें भरपूर है।

तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। (ईश० ५)

अन्तर भी वही, बाह्य भी वही—यह दो मन्त्रोंमें बताया। फिर छठें और सातवें मन्त्रोंमें बताया कि जो परमात्माको आत्मासे अभिन्न देखता है, उसके शोक-मोहकी निवृत्ति हो जाती है। उसे किसीसे घृणा नहीं होती—

यस्तु सर्वाणि भूतानि''''ततो न विजिगुप्सते।
तत्र को मोहः कः शोक''''एकत्वमनुपश्यतः। (ईश० ६-७)

आठवें मन्त्रमें यह प्रसंग आया कि जो परमात्माको जान लेता है, वही कवि है, वही मनीषी है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्॥ (ईश० ८)

'व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' वही सबसे ऊपर है, वही स्वयंप्रकाश है

और वही धर्म व्यवस्था अर्थात् सामाजिक व्यवस्था, नियम, मर्यादा, कानून बनानेका अधिकारी है। सनातन धर्मकी शुद्ध व्याख्या केवल वही कर सकता है।

उसके बाद यह नवाँ* मन्त्र है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिमुपासते।

इसमें यह बात कही गयी कि यदि केवल कारणकी उपासनामें संलग्न हो जायेंगे, तो उनको घोर अन्धकारकी प्राप्ति होगी और जो केवल संभूति अर्थात् कार्यकी उपासनामें संलग्न हो जायेंगे, उन्हें उससे भी घोर अंधकारकी प्राप्ति होगी। उसमें बताया, कार्यदेवता अर्थात् संभूति-देवतासे भी न्यारा और असंभूतिदेवता अर्थात् कारणदेवतासे भी न्यारा—'अन्य देवाहुः संभवात् अन्यदाहुरसंभवात्।' (ईश० १३)। दोनोंसे विलक्षण जो वस्तु है, उसे जिन्होंने देखा उन्होंने हमको यह सलाह दी कि संभव और असंभव, माने उत्पन्न और अनुत्पन्न—कार्य और कारण, दोनोंको एक साथ मिलाकर उपासना करोगे, तब मृत्युका संतरण और अमृतत्वकी प्राप्ति होगी।

अब समझनेकी बात आयी—'कार्यब्रह्मकी उपासना।' आपको बिलकुल मोटे ढंगसे यह बात बताते हैं। एक आदमी कहता है कि—'गाँवमें झाड़ू लगाना चाहिए। परिवारकी सेवा करनी चाहिए। परोपकार करना चाहिए और इसीमें लग जाना चाहिए।' तो यह कार्य-ब्रह्मको देखता है।

मनुष्यकी सेवा करो, गायकी सेवा करो, सूर्यकी सेवा करो, समुद्रकी सेवा करो- अग्निकी सेवा करो, चन्द्रमाकी सेवा करो। ये सब देवता हैं! कार्योपाधिक देवता सब आगये। इन्द्रकी सेवा करो, ब्रह्माकी सेवा करो, विष्णुकी सेवा करो, रुद्रकी सेवा करो और जो गरीब हैं उनकी सेवा करो। अनपढ़की सेवा करो, रोगीकी सेवा करो।

इसका भी एक हिसाब है। जो बिचारे सत्तासे वंचित हैं, जिनका जीवन ही कठिन है, उनके लिए अन्न चाहिए, कपड़ा चाहिए, मकान चाहिए, औषधि चाहिए। इन सब बाह्य वस्तुओंके द्वारा उनकी रक्षा करना सेवा है।

---

* यह संभूति और असंभूतिका विषय ईशावास्यमें तीन मंत्रोंमें आया है और विद्या-अविद्याका विषय तीन मंत्रोंमें आया है। किसी-किसी पाठमें पहले विद्या-अविद्याका विषय है, पीछे संभूति-असंभूति है और किसी पाठमें संभूति-असंभूति पहले है, विद्या-अविद्या बादमें है। यह उपनिषद् काण्व संहिता में भी है और वाजसनेय संहितामें भी है। काण्व संहिताका पाठ दूसरे ढंगसे है और वाजसनेय संहिताका पाठ दूसरे ढंगसे है।

उनको ज्ञान चाहिए अर्थात् उनको शिक्षा चाहिए। उसके लिए उनको पाठशाला चाहिए। सत्संग भवन चाहिए, पुस्तकें चाहिए, पत्र-पत्रिकाएँ चाहिए और शिक्षा देनेवाले चाहिए। उनको यह सब चाहिए, तब सेवा हुई। चित्ताकी पूर्ति होगी।

उनको आनन्द चाहिए। कहीं बैठकर मनोरंजन कर सकें, इसके लिए नाट्यशाला चाहिए, संगीत, नृत्य, रामलीला और रासलीला चाहिए। केवल थियेटर और सिनेमा हो नहीं, जो उनको धार्मिक और सांस्कृतिक शिक्षा दे सके वे भी चाहिए। यह क्या हुई? यह मानवसेवा हुई, यह समाज सेवा हुई। जातिसेवा हुई, संप्रदाय सेवा हुई। इनका भी विभाग है—

(१) परिवारकी सेवा करो। जातिकी सेवा करो। मानवताकी सेवा करो माने हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई—सबकी सेवा करो।

(२) संप्रदायके परिच्छेदमें सेवा, जातिके परिच्छेदमें सेवा, वर्गादिके परिच्छेदमें सेवा, सबको हटाकर बिलकुल मानवमात्रकी सेवा।

(३) नहीं-नहीं, प्राणीमात्रकी सेवा।

ऐसे समझो—भूगोलको बढ़ाओ तो अपने मुहल्लेकी सेवा, गाँवकी, सेवा, जिलेकी सेवा, प्रान्तकी सेवा, राष्ट्रकी सेवा, द्वीपकी सेवा, उपद्वीपकी सेवा, महाद्वीपकी सेवा, संपूर्ण विश्वकी सेवा। यह भौगोलिक वृद्धि हो गयी।

(४) अपनी संस्कृतिकी सेवा करो—सौ वर्षसे आरही है, उस संस्कृति-की सेवा करो। दो सौ वर्षसे आरही है, उस संस्कृतिकी सेवा करो। हजार वर्षसे आरही है उस संस्कृतिकी सेवा करो। लाखों वर्षसे आरही है, उस संस्कृतिकी सेवा करो। जो लाखों वर्षतक रहे, उस संस्कृतिकी सेवा करो।

तो देशकी सीमामें, कालकी सीमामें, वस्तुकी सीमामें जितना हम संकोचसे विस्तारकी ओर जाते हैं यह उपासना बढ़ती है। एक ब्रह्माण्डकी, फिर दूसरे ब्रह्माण्डकी, फिर अनंतकोटि ब्रह्माण्डकी, फिर ब्रह्माण्ड बनानेवाले जो देवता हैं, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, उनकी। फिर अलग-अलग ब्रह्माण्डोंके ब्रह्मा-विष्णु-महेश जिससे निकलते हैं, उस एक प्रजापतिकी अर्थात् हिरण्यगर्भकी।

समष्टिमें जो भूतसूक्ष्म है, उस भूतसूक्ष्ममें रहनेवाले चैतन्यकी सेवा। यहाँतककी सेवा सब संभूतिकी सेवा है। माने उत्पन्नकी सेवा है। जो पैदा हुआ, उसकी सेवा है।

अगर इसीमें लग जायेंगे तो क्या बस, जीवन पूरा? एक बात आवेगी। राग-द्वेष आये बिना नहीं रहेंगे। संकीर्ण दृष्टि जहाँ होती है, जहाँ तत्त्वदृष्टि

नहीं होती, जहाँ कारणदृष्टि नहीं होती, वहाँ राग-द्वेष आ जाता है। जो लोग केवल बहिर्दृष्टि माने भौतिक दृष्टि रखते हैं, उनमें पार्टीबंदी-दलबंदी आ जायगी। दूसरेका पाँव पकड़कर खींचने लगेंगे। 'चन्द्रमापर हम ही रहेंगे, तुम मत रहो।' 'यह समुद्र हमारा है, तुम्हारा नहीं।' 'यह धरती हमारी है, तुम्हारी नहीं।'

अध्यात्मशास्त्र कहता है, यह उपहासास्पद बात है। इसमें धरती किसकी है, किसकी नहीं है, यह बात कभी धरती बतायेगी ? तो बोले—'आओ, मानवताके हिसाबसे धरतीको बाँट लें। मगर बाँटनेके बाद जो प्रबल होगा, वह निर्बलसे छीन लेगा ! तब ? इसके लिए सिवाय संविधानके; कानूनके दूसरा कोई विभाजक नहीं है। ठीक, मगर कानून सही हो तभी तो, और कानून ही गलत हो तो ?

इसी प्रकार एक परमात्मामें जो विभाजन है—गुणकका-दोषका, देवी-देवताका, धर्म-अधर्मका; संविधानके सिवा उसका दूसरा कोई विभाजक नहीं है। माने वेद, अर्थात् शाश्वत संविधानकी पोथी। उसीने गुण-दोषका विभाजन किया है। उसीने धर्म-अधर्मका विभाजन किया है।

जो संभूति अर्थात् पैदा होनेवाली चीजोंकी उपासनामें लग जायगा, वह राग-द्वेषके चक्करमें पड़कर 'अन्ध तमः प्रविशन्ति।' वह क्यों राग-द्वेषके चक्करमें पड़ेगा ? क्योंकि उसकी शक्ति तो सीमित है। वह थोड़ी दूरतक सेवा कर सकता है, थोड़े दिनतक सेवा कर सकता है, थोड़े लोगोंकी सेवाकर सकता है। सब जगह तो वह पहुँच नहीं पावेगा ? इसका अर्थ हुआ, कि जहाँ वह नहीं पहुँचेगा, वहाँ उसके प्रति द्वेष आ जायगा और जहाँ पहुँचेगा वहाँ उसके प्रति राग होगा। तब सामूहिक राग-द्वेषका प्रभाव उसपर पड़ जायगा। तो क्या करना चाहिए ?

जब हम दुनियाकी सेवामें लगें, तो कारण-दृष्टि जरूर रखना। क्या ? जिनकी हम सेवा कर पाते हैं, उनमें भी और जिनकी हम सेवा नहीं कर पाते हैं, उनमें भी ईश्वर मौजूद है। सम्पूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारणका अर्थ आप समझो। हम सीधी-सादी बात बता रहे है, भाई ! हम शास्त्रका दाँव-पेंच आपको नहीं बता रहे हैं।

यह शरीर है न, यह उपादानकारण - प्रधान है। भीतर जो चैतन्य है, वह निमित्तकारण-प्रधान है।

सबकी सेवा करो, अर्थात् जड़की भी सेवा और चेतनकी भी सेवा। किसीको भी नुकसान मत पहुँचाओ। सब जगत्के मूलमें जो चैतन्य है, जिसकी फुह्यिा-फुह्यिा-फुह्यिा सबके भीतर चैतन्यके रूपमें मालूम पड़ती है और जो सबका उपादान-मसाला है, जिसमें सबकी शकलें अलग-अलग-अलग बनी हुई हैं, उस परमात्माको ध्यानमें रखकर कि सब जीवोंके रूपमें वही है, व्यक्तियोंके रूपमें वही है और सब वस्तुओंके रूपमें वही है। सेवा सबकी करो और राग-द्वेष किसीसे मत करो। यदि यह दृष्टि रखकर संभूतिकी उपासना करोगे—संभूति माने पैदा हुई चीज, कार्यवस्तुकी सेवा करोगे, तो कल्याणके भाजन बनोगे, राग-द्वेष नहीं होगा; क्योंकि राग-द्वेष होनेपर तो पक्षपात होता है। एकके साथ पक्षपात करोगे तो दूसरेके साथ अन्याय हो ही जायगा। पक्षपात होनेपर भाई-भतीजा आ ही गया। दूसरेके साथ द्वेष होनेपर हिंसा होती है। रागमें-से पक्ष-पात निकलता है, द्वेपमें-से हिंसा निकलती है। गड़बड़ा जायगा काम! सीताराम !!

कहो कि कार्यकी उपासना छोड़ देंगे, हम कारणकी ही उपासना करेंगे। कारणकी उपासना माने जगत्के मूलमें जो एक चैतन्य है, सर्वान्तर्यामी, सर्व-नियंता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वकारण, एक सत्ता है, उसीके ध्यानमें हम मगन हो जायेंगे।

सायणाचार्यने, महीधराचार्यने, उव्वटाचार्यने ऐसा अर्थ किया है उस श्रुतिका—'आओ हम ध्यान लगा लें, समाधि लगा लें, बैठ जायँ, उससे एक हो जायँ। कोई सेवा न करें। किसी पैदा हुएकी सेवा करनेमें क्या रखा है जबकि राग-द्वेष होता है, दलबन्दी हो जाती है, मारपीट होने लगती है!

हम बनारसमें एक जिला-कमेटीके सदस्य थे। हम सब बैठे थे। संस्थाका नाम लेनेसे क्या फायदा! उसमें बड़े-बड़े लोग थे, जो आजकल देशमें बड़े-बड़े कामपर लगे हुए हैं, वे भी थे। यह बात सन्, ३१–'३२–'३३ की है। मैं भी सदस्य था उसी कमेटीमें। अरे महाराज! वह जूता चल जाय! बड़े-बड़े लोग, जिनका नाम लेनेमें आजकल गौरव माना जाता है। मीटिंगमें जब झगड़ा होता है, तो वे लोग जूता उठा लें!

जब सेवाकार्य करनेमें यह सब राग-द्वेष होता है, पार्टीबन्दी होती है, दलबन्दी होती है, खींचातानी होती है, भाई-भतीजा आता है, हिंसा और क्रूरता होती है, तो छोड़ो इसको! आओ, कारणमें स्थित हो जायँ? बोले—इसमें भी दोष है। क्या दोष?

यदि केवल कारण-कारण देखोगे तो अपना विशेष धर्म छूट जायगा। पत्नीके प्रति कर्तव्य, माता-पिताके प्रति कर्तव्य, देश, जाति और सम्प्रदायके प्रति जो कर्तव्य है, वह सब छूट जायगा। यदि असंभूति अर्थात् कारणकी उपासनामें ही लीन हो गये तब अपना कर्तव्य न करनेका प्रत्यवाय लगेगा। दोनोंमें दोष आया। तब श्रुतिने यह निर्णय दिया कि—

संभूतिञ्च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥ (ईश० १४)

दोनों करना। ध्यान करें कि गुरुकी सेवा करें? और हल्का करके इस बातको बताते हैं। गुरुके पास रहे और केवल ध्यान करे, तो सेवाके कर्तव्यसे विमुख होनेका प्रत्यवाय लग जायगा। सेवा ही करे और ध्यान न करे तो और बहिर्मुख हो जायगा; चेलोंको फँसानेमें लग जायगा, चेला-चाँटीमें लग जायगा। बहिर्मुख हो जायगा तो राग-द्वेष हो जायगा, पक्षपात होगा, पार्टीबन्दी होगी। ऐसा गुरुके पास होता है न?

जैसे, एक आदमी है, वह मन्दिरमें ही पूजा करे और बाहरके लोगोंको ही देखे और मन्दिरमें पूजा न करे, तो असंगत हो गया न उसका जीवन! इसी प्रकार ईश्वरने यह कविता रची है—यह सृष्टि ईश्वरका संगीत है, काव्य है; बनाया नहीं है ईश्वरने।

एकांतमें था ईश्वर। दूसरा तो कोई था ही नहीं और उसने कविता रची—'अरे वाह! क्या सूर्य चमक रहा है! चमकने लग गया। क्या चाँदनी बरस रही है! और बरसने लग गयी। क्या ठंडी-ठंडी हवा चल रही है! और चलने लगी। क्या लोग हँस रहे हैं, खेल रहे हैं, रो रहे हैं, गा रहे हैं! नव रसका गान किया। वीभत्स रसका गान किया तो वीभत्स हो गया! भयानक रसका गान किया तो भयानक हो गया। करुण रसका गान किया तो करुण हो गया। शृंगार रसका गान किया तो शृंगार हो गया।

वेद कहता है—**पश्य देवस्य काव्यम् न ममार न जीर्यति।** यह परमात्माकी कविता है। क्या आनन्द है! मधु! मधु!! मधु!!!

इसमें एकमें फँसोगे तो दूसरा तकलीफ देगा। दूसरेमें फँसोगे तो पहला तकलीफ देगा। इसलिए भाई, कैसे चलें? समन्वय करके जीवनको ले चलना है।

मनमें सोचा कि क्या करें? सृष्टिकी सेवा करें कि ईश्वरका भजन करें? एकके मनमें यह सवाल उठा। वह लेकर फूलका गुच्छा एक महात्माके पास गया

कि फूल भेंट करेंगे, पूछेंगे। यह सच्ची घटना है। महात्मा लखनऊमें आये हुए थे। 'बाबाजीके' नामसे प्रसिद्ध हैं। बाबाजीने फूलका गुच्छा हाथमें लिया और देखने लगे। दो मिनट, पाँच मिनट, दस मिनट! लानेवालेको देखा ही नहीं। फूलका गुच्छा ही देखा। तो वह नाराज हो गया कि—'महाराज! मैं तो आया था इसलिए कि आप हमारी ओर देखेंगे। आपने हमारी ओर देखा ही नहीं। हमारे लाये हुए गुच्छेको ही देखने लगे।

महात्मा—'लो, फेंक देते हैं फूलके गुच्छेको। अब तुमको ही देखेंगे।'

वह बोले—नहीं-नहीं, फेंको मत। आप हमको भी देखो और हमारे लाये हुए गुच्छेको भी देखो।'

तो कार्य-कारण उपासनाका अभिप्राय यह है कि हम सृष्टिके मूलमें जो एकत्व है, उसको तो ध्यानमें देखें और बाह्य जीवनमें सृष्टिकी सेवा करें। क्योंकि सृष्टि उसीका फूल है, उसी प्यारेका दिया हुआ गुलदस्ता है। उसके दिये हुए गुलदस्तेका भी आदर करें और देनेवालेका भी आदर करें। यह बात 'अन्धं तमः प्रविशन्ति'—इस प्रसंगमें ईशावास्य उपनिषद्में समझायी गयी। इसका दूसरा ही अभिप्राय गौडपादाचार्यजी महाराज निकाल रहे हैं—

संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिध्यते।
को न्वेनं जनयेद् इति कारणं प्रतिषिध्यते॥

यदि यह संभूति, यह सृष्टि ज्यों-की-त्यों ईश्वर होती, परमात्मा होती, ब्रह्म होती, परमार्थ होती, तो इसका अपवाद क्यों आता कि केवल इसकी सेवा करनेसे 'अन्धं तमः'की प्राप्ति होगी? इससे मालूम होता है कि कार्यरूपमें दिखायी पड़नेवाली यह सृष्टि वस्तुतः परमात्मा नहीं है। यह अभिप्राय है।

अच्छा, तो जो कारणरूपमें बताया, जिसका ध्यान करनेकी बात है, वह परमात्मा होगा।

कोन्वेनं जनयेद्""प्रतिषिध्यते—यहाँ यह प्रश्न उठाया कि यदि एक पेड़को जड़से उखाड़ दिया जाय और काट दिया जाय, तो फिर क्या वह उग सकता है?

इस सृष्टिका समूल नाश हो जाय तो यह सृष्टि फिरसे पैदा हो सकती है! और होती है तो किससे पैदा होती है? वृक्ण माने जो मूल है, कटा हुआ मूल है, वह किससे निकलता है? 'को न्वेनं जनयेद्'—(बृ० ३.९.२८) वहाँ यह मंत्र प्रश्नके रूपमें भी है और आक्षेपके रूपमें भी है। यह वेदकी चतुराई है वहाँ।

जब यह प्रश्न हुआ कि 'कौन ब्रह्मज्ञानी है'? हजार गाय कौन ले? तो

सब चुपचाप ! याज्ञवल्क्यने सोचा—अगर हम यह कहेंगे कि हमको ब्रह्मज्ञान हो गया, तो अभिमानकी बात आवेगी। ब्रह्मज्ञानका तो अभिमानी, होता नहीं। और फिर कह भी दें कि 'हम ब्रह्मज्ञानी, तो लोग कहेंगे—'एक हजार गाय लेनेकी लालच है, इसलिए यह ब्रह्मज्ञानी होकर खड़ा हुआ है।' 'उभयतः पाशारज्जु' इसको बोलते हैं। बोले—अगर नहीं कहते, तो हजार गाय चली जायगी, कोई बात नहीं है, लेकिन सृष्टिमें कोई ब्रह्मविद् है ही नहीं; लोगोंकी यह धारणा भी तो बनेगी न ! इसलिए उन्होंने यह सोचकर कि ब्रह्मविद्-संप्रदाय भी रहे, अर्थात् जिज्ञासुओंको ब्रह्मवेत्ताकी प्राप्ति भी होवे और एक हजार गाय भी मिल जायँ। वे बोले—'अच्छा, तुम आखिर यही कहते हो न, कि तुम्हारे हृदयमें एक हजार गाय लेनेकी कामना है ?' 'बाढम् ! भो कामाय वयं नमोस्तु ब्रह्मविद्या।'

'हम जानते हैं कि हम ब्रह्मवेत्ता हैं, ब्रह्म हैं, हजार गाय लेनेकी कामना है हमारे हृदयमें, तो उससे हमें कोई नुकसान नहीं है।'

चिदात्मानं पृथक्कृत्य पृथक् पश्यन् अहंकृतिः।
अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन् अहंकृतिम्।
इच्छस्तु कोटि वस्तुनि न बाधो ग्रंथिभेदतः॥

हम अपने चिदात्माको छोटे अहंसे मिलाते नहीं हैं ! रह बेटा अलग ! हृदयकी गुफामें हम आपको घुसाते नहीं हैं। इस अहंकारको अलग देखते हैं। अब ? हजार कामनाएँ होवें तब भी कोई बाधा नहीं है। हम ग्रंथिभेद कर चुके हैं। इस परिच्छेदमें रहकर जो व्यवस्थापक है, उसके साथ हमारी जो गाँठ थी, वह टूट चुकी है। हम तो अपरिच्छिन्न ब्रह्म हैं ! अरे मेरे बाप ! याज्ञवल्क्य उठकर खड़े हो गये, अपने चेलोंसे कहा—'हाँक लो गौओंको।'

अब ब्राह्मणोंमें हल्ला मचा—'हम ब्रह्मविद् नहीं और यह अकेला ही ब्रह्मविद् ? आओ, शास्त्रार्थ हो जाय।'

वहाँ प्रश्न यह उठा कि वृक्षकी जब जड़ काट दी जाती है, तो उसमें फिरसे अंकुर कहाँसे निकलते हैं ? यह बताओ। क्या जो पहला बीज था, उससे निकलता है ? पहला बीज तो विकृत हो कर, परिणामको प्राप्त होकर फिर वृक्षके तनेके रूपमें बना ! फिर उस एक बीजसे हजारों बीज पैदा हुए। अब तो वह बीज है ही नहीं। फिर उस वृक्षको काट देनेके बाद दुबारा अंकुर क्यों निकलता है ? यह तो हुआ प्रश्नका ऊपरी रूप। भीतरी रूप यह है कि यह अश्वत्थवृक्ष है, यह प्रपंचवृक्ष है। एक बार प्रलय हो जानेके बाद यह सृष्टि कहाँसे निकल आती है ? आक्षेप क्या है ?

इस संसार-वृक्षका मूल है अज्ञान। अज्ञान ही है बिलकुल! एक बार जब तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य ज्ञानके द्वारा इस अज्ञानरूपी संसार-वृक्षकी जड़ काट दी जायगी, तो 'कस्मात् प्ररोहति ?' यह फिर उगने क्यों लगा, जब जड़ ही भंग हो गयी ? जब जड़ ही टूट गयी, तो फिर यह निकलेगा कहाँसे ?

जो लोग जन्म-मरणके चक्करसे व्याकुल हैं, यह मोक्षविद्या उन लोगोंके लिए है। धर्मविद्या किनके लिए है ? धर्मविद्या उनके लिए है, जो आलसी, प्रमादी, अकर्मण्य हैं। उनको धर्ममें निष्ठावान् बनाकर धर्मपर चलाना, यह धर्मका काम है।

जो लोग वासनासे भरपूर हैं, उपासनाके द्वारा उनके मनकी वासनाको निकालना है। जिनका मन चंचल है, योगके द्वारा उनके मनकी चंचलताको मिटाना है। जैसे रोगीके लिए औषध होती है, जिसको जो रोग है, उनके लिए वह दवा।

जबसे लाउडस्पीकरवाली विद्या चली है न, पर्चा छपाकर बाँट दिया गाँवमें और सबको इकट्ठा किया कि—'हमारे पास एक रामबाण औषधि है।' ये चमत्कारी लोग ? 'लो, सबके लिए एक ही चीज।' तबसे गड़बड़ हुई।

अयोध्यामें सबके लिए राम। वृन्दावनमें सबके लिए कृष्ण। काशीमें सबके लिए शिव। हरद्वारमें सबके लिए उपनिषद्। शास्त्र रोगीकी परीक्षा करके उसके रोगानुसार औषधि देनेकी व्यवस्था करता है। उसका नाम शास्त्र है।

जो दूसरोंको सता रहे हैं अधर्म करके, उनके लिए धर्म औषधि है। जो वासनासे दुःखी हैं बेचारे, उनके लिए उपासना औषधि है। जिनका मन चंचल होता है, उनके लिए योग औषधि है। जो केवल अविद्यासे ही समाक्रान्त हैं, उनके लिए यह मोक्षविद्या औषधि है।

पोथीका नाम उपनिषद् नहीं होता; हृदयमें उदय होनेवाली सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-शून्य, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मविषयक जो विद्या होती है, उस विद्याको उपनिषद् कहते हैं। पोथीका नाम उपनिषद् नहीं, कागजका नाम उपनिषद् नहीं, काले अक्षरोंका नाम उपनिषद् नहीं, जो गाकर पढ़ा जाता है, उसका नाम उपनिषद् नहीं। जो अविद्यानिवर्तक विद्या हृदयमें उत्पन्न होती है, उसका नाम उपनिषद् है। अब प्रश्न हुआ—

को न्वेनं जनयेदिति ?

कौन है वह जो इसको पैदा करता है ? कौन है वह जो पैदा होता है ? अरे बाबा ! पैदा होनेवाली चीज तो मरेगी जरूर। और पैदा करनेवाली चीज फूटेगी जरूर। पैदा करनेवाली चीजमें जबतक भेदन न होगा, फूटेगा नहीं, अंकुर कहाँसे निकलेगा ? मिट्टी खोदी नहीं जायगी, तो घड़ा कहाँसे बनेगा ? मनुष्यके शरीरमें विकार नहीं होगा, तो बच्चा कहाँसे आवेगा ? जहाँ-जहाँ कार्य देखनेमें आता है, वहाँ-वहाँ अपने कारणमें विकार उत्पन्न करके आता है। तो इतना बड़ा संसार जब मूल तत्त्वमें प्रकट हुआ, तो उसे विकृत करके प्रकट हुआ क्या ? विकृत होनेवाला कारण और पैदा होनेवाला कार्य ये दोनों परमार्थ नहीं हैं।

परमार्थ वस्तु कार्य और कारण दोनोंसे विलक्षण होती है। हमारे अद्वैत का नाम द्वैताभाव नहीं है। द्वैतके अभावका नाम अद्वैत नहीं है। द्वैत और द्वैताभाव दोनोंके अधिष्ठानका नाम अद्वैत है। दोनोंके प्रकाशकका नाम अद्वैत है। द्वैत और द्वैताभाव दोनोंके नाम-रूप जिसमें नहीं हैं, उसका नाम अद्वैत है ? 'उसका' नाम अद्वैत नहीं है, अपने 'मैं'का नाम अद्वैत है। अपने ही 'मैं'का नाम अद्वैत नहीं, मैं-तू सबका नाम अद्वैत है। उसमें मैं-तू, यह-वह, यहाँ-वहाँ नहीं होता है।

यह ब्रह्मविद्या है। जो लोग छोटी-छोटी चीजोंके लिए पागल हो रहे हैं उनके लिए यह विद्या नहीं है। छोटी चीजके लिए पागल होवे और अपनेको समझे बड़ा ! इसीका नाम माया है। करोड़पतिका बालक और एक नये पैसे-के लिए रोवे ? मोहमाया है न उसकी ? भूल है न, भूल !

इसी प्रकार परिपूर्ण, अविनाशी, अद्वैत, परमार्थ परमात्मासे एक होकर छोटी-छोटी चीजोंके पीछे भटकें ? यह माया है। वेदान्त ही परम शान्ति यही परमार्थ, यही सच्चा ज्ञान देता है।

\+ \+ \+

उपनिषद्में, वेदमें; वेदान्तमें सम्भूतिका अपवाद किया हुआ है। जो पैदा होता है, जो कार्य है, जो धार्य है और जो प्रकाश्य है, वह सब संभूति है। जो किसी अधिष्ठानमें अध्यस्त है, जिसको किसी धारण करनेवालेकी अपेक्षा होती है, वह धार्य हुआ और जो किसी चेतनके द्वारा, ज्ञानके द्वारा प्रकाशित होवे, वह प्रकाश्य हुआ। जो कर्मके फलरूपमें बने, बनाया जाय, पकाया जाय, पैदा किया जाय, उसको कार्य कहते हैं। जो कार्य है माने कर्म-जन्य है और जो धार्य है माने जो अन्य आधारमें, अन्य अधिष्ठानमें स्थित है;

जो प्रकाश्य है माने अपने प्रकाशनके लिए अपनेसे भिन्न ज्ञानकी अपेक्षा रखता है, वह वस्तु सम्भूति है। 'सम्यक् भवति-संभवनम् सम्भूति।' वह ईश्वर नहीं है। क्यों?

वह तो आकाशमें पैदा होती है, और आकाशमें मिट जाती है, वह धार्य है। वह तो बनायो जाती है और विगड़ जाती है, वह कार्य है। वह तो हमारी चेतनाके प्रकाशमें दीखती है और बिना चेतनाके प्रकाशके अपनी सत्ताको दिखा ही नहीं सकती, वह प्रकाश्य है। तो, जो वस्तु प्रकाश्य होती है, कार्य होती है, और धार्य होती है, वह वस्तु स्वतन्त्र नहीं होती है। स्वतन्त्र नहीं होती है, तो वह ईश्वर नहीं होगी, परमात्मा नहीं होगी। यदि केवल कार्यकी, धार्यकी, प्रकाश्यकी उपासना करोगे, तो वह उपासना अधूरी होगी।

अच्छा, तो तुम क्या चाहते हो? तुम कार्य-धार्य-प्रकाश्यका निषेध करना चाहते हो, कि उसकी उपासना करना चाहते हो?

बोले—'नहीं, न हम उसका निषेध करना चाहते हैं और न हम उसकी उपासनाका निषेध करना चाहते हैं।

ठीक है, उपासना भले करो कार्यकी परन्तु साथमें कारणकी भी करो। कार्यमें शरीर भी है। शरीर कार्य है, धार्य है और प्रकाश्य है। शरीर कर्म-का फल है। चेतन इसको प्रकाशित करता है और एक समयतक ही इसको धारण करता है। फिर यह फूट जाता है। और जैसे यह व्यष्टि शरीर है, वैसे समष्टि शरीर है ब्रह्माण्ड। यदि इस कार्य-धार्य-प्रकाश्य शरीरकी उपासना-सेवा करना चाहते हैं तो ब्रह्माण्डकी भी उपासना-सेवा करो। और यदि उपासना करो तो केवल इसीकी उपासना मत करो, इसका जो कारण है, उसकी भी उपासना करो। कारणकी उपासनाके साथ समुच्चय विधान करनेके लिए कि केवल इसीमें मत फँस जाओ, ईशोपनिषद्में संभूतिकी और असंभूतिकी अलग-अलग उपासनाकी निन्दा की गयी है।

जैसे कोई अपने शरीरकी उपासना करने लगे, तो हम उससे कहें—'जरा माँ-बापका भी खयाल रखना, भैया!' यह क्या हुआ? अपने छोटे कारण की भी उपासनाका विधान हुआ। माँ-बाप तो शरीरके कारण हैं।

फिर, जिस देशका तुम अन्न खाते हो, पानी पीते हो, उस देशका भी तो ध्यान रखना! मनुष्य यदि माँ-बापका कार्य है, तो देशकी भूमिके द्वारा धार्य है। सूर्यको भी दो अंजलि अर्घ्य दे दिया करो। क्यों? क्योंकि सूर्यके

द्वारा प्रकाश्य है। मानव शरीर राष्ट्र—पृथिवी आदिके द्वारा धार्य है, माँ-बापका कार्य है और सूर्य-अग्निके द्वारा प्रकाश्य है। तो, मनुष्यके कर्तव्यका यह निश्चय हुआ कि वह अपना हित देखे, साथ ही माँ-बापका और देशका भी हित देखे तथा सूर्य-अग्निके प्रति भी कृतज्ञ रहे, होम करे। अर्घ्य दे, देवताकी पूजा करे।

इसी प्रकार जो धार्यका धारण है, कार्यका कारण है, प्रकाश्यका प्रकाशन है, हमको जहाँसे ज्ञान मिलता है उस ज्ञानके स्रोतके प्रति भी कृतज्ञ होना चाहिए। जहाँसे हमारा जन्म हुआ है, उसके प्रति भी कृतज्ञ होना चाहिए। जो हमारा धारण करता है, पालन पोषण करता है, उसके प्रति भी कृतज्ञ होना चाहिए।

जो केवल जगत्की उपासनामें लग जाता है, ईश्वरको भूल जाता है, वह अपराध करता है। जो केवल आँख बन्दकर थोड़ी देर बैठ जाता है और फिर उठकर कहता है—'अब हमको माँ-बापकी, वेदकी, होम करनेकी, अर्घ्य देनेकी क्या जरूरत है? तो अपना कर्म त्याग करनेके कारण वह प्रत्यवायी हो गया और उधर कारण-ईश्वरदृष्टि छोड़ देनेके कारण रागी-द्वेषी हो गया। इसलिए दोनोंको मिला करके उपासना करनी चाहिए। सम्भूतिकी उपासनाके निषेधका तात्पर्य यह नहीं है कि सम्भूतिको छोड़ दो। तात्पर्य यह है कि असम्भूतिका भी ध्यान रखो। कारणका भी ध्यान रखो।

इसी प्रकार असम्भूतिकी उपासनाके निषेधका यह तात्पर्य नहीं है कि कभी ध्यान न लगाओ, कभी समाधि न लगाओ, कभी पूजा न करो। इसका तात्पर्य यह है कि अपने लोक-हितका भी और अपने लौकिक कर्तव्यका भी ध्यान रखो।

बोले—ठीक है। तुम कहते हो कि सम्भूतिके निषेधसे कार्यका ही निषेध हो गया। पहले तो कार्य और कारणकी उपासनाका समुच्चय बताते हैं और अब कहते हो, कि कार्यका निषेध करते हैं?'

यहाँ वेदान्तकी बात आयी। वेदान्तकी बात क्या निकलती है, कि अकेला कारण भी परमात्मा नहीं है और अकेला कार्य भी परमात्मा नहीं है। समझो, कि यदि ऐसा बतलाया जाय कि 'वह' अन्धा है, उसको नहीं सूझता' और 'यह' अन्धा है, इसको नहीं सूझता। तो इसका मतलब क्या हुआ? इसका मतलब हुआ कि दोनों अन्धे हैं। दो अन्धे मिलकर भी देखें तो क्या रूपको सिद्ध कर सकेंगे? सौ अन्धे इकट्ठे हो जायँ तब भी रूपके बारेमें उनका वचन प्रमाण नहीं होगा।

जब अकेले सम्भूति ईश्वर नहीं है और जब अकेले असम्भूति ईश्वर नहीं है, तो इसका मतलब हुआ कि ईश्वरका स्वरूप दोनोंसे विलक्षण है। कार्य और कारण दोनों जिसमें अध्यस्त हैं वह ईश्वर है।

अध्यस्त माने ऊपरसे कल्पित किये हुए। अधि = ऊपर और अस्त = निक्षिप्त। असु क्षेपे। अध्यास = एक चीजके ऊपर दूसरी चीज डाल दी जाय, इसको अध्यारोप बोलते हैं। जैसे एक मनुष्य है, उसमें हिन्दूपना और मुसलमानपना अध्यारोपित है। जन्मसे कोई हिन्दुत्व-मुस्लिमत्व लेकर नहीं आता। मनुष्यमें यह भाव जन्मके बाद पैदा किया जाता है। इसी प्रकार शैवत्व और वैष्णवत्व भी जन्मके बाद पैदा किया जाता है। मनुष्यत्व तो जन्मसे है। लेकिन उपर्युक्त भाव अध्यारोपित हुए हैं।

जन्मसे कोई शैव नहीं है, जन्मसे कोई वैष्णव नहीं है। संस्कारके द्वारा उसमें शैवपना और वैष्णवपना उत्पन्न किया जाता है। असली परमात्माके ज्ञानके लिए कार्यमें शालिग्राम शिलामें, गढ़ी हुई मूर्तिमें, नर्मदाशंकरमें ईश्वरत्वका अध्यारोप करके उसकी उपासना की जाती है।

आँख बन्द करके हृत्पिंडमें जो चित्तवृत्ति है, उसमें आरूढ़ चैतन्यके रूपमें (आभासमें नहीं) उसके घेरेमें रहनेवाले कूटस्थमें ब्रह्मत्व आरोपित करके उसकी उपासना की जाती है।

परन्तु असली ब्रह्म? असली ब्रह्म न तो उपाधिका दृश्य है, न तो उपाधिका आधार है। उसमें उपाधि और उपहित भाव बिलकुल कल्पित है। उसमें कार्य-कारणभाव भी बिलकुल कल्पित है। उसमें प्रकाश्य-प्रकाशक भाव भी कल्पित है, क्योंकि दो नहीं है। उसमें आधार्य-आधार भाव भी कल्पित है और कार्य-कारणभाव भी कल्पित है। असली परमात्माको समझानेके लिए सम्भूति और असम्भूति दोनोंमें ब्रह्मतत्त्व कल्पित है। इसलिए जब दोनोंका निषेध कर दिया जाता है, तो असली ब्रह्मकी प्रतिपत्ति होती है। सम्भवके अपवादसे यह बात सिद्ध हुई कि परमात्मा सम्भवसे विलक्षण है। अर्थात् कार्य-कारण दृश्य-द्रष्टा, धार्य-धारकके जो परस्पर विपरीत लक्षण हैं उनसे भी भिन्न लक्षणवाला है।

एक दूसरी बात आपको सुनाते हैं। जो लोग वेदान्तका स्वाध्याय करते हैं, उनके लिए है। 'भिन्न' शब्दका अर्थ है, फूटा हुआ। 'घटो भिन्नः।' अर्थात् घड़ा फूट गया। घड़ेपर डण्डा मारेंगे तो बोलेंगे—'घटो भिन्नः' घड़ा फूट गया। वेदान्तमें 'भिन्न' शब्दके माने हैं, लक्षणकी भिन्नता। वस्तुकी भिन्नता नहीं, केवल लक्षणकी भिन्नता, जैसे, एक ही पाषाणमें स्त्री-मूर्ति खचित कर दी और

उसी पत्थरमें पुरुषकी मूर्ति बना दी। बोले—यह स्त्री है, यह पुरुष है। यह व्यवहार होगा। परन्तु दोनों पत्थर है। उसमें स्त्रीसे पुरुष और पुरुषसे स्त्री लक्षणसे भिन्न है, पत्थरसे भिन्न नहीं है।

स्त्री-समुचित अवयवसे जो विशिष्ट पाषाणखण्ड है, उसको स्त्री बोलते हैं और पुरुष-समुचित अवयवसे विशिष्ट जो पाषाणखण्ड है, उसे पुरुष बोलते हैं। उसके पाषाणत्वमें कोई हानि, कोई भेद नहीं है। भेद तो आकृतिमूलक है। आकृतिमूलक भेद वास्तविक भेद नहीं होता है।

एक ही परमात्मामें यह सम्भूति है, यह असम्भूति है—यह भिन्नता केवल लक्षणकी है। माने परस्पर विपरीत लक्षणवाले हैं। लक्षणमें भेद है, परमार्थतः, वस्तुतः भेद नहीं है।

काले, गोरे; दोनों मनुष्य हैं। स्त्री, पुरुष दोनों पाँचभौतिक हैं। मिट्टी पानी दोनों एक सत्तामें कल्पित हैं। जड़, चेतन दोनों एक अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें कल्पित हैं। अभिप्राय यह हुआ कि मूल तत्त्वको समझनेके लिए हमें कल्पित रूपसे यह कार्य है, यह कारण है; यह दृश्य है, यह द्रष्टा है; यह धार्य है, यह धारक है—यह भेद बनाना पड़ता है। वस्तुतः तत्त्वमें किसी प्रकारका भेद नहीं है।

को न्वेनं···· ····प्रतिषिद्ध्यते।

कल आपको सुनाया, बृहदारण्यक उपनिषद्के तीसरे अध्यायमें जब प्रश्न किया गया कि—

मर्त्यः स्विन्-मृत्युना वृक्णः कस्मात् मूलात् प्ररोहति ?

(बृहदा० ३.९.२८)

प्रत्यक् चैतन्याभिन्नके याथात्म्यबोधसे जब यह संसारवृक्ष बाधित हो जाता है, तो 'कस्मान् मूलात् प्ररोहति ? जब जड़ हो गायब तो फिर यह जन्म-मरणका चक्कर कहाँसे आवेगा ?

यत् समूलं आवृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्।

(वृहद० ३.९.२८)

जब वृक्ष जड़ सहित उखड़ गया, जब अविद्या ही निवृत्त हो गयी, तो फिर कहाँसे वृक्ष उत्पन्न होगा ? माने संसारवृक्षका छेदन हो जायगा।

आपको हम विद्या-अविद्याके बारेमें बात सुनाते हैं। उपनिषद्में कहीं-कहीं शंकराचार्य भगवान् 'अविद्या' शब्दका अर्थ करते हैं, 'कर्म' और 'विद्या'का अर्थ करते हैं 'ज्ञान'। जो लोग अपने आप ही पढ़ते हैं या पुस्तकालयमें बैठकर

थीसिस लिखनेके लिए अपने आप स्टडी (Study) कर रहे हैं, उपनिषद्का अध्ययन करते हैं, उनका संप्रदाय तो कोई है नहीं। संप्रदाय माने ज्ञानकी परम्परा। उन्हें गुरु-शिष्यकी परम्परासे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं है। कहते हैं—'शंकराचार्यने 'अविद्या' शब्दका अर्थ कर्म कर दिया! राम-राम! अरे! यह कैसे?'

हम इसका मूल दिखाते हैं। हमारे शरीरमें दो विभाग देखनेमें आते हैं। एक ज्ञानेन्द्रियोंका और एक कर्मेन्द्रियोंका। हाथ, पाँव, जीभ, मल-मूत्र-त्यागकी इन्द्रियाँ—ये सब कर्मेन्द्रियाँ हैं। और आँख, कान, नाक, त्वचा और रसनेन्द्रिय—ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ है। ज्ञानेन्द्रियसे वस्तु मालूम पड़ती है—यह शब्द हुआ, यह रूप है, यह रस है। यह गंध है, यह स्पर्श है। आँख न हो, तो यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह कैसे मालूम पड़ेगा? इसका अर्थ यह हुआ कि कर्मेन्द्रियाँ अंधी होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ वस्तुको प्रकाशित करनेवाली, आँखवाली होती हैं। जो वस्तुको जनावे, सो ज्ञान। जो वस्तुको न जनावे, केवल काम करे, सो अंध।

कर्मेन्द्रियाँ अविद्याकी परम्परामें हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ विद्याकी परम्परामें हैं। ज्ञानका प्रकाश हुआ ज्ञानेन्द्रियोंमें और कर्मका प्रकाश हुआ, केवल कर्ममें, कर्मेन्द्रियोंमें। तो हमारा जीवन कैसे चलता है? अंध-पंगुसंयोग-न्यायसे चलता है।

कर्मेन्द्रियाँ हैं अंधी और ज्ञानेन्द्रियाँ हैं लँगड़ी। क्या हुआ? एक जगह दो भिखारी बैठे थे। एक लँगड़ा था वह देखता सबको था, लेकिन बेचारा चल नहीं सकता था, पाँव नहीं थे उसके। उसी जगह एक अंधा था। उसके पाँव तो बहुत बढ़िया थे, पर आँख नहीं थी। दोनोंने सलाह की कि हम लोग कैसे भी बद्रीनाथ चले चलते तो बहुत बढ़िया होता।

एकने कहाकि हमारे आँख नहीं हैं, तो कैसे जायेंगे? दूसरेने कहा, हमारे पाँव नहीं हैं तो कैसे जायेंगे?

फिर, ईश्वरने दोनोंको अक्ल दी। जिसके पाँव हैं, सो चले, जिसके आँख हैं, सो रास्ता बतावे। अंधेने लंगड़ेको अपने कंधेपर बिठा लिया। अब लँगड़ा अंधेको रास्ता बताता जाय और अंधा चलता जाय। दोनों बद्रीनाथ पहुँच गये।

हमारे इस शरीरमें कर्मेन्द्रियाँ अंधी हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ आँखवाली हैं। 'अंध-पंगुसंयोग-न्याय'से हमारा जीवन चल रहा है। सांख्यमें प्रकृति-पुरुषका

संयोग बताया। प्रकृति अंधी है, पुरुष ज्ञानवाला है। इन्हीं दोनोंके संयोगसे यह व्यवहार चल रहा है।

कर्म कर्मेन्द्रियोंके द्वारा होते हैं। इसलिए कर्म अंधोंके द्वारा संपन्न होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ वस्तुके स्वरूपको लखाती हैं, इसलिए यह उचित है, यह अनुचित है; यह धर्म है, यह अधर्म है, यह ब्रह्म है, यह अब्रह्म है; यह बात अंतःकरण और ज्ञानेन्द्रियोंके संयोगसे मालूम पड़ती है। यही हुई विद्या-अविद्या।

व्यवहार जितना भी सिद्ध होता है, वह इन दोनोंका मेल होता है। संसार विषयक, परिच्छिन्न विषयक ज्ञान-विद्या और कर्मरूप अविद्या इन दोनोंके मेलसे संसारका व्यवहार सिद्ध होता है।

ब्रह्मविषयक विद्या अपरिच्छिन्न है; माने अभिन्न है। जो कभी टूटता नहीं, फूटता नहीं, कटता नहीं, मिटता नहीं, ऐसी जो अच्छिन्न, अभिन्न, अपरिच्छिन्न वस्तु है, जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न वस्तु है, उसे पानेके लिए पांवसे कहीं चलना नहीं पड़ता, हाथसे पकड़ना नहीं पड़ता, मलमूत्रोत्सर्गसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं और जीभसे बोलनेकी जरूरत नहीं! इसलिए कर्मेन्द्रियोंको तो हो जाने दो शान्त और ज्ञानेन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण छोड़ दो। मनसे परिच्छिन्नका चिन्तन छोड़ दो। अब क्या हुआ? शान्तिः शान्तिः शान्तिः। स्थूल शान्ति, सूक्ष्म शान्ति, कारण शान्ति।

दुनियाको देखनेके लिए ज्ञानेन्द्रियों और मनका प्रमाण और सुषुप्तिके समय अप्रमाण और उलटा देखनेमें प्रमाणाभास—इन तीनोंका जो साक्षी, अपना आपा बैठा है, प्रमाणका साक्षी, अप्रमाणका साक्षी और प्रमाणाभासका साक्षी—

प्रमाणं अप्रमाणं च प्रमाभासं च यद् भवेत्।
चैतन्याकारमेवैतत् प्रथते सर्वमेव तत्॥ (वार्तिकसार)

ये सब चैतन्यस्वरूप हैं।

न कुर्वन्ति प्रमाम् यत्र तदसंभावना कुतः।

जो प्रमाणका विषय नहीं, अप्रमाणकालमें जिसका नाश होता नहीं, प्रमाणाभासको जो स्वयं प्रकाशित कर रहा है; ये तीनों जहाँ अपना-अपना व्यवहार कर रहे हैं; उसकी असंभावना कहाँ है?

अविद्या वह है जो कर्मको असम्भूतिके साथ जोड़े और लौकिक परिच्छिन्न विद्या वह है जो हमारी विद्याको—अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें रहनेवाले ज्ञानको, परिच्छिन्नकी ओरसे हटाकर कारणमें जोड़े?

ब्रह्मविद्या कौन-सी ? जो विद्या, अविद्या और सम्भूति, असम्भूति चारोंका बाध करके उनके साक्षी-अधिष्ठानका बोध करा दे। विद्या और अविद्या साधन है और सम्भूति-असम्भूति साध्य हैं—अविद्या अर्थात् कर्म साधन है और सम्भूति अर्थात् कार्य साध्य है; तथा विद्या (ज्ञान-उपासना) साधन है और असम्भूति (कारण) साध्य है—तो दोनों साध्य और दोनों साधनका बाध करके, जो उस बाधका साक्षी है, जो उस बाधाभावका साक्षी है, जिसमें बाध दीख रहा है, उसका नाम परमात्मा है। उसका नाम आत्मा है। नाम रखकर उसको समझाते भर हैं।

वह कहीं दूर नहीं है। विद्यासे अविद्याका उच्छेद हो जाता है; कुल्हाड़ीकी जरूरत कबतक ? जबतक पेड़ नहीं कटा। नावकी जरूरत कबतक ? जबतक नदीके पार नहीं गये। जूतेकी जरूरत कबतक ? जबतक रास्तेमें चल रहे हैं, जबतक कंकड़-काँटेके गड़नेकी सम्भावना है। रातको पलंगपर सोवे और जूता पहनकर सोवे, तो यह कोई बुद्धिमत्ताकी बात नहीं हुई।

कर्म और ज्ञानसे विलक्षण जो अपना आपा है न, कहो कि यह किसीसे पैदा हुआ होगा ? इसका भी कोई बाप होगा !

को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिद्धचते ॥

वृहदारण्यक उपनिषद्में २, ३, ४ और ५ अध्यायमें—सबमें विलक्षण निरूपण आता है। 'नेति-नेति। नेति–नेति।' एक बार खूब मजेसे साधन और साध्यका वर्णन करके फिर अन्तमें खूब मजेसे बोल देते हैं—'नेति–नेति।'

यह जो जीव है, जो आत्मा है, उसका बाप कौन है ? कौन भला हो सकता है ? **को न्वेनं जनयेत्** ? इस जगत्का बाप—कारण कौन हो सकता है ?

अब आप देखो, आत्माका जन्म और मृत्यु होती है कि नहीं ? ये दोनों सवाल एक साथ कठोपनिषद्में हैं—

न संपरायः प्रतिभाति बालम्। (कठ० १.२.६)

जो दर्शनशास्त्रमें नन्हें-मुन्ने हैं, बच्चे हैं, उनको पता नहीं चलता कि शरीरके मरनेके बाद क्या होता है ? उनको यह भी पता नहीं होता है कि शरीर बननेके पहले क्या होता है ?

बोले—"भाई, एक दिन हमारी उत्पत्ति हुई ?" "अच्छाजी, वह तुमने खुद ही देखी होगी ?"

"नहीं, लोगोंने हमको बताया कि 'बेटा, अमुक संवत्, अमुक महीना अमुक दिन और अमुक समय तुम पैदा हुए।"

'यह तो लोगोंकी बतायी हुई बात है। लोगोंने तो वह दिन बताया, जिस दिन तुम गर्भसे बाहर आये। जिस दिन तुम गर्भमें आये, वह दिन तो लोगोंने नहीं बताया तुमको! गर्भमें पहलेसे थे, तब न बाहर निकले! तुम बताओ कि गर्भमें कब आये?'

'हमें तो नहीं मालूम है, लेकिन हमारे माँ-बापको पता है। और शायद ज्योतिषी लोग हिसाब लगाकर बता सकते हैं कि गर्भमें कब आये! ज्योतिषमें इसका हिसाब है। संतानकी उत्पत्ति अगर पूर्ण गर्भमें होवे तो ज्योतिषविद्यासे यह बता देंगे कि इस समय यह गर्भाधान हुआ। डॉक्टर लोग भी बता सकते हैं कि कब गर्भाधान हुआ?'

'अरे भाई! माँके पेटमें कहाँसे आये? बापके पेटमें पहले थे तब माँके पेटमें आये, कि पहले आप ही आ गये?'

'नहीं, बापके पेटमें भी थे।'

यदि वीर्यके कोटाणु न हों, जीवाणु न हों, तो बच्चा माँसे नहीं होता है। बच्चा बापसे ही होता है। यह बिलकुल सोलहों आने शास्त्रीय निर्णय है।

'बापके पेटमें भी कभी आये कि एकाएक मेंढककी तरह उछल पड़े? बापके पेटमें कब आये? बापके रक्तमें कब आये? बापके वीर्यमें कब आये? बापके मनमें कब आये? किस औषधि-वनस्पतिसे तुम बने? यह तो बताओ!'

'बाबा! यह तो हमारे माँ-बापको भी नहीं मालूम! हमको कहाँसे मालूम होगा?'

विज्ञानका जमाना है। मानो कि यह भी मालूम हो जाय, कि अमुक धातुसे निकला हुआ यह गर्भ है—चनेमें-से निकला है, अंगूरमें-से निकला है, तब यह सवाल आयेगा कि चनेमें, अंगूरमें कहाँसे आये? अरे!

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यतो सतः। (गीता २.१६)

तुम होते नहीं, तो तुम्हारा जन्म होता ही नहीं। अपनी उत्पत्ति कभी किसीके अनुभवमें आ नहीं सकती, यह बात अनुभवकी प्रणालीमें सुनिश्चित है। यदि कोई देखेगा कि 'हमारा जन्म हो रहा है', तो जन्मको देखनेवाला, जन्मको जाननेवाला पहलेसे मौजूद रहेगा। जो उत्पत्तिका साक्षी है, वह तो पहले ही रहेगा।

बोले—'भाई! हमको किसीने जन्म दिया।'

'नहीं, यह भी तुम कल्पना ही कर रहे हो। विना देखे, बिना अनुभव किये, तुम अपने जन्मकी कल्पना ही कर रहे हो।'

बोले—'अच्छा जन्मकी बात छोड़ो, मरते तो देखते हैं ?'

'कहाँ ? दूसरेका शरीर छूटते तुमने देखा होगा ? अपनेको मरते तो कभी देखा ही नहीं होगा। क्योंकि अपना मरना कभी किसीके अनुभवमें आ नहीं सकता। जो अपना मरना देखेगा, वह देखनेवाला तो जिंदा ही रहेगा।

जिससे जिसने अपनी सुषुप्ति देखो, वह जागता हुआ था। हमको इतनी देर न सपना आया, न जाग्रत् हुआ, न मालूम पड़ा— ऐसी गाढ़ी नींद आयी तो वह तो गाढ़ी नींदको देखता रहा।

तो, न तो सत्‌का जन्म होता है, न चित्‌का जन्म होता है और न प्रियताका जन्म होता है। 'अस्मि-भामि-प्रिये। अस्ति-भाति-प्रियते।'

बोले—कौन-सी ऐसी चीज थी, जिससे फूटके यह आत्मा गिकला है ? मिट्टीको तोड़कर घड़ा बनाया गया है। सोनेको तोड़कर जेवर बनाया गया है। लोहेको गलाकर औजार बनाया गया है। तुम्हारा आत्मा ? **को न्वेनं जनयेत् ?** कौन इसको जन्म देगा ? जन्मको सिद्धि बिलकुल नहीं होती। जो बिना जन्मे जनमता हुआ मालूम पड़े, और जो बिना मरे मरता हुआ मालूम पड़े, इसको बोलते हैं अनिर्वचनीय। 'नासतो विद्यते भावः'—जो असत् है, उसका जन्म नहीं है और उसकी मृत्यु भी नहीं है। 'ना भावो विद्यते सतः'—सत्‌का कभी अभाव नहीं है। अर्थात् सत्‌का जन्म-मरण नहीं है। अतः ब्रह्मका जन्म-मरण नहीं है, आत्माका जन्म-मरण नहीं है; और असत्‌रूप वन्ध्यापुत्रका जन्म-मरण नहीं है।

कोई कहे 'मैंने एक दिन आकाशमें नीलिमा पोती थी, तो आकाशमें नीलिमा न पोती जाती है, न धोई जाती है। वह तो केवल भासती है। इसी प्रकार अपने स्वरूपमें जन्म-मरण है; न कभी जन्म लिया, न कभी मरण हुआ। जन्म-मरण इसमें अध्यारोपित है। इसके स्वरूपके अज्ञानके कारण इसमें जन्म-मरण अध्यस्त है।

जैसे आकाशके ज्ञानसे नीलिमाका बाध हो जाता है, क्योंकि नीलिमा अपने अत्यन्ताभाववाले पदार्थ आकाशमें प्रतीत हो रही है। 'स्वाभावाधिकरणे भासमान' होनेसे, अपने अभावके अधिकरणमें भासमान होनेसे नीलिमा प्रतीत होती हुई भी मिथ्या है। इसी प्रकार स्वाभावाधिकरण आत्मस्वरूपमें भासमान होनेके कारण, ये जन्म-मरण बिलकुल मिथ्या हैं, अनिर्वचनीय हैं और अपना स्वरूप साक्षादपरोक्ष परब्रह्म परमात्मा है।

'को न्वेनं जनयेदिति'—इसका कोई बाप नहीं हो सकता। इसलिए कारणका प्रतिषेध है। माने 'कारण' परमात्माका सच्चा स्वरूप नहीं है। कार्य भी परमात्माका सच्चा स्वरूप नहीं है। केवल कारणकी उपासनामें लग जाओगे तो भी सत्यसे विमुख और केवल कार्यकी उपासनामें लग जाओगे, तो भी सत्यसे विमुख। दोनोंका समुच्चय करके व्यवहार करो और दोनोंका अपवाद करके अपने स्वरूपको जानो। यह उपनिषद्का तात्पर्य है।

बोले—महाराज! एक साथ कैसे कर्म और ध्यान करें!

कभी अपनी जिन्दगीकी तरफ भी देखना चाहिए। कोई आदमी चौबीसों घण्टे तो काम नहीं कर सकता और कोई आदमी चौबीसों घण्टे ध्यान भी नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि एक साथ ही ध्यान और कर्म होवे। इसका अर्थ है कि ईश्वरकी उपासना करनेके लिए ध्यानका अलग समय निकालो और संसारका व्यवहार पूरा करनेके लिए अलग समय निकालो।

उपासनाके समय देखो कि सारी सृष्टि परमात्मासे भरपूर है और कर्मके समय देखो कि हम अपने कर्तव्यका पालन कर रहे हैं। 'त्वं' पदार्थकी प्रधानतासे कर्तव्य पूरे करो और तत् पदार्थकी प्रधानतासे उपासना करो। जीवन-व्यवहार कालमें दोनोंका समुच्चय रखो, दोनोंमें मेलजोल रखो। जब परमार्थका ज्ञान प्राप्त करना हो, तब दोनोंका अपवाद कर दो। अपनेको जान लो। दोनोंका बाध हो जाय। यह परमार्थज्ञानकी प्रणाली है। इसीलिए कार्यकारणका अलग-अलग निषेध आता है।

लोग भजन करने बैठते हैं, तब घरद्वारकी याद करते हैं और जब काम करते हैं, तो ईश्वर भूल जाता है। दोनों प्रकारकी शिकायत करते हैं! इसको बिलकुल व्यवस्थित कर देना चाहिए। जिस काममें अपने मनको लगावें, पहले ईश्वरको आदि-अन्तमें याद कर लो, प्रणाम कर लो, फिर अपना कर्तव्य ठीक पूरा कर लो। बीचमें ईश्वरकी याद आवे, तो बहुत बढ़िया, नहीं तो कर्तव्य पूरा करके ईश्वरको प्रणाम कर लो, आदि-अन्तमें ईश्वरको याद कर लो। गड़बड़ाध्याय मत करो। झाड़ू घरमें ठीक नहीं लगा और किसीने पूछा—'क्यों?' तो कहा—'हमको जरा ईश्वरकी याद आगयी, तो ध्यान नहीं रहा।' तब न तो ईश्वरका ध्यान ही ठीक हुआ, न ठोकसे झाड़ू लगा।

बोले—'आज तो ईश्वरके ध्यानमें मन नहीं लगा।'

'क्यों नहीं लगा?'

'ऑफिस जानेकी फिकर थी।'

ईश्वरके ध्यानके समय ऑफिसकी फिकर मत करो और ऑफिसके कामके समय वैसे करो जैसा अभी बताया!

लगातार निरन्तर, चौबीसों घण्टे ईश्वरचिंतन करनेकी बात बहुत सुनी जाती है। एक आदमी हमारे पास आया। पूछने लगा—'महाराज! ऐसा कोई उपाय बताओ, कि जिस समय गाढ़ सुषुप्ति होती है उस समय ईश्वरका स्मरण होवे।'

ईश्वरका स्मरण होगा तो गाढ़ सुषुप्ति नहीं और गाढ़ सुषुप्ति होगी तो ईश्वरका स्मरण नहीं। मैंने उससे पूछा—'तुम जाग्रत्में स्मरण क्यों नहीं कर लेते भाई! सुषुप्तिकी फिकर क्यों कर रहे हो? पहले जागते तो कर लो!

बोला— महाराज! जागनेमें तो मौका ही नहीं मिलता। समय तो सोनेका ही बचा रहता है। अब ऐसा उपाय बताओ कि सोनेके समय हो।

इसका भी उपाय तो है। क्या? जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनोंका बाध हो जाय; आत्मज्ञानसे जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों परमात्मस्वरूप ही है, सब परमात्म-स्वरूप है यह बोध ही स्मरण है। परन्तु जहाँ क्रियारूप स्मरणकी बात है वह चौबीसों घण्टे नहीं हो सकता, वह व्यवस्थित ढंगसे ही करना चाहिए।

तो यह बात हुई कि कारणका प्रतिषेध है। कारण कैसे होता है? कारण एक तो होता है कुम्हारकी तरह जो घड़ेको बनाता है। एक कारण होता है माटीकी तरह जिससे घड़ा बनता है। कुछ कारण होते हैं छोटे-मोटे, डंडे-सूत-चाककी तरह मदद करनेवाले कारण, लेकिन ईश्वर ऐसा कारण नहीं है।

एक होता है बनानेवाला कारण, एक होता है बननेवाला कारण और एक होता है न बनानेवाला, न बननेवाला। केवल भासनेवाला कारण बनानेवाले कारणका नाम है 'आरंभवाद'। इसके अनुसार कुम्हारकी तरह ईश्वर परमाणुओंका संचय करके सृष्टिको बनाता है। इसमें हजार आपत्ति हैं— परमाणु निरवयव हैं, उनका परस्पर संयोग कैसे होगा? दोनों परमाणुमें अलग-अलग वजन है क्या? वजन नहीं हो, तो मिलनेपर भी बढ़ेंगे कैसे? इत्यादि।

कहो कि ईश्वर सृष्टि बन गया। अच्छा, ईश्वर ही सृष्टि बन गया, तो उसमेंसे अंकुर निकलता है। जैसे बीज फूट जाता है तो उसमें-से अंकुर निकलता है; जैसे सोनेसे जेवर बनता है, तो सोनेको गलाना, तोड़ना या पीटना पड़ता

है; जैसे दूधसे दही बनता है तो दूधको विकृत होना पड़ता है; ऐसे यदि ईश्वर सृष्टि बने, तो ईश्वरको फूटना पड़ेगा।

तो बोले—'ईश्वर भासता है।'

इसको 'विवर्तवाद' बोलते हैं। ईश्वरने सृष्टि बनायी इसको बोलते हैं 'आरंभवाद'। ईश्वर सृष्टि बन जाता है—इसको बोलते हैं परिणामवाद। ईश्वर है ज्यों-का-त्यों, पर भासता है सृष्टिके रूपमें इसका नाम हुआ 'विवर्तवाद' 'विरुद्धम् वर्तनम् विवर्तः। अपने स्वरूपके विरुद्ध दीख रहा है। एक होनेपर भी अनेक दीख रहा है।

बोले—यह जो जीवात्मा-आत्मदेव है, इसको क्या ईश्वरने आरंभवादसे, परमाणुसे बनाया? नहीं, द्रव्यों-सी बनी कोई चीज आत्मा है क्या? नहीं। द्रव्योंका प्रकाशक, चेतन नहीं है क्या? है। क्या ईश्वर आत्मा बन गया? यदि हाँ, तो क्या ईश्वरने अपने स्वरूपको छोड़ दिया और यदि नहीं छोड़ा तो जीव रूपमें वह ईश्वर ही भास रहा है। अतः वस्तुतः, परमार्थतः, जीव नहीं हुआ परमात्मा ही हुआ। यह भी एक बात ध्यानमें रखना कि जितने शैव-वैष्णव-सौर-शाक्त-गाणपत्य हैं, वे ईश्वरको तो जीव और जगत्‌की सत्तासे भिन्न स्वीकार करते हैं, लेकिन ईश्वरसे भिन्न जीव-जगत्‌की सत्ताको नहीं स्वीकार करते।

वेदान्तमें भिन्नाभिन्नका सवाल बिलकुल उड़ जाता है। 'को न्वेनं जनयेत्' इसको कौन उत्पन्न कर सकता है? अर्थात् कोई उत्पन्न नहीं कर सकता। वह तो ज्यों-का-त्यों परमात्मा है। इसलिए कार्य-कारण दोनोंसे विलक्षण है परमात्माका स्वरूप।



: १७ :

सर्व-निषेधसे अजनत्वका प्रकाश

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः ।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते ॥२६॥

अर्थ—'स एष नेति-नेति' इत्यादि श्रुति आत्माके ग्रहणयोग्य न होनेके कारण उसके विषयमें बतलाये हुए सभी भावोंका निषेध करती है। इसी निषेध-रूप हेतुके द्वारा अज आत्मा प्रकाशित होता है।

स्वयं स एवं निह्नुते—अपने ही तो किया व्याख्यान और अपने आप ही कर दिया उसका अपवाद। यह प्रसंग आया।

वृहदारण्यक उपनिषद्‌के सभी पहलेके अध्यायोंमें यह प्रश्न आया है कि—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तं च। (वृहदा. २.३.१)

ब्रह्मके दो रूप हैं—एक मूर्त रूप और दूसरा अमूर्त रूप जैसे पहले कारण और कार्य दो बताया वैसे यहाँ निराकार और साकार दो बताया।

ब्रह्मके दो रूप हैं। सनातनधर्मी लोग साकारकी चर्चा ज्यादा करते हैं और आर्यसमाजी लोग निराकारकी चर्चा ज्यादा करते हैं। मुसलमान और ईसाई भी निराकारकी चर्चा करते हैं। वेदमें दोनोंका वर्णन है। वर्णन तो दोनोंका है, परंतु वेदान्ती लोगोंके बारेमें देहाती—गाँवके लोगोंकी धारणा यह है कि वेदान्ती लोग निराकार ईश्वरको मानते हैं। यह धारणा उपनिषद् पर विचार न करनेके कारण है। वेदान्तमें निराकार ईश्वरका वर्णन ऐसे मिलता है कि—

अनिरुक्ते अनात्मे अनिलयने अभयप्रतिष्ठां विन्दते।

वह अनिर्वचनीय है। 'अनिरुक्ते'—उसमें वाणीकी गति नहीं है। 'अनात्मे'—जैसे शरीरमें एक आत्मा रहता है, वैसे परमात्मामें एक और आत्मा रहता हो, ऐसा नहीं है। अर्थात् परमात्माका प्रकाशक कोई नहीं है। इसका अर्थ हुआ—'परमात्मा वाणीका विषय नहीं है, उसका प्रकाशक कोई नहीं है। 'अनिलयने'—उसमें कुछ लीन नहीं होता। यह तो महाराज, हद कर दी।

एक श्रुति कहती है—'यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति'—सृष्टि उसीमें लीन होती है। और यह श्रुति कहती है—

'अनिलयने'—नीलिमा आकाशमें लीन नहीं होती। भ्रान्तिसे देखा हुआ जो सर्प है, वह रज्जुमें लीन नहीं होता। रज्जुमें कोई क्रिया-प्रक्रिया-विक्रिया नहीं होती है। अपने हृदयमें ही, जिस देशमें भ्रान्ति है, वहीं क्रिया-प्रक्रिया-विक्रिया होती है। रज्जु-देशमें कुछ नहीं होता। वहाँ तो सर्पका अध्यारोप हुआ और सर्पका अपवाद हुआ। न रज्जुमें सर्पकी उत्पत्ति हुई, न सर्पका लय हुआ रज्जुमें। न नीलिमाकी उत्पत्ति हुई आकाशमें और न तो नीलिमाका लय हुआ आकाशमें। नीलिमा और आकाशका, सर्प और रज्जुका कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। श्रुति वर्णन करती है—'अनिलयने'। विलयन नहीं है वह। जैसे घड़ा फूटकर मिट्टीमें मिल जाता है, वैसे ब्रह्माण्ड फूटकर परमात्मामें मिलता हो, सो बात नहीं है।

'अज'का वर्णन करते हैं—मूर्त और अमूर्त सत् और त्यत्। यह भी सत्य है। क्यों? क्योंकि यह भी सत् और त्यत् है। सत् माने मिट्टी-पानी-आग और त्यत् माने वायु और आकाश इसीको बोलते हैं सत् और त्यत्। दो शब्द होगये। 'अस्ति-अस्ति-अस्ति' रूपसे भासमान और इनकी क्रियाका संचालक और इनके रहनेका स्थान।

आकाश-वायु-आग-जल-पृथिवी यह सत् और त्यत् हुआ। अर्थात् मूर्त प्रपंच हुआ और अमूर्त प्रपंच इसका कारण हुआ जिसमें मूर्ति नहीं है आकृति नहीं है। द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे। ये दो कौन हैं? ये दोनों ब्रह्मके रूप हैं। लोग जिसे 'निराकार' बोलते हैं वह ब्रह्मका एक रूप है। और जिसे लोग 'साकार' बोलते हैं वह भी ब्रह्मका एक रूप है। ब्रह्मके दो रूप हैं—एक साकार और एक निराकार। साकार अर्थात् सम्पूर्ण विश्व, माने कार्य-मूर्ति और ब्रह्मका जो कारण रूप है वह निराकार है।

रूपी कौन है? एक नट है। एक बार औरत बनकर आया, एक बार मर्द बनकर आया। वह रूपी कौन है जो साकार रूप और निराकार रूप धारण करके आता है?

हमारे मध्यकालके सन्त ऐसे बोलते हैं—

निराकार साकार रूप धरि आयो कई एक बारा।
सपने ह्वै ह्वै मिट गये, रह्यो सार को सारा॥

किसीके हृदय-मन्दिरमें निराकार होकर प्रकट हुआ, किसीकी आँखोंके सामने साकार होकर प्रकट हुआ। बार-बार प्रगट होता है। बार-बार आता है—निराकार-साकारके सपने, कोई मानस और कोई प्रत्यक्ष हो-होकर मिट गये और सार-का-सार रह गया। वह सार-का-सार कौन है ?

एक बार श्रीउड़ियाबाबासे किसीने पूछा—'ईश्वर तो बिलकुल निराकार है न ?'

बाबा तो बिलकुल फक्कड़की तरह बोलते थे! बोले—'तो साकार कौन है ? तुम्हारा चच्चा है ?

ईश्वर निराकार है, तो साकार कौन है ? एक बारकी बात है—एक महाशयजी आये। हम लोग बाँधपर थे। उड़ियाबाबाजी वहाँ थे। वह महाशय बड़े प्रसिद्ध थे, बड़े त्यागी थे, कम-से-कम कपड़ा पहनें, जूता न पहनें, कम-से-कम भोजन करें, बड़ी पवित्रतासे रहें, बड़े चिट्टे। वे आकर बोले—'स्वामीजी, ईश्वर बिलकुल निराकार ही है।'

मैंने पूछा—'भाई, ईश्वर बिलकुल निराकार है, तो उसका अनुभव किसीको हुआ है कि नहीं हुआ है ? वसिष्ठ, विश्वामित्रको हुआ होगा। किसीको भी हुआ हो, ब्रह्मा-विष्णु-शिव किसीको भी हुआ हो या अब होवे। उस निराकारका अनुभव किसीको हुआ कि नहीं हुआ ?

बोले—'नहीं हुआ। निराकारका अनुभव कैसे हो सकता है ?'

मैंने कहा—'नहीं हुआ तो कल्पना है। जिस चीजका अनुभव कभी किसीको हुआ ही नहीं, वह तो कल्पनाके सिवा और कुछ है ही नहीं।

'अच्छा, मान लो कि हुआ। तो दूसरोंको अलग करके ईश्वरका अनुभव हुआ या एक करके निराकारका अनुभव हुआ ? अगर सबसे अलग करके, दूसरोंसे अलग करके, साकारसे अलग करके निराकारका अनुभव हुआ, तो उस निराकारका एक लक्षण साकार बना कि नहीं ? लक्षण बना जब साकारोंसे अलग हुआ, प्रमाण बना। प्रमाण हुआ—'पृथकत्व' आगया। जब उसमें विभाग आगया, जब खास स्थितिमें अनुभाव्य होगया, तो अनुभाव्य होनेपर आकार अपने-आप ही आगया उसमें।'

तो बोले—'फिर तुम ईश्वरके बारेमें क्या बोलते हो ?'

'हम ईश्वरके बारेमें ऐसे बोलते हैं—वह अनुभवका विषय भी नहीं है, अनुभवसे परे भी नहीं है। स्वयं अनुभवस्वरूप है। माने जिसको सबका अनुभव

हो रहा है, उसीका नाम परमात्मा है। हम तो ऐसे बोलते हैं। वह तो साक्षाद-परोक्ष है। उसकी कल्पना करनेकी तो जरूरत नहीं है। और अनुभवका विषय बनानेकी जरूरत भी नहीं है। यह स्वयं अनुभवस्वरूप है।

अगर कल्पना करो, तब तो यह माना कि साकार-निराकार जो कुछ है, सब ईश्वर है। यदि कल्पनाको छोड़ दो तो स्वयं अपना आत्मा ही परमात्मा है, आत्मा ही ब्रह्म है। ये ही दो सनातन धर्मकी स्थिति हैं। या तो आत्मज्ञान हो या तो निराकार-साकार सर्व रूपमें परमेश्वरको मानकर उसकी उपासना होवे।

दो रूप हैं ब्रह्मके—एक मूर्त और एक अमूर्त। ये सब वर्णन करके वृहदारण्यक उपनिषद्में जब आगे बढ़े, तो क्या बोलते हैं?—

'अथाव आदेशो नेति-नेति। (वृहद० २.३.६)

जो कुछ साव ार-निराकारके रूपमें तुम्हारे अनुभवका विषय हुआ है, 'नेति इति'। साकारः न इति। निराकारः न इति।

'अष्टावक्र उपनिषद्'में मन्त्र आया है—

साकारं अनृतं विद्धि निराकारं तु निष्कलम्।
एतत् तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भव संभवः॥

साकार = संपूर्ण विश्व। नेति = यह नहीं। निराकार = कारण विश्व। यह भी नहीं। तब कौन? दोनोंके निषेधका जो साक्षी है वह! वह देशका साक्षी है, कालका साक्षी है, वस्तुका साक्षी है अतः परिच्छिन्न नहीं है! वह तो स्वयं अपरिच्छिन्न है। इसी अपरिच्छिन्न स्वयंप्रकाश सिद्ध वस्तुका बोधक है—'तत्त्वमसि'।

\+ \+ \+

चीज हो एक और उसे हम समझें दूसरी—जैसे रस्सीको साँप समझें तो यह अन्यथाग्रहण है। आकाशको नीला समझना—यह अन्यथाग्रहण है। जो चीज जैसी है, उसके विपरीत उसको जानना, मानना—अन्यथाग्रहण है। वेदान्तियोंमें ऐसी प्रसिद्धि है कि जहाँ-जहाँ अन्यथाग्रहण होता है, वहाँ-वहाँ अन्यथा गृहीत जो वस्तु है, उसका नेति-नेतिके द्वारा निषेध कर देनेपर स्वतः-सिद्ध जो वस्तु है, वह स्वयं रह जाती है।

यह सर्प नहीं है, यह दण्ड नहीं है, यह धारा नहीं है, यह भूछिद्र नहीं है,—'नेति-नेति'के द्वारा निषेध कर दिया और रज्जु शेष रह गयी।

कहते हैं—नहीं भाई, केवल निषेध करनेसे काम नहीं चलेगा। अन्यथा-ग्रहणका निषेध करनेपर भी अग्रहण रह सकता है। रज्जुको ठीक समझा कि नहीं? अधिष्ठानके याथात्म्यज्ञानके विना, अधिष्ठानके स्वरूपके ज्ञानके विना, सर्प, दण्ड, धारा, भूछिद्रका निषेध कर देनेपर भी रज्जु विषयक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हुई। जबतक रज्जु विषयक ज्ञान नहीं होगा, तबतक रज्जु विषयक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होगी। यदि अज्ञानको निवृत्ति नहीं होगी तो फिर अन्यथा ग्रहण हो जायगा। इसलिए अज्ञानकी निवृत्ति अपेक्षित है।

वेदान्ती लोग प्रौढोक्तिसे कहते हैं—

'अस्तु; रज्जुविषये अयं नियमः।' ठीक है, रस्सीके बारेमें यह नियम होवे कि दो चीज चाहिए—एक तो रस्सीसे अतिरिक्त जो मालूम पड़ रहा है, उसका निषेध और दूसरे, रज्जुका ज्ञान, परन्तु आत्माके विषयमें दो चीज नहीं चाहिए। क्यों नहीं चाहिए? 'आत्मनः स्वयंप्रकाशत्वात्'। रज्जु स्वयंप्रकाश वस्तु नहीं है, वह तो परप्रकाश्य वस्तु है। जबकि आत्मा स्वयं प्रकाश वस्तु है। दूसरे, असलमें रज्जु अधिष्ठान नहीं है। रज्जुपहित चैतन्य अधिष्ठान है। इस लिए वहाँ रज्जुका विशेष ज्ञान होनेपर रज्जुके अज्ञानकी निवृत्ति होगी और अन्यथाग्रहणको निवृत्ति होगी। लेकिन ये जो आत्मदेव हैं, वहाँ तो जहाँ अन्यथा ग्रहणकी निवृत्ति हुई, वहीं अज्ञातकी भी निवृप्ति हो जायेगी क्योंकि ये तो स्वयं प्रकाश ही हैं।

देश-कल्पना, काल-कल्पना, वस्तु-कल्पना, सजातीय कल्पना, विजातीय कल्पना, स्वगत-कल्पना इन सब कल्पनाओंका जो स्वयंप्रकाश अधिष्ठान है, साक्षी है, 'तत् सिद्धौ किं अपेक्षते? उसके लिए तो केवल अन्यथाग्रहणका निषेध करनेके लिए 'नेति-नेति' ही अपेक्षित है। इसी लिए केवलाद्वैतवेदान्ती निषेध पक्षको ही प्रबल मानते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद्की बात कल आपको बता चुके हैं कि—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च। (बृहदा० २.३.१)

ब्रह्मके दो रूप हैं—एक मूर्त और एक अमूर्त। मूर्त = मूर्च्छित, अपना होश जिसमें न दीखे, जिसके बारेमें यह खयाल हो कि इसे कुछ ज्ञान नहीं होता। मूर्च्छति इति मूर्तम्।

अमूर्त=मूर्ताभाव। ब्रह्मके ये दोनों रूप हैं। केवल मूर्ति ही ब्रह्मका रूप नहीं है, भगवान्का रूप नहीं है, अमूर्त भी ब्रह्मका भगवान्का रूप है। जो केवल मूर्तिविशेषमें ही भगवान्को मानेंगे, परब्रह्म परमात्माको मानेंगे, वह सब

जगह सब समय सब रूपोंमें सर्वात्माके रूपमें परमात्माको कैसे जानेंगे ? और जो केवल निराकार रूपमें, अमूर्त रूपमें ही परमात्माको जानेंगे, उनका तो व्यवहार परमात्मासे शून्य हो जायगा, क्योंकि वह सर्वोपादान नहीं है। उपादान कारणता भी तो परमात्मामें होनी चाहिए।

इस तरह मूर्त और अमूर्त दोनों रूप हैं और जिसमें हैं ये दोनों मूर्त और अमूर्त रूप हैं; जिससे ये मूर्तामूर्त रूप मालूम पड़ते हैं, वह अपना आत्मा ब्रह्म है। श्रुति बताती है—

अथात आदेशो नेति नेति। (बृहद० २.३.६)

मूर्तं इति न, अमूर्तं इति न। इसीसे उपनिषद्में यह आदेश है कि जिसको तुम मूर्तिवाला कहते हो, वह ब्रह्म नहीं है और जिसको तुम मूर्तिके अभाववाला कहते हो, वह भी ब्रह्म नहीं है।

मूर्तामूर्ताभावोपलक्षित, मूर्तामूर्ताभावसाक्षी, मूर्तामूर्ताभावातीत, मूर्तामूर्ताभावाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय जो वस्तु है, अपना आत्मा, देश-काल-वस्तु अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद विवर्जित, देशकालवस्तुका प्रकाशक, स्वयंप्रकाश, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदका प्रकाशक, स्वयंप्रकाश, ऐसी जो वस्तुसे है उसका नेति-नेतिके द्वारा मूर्त-अमूर्तका निषेध करके—क्योंकि मूर्त-अमूर्त सापेक्ष होते हैं—अनुभव होता है।

मूर्तकी उत्पत्ति मूर्तसे हुई कि अमूर्तसे ? मूर्तसे हुई, तो क्या बताया ? स्वयं और, अमूर्त से मूर्तकी उत्पत्ति हो ही कैसे सकती है ? इसलिए मूर्त और अमूर्त दोनों अधिष्ठानके अज्ञानसे कल्पित हैं। असलमें अधिष्ठानके अतिरिक्त न मूर्त है न अमूर्त। इसीलिए मूर्तामूर्तके निषेधसे ही अधिष्ठानका ज्ञान हो जाता है—'अथात आदेशो नेति-नेति।'

यह 'नेति-नेति' दो बार क्यों है ? एक 'नेति' मूर्तका निषेध करनेके लिए है और दूसरा 'नेति' अमूर्तका निषेध करनेके लिए है। एक साकारका निषेध करनेके लिए है, तो एक निराकारका निषेध करनेके लिए है। क्योंकि निराकारसे विशेष साकार है और साकारसे विशेष निराकार है। दोनों विशेषरूप हैं। सर्वविशेषका निषेध करनेके लिए अशेषविशेषनिषेधावधित्वेन यहाँ परमात्माका, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मका निरूपण है।

अच्छा, अब तो हो गया ब्रह्मका निरूपण ?

बाबा ! ऐसा है कि एक बारके निषेधसे यह बात ग्रहण नहीं होती है। जो सूक्ष्मदर्शी हैं—

तत्त्वश्रावणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः। (अष्टावक्र गीता)

जिसकी बुद्धि शुद्ध है माने शुद्ध-ग्राहिणी है वह तो श्रवण मात्रसे विराकुल हो जाता है। असलमें बुद्धि शुद्ध-अशुद्ध नहीं होती, विषयकी शुद्धि और अशुद्धिका बुद्धिपर आरोप हो जाता है। जैसे, शीशा निर्गुण है; उसमें महात्माकी मूर्ति दीखे तो वह सात्त्विक है; विषयभोगीकी मूर्ति दीखे, तो राजस है; निद्रालु-प्रमादी, आलसीकी मूर्ति दीखे, तो मलिन है। इसी प्रकार बुद्धि तो शीशा है, उसमें शुद्ध-अशुद्ध विषयोंके आभाससे वह शुद्ध-अशुद्ध कहलाती है।

और यह शीशा क्या है ? बदलूरामके तीन बेटे—फटिकचंद, रंगीलाल और भुरहुरंग। बदलूराम माने संसार। संसार बदलता रहता है, इसलिए संसार-बदलूके तीन बेटे कौन ? फटिकचन्द माने सत्त्वगुणी, रंगी माने रजोगुणी और भुरहु माने मलिन, तमोगुणी। बदलू कौन ? बदलू नामकी वस्तु न कभी हुई, न है, न होगी !

शास्त्रमें निरूपण है। मनुष्य जो भोजन करता है, तो दो तरहकी मशीन देखनेमें आती है। यन्त्र भोजनको पचाता है। भोजनके पचानेके बाद उसीके सूक्ष्म अंशसे मन-बुद्धि बनते हैं। एक भोजन मलपाकी होती है और एक भोजन प्रसादपाकी होता है। जिस भोजनसे मन-बुद्धि बनी और फिर उससे बस, दुनियामें दोष-ही-दोष दीखे, गन्दगी-ही-गन्दगी दीखे, ऐसा भोजन मलपाकी भोजन कहलाता है। प्रसादपाकी भोजन वह है जिससे उत्पन्न मन प्रसन्न हो गया, निर्मल बना, जिससे जहाँ देखो, वहाँ गुण-ही-गुण दीखता है।

बुद्धि तो केवल प्रकाशक है। जैसे सूर्यकी रोशनी। बुद्धि केवल वस्तुका ज्ञान देती है। वस्तुको शुद्ध बनाना या मलिन बनाना बुद्धिका काम नहीं है। वह वस्तुको दिखाती है। जिसकी बुद्धि शुद्धपर जाय वह शुद्धग्राहिणी बुद्धि और जिसकी बुद्धि मलिन—अशुद्धपर जाय, वह अशुद्ध ग्राहिणी बुद्धि।

तत्त्वग्राहिणी, शुद्धग्राहिणी बुद्धि वह है जिसको अच्छा-ही-अच्छा दीखे। 'कोई मर गये तो शुद्ध बुद्धि कहेगी—अच्छा, चलो आसक्तिका स्थान कम हुआ। कोई पैदा हुआ तो कहेगी—एक फूल और खिल गया। जिसकी शुद्ध-ग्राहिणी बुद्धि होती है, वह—

तत्त्वश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति॥

अष्टावक्रजी महाराज कहते हैं—'श्रवणमात्रसे ही पुरुषकी सारी आकुलता-व्याकुलता मिट जाती है। परन्तु जिसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है वह जीवनभर सुनता रहे उसे मोह ही बना रहता है।

बुद्धि यदि गलती-गलती पकड़ने लगे, 'गलत-गलत'—माने जैसे यह गिनती करली कि बम्बई शहरमें कितने कोढी हैं; इस बुद्धिको 'गलतकुष्ठा' 'गलतबुद्धि' बोलेंगे। गलितकुष्ठको वह देख रही है। कितने व्यभिचारी हैं, कितने जुआरी हैं, कितने चोर हैं—यह सब काम सरकारका है। यह सब काम जिज्ञासुका नहीं है। जिज्ञासु तो ईश्वरविषयक जिज्ञासु है।

जिसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, अशुद्ध है, अशुद्ध-विषया है, जीवनभर सुनता रहे, उसे मोह-ही-मोह होता है, शंका-ही-शंका होती है। तब? उसको बार-बार श्रवण करना चाहिए। सुनते-सुनते-सुनते श्रवण-जन्य पुण्यसे ही उसकी बुद्धि शुद्ध हो जायेगी। उसे अन्य कर्तव्य नहीं है। एकांतमें जाकर यज्ञ करनेसे उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं होगी? यज्ञ तो हिंसा-प्रधान है। जहाँ वेदान्त-विषयका निरूपण हो, सत्संग हो, वहाँ दूसरी बात है। जहाँ धर्मका निरूपण हो, वहाँ दूसरी बात है। यज्ञ हिंसा-प्रधान है, क्योंकि उसमें लकड़ी जलाते हैं तो कीड़े मरते हैं। हिंसाविषयक है यज्ञ। श्रम है उसमें। बुद्धि अशुद्ध हो जाती है।

आओ, ध्यान करें तो बुद्धि शुद्धि हो जायेगी? ध्यानमें वृत्ति एकाग्र हो जायगी, समाधिस्थ हो जायगी और अन्तमें निरुद्ध हो जायेगी। परन्तु ब्रह्माकार वृत्ति होना दूसरी बात है और एकाग्र और निरुद्ध वृत्ति होना दूसरी बात है। एकाग्र और निरुद्ध बुद्धिसे ब्रह्मदर्शन नहीं होता है। असलमें ब्रह्माकार वृत्ति ही ब्रह्मदर्शन है। उसमें योगकी, उपासनाकी, धर्मकी जरूरत नहीं है। बस श्रवण करो, श्रवण करो। श्रवणजन्य पुण्यसे अन्तःकरण शुद्ध होगा। श्रवणजन्य एकाग्रतासे ब्रह्मग्रहण होगा। श्रवण जन्य स्थिति ब्राह्मस्थितिके रूपमें परिणत हो जायगी।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

(बृहदा० ४.५.६)

तो आओ, बारम्बार-बारम्बार श्रवण करें। सर्वरूपरहित, प्रत्यस्तमित सर्वविशेष, सुसूक्ष्म वस्तुका यदि एक बारके श्रवणसे ग्रहण नहीं हुआ तो आओ, दुबारा उपदेश करें।

बृहदारण्यक उपनिषद्के दूसरे अध्यायमें मूर्त और अमूर्तका नेति-नेतिके द्वारा निषेध किया। जो 'निषेधशेष' है—

निषेधशेषाऽजयतादशेषः। (श्रीमद्भागवत)

अर्थात् निषेध कर देनेपर जो शेष रह जाता है, वह कौन है? कि अशेष है। है तो शेष निषेधके बाद शेष रहा—परन्तु है वह अशेष। माने उसमें सब

नहीं रहा—उसमें शेषनाग भी नहीं है; उसमें प्रधान नहीं है, उसमें प्रकृति नहीं है, उसमें माया नहीं है; जगत्‌का किंचित् शेष भी अवशिष्ट नहीं है। यह शिष्टानुशिष्ट रीति है।

तब बृहदारण्यक उपनिषद्‌में तीसरे अध्यायमें फिरसे उपक्रम किया। दूसरे अध्यायमें है मूर्त-अमूर्त और तीसरे अध्यायमें यह प्रश्न उठाया कि यह पृथिवी किसमें ओतप्रोत है? 'ओतप्रोत' शब्दका अर्थ है ताना-बाना। जैसे कपड़ेमें ताना-बाना सूतका तो कपड़ा सूतमें ओतप्रोत है; कपड़ेमें सूत और सूतमें कपड़ा। सूतके अतिरिक्त कपड़ा और कुछ नहीं है! उसी प्रकार अब प्रश्न उठाया कि पृथिवी किसमें ओतप्रोत है? बोले—जलमें पृथिवी कण-कण होती है! कई अणुओंको सटाकर रखनेवाली जो एक शक्ति है, जिस आकर्षण-बलसे कई अणु पिण्डीभूत होकर कण बनते हैं, उसमें स्नेह है। गीलापन न हो तो कोई कण कैसे रहेगा? उसीको गीलापन (जल) कहते हैं।

पृथिवी जलमें ओतप्रोत है और जल किसमें ओतप्रोत है? अग्निमें ओतप्रोत है। माने पृथिवी जलसे उत्पन्न हुई है, जलमें रह रही है और जलमें डूब जायगी। इसलिए जलसे अतिरिक्त पृथिवी नहीं है। जल? जल उष्णातासे पैदा हुआ है, उष्णतामें रह रहा है और उष्णतामें डूब जायगा। इसलिए अग्निसे पृथक् जल नहीं है।

अग्नि! अग्नि वायुमें ओतप्रोत है। वायु से अग्नि पैदा हुआ, वायुमें रह रहा है और वायुमें अग्नि लीन हो जायगा। इसलिए वायुसे अग्नि अलग नहीं है।

वायु किसमें ओतप्रोत है? आकाशमें। वायु आकाशसे पैदा हुई है, आकाशमें रहती है, आकाशमें चलती है और आकाशमें विलीन हो जाती है। आकाशसे अलग वायु नहीं है। फिर बोले—

कस्मिन्नु खलु आकाश ओतश्च प्रोतश्च? (बृहदा० ३.८.७)

आकाश किसमें ओतप्रोत है? यह क्रम चला। ये सब नाम-रूप हैं। बाबा, इस विस्तारको कहाँतक बढ़ावें? आत्मामें ही ये सब ओतप्रोत हैं। आत्माकी सत्तासे सबकी सत्ता, आत्मामें सबकी उत्पत्ति, आत्मामें सबकी स्थिति, आत्मामें सबका प्रलय। आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं। केवल आत्मामें कार्य-कारणभावका प्रतिपादन किया।

उसके बाद क्या बोले? बाबा! यह आत्मा कैसा है? सर्वान्तर ब्रह्म है यही सर्वान्तर ब्रह्म है। कैसा है यह?

अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घम्। (वृहदा० ३.८.८)

न यह स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है। इसके बाद बोले—

स एष नेति-नेति इति आत्मा। (वृहदा० ३.९.२६)

तीसरे अध्यायमें प्रतिपादन किया कि यह सब कुछ नहीं। न पृथिवी, न जल, न अग्नि, न वायु, न आकाश; न कार्य न कारण। न ओत न प्रोत। यह समझानेके लिए केवल उपायका निर्देश किया।

तुम्हारी आत्मवस्तु तो सबसे निराली ! सबका प्रतिपादन करके सबका निषेध कर दिया। अर्थात् जो बात पहले उपायत्वेन प्रतिपादन किया और फिर देवताका नियंतारूपसे वर्णन किया—पृथिवीमें, पृथिवी देवता, जलमें जल देवता अग्निमें अग्नि देवता, वायुमें वायु देवता, आकाशमें आकाशदेवता—भूत नियम्य और देवता नियामक—वे सब परमात्माके स्वरूपमें नेति-नेति। माने ? न भूत न देवता न ओत न प्रोत। दोनोंका निषेध करनेके लिए वृहदारण्यक उपनिषद्में है 'स एष नेति नेति इति आत्मा।'

फिर चौथे अध्यायमें 'नेति-नेति' वाक्य है। (वृहदा० ४.४.२२; ४.५,१५) दूसरे अध्यायमें, तीसरे अध्यायमें, चौथे अध्यायमें, सबमें इसका विवेक है। यहाँ—

स एष नेति नेति इति व्याख्यातं निह्नुते यतः।

इस श्लोकमें सम्पूर्ण वृहदारण्यक उपनिषद्का सार ही खींचकर श्रीगौड-पादाचार्यजी महाराजने रख दिया है।

अब तीसरा प्रसंग आया, जनक-याज्ञवल्क्य संवादमें विश्व, तैजस, प्राज्ञका। परमात्माको साक्षात् लखाना पड़ेगा तो दो ही प्रमाण है—व्यवहारमें प्रमाण है 'प्रत्यक्ष' और धर्म और ब्रह्ममें प्रमाण है 'शब्द'।

आप प्रमाणोंकी गिनतीके बारेमें कोई भ्रम मत करना। हमको उसका विचार है। चार्वाक लोग केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। जैन लोग प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द चार प्रमाण मानते हैं। इन्हींमें सांख्य, योग, वैशेषिक सबका समावेश है।

प्रभाकर गुरु पाँच प्रमाण मानते हैं—अर्थापत्ति भी मानते हैं। कुमारिल भट्ट छः प्रमाण मानते हैं—अनुपलब्धि भी मानते हैं। वेदान्ती लोग व्यवहारमें कुमारिल भट्टका मत स्वीकार करते हैं—'व्यवहारे भट्ट नयः।' ऐतिहासिक लोग 'ऐतिह्य' नामका एक सातवाँ प्रमाण मानते हैं। पौराणिक लोग 'संभव' नामका

आठवाँ प्रमाण मानते हैं। नाट्यकार लोग अभिनय अर्थात् 'चेष्टा' नामका नवाँ प्रमाण मानते हैं। प्रमाणका विवेक बहुत ज्यादा है। परन्तु हमें यहाँ प्रमाणका विवेक नहीं करना है। प्रत्यक्षके ही ये सब भेद हैं।

अनुमान भी प्रत्यक्षमूलक, प्रत्यक्षफलक है और उपमान भी प्रत्यक्ष-मूलक, प्रत्यक्षफलक है। अर्थापत्ति और अनुपलब्धि भी प्रत्यक्षमूलक और प्रत्यक्ष-फलक है; ऐतिह्य, संभव और चेष्टा भी प्रत्यक्षमूलक और प्रत्यक्षफलक ही हैं।

हमारे मन, इन्द्रिय और बुद्धिके द्वारा जो प्रत्यक्ष अनुभवमें नहीं आता, वह अपना आत्मा कर्ता-भोक्ता और लोकान्तरगामी है यह शास्त्रसे सिद्ध है और वह अकर्ता-अभोक्ता, असंसारी, अपरिच्छिन्न, अद्वितीय ब्रह्म है, यह भी शास्त्रसे सिद्ध है।

ऋजुबुद्धि विषयक जो शास्त्र है, वह परलोकगामी आत्माका निरूपण करनेवाला शास्त्र है—सीधे-सादे लोगोंके लिए। बुद्धिमान, शुद्धबुद्धिवाले लोगों-के लिए असंसारी, अपरिच्छिन्न आत्माका निरूपण करनेवाला शास्त्र है।

देखो, जाग्रत् अवस्था है। माण्डूक्य उपनिषद्में ही इसका बड़ा भारी प्रसंग आया है। जाग्रत् अवस्था सप्तांग, एकोनविंशति मुख है। इसमें जो चैतन्य है, उसका नाम है विष्णु। आप जाग्रत् अवस्थाका मतलब अपना जागना मत समझना।

इसमें सप्तांगका वर्णन है—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य और द्युलोक। एकोनविंशति मुख हैं। हमारे जाग्रतावस्थाभिमानी इस विश्व-शरीरमें विराट् परिच्छिन्न मालूम पड़ता है, वह इससे जुदा नहीं है, एक है। हमारा तैजस् आत्मा सूक्ष्म समष्टि हिरण्यगर्भसे एक है। हमारा कारण आत्मा प्राज्ञ, जो सुषुप्तिमें है, ईश्वरसे एक है।

इस तरह विश्व-तैजस्-प्राज्ञका वर्णन करके जनक-याज्ञवल्क्य-संवादमें फिर क्या कहा? श्रुति कहती है कि—

स एष नेति-नेति इति आत्मा। (बृहदा० ४.५.१५)

'विश्वादिकं सर्वं निह्नुते'—न विश्व है, न तैजस् है, न प्राज्ञ है। न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है। न सप्तांग है, न एकोनविंशति मुख हैं। न स्थूल-भुक् है, न विविक्त-भुक् है, न आनन्द-भुक् है। तब क्या है? सबको 'टें' बोल दो—'यह न मैं, न मेरा'। 'टें' बोलना जानते हैं आप?

एक सेठके ऊपर ज्यादा ऋण हो गया था—कर्ज हो गया था। बड़ा दुःखी था। किसी वकीलके पास गया। वकीलने कहा—'भाई, तुम तो बिलकुल कानूनके पंजेमें फँस गये। अब छूटनेका उपाय यही है कि तुम पागल हो जाओ।

वह पागल हो गया तो बोले 'टें'। अदालतमें पूछा गया—'तुम्हारा नाम ? तो बोला—'टें'। 'बापका नाम ?' 'टें'। 'गाँवका नाम ?' 'टें' 'कर्जा लिया ?' 'टें'। जाँच हुई, तब भी वह खरा उतरा। बाबा, वाणियाका बेटा ! पागलखानेमें भी डाक्टरसे 'टें' के सिवा कुछ नहीं बोला। और कुछ नहीं किया।

'पागल है, छोड़ दो इसको, छोड़ दो।'

वकील लोग बड़े बुद्धिमान् होते हैं। आज मैंने अखबारमें पढ़ा—'अहमदाबादमें एक सज्जनने श्राद्धमें भोज किया। सैकड़ों आदमियोंको खिलानेके लिए उन्होंने हलवा बनवाया। पुलिसने आकर पकड़ लिया कि 'यह निमन्त्रण कानूनके विपरीत है।' पकड़ लिया, तो गये अदालतमें और उन्होंने कहा—'हाँ साब !' हमारे श्राद्ध था।' मान लिया। तो 'श्राद्धमें इतना हलवा बनवाया था। जितना पकड़ा गया, सब हमारा ही बनवाया गया है।'

वकीलने कहा—'यह ठीक है। साब !' श्राद्धमें हलवा बना हमारे घरमें। श्राद्ध था तो हमारे घरमें। हमने मनुष्योंको खिलानेके लिए यह नहीं बनवाया था। हमारे कुलमें यह रिवाज है कि जब पितृश्राद्ध होवे, तो कुत्तोंको खिलाया जाय। हमने कुत्तोंको खिलानेके लिए यह हलवा बनवाया था।' वकीलने यह बहस की। यह कानून जो है, वह मनुष्योंको खिलानेके लिए मना करता है, कुत्तोंको खिलानेके लिए मना ही नहीं करता। जिस अदालतमें मुकदमा था न, उसने छोड़ दिया। इसपर सम्पादकीय टिप्पणी छपी हुई है। यह देखो, कानूनकी करामात। वकील लोग तो बहुत मजेदार होते हैं, बाबा !

वह वाणिया छूट गया। वकीलने कहा 'हमारी फीस जो तय हुई थी सो लाओ। तो बोला 'टें।' वकील साहब तो महाराज, चक्करमें पड़ गये। वकीलने बोला—'मैंने ही तो बताया था ! मैं तेरा गुरु ! अब गुरु और शास्त्रका तो तिरस्कार नहीं करना चाहिए न !' बोले—'टें।'

बाबा ! बोध हो गया कि 'मैं ब्रह्म हूँ, तो सब सफल हो गये। गुरुका काम पूरा हो गया। शास्त्रका काम पूरा हो गया। यह तो सर्वनिषेध ! वेदान्तमें लिहाज करके नहीं बोला जाता। वह तो जिज्ञासुकी कृतज्ञता है कि ब्रह्मबोध हो जानेके बाद भी शास्त्रका आदर करे, गुरुका आदर करे। यह तो उसकी भलमनसाहत है। अगर भलमनसाहत नहीं हो, तो जो शास्त्रका प्रयोजन था, सो पूरा, गुरुका प्रयोजन था, जो पूरा।

'विश्व' ? तो बोले—'टें'। 'तैजस ?' तो बोले—'टें'। 'प्राज्ञ ?' तो बोले—'टें'। 'जाग्रत् ?' तो 'टें'। स्वप्न ?' तो 'टें'। 'सुषुप्ति' ? तो 'टें'।

जहाँ जीवत्व ही संसारित्व ही, कर्तृत्व ही, भोक्तृत्व ही, परिच्छिन्नत्व ही बाधित हो गया, वहाँ अपरिच्छिन्न वस्तुके लिए अब भला किसकी जरूरत रही! शास्त्र तो मनुष्यके लिए होते हैं गुरु तो शिष्य-विषयक हैं। अपने चेलेके लिए गुरु होते हैं।

हमसे किसीने प्रश्न किया था कि—'महाराज! ये अपने नामके साथ जो लोग जगद्‌गुरु-जगद्‌गुरु जोड़े फिरते हैं, ये किस जगत्‌के गुरु हैं?'

मैंने कहा—भाई! इसमें परिष्कार जोड़ लो, जैसे नैयायिक लोग जोड़ते हैं—'स्व शिष्य जगद्‌गुरु' ये अपने चेलोंके जगद्‌गुरु हैं।

संसारमें जितनी गति-आगति है; जितना आना-जाना है, वह क्यों होता है? कामके लिए, वासनाके लिए। इसी प्रकार जीव भी वासनाके कारण जीनेके समय, मरनेके समय भटकता है। कभी कीड़ा होता है और कभी ब्रह्म-लोकमें जाता है। वहाँ बताया, इस गति-आगतिसे छुट्टी किसकी होती है? 'आत्मकामस्य।' जब अपने आत्माके साक्षात्कारकी कामना होती है, तब जाना-आना बन्द हो जायगा। 'हमको दुनियाकी कोई चीज नहीं चाहिए' तो जाने-आनेका काम बन्द हुआ सर्वैषणाओंका परित्याग हुआ—वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणाका परित्याग हुआ।

पुत्र नहीं चाहिए माने स्त्रीका, कामका परित्याग हुआ। वित्तैषणाका परित्याग माने लोभका परित्याग हुआ। लोकैषणाका परित्याग माने कीर्ति आदिका परित्याग हुआ। लोकैषणाके परित्यागमें सकाम धर्मानुष्ठान आदि भी शामिल हैं। इहलोकैषणा और परलोकैषणा दोनों शामिल हैं। इनका जब त्याग होता है, तो कामनाके परित्यागसे अन्तःकरण शुद्ध होता है।

तब अपना जो उज्ज्वल-निर्मल आत्मा है, वह शेष रहता है। श्रुति कहती है—तुम कामी नहीं हो। 'अथात आदेशो नेति-नेति।' जो कीड़ा बना, सो तुम नहीं हो। जो मनुष्य बना, सो तुम नहीं हो। जो दैत्य बना सो तुम नहीं हो। जो ब्रह्मा बना, सो तुम नहीं हो।

जो आता-जाता रहा सो? अरे! अन्तःकरण आता-जाता रहा और तुम उसके आने-जानेको अपना आना-जाना मानते रहे। 'नेति।' तुम अन्तःकरण नहीं हो। तुम सूक्ष्म शरीर नहीं हो। तो नेति-नेति करके उसका निषेध किया।

फिर मैत्रेय ब्राह्मणमें यह प्रसङ्ग आया। इसमें 'दुंदुभि' आदिका दृष्टान्त दिया। 'दुंदुभि' आदिका दृष्टान्त देकर बताया कि एक सामान्य होता है और

एक विशेष होता है। एक कार्य होता है और एक कारण होता है। फिर वहाँ कहा—'स एष नेति नेति इति आत्मा।'

आत्मा न कार्य है न कारण है। माने मूर्त-अमूर्त आदिका निषेध, पृथ्वी आदिमें ओत-प्रोतका निषेध, विश्व-तैजस्-प्राज्ञका निषेध, गमनागमनका निषेध, और सामान्य-विशेष भावका निषेध। इस प्रकार नेति-नेतिके द्वारा सबका निषेध करके, शैली क्या अपनायी? व्याख्यातं निह्नुते यतः।

पहले खुद ही तो करते हैं व्याख्यान—'तुम ऐसे हो, तुम ऐसे हो, तुम ऐसे हो—एक दिन बताया कि—भाई! तुम यह देह नहीं हो, तुम तो आने-जाने-वाले जीव हो और दूसरे दिन बताया कि 'तुम ब्रह्म हो, जो आता-जाता नहीं है'; अर्थात् अपनी व्याख्याका ही निषेध कर दिया। ऐसे परस्पर विरुद्ध भाषण क्यों करते हो? स्वेनैव व्याख्यातं--स्वयं निह्नुते! अपने-आप जो व्याख्या करो कि 'तुम स्थूल देहोपाधिक नहीं हो, सूक्ष्मदेहोपाधिक हो' और जाते-आते हो। आज उसीका निषेध करते हुए कहते हो—'जाते-आते नहीं हो।'

यह जाने-आनेकी समस्या भी दार्शनिक संस्कारकी न्यूनता और पौराणिक संस्कार बुद्धिमें ज्यादा होनेसे थोड़ी कठिन हो गयी है। इस बातपर गौर करोगे तब मालूम पड़ेगा।

वेदान्तियोंमें एक अवच्छेदवाद चलता है। उसमें यह मानते हैं कि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य आत्मा है, जैसे घटावच्छिन्न आकाश, वैसे अन्तः-करणावच्छिन्न आत्मा। जैसे घटके गमनागमनमें आकाशका गमनागमन नहीं है, घड़ा कहीं जाय कहीं आवे, आकाश न कहीं आता है न कहीं जाता है, इसी प्रकार अन्तःकरणावच्छिन्न जो आत्मा है, वह न कहीं आता, न जाता है। फिर कौन आता-जाता है? अन्तःकरण आता-जाता है!

अब ऐसे हुआ कि जैसे स्थूल देह एक जगहसे दूसरी जगह जाय, अपने घरसे चलकर 'भारतीय विद्याभवन'में आया और 'भारतीय विद्याभवन'से चलकर अपने घर जायगा। यह तो स्थूल शरीरका चलना हुआ। क्या अन्तःकरणका चलना ऐसा ही होता है कि वह एक देशसे उठकर दूसरे देशमें जाय? क्या हमारा मन जब दिल्ली जाता है? कि यहीं दिल्लीकी कल्पना कर लेता है।

असलमें अवच्छेदवादमें जो पुनर्जन्मका स्वरूप है, नरक-स्वर्गका स्वरूप है, ब्रह्मलोक-वैकुण्ठ आदि लोकोंका स्वरूप है, वह क्या है? 'अवच्छिन्न' आत्मा

जो चैतन्य है, वह तो कहीं आता-जाता नहीं और अवच्छेदक जो अंतःकरण है, वह स्थूल भूतका बना नहीं। वह तो भूत सूक्ष्म है। इसलिए वह भी आता-जाता नहीं है। स्थूल भूतमें जो आकाश है, उसका गमनागमन नहीं होता तब अपंचीकृत पंचभूतके सात्त्विक अंशसे बने हुए अंतःकरणका स्थूल भूतकी तरह गमनागमन कैसे होगा ? अंतःकरणकी तत्-तदाकारताकी प्राप्ति ही तत्-तत् लोककी प्राप्ति है तत्-तत् जन्मकी प्राप्ति है।

अवच्छेदवादका सिद्धान्त इसलिए बताया कि आपको पौराणिक संस्कार अधिक होनेके कारण दार्शनिक संस्कार ग्रहण नहीं होता। जिस देशमें आत्मा है, उसी देशमें अन्तःकरणमें पाप करनेसे नरकका और पुण्य करनेसे स्वर्गका जो संस्कार है, तत्-तत् संस्कारानुसार अन्तःकरण तत्-तदाकार हो जाता है और उससे तादात्म्यापन्न 'मैं' अपने गमनागमनकी कल्पना करता है। यह अवच्छेदवादकी बात है।

दृष्टिसृष्टिवाद तो इससे भी निराला है। आभासवादकी बात छोड़ देते हैं, क्योंकि वह दूसरे अभिप्रायसे है। वहाँ भी आभासका गमनागमन है कूटस्थ-का नहीं। 'पंचदशी'में, 'विचारसागर'में आभासका गमनागमन मानते हैं, प्रतिबिंबका गमनागमन मानते हैं, बिंबका नहीं। कूटस्थका नहीं।

दृष्टिसृष्टिवादमें तो देश-काल-वस्तु 'दृष्टि'से न्यारे हैं ही नहीं और अजातवादका यह कारिका-ग्रन्थ है!

हमने व्याख्या की मूर्त और अमूर्तकी, हमने व्याख्या की पृथिवी-जल-अग्नि-वायु और आकाशकी हमने व्याख्या की विश्व-तैजस्-प्राज्ञकी, दुंदुभि आदि सामान्य-विशेषकी, परन्तु 'व्याख्यातं निह्नुते।' अन्तमें व्याख्याका अपवाद कर देते हैं, उसीका अपलाप, निषेध कर देते हैं। 'स एष नेति-नेति इति आत्मा।' आत्मा कौन है ? नेति-नेति वर्णन किया वह नहीं, उससे न्यारा।

स एष नेति नेति इति व्याख्यातं निह्नुते यतः।

अरे बाबा! अपनी कही हुई बात काटते हो ? कभी-कभी ऐसा तर्क करते हैं। एक पण्डित 'अखिलानन्दजी तर्करत्न' थे। आपने कभी बम्बईमें उनको देखा होगा। जब स्वामी करपात्रीजीके यज्ञ होते थे, तो वे आते थे! बड़े पुराने थे! अब नहीं रहे, मर गये। पहले वे थे आर्यसमाजी। बादमें हो गये सनातन धर्मी।

जब पहले वे आर्यसमाजी थे, तब तो उन्होंने 'दयानन्द दिग्विजय' ग्रन्थ

संस्कृतमें लिखा था। सनातन धर्मी हो गये तो। 'सनातन धर्म विजय' ग्रन्थ लिखा और भी बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे सनातनधर्मके सम्बन्धमें।

जब कभी आर्यसमाजियोंसे उनका शास्त्रार्थ होता था, तो उन्हींका लिखा हुआ उनके सामने रख देते थे, कि 'देखो, पहले तुमने यह लिखा है और अब यह कहते हो ?' तो वे कहते थे, 'देखो बेटा ! हमने तो जो लिखा—कहा है, वह तो हमने काट दिया है। हमारी पहली बात गलत, पिछली बात सच्ची! अब तुमको जो कहना हो, अपने घरसे ले आओ ! हमारी कही हुई बात हमारे सामने मत लाना। हमारा जूठा लेकर हमको हराना चाहते हो ?'

कहनेका अभिप्राय यह है कि वर्णन जो है, वह कक्षा-कक्षाके वर्णन होते हैं। एक नन्हा-सा बच्चा पूछे कि—'आकाशमें वह क्या दीख रहा है ? चमकता हुआ ?'

'कौन-सा बेटा ! वह जो विंदी-विंदीकी तरह दीख रहा है सो कि हीरेकी तरह एक हाथ लम्बा गोल दीख रहा है सो ?' माने चन्द्रमाके बारेमें पूछ रहे हो या विंदी-विंदी (तारों)के बारेमें पूछ रहे हो ?'

अब बच्चेने याद कर लिया—जो बड़ा है उसका नाम चन्द्रमा है। जो छोटे-छोटे विंदी-विंदी हैं—उनका नाम गुरु है, शुक्र है, फलाना है, ढिकाना है।

जब वह बड़ा हुआ, तो पिताजीने बताया—'चन्द्रमा तो बहुत बड़ा है। गुरु इतना बड़ा है, शुक्र इतना बड़ा है, सूर्य पृथिवीसे तेरह लाख गुना बड़ा है।'

पुत्र बोला—हमको तो तुमने बताया था कि 'ऐसा है, ऐसा है, ऐसा है ! इतना छोटा, इतना छोटा, इतना छोटा ! अब बड़ा बोलकर आप अपनी बातको काट रहे हो ?'

पिता—'तब तुम उतना ही समझ सकते थे। अब तुम्हारी समझ बढ़ी, तो वस्तुको भी समझो।' तो वस्तु समझनी पड़ती है। बच्चे पहले नोटकी शकल देखकर पहचानते हैं कि यह नोट है। जब पढ़-लिख लेते हैं तो उसपर लिखा हुआ देखकर पहचानते हैं और उससे बड़े होते हैं तो उसपर जो सरकारी निशान लगा होता है उससे पहचानते हैं। किसी भी भाषामें लिखा हो, उसकी शकल कितनी भी बड़ी हो, उसकी कीमत आकारसे, रंगसे, भाषासे और शकलसे नहीं होती, सरकारी स्वीकृतिसे ही उसकी कीमत होती है।

यह वैदिक स्वीकृति है। आपको एक दिन सुनाया था—आकाशमें जो इन्द्रधनुष दिखायी पड़ता है, हरा-पीला-लाल, वह सबकी आँखसे दिखता है, पर

आपको मालूम है, आकाशमें वह क्या चीज है ? वह सूर्यमें है, कि आकाशमें है, कि हवामें है, कि पानीमें हैं, कि आपकी आँखमें है ?

वह इन्द्रधनुष नामकी जो चीज है, हरी-पीली-लाल, उसका कोई वजन है ? उसकी कोई लम्बाई-चौड़ाई है ? उसका कोई काल है ? उसने क्या आकाशको रंग दिया है ? क्या आकाशमें वह कोई वस्तु उत्पन्न हो गयी है ? इसलिए जो लोग ऐन्द्रियक अनुभूतिको ही सर्वस्व माननेवाले हैं, उनको पहले ऐन्द्रियक अनुभूतिके आधारपर बात बतायी जाती है और फिर उसका अपवाद कर दिया जाता है। 'व्याख्यानं निह्नुते'—स्वयं व्याख्यान करके स्वयं उसका निह्नव करते हैं। निह्नव = अपवाद करना, छिपा देना, काट देना; अपह्नुति भी बोलते हैं। हिन्दीमें पहले आते थे—अपह्नुति अलंकारके उदाहरण—

क्यों सखि साजन ?

एक नायिकाने वर्णन किया—'भाई, रात भर उसके उजेलासे हमारा घर उजेला रहा। उसे देख-देखकर मैं प्रसन्न होती रही।' तो पूछा—'क्यों सखि साजन ?' क्या तुम्हारा, पतिदेव था ? सखि बोली—'ना सखि दीया।'—वह दीपक था !

इसको अपह्नुति अलंकार बोलते हैं। इसके भी कई भेद होते हैं। निह्नुतिका अर्थ है—पहली जो बात कही गयी, वह काट दी गयी। क्यों काट दी गयी ? यह प्रश्न है—

'कस्य पुनर्हेतोः एवं व्याख्यानं सर्वं निह्नुते इति ?' फिर क्या कारण है कि बातकर उसे काटते हैं ? 'सर्वम् अग्राह्यभावेन हेतुना अजं प्रकाशते। अजं सर्वं प्रकाशते। सर्वं अग्राह्यभावेन हेतुना अजं प्रकाशते।

ऐसा क्यों कहा ? ऐसा इसलिए कहा कि एक उपाय होता है और एक उपेय होता है। उपाय माने ऐसे समझो—आय-व्यय, तो आप समझते हो न ? आय = आमदनी। उपाय माने आमदनी = अपने लक्ष्य की प्राप्ति; उसमें जो सबसे निकटकी वस्तु होवे, उसे 'उपाय' कहते हैं।

'उपेय' किसको कहते हैं ? इस उपायसे जिसकी प्राप्ति होती है, उसे उपेय कहते हैं। ये जितनी व्याख्या की गयी, मूर्त-अमूर्त, पृथिवी आदिमें ओत-प्रोत, सामान्य-विशेष, विश्व-तैजस्-प्राज्ञ-ये सब जितने उपाय बताये गये, अन्तमें इन्हीं उपायोंको सच समझ करके पकड़ मत लेना।

सर्वं अग्राह्यभावेन—आत्मामें कार्य-कारण नहीं, सामान्य-विशेष नहीं, ओतप्रोतभाव नहीं, कई लोग कहते हैं न, कि सबमें अनुगत और सबसे व्यावृत। 'पंचदशी'में जो पहली युक्ति है आत्माके बारेमें, वह यहीं है। क्या ?

जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिमें अनुगत है माने रहता है और जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिसे न्यारा है। क्योंकि सबका द्रष्टा है। ऐसी संवित्को आत्मा बोलते हैं। यह युक्ति सत्य है या उपाय है? लक्ष्य है कि उपाय है? यह लक्ष्य नहीं है, यह उपाय है। आत्माको जाननेका यह एक उपाय है। ब्रह्मको जाननेका यह उपाय है। तत्त्वको जाननेका यह एक उपाय है।

'उपाय' शब्दका अर्थ 'वाक्यपदीय'में ऐसे बताया—

उपायादपि ये हेयाः उपायास्ते प्रकीर्तिताः।

'उपाय' शब्दकी व्युत्पत्ति महावैयाकरण भर्तृहरिने यह की। पहले तो उपादान करो, पहले उनको पकड़ो और फिर उपेयकी प्राप्ति हो जाने पर उसको छोड़ दो। कोई बात समझानेके लिए बोलो और जब सामनेवाला समझ जाय, तो बोलना बन्द कर दो।

चलो!, परन्तु जहाँ पहुँचना है वहाँ पहुँच जाओ, तो चलना बन्द कर दो। गतव्यकी प्राप्ति हो जाने पर गमन क्रिया बन्द हो जाती है। उपलब्धि हो जाने पर उपलभ्यकी जो प्रक्रिया है, वह बन्द हो जाती है। ज्ञान हो जाने पर, प्रभा हो जाने पर प्रभाकी प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। यह नहीं कि उपायको ही पकड़के बैठ जाओ। इसलिए उपायका भी अपवाद करना पड़ता है। नेति-नेति।

यह बताओ कि आपको यह कैसे मालूम हुआ कि परब्रह्म परमात्मा अग्राह्य है? श्रुतिसे मालूम हुआ—

'अग्राह्यो नहि गृह्यते। अशीर्यो नहि शीर्यते।' (बृहदा० ३.९.२६)

इसमें एक बात ध्यानमें रखने लायक है। जब कोई बात युक्तिसे कही जाय, तो उसको काटनेके लिए युक्ति चाहिए। श्लोक नहीं बोलना। बात कही गयी युक्तिसे और श्लोक बोल दिया? युक्तिसे कही हुई बात श्लोकसे नहीं कटती।

किं भो श्लोकाः प्रमाणम्? युक्ति तो युक्तिसे कटेगी; और जब शास्त्रसे कोई बात कही गयी, तो वह शास्त्रसे ही कटेगी—पूर्वापरकी संगति लगाके, षड्लिंगके द्वारा तात्पर्यका निश्चय कर शास्त्रसे कटेगी। वह युक्तिसे नहीं कटेगी। शास्त्रके सामने शास्त्र भिड़ेगा, युक्तिके सामने युक्ति भिड़ेगी।

हम पहले यह बात सिद्ध करते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धिके द्वारा आत्माका ब्रह्मत्व सिद्ध नहीं होता। यह बात हम

सबसे पहले स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि—इन पाँच प्रमाणोंके द्वारा आत्माकी सिद्धि हो सकती है कि 'मैं हूँ'। 'मैं हूँ'—इसकी सिद्धि हो सकती है, परन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस बातकी सिद्धि किसी प्रमाणके द्वारा नहीं हो सकती।

तब हम कहते हैं कि जिस विषयमें किसी भी प्रमाणकी गति नहीं है, उस विषयमें श्रुति कहती है कि 'तुम ब्रह्म हो।' अब तुम्हें काटना हो, तो श्रुतिसे काटो। जब युक्तिसे ब्रह्मता सिद्ध ही नहीं होती, तो युक्तिसे ब्रह्मता कटेगी कैसे? जब आँखसे घड़ा दीखे ही नहीं तो आँखसे घड़ेका अभाव कैसे दीखेगा?

अभावका ज्ञान प्रतियोगीज्ञान-सापेक्ष होता है। माने जिसको घड़ेका ज्ञान है, उसीके मनको घड़ेके अभावका ज्ञान होता है। अब प्रश्न यह हुआ कि आत्मा अग्राह्य है। न हाथसे पकड़ेंगे आत्माको, न पाँवसे चलकर पहुँचेंगे आत्मामें और न आँखसे पकड़ सकते आत्मा को—'अगुह्यो नहि गृह्यते।' यह है। बात यह है कि इसके अतिरिक्त सर्वका निषेध जब कर दो, तो तुम स्वयं रह गये। स्वयं कितना बड़ा? अपनेमें बड़प्पन दीखे तो उसको भी काट दो। छोटपन दीखे, तो उसको भी काट दो।

आत्मा कितना बड़ा? न बड़ा न छोटा। आत्माकी उमर कितनी? नित्य कि अनित्य? अपनेमें अनित्यता दीखे, तो उसको भी काट दो और अपनेमें नित्यता दीखे तो उसको भी काट दो। क्योंकि नित्य तो काल भी है। परन्तु मिथ्या है। व्यापक तो देश भी है, परन्तु मिथ्या है। सर्वात्मा तो सबीज वस्तु भी है, परन्तु दृश्य है।

जहाँ नित्य-अनित्य काल नहीं रहा, जहाँ छोटा-बड़ा देश नहीं रहा, वहाँ अपनेको परिच्छिन्न बनानेवाली चीज कौन-सी? जब दूसरी चीज ही नहीं, काट दिया उसको, तो परिच्छिन्न और परिच्छन्नका अभाव—दोनोंसे विलक्षण अपना आपा यों ही सिद्ध हो गया!

परिच्छेद और परिच्छेदका अत्यन्त-अभाव-दोनोंसे उपलक्षित जो आत्मतत्त्व है, वह न कालपरिच्छिन्न है, न देशपरिच्छिन्न है, न वस्तु परिच्छिन्न है; न उसमें सजातीय भेद है, न विजातीय भेद है, न स्वगत भेद है। नेति-नेतिके द्वारा ही 'अगृह्या नहि गृह्यते'। नेति-नेतिके द्वारा ही परमात्माका निरूपण होता है। तो, यह उपाय है।

अब यह प्रश्न आया कि उपाय असत्य और उपलब्धि सत्य? यह

क्या खेल है ? आप जरा भी ध्यान करके विचार करोगे तो मालूम पड़ जायगा। यदि द्वैतकी सिद्धि करनी हो तो उपाय भी सत्य और उपेय भी सत्य। लेकिन अद्वैतकी सिद्धि जहाँ करनी है, वहाँ उपायके मिथ्या हुए बिना तो अद्वैतकी सिद्धि होगी ही नहीं।

जितने समझानेके उपाय हैं दुनियामें, वे आय नहीं हैं, उप-आय हैं। उपाय दो नम्बरका है, गौण है। उपके जुड़नेसे आय नहीं है। आयके पास है। अतः उपाय मिथ्या है।

अब दूसरी बात देखो—आपने पहले ककहरा पढ़ा होगा। कहीं एक लकीर खींची—'अ'। लेकिन 'अ' क्या केवल नागरी भाषामें है ? महाराष्ट्रमें भी है। गुजराती, उड़िया, बंगला, तमिल, तेलगु, अंग्रेजी, रशियन, चीनी—इन सब भाषाओंकी लिपिमें 'अ' है। 'अ' अक्षर तो सबमें है। तो लिपि कौन-सी सच्ची ? 'अ' अक्षर बोलना है, उसके लिए ये झूठे संकेत बनाये हैं, जो कागज पर लिखे जाते हैं। 'अ' अक्षर मुँहमें होता है और मुँहसे वैसा उच्चारण करनेके लिए कागज पर संकेत हैं भिन्न-भिन्न प्रकारकी लिपियोंमें। लिपि अक्षराव-गमके लिए है। हम अक्षरको पहचान जायँ। अक्षरका कोई अर्थ है ? अक्षरसे पद बनाया और पदसे वाक्य बनाया। यह पदार्थ है और यह वाक्यार्थ है।

पद होता है मुँहमें, अर्थ होता है धरतीपर—यह केवल संकेतके लिए। एक ही वस्तुके लिए फारसीमें दूसरा पद है, अंग्रेजीमें दूसरा पद है, संस्कृतमें दूसरा पद है। तो अर्थके साथ पदका सम्बन्ध क्या ? 'अर्थस्य शब्देन औत्पत्तिकः सम्बन्धः'।

आपको विचित्र लगेगा। किरणोंका नाम रखते हैं न ! यह 'एक' है, यह फलाना है, यह ढिकाना है, यह 'अ' है यह 'ब' है, यह 'स' है। एक बार यह प्रश्न उठा कि न्यायशास्त्रके अनुसार जितनी वस्तुएँ होती हैं, उनके जितने नाम होते हैं, वे सब ईश्वर अपने पहले संकल्पमें ही—एक ही संकल्पमें रखता है। वस्तुओंका नाम भी—जैसे, 'पृथिवी'; वस्तु और पृथिवी' नाम ईश्वरके संकल्पमें आया। यह तो ठीक है, परंतु माँ-बाप जो नाम रखते हैं, वह ? यह 'गजानन' है और यह 'गिरिधारी' है। ये नाम तो माँ-बाप रखते हैं। ये भी क्या ईश्वरके पहले ही संकल्पमें है कि इनके ये नाम रखेंगे ?

डॉक्टर लोग दवाइयोंका नाम रखते हैं और वैज्ञानिक लोग वैज्ञानिकोंका नाम रखते हैं। क्या ये भी ईश्वरके संकल्पमें हैं ? नैयायिकोंमें भी दो मत हैं—(१) जो नित्य द्रव्य हैं, उनका नाम तो ईश्वरने सृष्टिके प्रारम्भमें ही रख दिया

और जो अनित्य द्रव्य हैं, उनका नाम कल्पनासे रखा जाता है। और (२) एक मत यह है कि नहीं-नहीं, सब कल्पनाएँ जो लोगोंके चित्तमें उदय होंगी वे भी ईश्वरने ही प्रथम संकल्पमें कर दिया है।

शब्द और अर्थका जो सम्बन्ध है,—इस शब्दका यह अर्थ है—वह सिवाय कल्पनाके दूसरी किसी भी रीतिसे नहीं हो सकता। नहीं तो, हम बोलें संस्कृत और समझें आदिवासी और बोलें आदिवासी और समझें हम।

तो, यह वाक्य है, यह पदार्थ है, यह अक्षर है और यह अक्षरोंकी आकृतियाँ हैं, ये केवल उपाय हैं, व्यवहारकी सिद्धिके लिए। वस्तुको समझानेके लिए ये उपाय हैं। सर्वत्र मिथ्या उपायसे सत्यकी प्रतिपत्ति होती है।

व्याख्यातं निह्नुते—एक बार उपायके रूपसे जिसका वर्णन किया, बोध होते ही वे सबके सब उपाय 'नेति-नेति'—निषिद्ध हो गये। या, निषिद्ध होते ही लक्ष्य स्वयं रह गया और बोध हो गया।

यह वर्णन करते हैं कि स्वयं तो व्याख्याकी कि परमात्मासे जगत्की उत्पत्ति होती है, परमात्मामें स्थिति रहती है, परमात्मामें प्रलय होता है, सब लोग परमात्मासे ही प्रेम करते हैं, सब परमात्माका विलास है। और दूसरी ओर—'स एष नेति-नेति इति निह्नुते' फिर खुद कहते हैं कि 'यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं।' अपनी कही बात काट देते हैं। इसमें परमात्माके स्वरूपकी प्रतिपत्ति माने उसका ज्ञान, उसका अनुभव कैसे होगा? क्या कारण है कि एक ओर तो बताते हैं, 'सब उसीसे, उसीमें, वहीं और फिर कहते हैं, कुछ नहीं?'

बात यह है कि परमात्माका स्वरूप इदमित्थंतया अग्राह्य है—'सर्वं अग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते।' अग्राह्यभावेन हेतुना सर्व अजं प्रकाशते। अग्राह्यभावरूप युक्तिसे-हेतुसे-कारणसे, यह बात निकलती है कि एक अजन्मा परमात्मा ही प्रकाशित हो रहा है। उसमें उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय, जीव-जगत् ये सब नहीं। बिलकुल एक अखण्ड अद्वय एकरस वही। इसमें कारण क्या बताया 'अग्राह्यभावेन हेतुना।'

आप यह मत समझना कि केवल अद्वैतवेदान्ती ही मानते हैं। उपासक लोग भी परमात्माको अग्राह्य मानते हैं। वे कहते हैं कि—'जीव चाहे कि अपने प्रयत्नसे, अपने हाथसे परमात्माको पकड़ लें, तो नहीं पकड़ सकते। वह चाहे कि अपने प्रयत्नसे अपनी आँखसे ईश्वरको देख ले, तो नहीं देख सकते।'

यह नहीं कि भक्त लोग जिस ईश्वरको मानते हैं, उसमें ग्राह्यत्वरूप दोष मानते हैं। वे कहते हैं कि 'वह स्वयं कृपा करके, प्रेमपरवश होकरके किसीको

अपना हाथ पकड़ा दें, तो हाथ पकड़ानेमें उसकी अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति है, जीवकी नहीं है। इसलिए उपासनाके मतमें भी परमेश्वरको अग्राह्य ही मानते हैं।

अपने प्रत्यत्नसे ग्राह्य नहीं होता, भगवान्, 'तत्' पदार्थ, स्वयं कृपा करके अपना दर्शन देता है। अच्छा, कहो कि योगमतमें परमात्माको ग्राह्य मानते होंगे? तुलना करनेके लिए यह बात कह देते हैं। कल हमको किसी श्रोताने फोंन किया कि आप वेदान्तकी ज्यादा गंभीर बात करते हैं, तो हमारी समझमें नहीं आती। इसलिए थोड़ी-थोड़ी उपासनाकी हल्की बात कह दिया करो।

अग्राह्यता—जहाँतक तुम अपनी इन्द्रियोंसे दीखनेवाले संसारी, नाशवान् विषयोंमें ईश्वर-बुद्धि करते हो, वहाँ तक तो गलत है ही है। जहाँतक अपने मनसे कल्पित और अपनी बुद्धिसे गृहीत, अपने बलसे पकड़े हुए ईश्वरको मानते हो, वहाँतक ईश्वर अभी पकड़में नहीं आया।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

(मुण्डक० ३.२.३)

जब स्वयं भगवान् किसीके सामने अपनेको नंगा करे 'तस्यैष आत्मा विवृणुते'—विवृणुते-विवरणं कुरुते, आवरणरहितं-निरावरणं कुरुते। किसी-किसी भक्तके सामने भगवान् अपनेको निरावरण-खुला, नंगा कर देते हैं जो निकटका इतना प्रेम होय।

वेदान्ती लोग 'निरावरण' शब्द बोलते हैं। वह जो यशोदा मैयाकी गोदमें बिना कपड़ेके आता है, उस निरावरण रूपकी बात दूसरी है, यह 'तत्' पदार्थकी अभिव्यक्ति है, कृपा है।

योगमतमें परमात्माको ग्राह्य नहीं मानते। वहाँ तीन प्रकारकी समापत्ति मानते हैं—ग्राह्य समापत्ति, ग्रहण समापत्ति और गृहीतृ समापत्ति जहाँ योगके साधनका वर्णन है, वहाँ इसका विवेक है। मनसे ग्राह्य वस्तुमें एकाग्र हो गये यह ग्राह्य समापत्ति है; मनमें ही एकाग्र होगये—यह ग्रहण समापत्ति है; अपने आपमें अहंमें एकाग्र होगये। यह गृहीत समापत्ति है।

हमने यह जो देखा, सो ईश्वर है न? अच्छा, जो देखना मात्र है,—बस शान्ति, शान्ति, शान्ति वह ईश्वर है? ना। तो जो देख रहा है, गृहीता है, वह ईश्वर है? ना। इन तीनों समापत्तियोंको काट करके स्वयं देखनेवाला जो साक्षी अहं है वह योगमें अन्तिम साध्य है। वेदान्तमें भी 'ग्राह्य' आत्माका

स्वरूप नहीं है, 'ग्रहण' भी आत्माका स्वरूप नहीं है और, 'अहं ज्ञाता' इत्याकारक—'अहं ब्रह्म जानामि'—मैं ब्रह्मको जानता हूँ, ऐसी वृत्तिवाला—जो है वह—ये तीनों परमार्थ नहीं है। क्योंकि ब्रह्म कोई घट-पट इत्याकारक पदार्थ तो है नहीं कि वहाँ फलव्याप्ति होवे।

वेदान्तमें ऐसा मानते हैं कि एक 'वृत्तिव्याप्ति' होती है और एक फलव्याप्ति होती है। जैसे, अंधेरेमें घड़ा रखा है, घड़ी रखी है। गाँवमें महात्मा लोग रहते थे तो घड़ाका दृष्टान्त देते थे। अब शहरमें दृष्टान्त देना हो, तो घड़ीका दृष्टान्त देना पड़ेगा। वह तो देश-कालके अनुसार बदल जायगा। गाँवमें लोग घड़ेको ठीक जानते थे। शहरमें लोग घड़ीको ठीक जानते हैं।

अंधेरेमें घड़ी रखी है, चश्मा रखा है, अंधेरेमें मेज है, कुर्सी है, फाउन्टेनपेन है, कुछ भी है। जब स्विच दबाया तो बिजलीका लट्टू जला और प्रकाश होगया। प्रकाशने केवल अंधेरेको निवृत्त किया, घड़ीको, चश्माको, मेजको, कुर्सीको या फाउन्टेनपेनको पैदा नहीं किया। अंधकार निवारणके अतिरिक्त प्रकाश और कोई काम नहीं करता। देखनेवालेको यह होता है कि मैंने घड़ी देख ली, मैंने मेज देख लिया, हमारा चश्मा बिलकुल ठीक है, टूटा नहीं है; फाउन्टेनपेन ज्यों-का-त्यों है। इसे क्या बोलते हैं? अंधकारकी निवृत्ति वृत्तिव्याप्ति है। वृत्तिव्याप्तिका क्या अर्थ है? अपने मनमें सब ठीक आ गया। आँखके रास्ते सब मालूम पड़ गया ठीक-ठीक, कि ये सब चीजें यहाँ रखी हैं।

अंधकार निवृत्त होगया और सब चीज मालूम हो गयी। अपनी आँखकी ज्योतिने सब चीज अपने अंदर ले लिया। लेकिन 'मैं जानता हूँ'—यह अभिमान अंधकार निवृत्ति होनेपर 'मैंने घड़ी देखी, मैंने चश्मा देखा, मैंने मेज देखा, मैंने कुर्सी देखी'—यह अभिमान उत्पन्न होगा। इसीको 'फलव्याप्ति बोलते हैं। अंधकारके निवृत्त होनेसे वृत्तिव्याप्ति होती है। ऐसे बोलते हैं—'वृत्तिव्याप्ति होनेसे अंधकारको निवृत्ति होती है। प्रकाशकी व्याप्ति हुई और अंधकारकी निवृत्ति हो गयी, और, 'मैंने अमुक-अमुक वस्तुको जान लिया।' यह फलव्याप्ति हो गयी।

यही बात जब ईश्वर पर, परमात्मा पर, ब्रह्म पर लगाते हैं तब? वृत्तिव्याप्ति माने प्रकाशव्याप्ति। जैसे, घरमें रोशनी फैल गयी थी, वैसे हृदयमें ज्ञानका प्रकाश फैल गया। अंधकारकी निवृत्ति हो गयी। अपना आत्मा स्वयंप्रकाश ब्रह्म है, है ही, वह तो स्वयं है। इसके बाद 'मैं' ब्रह्म हूँ'—यह फलव्याप्ति नहीं होती।

क्यों नहीं होती ? यह घड़ा है, यह कपड़ा है, यह मेज है, यह कुर्सी है—यह तो दृश्य विषय है इसलिए—'मैं इनको जान गया'—इस अहंके साथ वृत्तिव्याप्तिका फल जुड़ जाता है। दुनियामें किसी भी चीजको जाननेका फल यह होता है कि 'मैं जान गया'—यह अभिमान उत्पन्न होता है। लेकिन ब्रह्ममें ज्ञानकी प्रक्रिया-ज्ञानरूप प्रकाशकी व्याप्ति और अज्ञान रूप अंधकारकी निवृत्ति· इसके सिवाय 'अहं ब्रह्म जानामि' इत्याकारक फलव्याप्ति नहीं होती।

इसलिए ब्रह्म न ग्राह्य है, न ग्रहण है। न गृहीता है। क्योंकि फलव्याप्ति नहीं है।

वेदान्तके ग्रन्थोंमें एक दिल्लगी आती है। एक आदमीने कहा—'देखो भाई, मैं ज्ञानी और बाकी सब अज्ञानी।'

बोले—'मूर्ख है !' ऐसे !! बिलकुल सीधी बात आती है—'मूर्ख है।' तुम ब्रह्म हो, सब ब्रह्म है—यह बात तो सच्ची है। लेकिन 'मैं ज्ञानी हूँ, सब अज्ञानी हैं'—यह बात झूठी है। असलमें अपने अज्ञानको जानना ही उसका मिटना है।

ज्ञानी कौन है ? जो अज्ञानको जानता है। जो अपने ज्ञानको जानता है, वह ज्ञानी नहीं, वह तो ज्ञानका अभिमानी है। लौकिक दृष्टिसे भी यह बात ठीक है और अलौकिक दृष्टिसे भी यह बात ठीक है।

ज्ञानी वह है जो जानता है कि मैं कितना कम जानता हूँ। जो अपने अज्ञानको जाने—वह ज्ञानी; यह लौकिक दृष्टि है। हम यह जानते हैं, यह जानते हैं, यह जानते हैं'—दो जनोंमें जब बातचीत होती है, लोग बढ़चढ़कर बात करते हैं। 'तुम इतना ही जानते हो ? हम तो इससे और आगे जानते हैं। तुमको इतना ही मालूम है ? हम और आगे जानते हैं। यह वेदान्तकी चर्चा नहीं है। इसको तो 'अहम्—अहमिका' बोलते हैं संस्कृतमें। अहम्-अहम्-मैं-मैं-मैं ! है कुछ नहीं। फल क्या होता है ?

अवगतं सत् स्वनिष्ठतया इष्यते।

फल क्या है ? प्रयोजन क्या है ? चीजको जाननेके बाद अपने साथ जिसका ज्ञान जुड़ जाता है—वही फल है। 'अहं घटं जानामि'; 'अहं पटं जानामि' मठं जानामि, कुरसिकां जानामि, मंचं जानामि, घटियन्त्रं जानामि' चाक्षुष्यम्-चक्षुर्माम् (चश्मा) जानामि। यह 'जानामि' फल है 'अहं माम् जानामि'—मैं अपनेको जानता हूँ—बिलकुल गलत है। 'अहं ब्रह्म जानामि'—बिलकुल गलत।

वेदान्तके ग्रन्थोंमें आता है कि जो ऐसा जानता है कि 'मैं तो ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गया और दूसरे लोग बद्ध हैं'—शंकरानन्दजीने ऐसी तो हँसी उड़ायी है इसकी ! बोले—'यः एवं अभिमन्यते, अहं मुक्तः अन्यो बद्धः इति, न सः वस्तुतः मुक्तः किंतु वाचा मुक्तः।' 'मैं मुक्त हूँ और दूसरे बद्ध हैं—ऐसा जो जानता है, वह वस्तुतः मुक्त नहीं है, वह तो जबानी-जमा खर्च मुक्त है।

अब वेदान्तकी अग्राह्यभावकी बात करें, क्योंकि उपनिषद् परमात्माके बारेमें कहतो है—**'अगृह्यो नहि गृह्यते।'** वृहदारण्यक उपनिषद् (३.१.२६) में यह वचन आया। परमात्मा गृह्य नहीं है, अगृह्य है। गृह्यसूत्रोंमें इसका प्रतिपादन नहीं है। अगृह्य = घर-गृहस्थी नहीं है; वह अगृह्याग्नि नहीं है। पारस्कर गृह्यसूत्र, आपस्तंब कार्यसूत्रमें नहीं है। वह तो उपनिषद्की वस्तु है। हस्तादि, नेत्रादि, मन-बुद्धि आदि इन्द्रियोंके द्वारा गृह्य नहीं है। 'अगृह्यं' शब्दका दो तरहसे अर्थ किया जायगा (१) **'गृह्यात् व्यतिरिक्तः अगृह्यः।** जो कुछ ग्रहण किया जाता है, उससे जो व्यतिरिक्त है उसको अगृह्य कहते हैं। गृह्यसे न्यारा अगृह्य। जैसे, 'मैं घड़ेको देखता हूँ' तो घड़ेसे न्यारा हूँ। वैसे ही मैं अन्तःकरण आदिको जानता हूँ तो अन्तःकरण आदिसे न्यारा हूँ। इसका नाम वेदान्तकी भाषामें 'विवेक' है।

(२) जब नेति-नेति करेंगे तब ? अपवाद—निषेध करेंगे तब अगृह्यका अर्थ क्या होगा ?

नास्ति गृह्यं दृश्यं यस्मिन् स अगृह्यः आत्मा। जिसमें गृह्य पदार्थकी सत्ता ही नहीं है, उसका नाम अगृह्य है। **अगृह्यो नहि गृह्यते।** वह गृह्य नहीं होता है। नास्ति गृह्यं यस्मिन्। इस तरहसे दुनियाकी ओरसे मनको हटाना, दुनियाकी वासना छोड़ करके ईश्वर-वासनामें मनको लगाना। यह उपासक-सम्प्रदाय है और विषयसे मन हटा करके आत्मनिष्ठ बनाना, यह योग-सम्प्रदाय है। मन और मनके विषयको आत्मसत्यमें बाधित कर देना कि यह है ही नहीं, यह ज्ञान-संप्रदाय है। ये कहते हैं कि यह आत्माको जाननेका उपाय है। क्या उपाय है ? पहले गृह्यका अध्यारोप करो और फिर गृह्यका अपवाद करो।

'यह दुनिया दीख तो रही है न ?'

'हाँ, दीख तो रही है।'

'ऐसे दीख रही है, ऐसे दीख रही है, ऐसे दीख रही,' और इसके बादमें बोलो—'यह अखण्ड सत्यमें है नहीं।' अपवाद कर दो। कौन रह गया फिर ? जो अध्यारोपका साक्षी है, वही अपवादका भी साक्षी है। जो अध्यारोपका

अधिष्ठान है, वही अपवादका भी अधिष्ठान है। इसलिए अखण्ड आत्मदेवकी सत्ता रह गयी, बाकी कट गया।

श्री शंकराचार्यने कहा—'जैसे कोई लकड़ी काटना होता है तो जो कुल्हाड़ी है वह लकड़ीके दो हिस्सा कर देनेके सिवाय, और कोईका काम नहीं करता। वह दो टुकड़े, दो लकड़ी उत्पन्न नहीं करता। केवल छेदन क्रिया द्वारा उसके दो टुकड़े कर देती है।

उसी प्रकार वेदान्तका जो काम है, वह केवल अज्ञान निवृत्त करना है, वह केवल अज्ञान निवृत्त करता है; ब्रह्मत्वको उत्पन्न करना वेदान्तका काम नहीं है। क्यों? यह स्वयं प्रकाश आत्मदेव तो स्वयं ब्रह्म हैं। उसमें ब्रह्मता उत्पन्न करना नहीं है। प्रमाणका इतना ही काम है कि वह अज्ञान निवृत्त कर दे।

जब यह व्याख्या की कि संसारकी उससे उत्पत्ति हुयी उसमें स्थिति हुई, ऐसा मान करके संसारमें सत्यत्व-बुद्धि होती है, फिर उसमें राग-द्वेष होने लगता है, रागद्वेष करके दुःखी होते हैं, और फिर दुःखसे बचना चाहते हैं। पहले तो संसारको माना सच। किसने बताया था? यह तुम किस स्कूलमें पढ़के आये? 'मैं शरीर हूँ'—किस विद्यालयमें यह पढ़ाया गया?

अनाद्यविद्योपास्यः।

यह अनादि अविद्यासे उपास्य है। एनीबेसेंटसे किसीने पूछा था—'अज्ञान कैसे पैदा हुआ?'

उन्होंने कहा था—'अज्ञान पढ़ानेके लिए कोई स्कूल-कालेज नहीं हुआ करता। अज्ञान उत्पन्न नहीं होता।'

आप समझो कि आपमें-से कोई रशियन भाषा न जानता हो, चीनी भाषा न जानता हो, तो उसको पूछो-'कबसे नहीं जानते हो?' तो वह कहेगा- 'जन्मसे ही नहीं जानते हैं।'

'पूर्वजन्ममें जानते थे?' और कहे कि—'हाँ-हाँ, पूर्व जन्ममें सीखा था'। तो सीखनेके पहले कबसे नहीं जानते थे? सो बताओ! तो चीनी भाषाका अज्ञान या रशियन भाषाका अज्ञान अनादि कालसे होगा, लेकिन सीखनेके बाद वह मिट जायेगा कि नहीं? मिट जायेगा।

इसी प्रकार 'अपना आत्मा ब्रह्म है'—इसका अज्ञान होता तो है अनादि,

परन्तु वेदान्तविद्यासे अनादि अज्ञान निवृत्त हो जाता है। क्योंकि अकल्पित सत्य तो केवल ब्रह्म है, न विद्या है, न अविद्या है।

यादृशी शीतलादेवी तादृशो वाहनः खरः।

अज्ञानकी निवृत्तिके लिए समानसत्ताक ज्ञानकी कल्पना करनी पड़ती है। जैसी प्यास, वैसा ही पानी होना चाहिए। सपनेकी प्यास तो सपनेका पानी। जाग्रतकी प्यास तो जाग्रतका पानी।

आपसमें समसत्ता जिनकी।
लखि साधक बाधकता तिनकी।

इसी प्रकार आत्माके बारेमें एक प्रश्न यह उठाते हैं कि 'नेति-नेति'के द्वारा सबका निषेध कर देनेके बाद जो शेष रहा, वह शेष वस्तु भी यदि वृत्तिका विषय नहीं होगा, तो अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होगी।

आप देखो, एकने कहा—'साँप है।' दूसरेने कहा—'साँप नहीं है, 'माला है।' तीसरेने कहा—'डंडा है।' चौथेने कहा—'भूछिद्र है।' जानकारने कहा—'नहीं है' क्योंकि वह जानता है कि 'रस्सी है।' परन्तु उसने यह नहीं बताया कि रस्सी है। तो उसने सब कल्पनाओंका तो खंडन कर दिया, किसीको बताया नहीं कि 'यह रस्सी है।' तो वे चारो बिचारे सोचमें पड़ जायेंगे कि नहीं ? कि 'भाई, साँप भी नहीं है, माला भी नहीं है, डंडा भी नहीं है, भूछिद्र भी नहीं है'—तो 'आखिर है क्या ?' जब वह बतावेगा कि 'नायं सर्पः रज्जुरेव इयं रज्जुरेव'—यह सर्प नहीं है, यह तो रस्सी है। तब रस्सी विषयक अज्ञानकी निवृत्ति हो जायगी और माला, भूछिद्र, धारा आदि जितने विकल्प हैं वे सब कट जायेंगे। लेकिन चीजका बिलकुल ठोस ज्ञान तो होना चाहिए न ? बिना वस्तुका ठोस ज्ञान हुए अज्ञानकी निवृत्ति कैसे होगी ?

वेदान्ती कहते हैं कि भले रस्सीके बारेमें यह बात होवे, परन्तु आत्माके बारेमें यह बात नहीं है। क्यों ? रस्सी तो अन्य है। जब तक रस्सीके आकारकी वृत्ति नहीं होगी—रज्ज्वाकार वृत्ति नहीं होगी, तब तक रज्जुविषयक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होगी। परन्तु स्वयंप्रकाश आत्मदेव अन्य तो नहीं है न ? अन्यके ज्ञानमें और स्वके ज्ञानमें जो भेद होता है, वह समझना चाहिए। अन्यके ज्ञानकी प्रक्रिया दूसरी है और स्वके ज्ञानकी प्रक्रिया दूसरी है। वह क्या है ? आपको एक दृष्टान्त बताता हूँ।

आपने अपने गाँवके 'मोहनको जाना कि बहुत भले मानुष हैं ! तो मन हुआ कि उनसे दोस्ती करें। किसीने बताया कि कलकत्तामें रसगुल्ला

बहुत बढ़िया बनता है, तो खानेका मन होगा और उसे खानेका प्रयत्न करेंगे। अन्यका ज्ञान होने पर अच्छेका ज्ञान हुआ तो अन्यसे मिलनेकी इच्छा होगी और उससे मिलनेका प्रयत्न होगा। और यदि अन्यकी बुराईका ज्ञान हुआ तो उससे बचनेकी इच्छा होगी और प्रयत्न होगा। हमारे गाँवमें एक 'सोहन' है। वह बड़ा चोर है, दुष्ट है, व्यभिचारी है, उसका सबेरे मुख देख लो, तो दिन-भर अन्न न मिले। हे भगवान्! बचाओ! उससे बचनेकी इच्छा होगी। अपनेसे अन्य पदार्थका ज्ञान यदि अच्छेके बारेमें हुआ तो मनमें रागवृत्ति उदय होती है और यदि बुरेके बारेमें हुआ तो द्वेष वृत्ति उदय होगी।

एक न अच्छा है न बुरा है, मामूली आदमी है तो उपेक्षावृत्तिका उदय होगया। लेकिन अपने-आपके बारेमें अच्छाईका ज्ञान हो तो? क्या अपनेसे मिलनेकी इच्छा होगी? क्या अपनेसे मिलनेका प्रयत्न करेंगे? अपनी बुराईका ज्ञान होगा तो क्या उससे बचनेकी इच्छा-प्रयत्न करेंगे? क्या यह संभव है कि हम अपनी उपेक्षा कर दें?

अन्यका ज्ञान राग-द्वेष या उपेक्षा उत्पन्न करता है? आत्मज्ञान न राग उत्पन्न करता है, न द्वेष, न उपेक्षा। क्योंकि वह तो स्वयंका ज्ञान है। यदि दूसरेका ज्ञान होगा और अंधेरा होगा तो टार्च जलानी होगी कि यह है कि नहीं है? क्या अपने आपको देखनेके लिए टार्च जलानेकी जरूरत पड़ेगी कि मैं हूँ कि मैं नहीं हूँ?

ज्ञान-ज्ञान सब एक नहीं होता। अन्यका ज्ञान दूसरा होता है और स्वका ज्ञान दूसरे ढंगका होता है। जैसे घटका ज्ञान चक्षुरीन्द्रिय और घटके संयोगकी अपेक्षा रखता है और घटाकार वृत्तिका उदय होना अपेक्षित होता है, वैसे आत्मज्ञानमें केवल नेति-नेतिके द्वारा सर्वका निषेध कर देनेके बाद आत्म-ज्ञान होजाता है। हाँ! निषेध विचारपूर्वक और जरा पक्का होना चाहिए।

निषेध पक्का और विचार पूर्वक क्या है? यह कि तुमने घड़ेका निषेध कर दिया, लेकिन घड़ेका जो स्थान देश था, उसका निषेध नहीं किया। घड़ेका तो निषेध कर दिया लेकिन घड़ेके कालका निषेध नहीं किया। माने देश-काल सहित घटका निषेध होना चाहिए। क्योंकि सृष्टि कालमें बदलती है और देशमें सिकुड़ती-फैलती है।

जैसे आमका एक फल होता है। माघ महीना आता है तो पहले बौर (आम मंजरी) लगते हैं जिसके खिलने पर कोयल कुहकती है, बसंत ऋतुका शुभागमन माना जाता है, जिसको सुगंधसे लोग बौरा जाते हैं—पागल हो

जाते हैं। वह आम्रमंजरी अमुक समयमें खिलती हैं और फिर बढ़ने लगती है। सरसोंके दानेके बराबर, फिर मटरके बराबर, फिर बेरके बराबर, फिर आम बड़ा बन जाता है। वह कालमें बढ़ता है। और फैलता कहाँ है?

पहले सरसों बराबर जगह घेरी, फिर बेर बराबर जगह घेरी और फिर तो बड़े-बड़े मलदहिया आम होवे, राजापुरी होवे, मालगुल्वा होवे दक्षिणका, तो बड़ी-बड़ी जगह घेर लेता है। पहले सरसोंके बराबर, फिर बड़ी जगह। अपवाद करते समय आप केवल आमका तो अपवाद कर दो और स्थानका और कालका अपवाद नहीं होवे, तो आपका अपवाद कच्चा रह गया न? नेति-नेति। क्योंकि सृष्टिसे ही देश-कालका अनुमान होता है। आम होनेसे ही देश और काल होते हैं। ये तीनों एक साथ होते हैं। तो देश-काल और वस्तु इनका जो त्रैत है, इनको एक बार बोलो—'नेति'।

'हाँ महाराज! हमने आमका निषेध कर दिया' 'आम नहीं, आमकी तरह यह जो ब्रह्माण्ड है न, इस ब्रह्माण्डका देश-काल सहित निषेध कर दो।'

'कर दिया।'

'कर दिया? ब्रह्माण्डके साथ वह तुम्हारा जो शरीर है, वह ब्रह्माण्डके साथ गया कि नहीं गया?'

'वह तो बना है।'

'तो अभी ब्रह्माण्डका निषेध नहीं हुआ। नेति-नेति पक्का होना चाहिए।'

'अच्छा महाराज, इस शरीरको तो डाल दिया ब्रह्माण्डमें और ब्रह्माण्डका नेति कर दिया।'

'अभी नहीं हुआ। ऐसे-ऐसे ब्रह्माण्ड तो पंचभूतमें हजारों बनते-बिगड़ते रहते हैं। कितने बने और कितने बिगड़े। पंचभूतको नेति करो।' तन्मात्राको नेति करो, अहंकारको नेति करो, देवतासहित अध्यात्म और अधिभूतके इस त्रैतका निषेध वैसे ही करो, जैसे देश-काल-वस्तुके त्रैतका निषेध किया। सत्त्व-रज-तमका निषेध करो, वैसे स्थूल-सूक्ष्म और कारणका निषेध करो, प्रकृति—प्रकृतिविकृति और विकृतिका निषेध करो।'

'कहनेका अभिप्राय यह है कि हर ब्रह्माण्डमें रहनेवाले ब्रह्मा-विष्णु-महेशका भी नेति-नेति करो।'

'हे भगवान् ! नेति-नेति !'

जब हम देश-काल-वस्तुको भी नेति बोल देते हैं, तब तो अपना आपा ही अब रह गया ! यह प्रक्रिया है वेदान्तज्ञानकी । अपना आपा कितना बड़ा ? तुम्हारा आत्मा कितना बड़ा ? तुम्हारी उमर कितनी और तुम्हारा वजन कितना ? जब देह, ब्रह्माण्ड और अनंतकोटि ब्रह्माण्डोंकी प्रकृतिका निषेध कर दिया, तब तुम्हारा वजन कैसे बनेगा ? जब स्थानका निषेध कर दिया, तो तुम्हारा परिणाम-छोटापन-बड़ापन कैसे बनेगा ? जब कालका निषेध कर दिया, तो तुम्हारी उमर कहाँसे बनेगी कि तुम नित्य हो कि अनित्य ?

जब बड़ा और छोटा देशका चला गया, सेर, छटाँक और मन वस्तुका चला गया, क्षण-मन्वन्तर और कल्प कालका चला गया; तब तुम्हारी उमर ? उमर नहीं, तुम अविनाशी। तुम छोटे-बड़े नहीं, तुम परिपूर्ण। तब तुम क्या बचे ? तब तुम अनंतकोटि ब्रह्माण्ड नहीं, स्वयंप्रकाश !

नेति-नेतिके द्वारा अपनेसे अन्यका निषेध करने पर जो शेष बचता है, उसमें न वृत्तिव्याप्ति चाहिए, न फलव्याप्ति चाहिए। वह तो ज्यों-का-त्यों है। अरे ! वह तो किसी वस्तुकी, महावाक्यकी भी अपेक्षा नहीं रखता। महावाक्य भी कल्पित विधया ही उसमें प्रमाण होता है । वस्तुविधया, वास्तविक विधिसे महावाक्य प्रमाण नहीं होता । कल्पित विधिसे महावाक्य प्रमाण होता है । इसीसे श्रीसुरेश्वराचार्यजी बृहदारण्यक वार्तिकमें कहते हैं—

प्रमाणमप्रमाणञ्च प्रमाभासस्तथैव च ।
कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसंभावना कुतः ॥

जितने प्रमाण हैं, उनमें शब्दको भी ले लेना । केन-श्रुति बोलती है कि—'न तत्र वाक् गच्छति ।' वहाँ वाणीकी गति नहीं । 'न मनो गच्छति ।' वहाँ मनकी गति नहीं है। न विद्मो न विजानीमः । बुद्धिकी वहाँ गति नहीं है ।

जहाँ आभास होवे, स्वप्नमें, तो स्वाप्निक प्रमाण होते हैं और सुषुप्तिमें सब अप्रमाण हो जाते हैं। जब उल्टा ज्ञान होता है, तो प्रमाण चन्द्रमाको एक हाथका दिखाता है और सूर्यको एक हाथका दिखाता है। सूर्यको एक हाथका देखना, यह क्या आपका प्रमाण है ! यह प्रमाण नहीं है, प्रमाणाभास है माने झूठा प्रमाण है—क्योंकि सूर्य एक हाथका बिलकुल नहीं होता। वह धरतीसे तेरह लाखगुना बड़ा है। प्रमाणसे सूर्य एक हाथका मालूम नहीं पड़ता, प्रमाणाभाससे मालूम पड़ता है ।

इन्द्रधनुष दिखायी पड़ता है। बादलमें रंगीनी यह प्रमाणसे नहीं दिखती, प्रमाणाभाससे दिखती है। आकाशमें जो नीलिमा दिख रही है, समुद्रका पानी नीला दिखता है, यह क्या प्रमाणसे दिखता है ? प्रमाणाभाससे दिखता है।

जाग्रत्-स्वप्नमें प्रमाण और प्रमाणाभास और सुषुप्तिदशामें, मूर्च्छामें, समाधिमें अप्रमाण माने प्रमाणाभाव—ये तीनों जिसमें रहते हैं, ये तीनों जिसमें रहकर उथलपुथल मचाया करते हैं—'यह सच्चा, यह झूठा; यह सच्चा, यह झूठा—'तदसंभावना कुतः !' जिसको यह भासते हैं, उसको तुम झूठा कैसे बता सकते हो ? जिसको प्रमाण और अप्रमाण भासते हैं, उसको झूठा कैसे बता सकते हो ?

इसका मतलब यह कि 'मैं नहीं हूँ,' यह तुम्हें अनुभव नहीं हो सकता।

ऐसे प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वकी, प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्म और ब्रह्माभिन्नप्रत्यक् चैतन्य--प्रत्यक्‌चैतन्यब्रह्म—इसको भला कैसे बता सकते हो कि 'मैं नहीं हूँ ?' ऐसा बोलना कैसा है जैसे कोई आदमी बोलकर बतावे कि मेरे मुँहमें जीभ नहीं है—

मम मुखे जिह्वा नास्ति।

क्या यह बात सच्ची है ? जीभ नहीं है तो पहलेसे रिकार्ड करके रखा होगा कि 'मेरे मुँहमें जीभ नहीं है। बजा दिया और मुँह हिला दिया—'मैं नहीं हूँ।' यह कैसे मालूम पड़ेगा ? कैसे बोलेगा कोई कि मैं नहीं हूँ।

प्रमाणमप्राणञ्च प्रमाभासञ्च यद् भवेत्।
चैतन्याकारमेवैतत् प्रथते सर्वमेव तत्॥ (वार्तिक)

प्रमाण-अप्रमाण-प्रमाणाभास सबके रूपमें केवल ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज एक श्लोक बोलते थे—

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
यस्य प्रसादात् सिद्धचन्ति तद् सिद्धौ किमपेक्षते॥

'आत्मा है'—इसमें क्या प्रमाण ? प्रमाण माँगते हो ! तो यह बताओ, कि प्रमाण है, यह कैसे मालूम पड़ता है ?

जिस खण्ड सत्ताके होनेसे प्रमाणका होना सिद्ध होता है, प्रमाताका होना सिद्ध होता है वही अपना आपा है।

वह कितना बड़ा ? बड़प्पन तो देशमें नापा जाता है।

कितनी उमर ? वह तो कालमें नापी जाती है।

कितना वजन ? वह तो वस्तुमें नापा जाता है।

जबतक अपवाद पक्का नहीं हुआ, 'नेति-नेति'का सच्चा ज्ञान जबतक नहीं हुआ, तभी तक वेदान्तमें प्रमाणकी जरूरत रहती है। इसलिए शंकराचार्य भगवान् कहते हैं—

अविद्यावद् विषयाणि प्रत्यक्षानि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

यह उनका अध्यासभास्य है। ब्रह्मसूत्रकी पहली शिक्षा यह है कि जब-तक अज्ञान है, तबतक प्रमाण और शास्त्रकी आवश्यकता है। जब अज्ञान निवृत्त हो गया तो प्रमाणकी और शास्त्रकी आवश्यकता नहीं है।

किसी-न-किसी पदकी वाक्यकी पहुँच तो होनी चाहिए न ? नेति-नेतिमें सबकी पहुँच है, लेकिन नेति-नेतिके आगे जो रह जाता है, उसमें किसीकी पहुँच नहीं है।

भेदसंसर्गहीनत्वं पदवाक्यार्थतात्मनः।
दुःसम्भाव्यः स आत्मायं आत्मनैवानुभूयते॥ (वार्तिक)

सुरेश्वराचार्य भगवान्‌का कहना है—भेदका किञ्चित् भी संसर्ग नहीं है। इसलिए किसी भी पद या वाक्यका अर्थ आत्मा नहीं होता। वह तो—

स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव बुद्धम्। (अवधूत गीता)

नेति-नेति करनेके बाद जो स्वयं शेष है, यह स्वयं ही तत्त्व है स्वयं ही ज्ञान है।

वेदान्ती लोग तो अद्वैतके लिए बहुत लड़ाई करते हैं। आपको सुनाया होगा कभी। श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने कहा—'हम सब लोग संन्यासी अद्वैतवादी हैं।'

बाबा—हम अद्वैतवादी नहीं हैं। हमारा द्वैतवादीके साथ कहीं झगड़ा नहीं है। अधिष्ठानका अध्यस्तसे क्या झगड़ा ? साक्षीका साक्ष्यसे क्या झगड़ा ? द्वैतसे हमारा कोई झगड़ा नहीं है। हम अद्वैतवादी नहीं, द्वैतवादी भी नहीं।' तो क्या हैं ? अवधूतजी क्या बोलते हैं ?

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥ (अवधूत गीता)

कोई कहता है अद्वैत, कोई कहता है द्वैत। उनको मालूम नहीं है कि द्वैत-अद्वैत एक ही हैं, अद्वय है। द्वैत-अद्वैतके भेदसे विवर्जित है अद्वैत। द्वैतका विरोधी अद्वैत नहीं है और अद्वैतका विरोधी द्वैत नहीं है। आपको क्या सुनावें ? 'एक' और 'अद्वय' पदके अर्थमें भी भेद होता है। १+१=२; १/२; १ संख्या है और वह २,३ आदिमें अनुगत होती है: १+१=२, १+१+१=३। १ में वृद्धि-ह्रास होता है, परन्तु अद्वयमें यह सब नहीं होता।

अद्वैत+अद्वैत=? जोड़ो जरा ! अद्वैत+अद्वैत=दो अद्वैत होगा ? दो अद्वैत नहीं होगा। अद्वैत+अद्वैत+अद्वैत=तीन अद्वैत नहीं होगा। अद्वैत होगा ? नहीं होगा। तो 'एक' शब्दका जो अर्थ है, वह 'अद्वैत' शब्दका अर्थ नहीं है। 'अद्वैत' शब्दका जो अर्थ है, वह 'एक' शब्दका अर्थ नहीं है। इसीसे श्रुतिको 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' बोलना पड़ा। 'एकमेव' कहनेसे काम नहीं चला, इसके साथ 'अद्वितीयम्' बोलना पड़ा।

यस्मादेवमसौ द्वैतोऽविधातत्कार्यलङ्घनात्।
न ह्यविधाऽपि विरहे द्वैतधीरुपपद्यते ॥ (वार्तिक)

अविद्या और अविद्याका कार्य जहाँ कटा, वहाँ द्वैतबुद्धि नहीं होती है।

जो दो टुकड़े हो जाय उसका नाम द्वैत। द्विधा इतम् द्वीतम्। द्वीतमेव द्वैतम्। इस द्वैतका जब निषेध कर दिया, तब कौन रहा ? निषेधकी अवधि, निषेध करनेपर जो बच गया सो। निषेध करनेपर बचा कौन ? प्रत्यक् वस्तु, अपना आपा।

यह खण्ड है कि अखण्ड ? खण्ड करनेवाली कोई दूसरी चीज हो, तब न ? उपाधि हो तब खण्ड करे ?

द्विधा त्रिधा वा बहुधा कारणं तद् भवेदिह।
तस्यात्मनि निषिद्धत्वादात्माद्वैतं भवेत्ततः ॥ (वार्तिक)

एक कारण है, उसमें अविधाका बीज लगा हुआ है। वह एकधासे द्विधा हो जाय, त्रिधा हो जाय, चतुर्धा-पंचधा-बहुधा हो जाय। लेकिन आत्मामें तो अविधारूप बीज ही नहीं हैं। इसलिए न एकधा, न द्विधा, न त्रिधा, न चतुर्धा, न बहुधा। वह तो ज्यों-का-त्यों है !

भेदसंसर्गहानार्थमेवं यत्नादपि श्रुतम्।
अनावृत्त्या तथा प्राहुरहोमहीयसी ॥

माण्डूक्यश्रुतिका प्रयत्न यह है कि द्वैतका निषेध हो जाय। द्वैतका

निषेध हो जानेपर जो है सो है, जो हो सो हो ! उसमें कोई द्वैत, कोई खण्ड, कोई परिच्छेद, कोई अज्ञान बिलकुल नहीं है।

एक बात और उठायी उन्होंने। यह उठायी कि आत्माको ऐसे बताते हैं कि देखो, जाग्रत् अवस्था तो स्वप्नमें नहीं है और स्वप्न जाग्रत्में नहीं है। जाग्रत्-स्वप्नमें सुषुप्ति नहीं है, सुषुप्तिमें जाग्रत्-स्वप्न नहीं है और आत्मा ? जाग्रत्में भी है, स्वप्नमें भी है और सुषुप्तिमें भी है। अवस्थाएँ परस्पर व्यावृत्त हैं माने एक-दूसरेसे अलग हैं, लेकिन आत्माका सबमें अन्वय है।

तुरीयं त्रिषु सन्ततम्।

यह अन्वय-व्यतिरेक है अभिमानियोंको लेकर भी है : तैजसमें विश्व डूब गया, तैजस प्राज्ञमें डूब गया और प्राज्ञ तुरीयमें वाधित हो गया। प्राज्ञ तैजसमें आगया और तैजस विश्वमें आगया। विश्व दुनियाको देख रहा है। और आत्मा विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनोंमें एक ही है। मतलब यह हुआ कि आत्मा तो सबमें व्याप्त है और सृष्टि आत्मामें व्याप्त नहीं है।

बस, आत्माकी यही पहचान है न ?

नहीं यह तो शुरू-शुरूमें, देहसे अलग है आत्मा, दृश्यसे अलग है आत्मा, यह संस्कार बुद्धिमें डालनेके लिए यह शिक्षा दी जाती है।

अव्यावृत्तानुगतं निःसामान्यविशेषतः।
ब्रह्मेति मुख्यवृत्त्येह वस्तुश्रुत्याऽभिधीयते॥ (वार्तिक)

यह श्रुति ऐसे ब्रह्मका प्रतिपादन करती है। जो किसीसे जुदा नहीं है। किसीसे जुदा होवे तो पूर्ण कैसे होवे ? किसीमें व्याप्त नहीं है, व्याप्य-व्यापक भाव नहीं है।

'व्याप्य-व्यापकता मिथ्या'—न दृश्यसे द्रष्टा परे है, माने व्यावृत्त है, न तो दृश्यमें द्रष्टा अनुगत है ! ज्यों-का त्यों है यह। अखण्ड वस्तु जो होती है, अद्वय वस्तु जो होती है, वह किसीमें व्यापक नहीं होती। जैसे अग्नि व्याप्त हो गया लोहखण्डमें, जैसे आकाश व्याप्त हो गया घटावकाशमें, ऐसे नहीं होता। जहाँ घटकी उपाधि है वहाँ व्याप्य-व्यापक भाव है। उपाधि न हो तो ? सीताराम ! यहाँ तो कोई उपाधि है ही नहीं।

नेति-नेतिका मतलब है समस्त उपाधियोंका निषेध। जीवकी उपाधि है अन्तःकरण और ईश्वरकी उपाधि है माया। अन्तःकरणरूप कार्य उपाधि है जीवकी और कारणरूप जो माया है, वह उपाधि है ईश्वरकी। ईश्वर सबमें व्यापक है।

तुम माया और अविद्या जिसको बोल रहे हो, कारण और कार्य जिसको बोल रहे हो, दृश्य जिसको बोल रहे हो, भोग्य जिसको बोल रहे हो, वह तो है ही नहीं। तो कौन किसमें व्यापक और कौन किसमें व्याप्य ?

अवग्रावृत्तानुगतं—सुरेश्वराचार्यजीने अपने वार्तिकमें* यह बताया।

---

* वेदान्त कहाँतक ? तो बताया कि वेदान्तकी अवधि है वार्तिक। वार्तिकके आगे कोई वेदान्त नहीं।

संन्यासियोंके वेदान्त-सम्प्रदायमें यह लोकोक्ति है—'वेदान्ताः वार्तिकावधि।' यह सुरेश्वराचार्यजी अपने वृहदारण्यक वार्तिकमें कहते हैं। तैत्तरीय उपनिषद्पर और वृहदारण्यक उपनिषद्पर वार्तिक मिलता है। वार्तिकका सार विद्यारण्यस्वामीने 'वृहदारण्यक वार्तिकसार' नामसे एक अलग पुस्तक लिखी है। क्योंकि वृहदारण्यक वार्तिक तो बहुत बड़ा है। तो साररूपसे पंचदशीका विद्यारण्यस्वामीने उसका सार-संग्रह किया है।

उन्होंने दो काम बहुत विलक्षण किये हैं–एक तो 'विवरण-प्रमेय संग्रह'। ब्रह्मसूत्रके शांकरभाष्यपर 'पंचपादिका' है, 'पंचपादिकाका विवरण' भी बड़ा है और बड़ा गम्भीर है। उन्होंने उसका संक्षेप 'विवरण-प्रमेय-संग्रह' बना दिया।

दूसरा काम 'वार्तिक' जो बड़ा विशाल ग्रन्थ है; वह तो समुद्रका जैसे कोई मंथन करे, ऐसे 'वार्तिक-सार'—अमृत निकाल लिया।

'पंचदशी'का निर्माण तो जिज्ञासुओंके लिए बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। हम कभी 'पंचदशी'को 'आभासवादी ग्रन्थ' बताते हैं, तो वह केवल 'दृष्टिसृष्टि' और अजातवादकी दृष्टिसे बोलते हैं। जिज्ञासुओंके लिए तो यह बड़ा हितकारी ग्रन्थ है।

: १८ :

सद्वस्तुका जन्म केवल मायासे

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु वस्तुतः ।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥२७॥

अर्थ :—सद्वस्तुका जन्म केवल मायासे ही हो सकता है तत्त्वतः नहीं। जिसके मतमें तत्त्वतः जन्म होता है उसके अनुसार भी जन्मशीलका ही जन्म होता है।

वेदान्तमें केवल तीन बात कट जानेकी हैं :

(१) अनात्मामें सत्यत्वबुद्धि। अनात्मा अर्थात् जो अपने स्वरूपसे जुदा है, उसमें सत्यत्वबुद्धि न रहे।

(२) अनात्मतादात्म्य—अपनेसे जुदा जो अनात्मा है, उसको मैं समझना कट जाय।

(३) अपने स्वरूपको ब्रह्म न जाननेके कारण ही अनात्मतादात्म्य होता है और अनात्मामें सत्यत्व भ्रान्ति होती है। तो, अपने आपको ब्रह्म जानकर अज्ञान कट जाये।

कुल तीन ही बात हैं, चौथी बात नहीं है। यदि इनमें-से एक कट जाय, आत्माकी ब्रह्मताका अज्ञान कट जाय तो शेष दो भी कट जायेंगे। आत्मा स्वयं-सिद्ध ब्रह्म है, इसे ब्रह्म बनाना नहीं है, यह ध्यान-व्यानसे नहीं बनता है, उपासनासे नहीं बनता है; किसीके कृपाप्रसादसे आत्मा ब्रह्म नहीं बनता है।

वह बनावटी ब्रह्म होता है, जिसका सम्पादन होता है कि सिरपर हाथ रख दो और ब्रह्म हो गये ! नजरमें-से मारी ताकत—पिचकारी मारी और ब्रह्म हो गये ! जो शक्तिपातकी बात शास्त्रोंमें आती है यह वेदान्तशास्त्रकी बात नहीं है, तन्त्रशास्त्रकी है। उसको हम जानते हैं। ऐसा नहीं समझना कि हम नहीं जानते ! परन्तु वह तन्त्रशास्त्रकी प्रक्रिया है, वह उपासनाशास्त्रकी प्रक्रिया है। इस तरहसे जो आगन्तुक शक्ति आवेगी, वह थोड़े दिनोंके बाद क्षीण हो जायेगी, वह रहेगी नहीं, वह शाश्वत नहीं है। इसलिए आत्मा स्वतः सिद्ध (स्वयं यथार्थरूपमें) ब्रह्म है, इस बातको न जानना अज्ञान है। इस अज्ञानके कारण जो दृश्य वस्तु है, उसको हम अपना मैं मान बैठते हैं। इस तरहसे मैं मान बैठनेके कारण उसको और उसके रिश्तेदारोंको सच्चा मानने लगते हैं।

अज्ञान और उसके कार्यकी ये तीन ही चीज हैं। समझो कि यह बहुत थोड़ेमें कटनेवाली चीज है।

दूसरेको मारनेके लिए बंदूक काफी नहीं है, तलवार काफी नहीं है, क्योंकि इनके होनेपर भी निशाना न लगे यह हो सकता है। परन्तु अपनेको मारनेके लिए तो सूई काफी होती है। इसलिए यह ज्ञान कठिन भी नहीं है।

नेति-नेति—यह नहीं, यह नहीं। इस तरहसे अशेष-विशेषका निषेध करके जो शेष रह गया, सो परिच्छिन्न नहीं है, क्योंकि वह दृश्य नहीं है, दृश्यसे विलक्षण है। जो दृश्य होगा, वही परिच्छिन्न होगा। दृश्य नहीं होगा, वह परिच्छिन्न नहीं होगा। तब तो अपनी अपरिच्छिन्नताको काटनेके लिए कोई युक्ति ही नहीं है। कहो कि सृष्टि हुई तो श्रुतिके मतमें जादूगरकी सृष्टिके समान है। आत्मा केवल मायासे अनेक रूपमें प्रतीत हो रहा है।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (बृहदा० २.५.१९)

नेह नानास्ति किञ्चन। (कठ० २.१.११, बृहदा० ४.४.१९)

श्रुति नानात्वका निषेध करती हैं। नानात्वकी कल्पनाका श्रुति स्वयं बारम्बार निषेध करती है और अद्वय तत्त्वका निर्णय करती है। इस प्रकार यह निर्णय हुआ कि सद्वस्तु जो परमात्मा है, वह अद्वय सत्य है, अखण्ड सत्य है। जो जन्म दिखायी पड़ता है, वह वास्तविक नहीं है।

आप व्यवहारमें वास्तविक शब्दका जैसा प्रयोग करते हैं, वैसा वेदान्तमें नहीं है। जैसे, आपके सामने एक नकली हीरा हो और एक असली हीरा हो, तो असली हीरेको बोलते हैं वास्तविक हीरा और नकली हीरेको अवास्तविक, मिथ्या हीरा बोलते हैं।

यह कहो कि नकली हीरा मालूम ही नहीं पड़ता—ऐसा नहीं है; नकली हीरा दिखायी तो पड़ता है, परन्तु वह असली नहीं है। इसी प्रकार जन्म दिखायी तो पड़ता है, परन्तु वह असली नहीं है। मालूम पड़नेसे काई मिथ्या चीज सच्ची नहीं हो जाती—

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः।

यह प्रसंग उठाया कि सत्से सृष्टिका जन्म हुआ कि असत्से सृष्टिका जन्म हुआ ? यदि यह बात कहेंगे कि असत्से असत् सृष्टिका जन्म हुआ तो यह बिलकुल हो ही नहीं सकता। यह तो ऐसी ही बात हुई कि यह वंध्यापुत्रके पुत्र जा रहे हैं। जब वंध्यापुत्र था ही नहीं, तो उसके पुत्र कहाँसे होंगे ? बिलकुल

गलत है। 'खरगोशके सींगका धनुष बनाया है।' खरगोशके सींग होते ही नहीं, तो धनुष कहाँसे बनेगा ? 'इन्होंने आकाशकी नीलिमासे अपने कपड़े रँगे हैं। जब आकाशमें नीलिमा होती ही नहीं, तो उससे कपड़े कहाँसे रँगे जायेंगे ? 'खपुष्प-कृत शेखरः'। 'आकाश-कुसुमसे इन्होंने अपना मुकुट बनाया है।' आकाशमें फूल होते नहीं, तो उससे मुकुट कैसे बनेगा ? असत् तो कोई चीज होती ही नहीं उससे सृष्टि नहीं हो सकती।

असलमें यह सृष्टि दिखायी पड़ती है, इसमें दुःख किसको होता है ? जो इसको बनाये रखना चाहता है या इसमें-से किसी हिस्सेको अपने सामने आनेसे रोकना चाहता है उसको ही दुःख होता है। आप इस बातको बिलकुल ठीक-ठीक समझ लो। इस दुनियामें जो यह कोशिश करता है कि जो सुख आया—नोटके बंडल आये—तो वह बने रहें, जाय नहीं, तो समझो कि नोटका बंडल उसने अपने घरमें नहीं रोका है, उसने दुःखको रोका है। उसके फूट निकलनेमें थोड़ी देर लग सकती है, लेकिन यह बात बिलकुल पक्की है कि वह जायेगा।

एक हमारे मित्र हैं जबलपुरमें। बड़ी मुश्किलसे जिन्दगीमें बिचारेको एक बार छः सौ रुपयेके नोट मिले। उन्होंने कहा कि—'अच्छा, छः सौ इकट्ठे आ गये, तो इनको आगेके लिए रख लें!' एक टीनके डिब्बेमें उस नोटको रखा और डिब्बेको माटोमें गाड़ दिया। माटीकी सील आयी और डिब्बा सील गया। चार महीनेके बाद निकाला तो वहाँ नोट नहीं, पानी था। वह छः सौ भी बिचारेके चले गये।

इस दुनियामें जब हम सुखकी धाराको रोक रखना चाहते हैं, तब वह तकलीफ देती है और जब हम चाहते हैं कि दुःखकी धारा हमारे जीवनमें आवे नहीं, तब तकलीफ होती है। गंगाजी बह रही हैं। कभी फूल बहता हुआ आया, कभी मुर्दा बहता हुआ आया।

यह जीवनकी गंगा बह रही है। उसमें कभी अपने अनुकूल आता है, कभी प्रतिकूल आता है। इसको हमेशासे सहते आये हो और हमेशा सहना पड़ेगा। कालिदासका बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है—

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण
कस्यैकान्तम् सुखमुपनताम् दुःखमेकान्तन्तो वा।

दुनियामें कौन ऐसा है, बताओ न, किसी एकका नाम लेकर बताओ, जिसको जीवनमें सुख-ही-सुख मिला हो ? क्या रामके बाप नहीं मरे ? क्या

रामका भाइयोंसे वियोग नहीं हुआ ? क्या रामकी पत्नीका हरण नहीं हुआ ? क्या रामकी आँखोंके सामने उनकी पत्नी धरतीमें नहीं समा गयी ?

भागवतमें यह बात लिखी है कि खुद श्रीकृष्णको अपने बेटोंको मारना पड़ा, उनकी पत्नियोंको डाकू लूट ले गये जिनको पढ़ना हो वह, भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें पढ़ लें। कथासप्ताह करनेवाले यह नहीं सुनाते हैं। सुनकर भक्तोंको तकलीफ होगी। महाभारतमें लिखा है—श्रीकृष्ण और बलरामके शरीरका दाह किया गया। भागवतमें उसका अर्थ थोड़ा बदलके कह दिया जाता है। हमको श्लोक याद है, जहाँ 'स्वर्गारोहणपर्व'में वर्णन है—

ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः॥

वासुदेव और राम दोनोंके शरीरोंका साथ-ही-साथ दाह कर दिया गया। श्लोकमें उभयोः पद भी पड़ा है। नहीं तो कोई ऐसा अर्थ भी कर दे कि 'वासुदेवस्य रामस्य' वसुदेवके पुत्र बलरामजीका दाह किया गया।

हम आपको वह बात सुना रहे हैं कि संसारमें दुःखी कौन हो रहा है ? वही जो चाहता है कि दुःखकी धारा हमारी ओर न आवे। वही जो चाहता है कि सुखकी धारा हमारे घरमें आकर टिक जाय। यह तो बहता पानी है भाई! दुःखकी धारा भी बह जाने दो और सुखकी धारा भी बह जाने दो। आत्मदेव तो अचल चट्टानकी तरह बैठे हुए हैं। ये तो कूटस्थ हैं, तटस्थ हैं; आत्मदेव सद्वस्तु हैं। यही जगत्‌में रहनेकी प्रक्रिया है।

दुनिया नाशवान् है, यह बात कैसे समझें ? श्रीमद्भागवतमें युक्ति बतायी है, कैसे समझना संसार को—

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसङ्गो विचरेदिह॥

(भाग० ११.२८.९)

'विचरेत् = व्यवहरेत्! इह = संसारे, जगति।' इस संसारमें कैसे व्यवहार करें ? निःसंग होकर व्यवहार करें। असंग होकर व्यवहार करें। असंग किस युक्तिसे होवें ? आद्यन्तवत् असज्ज्ञात्वा = दृश्यं जगत् असत् आद्यन्तवत्। आदि स्वप्नदृश्यवत्। यह जो दुनिया दीख रही है, यह असत् है। क्यों ?

आद्यन्तवत् माने इसकी आदि भी है और अन्त भी है। जिस-जिस चीजकी आदि होती है और जिस-जिस चीजका अन्त होता है वह चीज असत् होती है। जैसे, स्वप्नमें जो आदमी आकर मिलते हैं, उनकी आदि भी होती है

और वे बिछुड़ भी जाते हैं, दुःख भी होता है। जैसे स्वप्नमें मिलनेवाले लोगोंसे मिलना-बिछुड़ना दोनों होता है। समुद्रका आदि और अन्त दोनों है। आकाश-का आदि और अन्त दोनों हैं। वैसे, इस संसारमें 'जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना'। जो आया, वह जायगा, जो प्रज्वलित हुआ, सो बुझ जायगा।

जो एक बार राष्ट्रके अध्यक्ष हैं, दूसरी बार सेना पकड़कर उसे जेलमें डालती है। जो एक बार जेलमें होते हैं, वे फिर राष्ट्रपति हो जाते हैं। यही संसारका नियम है। तो किस युक्तिसे संसारको समझना चाहिए?

प्रत्यक्षेण—पहले तो प्रत्यक्ष देख लो, घड़ा फूटता है, मनुष्य मरता है। यह है प्रत्यक्ष-प्रत्यक्षेण घटादि असत् आद्यन्तवत्त्वात्।

अनुमानेन—पृथिवी भी असत् है। क्यों? सावयव होनेके कारण। जैसे घड़ेके टुकड़े होते हैं, घड़ेमें हिस्से होते हैं, वैसे धरतीके भी टुकड़े होते हैं, मिट्टीके डले होते हैं, चप्पा-चप्पा धरती होती है, जैसे घड़ा फूट जाता है, वैसे एक दिन धरती भी फूट जाती है। पृथिवी 'असत् सावयवत्वात् घटादिवत्।' पृथिवी भी असत् है, सावयव होनेके कारण, घटादिके समान। यह अनुमान हुआ।

निगमेन—श्रुति प्रमाणसे आकाशादि असत् हैं। श्रुतिमें आकाशकी उत्पत्ति और आकाशका नाश लिखा है—

तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः।
आकाशाद्वायुः। (तैत्तिरीय० २.१)

जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश होता है। हम भी मरेंगे, तुम भी मरोगे, सारी दुनिया मरेगी। आकाश भी मरेगा, पाताल भी मरेगा। स्वर्ग भी मरेगा, नरक भी मरेगा। ब्रह्माणी सहित ब्रह्माका भी पता नहीं चलेगा, जिन्होंने सारी सृष्टि बनायी।

आत्मसंविदा—प्रकृत्यादि भी असत् हैं। आत्मानुभूतिसे देखो, तो प्रकृतिका बाध हो जायगा। अपने आपको ब्रह्मके रूपमें अनुभव करो। सब सफाचट्! कुछ नहीं बचेगा। 'अहमेवेदं सर्वम्'। प्रकृति नामकी कोई वस्तु ही नहीं!

अब अपना आपा? इसी अपना आपासे, इसी सदात्मासे यह सृष्टि पैदा हुई है। पैदा कैसे हुई है? उसने पैदा किया है या वह सृष्टिके रूपमें पैदा हुआ है? यदि उसने सृष्टि पैदा किया है, तो एक सृष्टि और एक वह! और यदि वह सृष्टि हो गया है, तो वह खुद क्या हुआ? वह बदल गया? वह बदला तो है नहीं। तब यही कहना पड़ेगा—

सतो हि मायया जन्म युज्यते।

जैसे, एक नट है, एक जादूगर है! आजकल तो चमत्कारको लोग बड़ी भारी चीज मानते हैं। एक 'पॉल ब्रण्टन' नामका पत्रकार यहाँ आया था साधुओंकी खोज करने। उसको दो ही साधु ज्यादा जँचे। उनमें एक बनारसका जादूगर—यही नाम उसने अपनी पुस्तकमें लिखा है। पुस्तकका नाम है—'गुप्त भारतकी खोज'; उसमें 'बनारसका जादूगर' शीर्षकसे दो परिच्छेद लिखे हैं। 'बनारसका जादूगर'—उनका नाम था 'गन्धीबाबा'—पण्डित गोपीनाथ कविराजके गुरु 'विशुद्धानन्दजी महाराज।' वह तो महाराज, चिड़िया मर जाय, तो उसे उड़ा दें, जिन्दा कर दें! आप जो गन्ध चाहो, सो गन्ध फैला दें! अपनी आँखमें जो चाहो सो दिखा दे!

मैं छः-आठ वर्ष रहा बनारसमें और वे जिन्दा थे। उस समय उनके दरवाजेपरसे बनारस-छावनी आते-जाते थे। कभी उनकी चौखटके भीतर पाँव नहीं रखा, क्योंकि हम चमत्कारको जादूका खेल समझते हैं। जो उसकी युक्ति नहीं जानते, उनके लिए वह चमत्कार है। जो उसकी युक्तिको जानता है, उसके लिए वह बच्चोंका खेल है। मन्त्रसे, औषधिसे, जन्मसे, समाधिसे, तपस्यासे, तरह-तरहसे सिद्धियाँ होती हैं। वह तो जादूका खेल है।

वह पॉल ब्रण्टन उड़ियाबाबाजी महाराजके पास भी आया था। हम लोग थे उनके पास। बोला—'बाबा, चमत्कार दिखाइये।'

बाबा बोले—'हड्डी-मास-चामका यह साढ़े तीन हाथका शरीर। एक बूँद पानीमें-से निकला और देखो, यह हँस रहा है, खेल रहा है, सोच रहा है! यह अगर तुमको चमत्कार मालूम नहीं पड़ता, तो दुनियामें इससे बड़ा और कोई चमत्कार तुम्हें देखनेको नहीं मिलेगा।

नासमझ हो तुम! यह चमत्कार देखो—एक बूँद पानीमें-से निकला मनुष्य! जेरसे ढँक दिया, जरायुसे ढँक दिया!! जैसे जादूगर लोग एक चीज लेकर उसे कपड़ेसे ढँक देते हैं। देखो तमाशा! देखो यह जादूका खेल! वैसे जेरसे एक बूँद पानीको ढँक दिया और उसमें-से ये हाथ, ये पाँव, यह सिर, यह दिल, यह दिमाग निकल आया। यह जादूका खेल! यह तुमको चमत्कार नहीं मालूम पड़ता? सोचता है लोक-परलोक! वेदान्तका विचार करता है—'अहं ब्रह्मास्मि' अनुभव करता है और तुम्हें यह चमत्कार नहीं मालूम पड़ता? तुम क्या चमत्कार देखना चाहते हो?

जो सद्वस्तु है, वह कभी पैदा नहीं हुई और कभी मरेगी नहीं। वह इस

समय है कि नहीं ? यदि कहो कि इस समय नहीं है तो वह असत् हो गयी। यदि है, तो सत् है जो कभी पैदा नहीं हुई और कभी मरेगी नहीं। हमारे तो दाहिने-बाँये कुछ होता है परन्तु जिसके दाहिने-बांये, ऊपर-नीचे नहीं, ओर-छोर नहीं, ठोस-ठसाठस, जिसमें अवकाश नहीं, वह चीज जगत् कैसे बनी ? 'मायया' मायासे बनी।

मायया युज्यते न तु तत्त्वतः।

यह माया बडी विलक्षण होती है। हमारे एक मित्र हैं। उनके पास एक प्रेतविद्यावाले आये। उन्होंने कहा—'हम यहीं प्रेत बुलाकर तुम्हें दिखाते हैं।' बाबा, कोई प्रेतविद्याके आचार्य यहाँ हों, प्रेत बुलाते हों, तो बुरा न मानें। उनका ठीक है, उनकी विद्या दूसरी है। अभी हमारे वह मित्र हमारे पास हैं, वह जिन्दा हैं।

उन्होंने कहा—'हम मरे हुए प्रेतको बुलाते हैं।' हमारे मित्रने कहा—'अच्छा, तुम तो मरे हुए प्रेतको बुला सकते हो, हम जिन्दा आदमीके प्रेतको बुला सकते हैं। तुम्हारे बाप जिन्दा हैं कि मर गये ?

उसने कहा—'जिन्दा हैं, हमारे बाप !'

मित्र—'जिन्दा हैं ? तो आओ, हम बुलाते हैं तुम्हारे बापको।'

उन्होंने जिन्दा बापकी आत्माको ही बुला लिया। हमने पूछा—'भले-मानुस ! तुमने किया क्या ? अभी वह एक जगह बैठा है और उसकी आत्मा बुला ली ? यह क्या किया ?

मित्र बोले—'आत्मा थोड़े ही आती है ? यह तो हमने अपनी मानसिक शक्तिसे उसके दिलमें ऐसी कल्पना करा ली कि बाप आ गये। और फिर यह बापकी तरफसे बोलने लगा—'क्या प्रश्न है ?'

बाप—'हमारा क्या नाम है ?

तो वही लिख दिया उसने—'हमारे बापका नाम यह। यह आत्मा मैं।

'आप कहाँ हो ?'

'अमुक जगह हूँ !' तो उस लड़केके मनमें जो-जो कल्पना थी, सब लिखी गयो। बापके बारेमें जितनी जानकारी थी, सब लिख दी उसने।

हमने पूछा—'यह क्या किया तुमने ?'

मित्रने कहा—'हमने अपने मनसे उसके मनको दबोचा और दबोचकर कहा कि जो-जो मैं कहूँ, सो बताओ।'

ये सब बात—दुनियादार लोगोंको जो खाली नून-तेल-लकड़ीमें लगे हुए हैं, जो अध्यात्मविद्याको नहीं जानते, यह सब बात मालूम नहीं पड़ती।

मायया—सद्वस्तु अगर फूटकर संसार बने, जैसे मुर्गी अण्डा देती है वैसे; यदि वह संसारको पैदा कर दे, जैसे बच्चा पैदा होता है वैसे; यदि यह संसारको गढ़ दे जैसे कुम्हार घड़ेको गढ़ता है वैसे! जैसे दूध दही बन जाता है, वैसे यदि सद्वस्तु संसार बन जाय। सद्वस्तुसे संसार बना तो आखिर कैसे? सत् न विकारी हो सकता है न नष्ट हो सकता है और अद्वितीय वस्तुमें न माता-पिताकी तरह सृष्टि हो सकती है और न कुम्हारकी तरह घट बन सकता है। अतः केवल मायासे ही सद्वस्तु संसारके रूपमें भास रही है वस्तुतः संसारकी उत्पत्ति नहीं होती।

हम जब डायबिटीजकी चिकित्साके लिए डॉक्टरोंसे मिले तो एकने बताया—'दूध मत पीना।' मैंने पूछा—'दही?' तो बोला—'खूब खाना, मट्ठा पीना।' मैंने कहा—'वह तो एक ही चीज है!' तो बोला—'एक कहाँ है? दूधमें जो शक्कर थी, वह दहीमें खटास बन गयी।' वैसे ही परमात्मा जो सत्य था, वह जब संसार बना, तो मानो मिठाईसे खटाई बन गया! तो मिठाईका नाश हो गया न! इसीको परिणाम बोलते हैं, विकार बोलते हैं। ऐसे परमात्मा संसार नहीं बनता।

कैसे बनता है? जैसे कोई नट हो, उसे ऐसा जादू मालूम हो कि वह हाथी दिखने लग जाय! है तो नट, लेकिन हाथीके रूपमें दीख रहा है। सचमुच जैसे मिठाई मिटकर खटाई बन गयी, वैसे क्या नट मिट गया और हाथी हो गया? नहीं, यह जादूका खेल है बाबा! इसमें मिटा नहीं परमात्मा; इसीको माया बोलते हैं। शास्त्रीय भाषामें इसीका नाम है माया। माया उसको बोलते हैं, जिसमें दुनिया दीखे तो सही, पर बने नहीं। नटमें कोई परिवर्तन आयेगा नहीं। इसमें भी कई प्रकार होते हैं। इसमें द्रष्टाकी आँखको बाँध देना, एक प्रकार होता है। अपने रूपको योगशक्तिसे बदलकर दूसरा दिखा देना, यह दूसरा प्रकार है। न तो आँख बांधे, न तो योगशक्तिसे अपनेको बदले; कुछ मानसिक वातावरण ही उत्पन्न हो जाय कि कुछ-का-कुछ दीखने लग जाय। इसको माया बोलते हैं।

ऐसा मत समझना कि मायामें पेट नहीं भरता। मायामें पेट भी भर जाता है। एक बारकी बात है। जबलपुरमें बालदेवबागमें हम बैठे हुए थे। एक सज्जन आये। कभीकी पहचान नहीं थी। वे बोले कि—"स्वामीजी!

आप व्याख्यानमें कहते हैं कि 'सृष्टि कल्पित है, सृष्टि कल्पित है!' भला, कल्पनामें इतनी सच्ची सृष्टि बन सकती है जिसमें बच्चे हों, व्याह हों, जिसमें धन हो, दौलत हो, कलक्टर हो, मास्टर हो, मिनिस्टर हो; डॉक्टर भी हो! जिसमें सब टर्-टर् पैदा हो जाय। भला, यह सृष्टि कभी मिथ्या भी हो सकती है? कल्पित हो सकती है?''

मैंने उसको यह दृष्टान्त दिया—'जादूगर लोग जब अपने माध्यमको वशमें कर लेते हैं, वेहोश कर लेते हैं, तब सडाँसीसे पकड़ते हैं वर्फका गोला और कहते हैं—'देखो, यह आग है।' है बरफ! सबको दिखा देते हैं कि बरफ है। माध्यमको ऐसा लगने लगता है कि आगका गोला है। माध्यम कहता है—'हाँ, आगका गोला है।'

जादूगर कहता है—'हाथ फैलाओ! हम हाथपर रखेंगे।' माध्यम कहता है—'नहीं-नहीं, बाबा! जल जायेंगे, जादूगर कहता है—'नहीं, हम रखेंगे।' जबरदस्ती उसके हाथपर वह बरफका गोला रख देते हैं तो उसके हाथमें फफोले पड़ जाते हैं।'

मैंने यह बात कही। हम पहचानते नहीं थे। कोई जैन सज्जन थे। वे बोले—'स्वामीजी! आप कैसे हमको पहचान गये?'

मैंने कहा—'मैंने तो नहीं पहचाना!'

वे बोले—'हम तो काम ही यह करते हैं! माध्यमको वशमें करके उससे जो चाहे सो करवा लेते हैं। हम ज़ादूगर हैं और यह काम हम बार-बार करते हैं।' तो, मायासे सृष्टि होती है।

इसका अभिप्राय क्या है? इसमें खाना सही, पीना सही, जीना सही, मरना सही, धनी सही, विद्वान् सही! पर है कुछ नहीं। विलायतमें एक बहुत बड़ा विद्वान् था। वह समझता था कि हमारे सरीखा विद्वान् और कोई नहीं है। एक दिन सो गया। सपनेमें उसने देखा, हमारे शहरमें एक और कोई विद्वान् आया हुआ है। उसने ललकार दिया कि—'आओ, हमारी-तुम्हारी बहस हो जाय! शास्त्रार्थ हो जाय!'

हुआ क्या? वे सज्जन हार गये। हार गये तो जब उठे तब रोने लगे कि—'हाय, मैं तो हार गया।' फिर जब स्वस्थ हुए, खाया-पिया, स्नान किया। थोड़ी देरके बाद उन्हें खयाल आया कि वह विद्वान् कहाँसे आया? 'अरे! वह तो हमारा मन ही विद्वान् बना था। तब तो मैं दूसरेसे नहीं हारा हूँ! अपने मनसे ही हारा हूँ।'

इस दुनियामें जैसे कोई हमें दुःख दे जाता है, तो कैसा दुःख है? जैसे अपने दाँतसे कभी जीभ कट जाती है! ऐसा ही दुःख है। वह अपना ही दाँत है। जैसे अपने ही हाथसे अपना माथा पीट लें! गुस्सा आता है तो कोई-कोई अपने ही सिरको पीट लेता है तड़ातड़! तो यह जो संसारका प्रातीतिक द्वैत है वह स्वप्नवत् ही है।

सब अपना आपा ही है। एक अखण्ड आत्मतत्त्वमें दूसरा कोई हुआ नहीं। मायासे जन्म हुआ। मोयते जगत् अनया = माया। जिसके कारण सत्यमें, परमात्मामें बिना हुए यह जगत् मालूम पड़ता है इसका नाम माया है। माया = मा + या = या + मा; या = जो, और मा = नहीं। जो कुछ है नहीं सो माया। संस्कृत व्याकरणके अनुसार यह व्युत्पत्ति नहीं है। यह 'संतऊ व्युत्पत्ति' है + 'फकीरी व्युत्पत्ति है।' एक और संतऊ व्युत्पत्ति सुनाते हैं—

एक संतके पास हम गये तो बोले—'पंडितजी! तुम 'मंत्र' शब्दका अर्थ जानते हो?'

हमको यह तो मालूम था कि मंतृ गुप्त परिभाषा—यह धातु है, उससे मंत्र शब्द बनता है। मैंने कहा—'न महाराज!' 'मननात् त्रायते इति मंत्रः'—यह भी हमें मालूम था। क्योंकि साधन-भजन करते ही थे। मुझे मंत्र-तंत्र-यंत्र बहुत सारे मालूम थे। तो उस संत-फकीरने कहा—'मन + अंतर = मन्तर। जिससे मन भीतर हो जाय उसका नाम 'मंतर'; जिससे मन बाहर जाने लगे कि 'हमें यह चाहिए, हमें यह चाहिए', तो बस अब तुम्हारा मंतर फेल हो रहा है।

यदि परमात्मा स्वयं जगत्के रूपमें उत्पन्न हो और जगत् बने, तब तो वह फट जायेगा, फूट जायेगा, डर जायेगा! वह तो जैसे साँपिन बच्चा देकर मर जाती है, ऐसा हो जायगा। जैसे जवान गाय बच्चे पैदा करके बुढ़िया हो जाती है, जैसे कुमारीके बच्चा हो जानेपर उसके कौमार्यका भंग हो जाता है, इसी प्रकार समझो कि यदि परमात्मामें यह सृष्टि सच्ची होवे तो परमात्माका जो सच्चापन है, एकरसता, अबाधितपना, ठोसपना, अविनाशीपना, परिपूर्णता, सत्यता, चैतन्यता, प्रत्यक् चैतन्यता सबकी-सब बाधित हो जायगी। इसलिए उसमें यह सृष्टि कैसे मालूम पड़ती है? मायया तस्य जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः। केवल मायासे ही उसमें यह सृष्टि-जगत्-जन्मादि—व्यवस्था मालूम पड़ती है।

जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र २.१.२)

इस सूत्रकी व्याख्या करनी हो तो सूत्रके साथ 'मायया' जोड़ो—'**मायया जन्माद्यस्य यतः**'। 'यतः ब्रह्मणः अस्य दृश्यमानस्य जगतः मायया जन्मादि।'

इसी प्रकार—**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति** (तैत्ति० ३ २)

परमात्मासे जगत् उत्पन्न हुआ तो इसमें भी 'मायाया' जोड़ो।

मायया यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

ऐसा कैसे जोड़ें? तो श्रुति ही कहती है—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (बृहदा० २.५.१९)

मायासे ही परमात्मा अनेक रूप होता है। अतः सद्वस्तुसे जगत्‌की उत्पत्ति केवल मायासे ही होती है, 'तत्त्वतः उत्पत्ति नहीं होती।' तत्त्वतः उत्पत्ति हो तो क्या होगा?

तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते।

तत्त्व तो आप जानते हैं? ऐसे समझो कि घड़े जिसमें बनते हैं उस माटीको कहेंगे तत्त्व और घड़ेको कहेंगे विकार्य, कार्य।' छांदोग्य—श्रुतिका कहना है कि माटी तत्त्व ही एकमात्र सत्य है, उसके विकार घट आदि तो मात्र नाम हैं—

'वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'—इसी प्रकार लहर, तरंग, बुद्‌बुदादि विकार्य हैं, जल सत्य है। चिंगारी, लपट, ज्वाला आदि विकार हैं और अग्नि सत्य है। यह सबके लिए ऐसी श्रुति है। एक ही श्रुति प्रसिद्ध है न लोकमें? श्रुति सबके बारेमें ऐसी है—

'आपः इत्येव सत्यम्। जलरित्येव सत्यम्। अग्निरित्येव सत्यम्। वायुरित्येव सत्यम्। आकाश इत्येव सत्यम्। वाचारंभणं विकारो नामधेयम्।

सत्य तो एक परमात्मा है। उसको बोलते हैं 'तत्त्व'। आकाशका आरोप होनेसे पहले और आकाशका आरोप होनेके पश्चात् और आकाशकी विद्यमानतामें जो वस्तु है, उसका नाम है तत्त्व।

मिट्टीमें घड़ा गढ़नेके पूर्व जैसे मिट्टी, घड़ा फूटनेके बाद जैसे मिट्टी, ऐसे जगत् बननेके पहले जो सत्य, जगत् मिटनेके बाद जो सत्य, वह जगत् अवस्थामें विद्यमान भी सत्य। उसको बोलते हैं तत्त्व।

'अनारोपिताकारं तत्त्वम्'—जिसमें अभी नामरूपका अध्यारोप नहीं किया गया है, उसका नाम है तत्त्व—परमात्मा। उस स्वरूपको बोलते हैं तत्त्व।

यदि कहो कि उसकी (सत्‌की जगत्‌रूपमें) उत्पत्ति होती है, तो फिर वह सत् स्वयं भी उत्पन्न होगा। 'अज' शब्दका अर्थ हम साधारण रूपसे यों समझते हैं कि जिसका जन्म नहीं हुआ, जिसका बाप नहीं, सो अज। परन्तु कारिकाकार कहते हैं कि जिसका बाप नहीं और जिसजा बेटा नहीं सो अज। जिसकी पूर्वावस्था नहीं, सो अज और जिसकी उत्तरावस्था नहीं, सो अज। पूर्वावस्था और उत्तरावस्थासे रहित जो वस्तु है माने जिसमें अवस्था-भेद बिलकुल नहीं है, उसका नाम अज तत्त्व है। यदि पूर्वावस्था तो न हो और उत्तरावस्था हो, तो ? जरूर उसकी पूर्वावस्था भी रही होगी। और वह टूट-फूटकर बना होगा। जिनके मतमें वस्तुकी उत्पत्ति होती है, उनके मतमें तो कोई वस्तु सच्ची होती ही नहीं है।

अच्छाजी, ठीक है, सत् उत्पन्न हो तो खुद सत् ही असत् हो जायेगा, तो यही क्यों नहीं मान लेते कि असत्‌से सृष्टिकी उत्पत्ति होती है ?

बाबा ! असत्‌से तो सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं होती। इसमें कल आपको सुनावेंगे कि हमारे नैयायिक लोग भी अभावसे सृष्टि मानते हैं और बौद्ध भी शून्यसे सृष्टि मानते हैं। नैयायिकोंके अभावमें और बौद्धोंके असत्‌में क्या फरक है ? वेदान्ती लोग सृष्टिको असत् कहते हैं, वह क्या चीज है ?

तीनोंमें 'असत्' शब्दका प्रयोग होता है। नैयायिकोंका जो अभाव है, वह भाव प्रतिद्वन्द्वी है। घटाभाव वस्तु है। बौद्धोंका जो सृष्टिका अभाव है वह वस्तु नहीं है। वह नितान्त शून्य है, तथा निरधिष्ठान है।

वेदान्तियोंका जो असत् जगत्‌का अभाव है, वह भाव-प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। और शून्य होनेपर भी निरधिष्ठान नहीं है।

× × ×

महात्मा गौडपादाचार्य माण्डूक्यउपनिषद्‌पर कारिका करते हुए यह बात बता रहे हैं कि सत्य अपने स्वरूपको छोड़कर संसार नहीं बनता। यदि सत्यका स्वरूप छूट जाय, तो सत्य झूठ हो जायगा। चैतन्य अपने स्वरूपको छोड़कर सृष्टि नहीं बनता। यदि चैतन्य अपना स्वरूप छोड़ दे और सृष्टि बने, तो वह चैतन्य नहीं रहेगा, जड़ हो जायगा। साक्षीका नाम चैतन्य है, प्रकाशकका नाम चैतन्य है। वह यदि दृश्य हो जाय, प्रकाश्य हो जाय, तो चेतनता गयी।

आनन्द अपने स्वरूपको छोड़कर भोग्य और भोक्ता नहीं बनता। भोक्ता और भोग्य आनंदके विवर्त हैं। ज्ञाता और ज्ञेय चेतनके विवर्त हैं। कर्ता और कर्म सत्ताके विवर्त हैं। ये परिच्छिन्नताएँ अपरिच्छिन्नके विवर्त हैं। माने यह

अपरिच्छिन्न अपने स्वरूपमें रहता हुआ ही परिच्छिन्न भासता है। सत् अपने स्वरूपमें रहता हुआ ही असत् भासता है। चैतन्य अपने स्वरूपमें रहता हुआ ही जड़ भासता है। आनन्द अपने स्वरूपमें रहता हुआ ही दुःख भासता है।

आनन्द भीतर ज्यों-का-त्यों है। थोड़ी देरके लिए दुःखकी तो परछाइं आती है। नहीं तो हम अपनेसे इतना प्यार कैसे करते कि चाहे कोई दुःख आवे, हम जिंदा रहें ? यह तो बात बिलकुल साफ-ही-साफ है, इसमें कुछ लष्टं-पष्टं नहीं है। एकदम स्पष्टं-स्पष्टं है। अपरिच्छिन्न रहता हुआ ही परिच्छिन्नताका अधिष्ठान बनता है।

परिच्छिन्न और परिच्छिन्नके अभावका अधिष्ठान अपरिच्छिन्न है। 'मैं भोक्ता और यह भोग्य—यह जो भेद मालूम पड़ता है, वह आनन्द ज्यों-का-त्यों रहता हुआ ही मालूम पड़ता है। अपना आनन्द ही भोक्ता और भोग्यके रूपमें मालूम पड़ता है।

भोग्यमें सुख-दुःखका जो भेद है वह तो ऐसा ही है, जैसा एक बार खीर खा लो और एक बार नमक और मीर्च खालो—स्वाद बदलना। सुखका स्वाद बदलनेके लिए, स्वाद बढ़ानेके लिए दुःख आता है। दुःख न आवे तो सुखका पता चले नहीं'। अंधेरा न आवे तो रोशनीका पता कैसे चले ? आनन्द है ज्यों-का-त्यों। जैसे शीशेमें आदमी अपनेको देखता है तो होवे पूरब मुँह और शीशेमें मालूम पड़े पश्चिम-मुँह। ये जो अक्षर लिखे होते हैं न, इनको शीशेके सामने करो तो ये बिलकुल उलटे दीखते हैं।

इस अंतःकरणरूपी शीशेमें आनन्द दीखता तो उलटा है, पर है वह ज्यों-का-त्यों। इसीको बोलते हैं विवर्त। वि = विपरीत। वर्त-वर्तन = बरताव विपरीत बर्तावका नाम विवर्त है। यह सुखके रूपमें भी भासता है और दुःखके रूपमें भी भासता है। यह भोक्ताके रूपमें भी भासता है और भोग्यके रूपमें भी भासता है। परंतु है आनन्द।

चैतन्य ? है चैतन्य पर जड़के रूपमें भासता है। उसमें यह मेरा शरीर है, यह तेरा शरीर है—परन्तु है बिलकुल चैतन्य। केवल प्रान्तमें ही 'मैं' नहीं समझना ! राष्ट्रमें, द्वीपमें, महाद्वीपमें, ब्रह्माण्डमें, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डमें, जब तक परमात्मा-परमार्थ-सत्य-अविकारी सत्य तक न पहुँच जाओ, तबतक सीमा नहीं बनाना।

जो सत्ता है, ज्यों-का-त्यों सत्य है। यह कर्ता, कर्मके रूपमें भास रही है। तो सत्य फूटता नहीं, टूटता नहीं, बिगड़ता नहीं, बदलता नहीं। सत्य ज्यों-का-त्यों रहता है और उसमें रूप दीखते हैं इतने ! अपरिच्छिन्न ज्यों-का-त्यों दीखता

है और उसमें ही परिच्छिन्न और परिच्छिन्नका अभाव दीखता है। परिच्छेदा-भाव सबके सब अपरिच्छिन्न चैतन्यमें दीखते हैं।

चैतन्यमें जड़के सारे भेद दीखते हैं और आनन्दमें सारे सुख-दुःख, भोक्ता और भोग्य सब दीखते हैं। अपना आत्मा ही अनात्माके रूपमें दीखता है। विलकुल सच्ची स्थिति यही है।

जैसे रात और दिनका भेद परमप्रकाश सूर्यकी ही माया है, जैसे पृथ्वीकी उपाधिसे अंधकार और प्रकाश सूर्यकी माया है। ऐसे अंतःकरणकी उपाधिसे संसारके भेद-विभेद सब स्वयंप्रकाश आत्मदेवकी माया है। माया = जादूका खेल। चीज ज्यों-की-त्यों है और आदमी दिखता है हाथी। नजर बाँधके नहीं दिखता है, संकल्पसे किसीको हिप्नोटाइज (सम्मोहित) नहीं करता है, बदलता नहीं है। यह कहो कि 'तत्त्वतो जायते यस्य'—यह बात मान लें कि सचमुच ही सत्य विनाशी होगया है, तो सत्य कहाँ रहा ! सत्यकी परिभाषा तो है, अबाधित होना।

यह कहो कि सचमुच चेतन जड़ हो गया है, तो चेतन कहाँ रहा ? सचमुच आनन्द भोग्य बन गया है, तो आनन्द कहाँ रहा ? सचमुच अपरिच्छिन्न परिच्छिन्न हो गया तो अपरिच्छिन्न कहाँ रहा ?

जिसके मतमें तत्त्व रूपान्तरको प्राप्त होता है, 'जातं तस्य हि जायते'—उनके मतमें असलमें कोई तत्त्व है ही नहीं। वे तत्त्वको मानते ही नहीं।

तत्त्व किसे कहते हैं ? तच्च, तच्च, तच्च तानि तेषां भावस्तत्त्वम्। वह-वह-वह ! स्त्री-पुरुष, मैं-तू, बाप-बेटा, जौ-गेहूँ—तत्-तत्-तत्। पूरब-पश्चिम, घण्टा-मिनट सब तत्-तत्-तत्। तेषाम् भावः। घण्टा और मिनटके अलग-अलग होनेपर भी जो सबमें एक है; पूरब और पश्चिम अलग-अलग होनेपर भी जो सबमें एक है; घड़ा-कपड़ा अलग-अलग मालूम पड़नेपर भी जो सबमें एक है। देश-काल-वस्तुकी समस्त विविधताओंमें जो एक है वह है तत्त्व।

पूरब-पश्चिममें तो देश है। घण्टा-मिनटमें तो काल है, घड़ा-कपड़ामें तो माटी है ! नहीं, जो माटीमें, जो देशमें, जो कालमें वह तत्त्व है।

ऐसे बोलो—तच्च-तच्च-तच्च। नामरूपकी उत्पत्तिके पूर्व जो तत्त्व है, नाम-रूपके नाशके अनन्तर जो तत्त्व है ! ना-ना, जो यह नाम-रूपवाली सृष्टि ज्यों-की-त्यों दिखायी पड़ रही है, इसके व्यवहारमें जिसका लोप नहीं हुआ है, अनदीखा तो है, पर दीख रहा है, वह तत्त्व है। जैसे घड़ेको देखते हैं, तो माटी दीखती है कि नहीं ? दीखती है। तो जिसको घड़ा दिखे और माटी न दिखे, वह बच्चा ! जिसको जेवर दिखे और सोना न दिखे, वह बच्चा। जिसको

लोहेके औजार दिखे और लोहा न दिखे, वह बच्चा। जिसको यह सृष्टि दिखे और उसमें ईश्वर न दिखे, वह बच्चा।

बच्चे लड़ते हैं—हम हाथी लेंगे, हम घोड़ा लेंगे; अरे बाबा! दोनों खांड है, दोनोंका वजन एक है, दोनोंकी कीमत एक है। लेकिन बच्चे लड़ते हैं। नाम घोड़ा है, शकल घोड़ा है, पर खानेमें शक्कर वही है। कोई फरक नहीं है। ये लड़ाई-झगड़ा जितना होता है, मैसूरका, महाराष्ट्रका, गुजरातका, ये कौन लड़ते हैं? अरे भाई! भारत तो एक देश है, उसकी सरकार एक है; उसमें आदमी एक है, संस्कृति एक है। परन्तु लड़ते कौन हैं? बच्चे।

बच्चाका मतलब यह नहीं है कि जो माँके पेटसे निकला! जिसकी अक्कल बच्चोंकी-सी है, उसका नाम बच्चा। तर्क-संग्रह पढ़ते हैं, तो उसमें आता है—'बालानां सुखबोधाय।' तो बोले—'बालक कौन?' भले व्याकरण जानता हो, काव्य जानता हो, मीमांसा जानता हो, पर 'न्याय' न जानता हो तो बालक। इसी प्रकार जब व्याकरण पढ़ता हो, तब भले 'न्याय' जानता हो, काव्य जानता हो, मीमांसा जानता हो, पर व्याकरण न जानता हो, तो बालक।

ऐसे, बाबा! खूब ज्ञान-विज्ञान दुनियाका जानता हो, उसे खूब मालूम हो कि नाकके लिए कितनी तरहके इत्र होते हैं, जीभके लिए कितनी तरहके स्वाद होते हैं, त्वचाके लिए कितनी तरहके स्पर्श होते हैं, आँखके लिए कितनी तरहके रूप होते हैं, कैसे राकेट बनता है, कैसे अणुबम बनता है, सब मालूम है। परन्तु जो सबमें एक है, जो सबके बनने-बिगड़नेपर भी एक है, सबके रहते भी जो एक है, उस एकको नहीं जाना, तो वह बालक है।

'जातं तस्य हि जायते'—जो उस एक अद्वय परमात्माको नहीं जानता, उसके लिए तो उत्पन्नकी ही उत्पत्ति होती है। माने, उसके लिए कुछ अविनाशी है नहीं; कुछ अपरिच्छिन्न है नहीं! कुछ सत्य है नहीं, कुछ चेतन है नहीं। क्योंकि न तो चेतनका स्वभाव है पैदा होना, न तो सत्यका स्वभाव है पैदा होना और न तो अपरिच्छिन्नका स्वभाव है पैदा होना। न आनन्दका स्वभाव है पैदा होना, न आत्माका स्वभाव है पैदा होना। उसके लिए तो कोई पैदा हुई चीज ही पैदा हो रही है।

इसका अर्थ है कि जादूके खेलकी कोई चीज तरह-तरहका रूप धारण कर रही है। वह तो टूटने-फूटनेवाली चीजको ही जगत्का कारण मान रहा है। जो टूटने-फूटनेवाली चीज है, वह तो पैदा हुई है। वह सारी सृष्टिका कारण कैसे बनेगी? वह तो कार्य है और ऐसा माननेवाला खुद बच्चा है। •

: १६ :

असद्वस्तुका जन्म असम्भव है

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते ॥२८॥

अर्थ--असत्-वस्तुका जन्म न मायासे और न तत्त्वसे ही सम्भव है। जैसे कि वन्ध्यापुत्र न तो तत्त्वसे और न मायासे ही पैदा हो सकता है।

अच्छा भाई, सत्यसे ही सृष्टि नहीं हुई तो आओ, मान लें कि असत्यसे ही सृष्टि हुई। अरे भाई, सृष्टि हुई भी थी और कुछ नसे हुई थी, ऐसा कैसे मानें ? पहले हम सरल व्यावहारिक दृष्टिसे बिचार करते हैं।

आप देखो, असत्यको कोई पसन्द नहीं करता। दूसरेको धोखा देनेके लिए असत्य पसन्द करते हैं। खुद धोखा खानेके लिए कोई असत्य पसन्द नहीं करता। हम चाहे जिससे झूठ बोल लें और चाहे जिसको धोखा दे लें, लेकिन हमसे कोई झूठ न बोलें, हमको कोई धोखा न दें। माने भीतरसे हम असत्यको पसन्द नहीं करते, यही बात हुई !

जब हम भीतरसे असत्यको पसन्द नहीं करते और दूसरेको असत्य पसन्द करानेकी कोशिश करते हैं तब भीतर रिकार्ड होता जाता है, क्योंकि भीतरसे हम असत्यको बिलकुल स्वीकार नहीं करते, बाहर-बाहरसे स्वीकार करते हैं। तब भीतरवाला यह कहेगा कि देखो, तुमने अपने खिलाफ यह माना, तुमने अपने खिलाफ यह कहा, तुमने अपने खिलाफ यह किया।

ईश्वरका न्याय यह है कि वह सबके साथ अपना दूत नहीं रखता, पार्षद नहीं रखता। सबके कन्धेपर बैठकर देखता नहीं रहता। उसने सबके दिलमें एक मशीन लगा दी है कि जब मनुष्य अपनी मान्यताके विरुद्ध काम करेगा, तब वह रिकार्ड कर लेगी।

कहते हैं--भाई हम तो चोरी करना पाप नहीं समझते। ठीक है, जब तुम दूसरोंकी चोरी करते हो, तब पाप नहीं समझते हो परन्तु जब तुम्हारी कोई चोरी कर लेता है, तो उसको महापाप समझते हो। जब तुम किसी दूसरेकी चोरी करोगे तो भीतर बैठा हुआ जज कहेगा कि 'भाई, तुमने वह किया है, जो तुम नहीं चाहते।' इसीको गलत मान्यता बोलते हैं।

आदमी अपनेको धोखा कैसे दे सकता है ? दूसरेको दे तो दे। यह सृष्टि असत्से हुई, इसका अर्थ यह हुआ कि बोलनेवालेके बिना जीभ बोल रही है, सुननेवालेके बिना कान सुन रहा है; देखनेवालेके बिना आँख देख रही है, हाथ हिलानेवाला नहीं है और हाथ हिल रहा है—यह बात कभी तुम्हारे दिलमें बैठेगी ?

इसको 'आत्मसत्य' बोलते हैं। यह स्वरूपभूत सत्य है। जब इसके विरुद्ध संकल्प करोगे, तब वह झूठा हो जायगा। जब तुम्हारे शरीरमें आत्मसत्यके विरुद्ध कोई क्रिया नहीं हो रही है, न पाप हो रहा है न पुण्य हो रहा है, तो इस सारी सृष्टिकी जो क्रिया हो रही है, इसमें वस्तुओंमें जो व्यवस्था है, गतिमें जो नियन्त्रण है, वह किसी नियामक-सद्वस्तुके बिना भला कैसे हो सकता है ?

हमको एक वैज्ञानिकने बताया कि चन्द्रमा और धरतीकी जो दूरी है, यह अगर दो फुट और कम हो जाती, तो क्या होता ? तो यह बम्बई शहर न होता; बच नहीं सकता था। क्यों ? दो हाथकी दूरी चन्द्रमासे कम हो जानेसे समुद्रमें इतनी ऊँची तरंगें उठतीं कि बम्बई डूब जाती। और फिर इन पन्द्रह तिथियोंका जो नियम है, वह भी न होता। चन्द्रमा रोज घटता-बढ़ता है, यह न बन सकता। इसी प्रकार सूर्य अगर दो फुट धरतीके पास होता तो क्या हो जाता ? हे भगवान् ! जल जाती धरती ! एकदम सफाचट् ! न ये तारीखें बनतीं, न ये तिथियाँ बनतीं।

बिलकुल नियमसे सृष्टि चलती है। नियन्ताके बिना नियम्य है, द्रष्टाके बिना दृश्य है, अधिष्ठानके बिना अध्यस्त है, ऐसी जिनकी मान्यता है, असत्पर सत् टिका हुआ है, ऐसी जिनकी मान्यता है, वे तो ऐसा मानते हैं कि काम सत्यसे नहीं बनता, असत्यसे बनता है। फिर ये तो दूसरे रास्तेपर चले गये ! इसको तो भ्रष्टाचार बोलते हैं।

जो ऐसा माने कि सत्यसे काम नहीं बनेगा असत्यसे बनेगा; ईमानदारीसे नहीं बनेगा, बेईमानीसे बनेगा; सच्चाईसे नहीं बनेगा, चोरीसे बनेगा; शान्तिसे काम नहीं बनेगा, गुस्सेसे काम बनेगा; वह तो आत्मसत्यका परित्याग कर देगा !

जैसे शरीरमें नियंत्रण आत्माकी उपस्थितिसे होता है, इसी प्रकार, सम्पूर्ण जगत्का नियन्त्रण ईश्वरकी उपस्थितिसे होता है। वह नियंता जैसा सबमें है, वैसा ही अपने शरीरमें है। जैसे वायु सबकी साँसके लिए एक है, जैसे धरती सबके रहनेके लिए एक है, जैसे अन्न सबके जीनेके लिए एक है, जैसे

पानी सबके लिए जीवन है, जैसे प्रकाश और गरमी सबके जीवनके लिए है, जैसे हवा-वायु-प्राण जीवन है सबके लिए, आकाश सबके जीवनके लिए है; सम्पूर्ण बुद्धियोंका खजाना महतत्त्व सबके जीवनके लिए है; वैसे ही प्रत्येक शरीरमें तैजसके रूपमें हिरण्यगर्भ सबके लिए है, प्रत्येक शरीरमें प्राज्ञके रूपमें ईश्वर सबके लिए है। वह ईश्वर-सत्य है, अन्तःकरणकी उपाधि, मायाकी उपाधि जरा एक बार प्रज्ञासे विवेकसे अलग करके देखो, उसका नाम आत्मसत्य है। उसके बिना व्यवहार चल रहा है, सृष्टि चल रही है असत्‌से सृष्टि चल रही है ? ऐसा नहीं मानना। अगर डाक्टरके सत्‌पर विश्वास नहीं होगा तो कोई रोगी जायगा उसके पास ? अगर लोगोंको मालूम हो जाय कि असत्‌से व्यवहार होता है, तो व्यवहार ही सिद्ध नहीं होगा।

इसी प्रकार अगर लोगोंको यह मालूम पड़ जाय कि संसार यह असत्‌से बनता है, तो संसार ही नहीं बनेगा।

× × ×

सृष्टिके लिए यह वर्णन किया कि यदि सृष्टि मिथ्या भी हो, कार्य-कारण भाव बिलकुल मिथ्या भी हो, तब भी एक सत् अधिष्ठान चाहिए, एक चित् द्रष्टा चाहिए। बिना उसके मिथ्या सृष्टिकी सिद्धि ही नहीं होगी। ऐसी सच्चित् वस्तुसे सृष्टि केवल मायाके द्वारा ही सिद्ध हो सकती है तत्त्वतः नहीं अन्यथा वह सद्वस्तु स्वयं असत् हो जायेगी। अब बताते हैं कि असत् या अभावसे भी सृष्टि नहीं हो सकती।

पहले तो आप यह बात ध्यानमें लें कि अभावसे सृष्टि बतानेवाले हमारे दो मत हैं। एक तो न्याय-वैशेषिक और एक बौद्ध। ये दोनों अभावसे भावकी उत्पत्ति मानते हैं। दोनोंमें क्या फरक है—वह ध्यानमें लेने लायक है।

न्याय-वैशेषिक अभावको भी पदार्थ मानते हैं। उसका नाम अभाव होने-पर भी वह असलमें सत् है यह बड़ी अद्भुत बात है, क्योंकि वे अभावमें विशेष मानते हैं। पहली बात तो यह देखोकि अभाव चार तरहका होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव।

यदि कोई वस्तु बिलकुल नहीं होगी, तो उसमें चार प्रकार ही कहाँसे होंगे ? किसी भी चीजको चार तरहकी बतानेपर उस चीजका होना तो बिलकुल सिद्ध हो गया। वह चीज अभावात्मक हुई ही नहीं। न्याय-वैशेषिक उसका नाम तो रखते हैं 'अभाव', पर मानते हैं उसको पदार्थ। यहाँतक कि उसका अधिष्ठान भी मानते हैं। जैसे—'घटवत्व भूतलम्' है—'घटवाली धरती'—वैसे 'घटाभाववत्व भूतलम्' भी है। घटाभाव कहाँ है ? धरतीमें। 'इस

धरतीपर घटका अभाव है,' तो प्रतियोगी ज्ञान सापेक्ष होनेसे जिसको घटका ज्ञान है, उसीको घटाभावका ज्ञान होता है। जिस धरतीपर घट होता है, उसीपर घटका अभाव होता है और घटाभावके चार प्रकार होते हैं—

(१) कालमें घटका अभाव-पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा। जिसे वेदान्तीलोग काल-परिच्छेद बोलते हैं, उस काल-परिच्छेदको नैयायिक लोग प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव बोलते हैं। प्रागभाव = पहले न होना और प्रध्वंसाभाव पीछे न होना।

जिसको वेदान्तीलोग देश-परिच्छेद बोलते हैं, उसे नैयायिक और वैशेषिक लोग 'अत्यन्ताभाव' बोलते हैं। 'इह घटो नास्ति।' यहाँ घड़ा नहीं है। 'इह घटस्यात्यन्ताभाव:'। यहाँ घड़ा बिलकुल नहीं है।

जिसे वेदान्ती लोग वस्तु-परिच्छेद कहते हैं। उसे नैयायिक लोग 'अन्योन्याभाव' कहते हैं। 'घटे पटो नास्ति,' 'पटे घटो नास्ति'—घड़ेमें कपड़ा नहीं है और कपड़ेमें घड़ा नहीं है। इसको वस्तु-परिच्छेद कहते हैं। 'स्त्री पुरुष नहीं है और पुरुष स्त्री नहीं है।' यह अन्योन्याभाव है।

प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव—ये चारों प्रकारके अभाव वस्तु होते हैं तब होते हैं। इसलिए न्याय और वैशेषिक मतमें 'सत्–प्रतियोगी वस्त्वन्तर'का नाम अभाव है, एक वस्तुके विरुद्ध, लेकिन वस्तुरूप।

न्याय-वैशेषिक मतमें भाव-अभाव दोनोंको बनानेवाला है ईश्वर। भाव-पदार्थकी सृष्टि ईश्वर करता है। परमाणुसे अणु और अणुसे त्रसरेणु—इस क्रमसे अणुओंको जोड़कर ईश्वर सृष्टि करता है। वही ईश्वर अणुओंको बिखेरनेवाला भी है, जिससे अभावकी उत्पत्ति होती है। भावाभावका स्रष्टा न्याय-वैशेषिक मतमें ईश्वर है।

बौद्ध लोग कहते हैं, 'न भाव है न अभाव है, न भावाभाव है, न भावाभावराहित्य है। सत् नहीं है, असत् नहीं है, सदसत् नहीं है और सदसत्-राहित्य नहीं है। चार कोटि हैं। फिर तो बौद्ध अभाववादी नहीं हुए। उनके तो 'सर्वथा शून्यं-शून्यं' है।' उनके पदार्थ नहीं है!

अब यह प्रश्न हुआ कि यह जो सृष्टि दीख रही है यह कैसे हुई? बौद्ध भी कहते हैं कि मायासे हुई। उनके भी माया—'संहृति' मानते हैं। परन्तु वेदान्तियोंका यह कहना है कि जिसको तुम भाव, अभाव, भावाभाव और भाव-राहित्य-चतुष्कोटिसे विनिर्मुक्त मानते हो, जो बिलकुल असत् है, बिलकुल ही नहीं, हैउस मायासे भी सृष्टि हो नहीं सकती। क्यों? मायासे जितनी

सृष्टि होती है, उसमें एक तो नट (मायावी) होता है वह मायासे हाथी बन जाता है। हाथी तो मायाका है, परन्तु नट है तब न हाथी बना ? कोई वंध्यापुत्र थोड़े हाथी बन सकता है ? वंध्यापुत्र तो हाथी नहीं बन सकता मायासे भी बननेके लिए सद्वस्तु चाहिए।

जो सद्वस्तु सो मायासे रूपांतर भासे,

स्वप्नकी सृष्टि सारी झूठी। स्वप्नकी सृष्टि तो झूठी हैं, परन्तु स्वप्नद्रष्टा तो सत्य है जिसने सपना देखा ? बिना द्रष्टाके दृश्य सत्य या झूठा कैसे होगा ? बिना द्रष्टाके दृश्य कैसे दिखेगा ? माया भी कहाँ दिखावेगी ? किसको दिखावेगी ? तो मायाको दृश्य दिखानेके लिए अपना अधिष्ठान चाहिए। अपना द्रष्टा चाहिए। स्वप्न दिखानेके लिये द्रष्टा चाहिए। अपनेको हाथी दिखानेके लिए नट (मायावी) चाहिए। यह ईश्वर हुआ।

बादलको माया जब गंधर्वनगर दिखाती है, तो उसके लिए आकाश चाहिए। **असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।** जो नितान्त असत् है, चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त है—न सत् न असत् है, न सदसत्-विलक्षण—ऐसा जो नितान्त शून्यरूप असत् है, उससे तो न तत्त्वतः उत्पत्ति हो सकती है, न मायासे उत्पत्ति हो सकती है। सत् होवे तो भी उत्पत्ति हो सकती है।

सत्में यथार्थसे होने पर तो सत् सत् नहीं रहेगा; इस लिए मायासे उत्पत्ति होती है। **वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते।**

क्योंकि जो वंध्यापुत्र है, वह तत्त्वतः है ही नहीं। न तो उसकी उत्पत्ति तात्त्विक होती है, न मायासे होती है। इसका अभिप्राय यह है कि एक अखंड सद्वस्तु ही मायासे बिना कुछ बदले अनेक नाम रूपवाली सृष्टिके रूपमें भास रही है। उस अखण्ड सद्वस्तुमें मैं और यहका भेद नहीं है। उसमें प्रत्यक्, चैतन्य, दृश्य और दृश्यनिर्माता—सर्वद्रष्टा (त्वं पदार्थ, सर्व (जगत्) और सर्व-निर्माता (ईश्वर-तत्पदार्थ) का भेद नहीं है।

दृश्यको जगत् कहो, द्रष्टाको आत्मा कहो और दृश्यके निर्माताको परमात्मा कहो, तो जैसे यहाँ द्रष्टा अन्तःकरणकी उपाधिसे है, वैसे निर्माता मायाकी उपाधिसे है। ईश्वराभिन्न चैतन्य, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न चैतन्य और जगदभिन्न चैतन्य अभेद रूप है—एक परब्रह्म परमात्मा 'मैं'के रूपमें, 'वह'के रूपमें और 'यह'के रूपमें, जैसे जादूके खेलमें एक वस्तु तीन रूपमें भासे, वैसे भास रही है। वह सत्य वस्तु है।

इसका नतीजा बहुत बढ़िया निकलता है—नतीजा क्या ?

सब के घट में सांई रमता,
कटुक बचन मत बोल रे, तोहे पीउ मिलेंगे।

सब वही है, सब वही है। एक महात्मा थे स्वर्गाश्रममें। अबसे कोई ३५ वर्ष पहलेकी बात है—रातको चिल्लाते थे। पहले तो हम समझते थे कि कोई चिड़िया बोल रही है। कई दिनोंतक समझमें नहीं आया। सब सो जायँ और वे बोलें। बादमें सुनते-सुनते हमको स्पष्टता आ गयी। वे रातमें बोलते थे—'तू ही तू', 'तू ही तू', 'तू ही तू'। माने हमको जितना व्यवहार करना है, अपने प्रियतम प्यारेके साथ करना है। यह कितनी लौकिक बात आ गयी! हमको जितना व्यवहार करना है, अपने प्रियतम आत्माके साथ ही करना है। अपने आपके साथ करना है। यह हुआ सत्यानुबाध !

अपने प्यारेको पानी पिलानेमें कितनी सावधानी रखी जाती है! अपने प्यारेकी ओर देखनेमें कितनी सावधानी रखी जाती है! कितना हार्दिक बरताव होता है! यह बात निकल आयी—'कटुक वचन मत बोल रे, तोहे पीउ मिलेंगे।'

आत्मसत्यानुबोधका जो-व्यवहार है, उसमें जिसके साथ व्यवहार करते हैं, वह हम; जो व्यवहार करता है, वह हम; जो व्यवहार होता है, वह हम! अपने आत्माके सिवाय दूसरी तो कोई वस्तु ही नहीं है! किसकी चोरी? किसके साथ बेईमानी? किसके साथ अनाचार? किसके साथ व्यभिचार? अपने ही साथ सब। तो दोषका बीज मायामें है, अपने स्वरूपमें नहीं है। यह नतीजा निकला।

एक बार हम एक महात्माके पास बैठे थे। कई सत्संगी थे। वे महात्मा घासपर या धरतीपर बैठते थे। सिंहासन शक्तिका आसन है, अवधूतका आसन नहीं है, विरक्तका आसन नहीं है! सिंहपर कौन चढ़ता है, आपको मालूम है? देवी सिंहपर चढ़ती हैं। इसीलिए जो लोग किसी-न-किसी प्रकार देवीके आराधक होते हैं, शक्तिके आराधक होते हैं; पता लगानेपर मालूम पड़ेगा, सिंहासनपर बैठते हैं; वे ही लोग, जो शक्ति और सिद्धिको आधार बनाकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। जो अवधूत हैं उनके लिए शक्ति और सिद्धि बाधित हो गयी। उसके लिए जैसी धरती वैसा सोना; जैसी घास, वैसा कालीन। अवधूत हैं न!

वे महात्मा अवधूत थे। वे धरतीपर बैठते थे, घासपर बैठते थे। हम लोग बैठे थे। उस गाँवका नाम था 'दरवीशाहाँ'। हमको खूब याद है। एक सत्संगी आये। उन्होंने दूब तोड़ना शुरू कर दिया। बैठे। जैसे यहाँ किसीके हाथ फूल लग जाय तो कथा सुनता जाय और फूलको नोच-नोचकर तोड़ता

जाय ! बैठे हैं सत्संगमें और उँगली तोड़ते रहते हैं, फूल तोड़ते जा रहे हैं। शास्त्रमें इसको मनुष्यका कुलक्षण मानते हैं।

वे सत्संगी वहाँ बैठे संतके सामने और खूब हरी-हरी दूबको तोड़ते जायँ ! तो महाराजने कहा—'अरे भाई ! यह माटीसे दूब बनी है। देखो, कैसी हरियाली आयी है इसके भीतर ! अब गाय खा लेगी तो दूध बनेगा, मनुष्य दूध पियेगा तो यह मनुष्यका वीर्य बन जायगी; कहीं गर्भाधान हो गया तो आज जो यह घास है, वह थोड़े दिनोंमें मनुष्य-योनिमें आ जायगी। यदि इसे तोड़कर तुम फेंक दोगे, तो फिर माटी-की-माटी ! पता नहीं, कब उसका बीजसे संयोग होगा, कब घास बनेगी ? कब गाय चरेगी ? कब मनुष्यके पेटमें आवेगी ? तो इस घासको तोड़ो मत।' यह केवल घासकी बात नहीं है; विकासशील जीवनमें बाधा मत डालो ! यह तो जीवनकी बात है।

तुम्हें मनुष्य जीवन मिला है। जगत्के मूलमें अगर ब्रह्म न हो, आत्मा न हो, परमात्मा न हो, तो अकेली माया यह सृष्टि नहीं कर सकती, जैसे पुरुष न हो तो अकेली स्त्री परिवारकी वृद्धि नहीं कर सकती। वैसे, अगर परमात्मा न हो, तो अकेली माया सृष्टिको नहीं बढ़ा सकती। इसमें पुरुषका सहयोग अपेक्षित है। यदि मूलमें तत्त्व न हो, स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा न हो, अगर मायाके हाथीमें नट न हो, अगर गन्धर्व-नगरमें आकाश न हो, यदि प्रतीयमान सर्पमें रज्जु न हो, यदि चाँदीमें शुक्ति न हो, अधिष्ठान न हो तो किसी भी प्रकार अध्यस्तकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

यह प्रपंच दिखायी पड़ता है। इसको बिलकुल निरधिष्ठान दिखानेवाले कि—'इसके मूलमें कुछ नहीं है'—वे नितान्त अज्ञ हैं। तत्त्वसे यदि सृष्टि हो तो और अतत्त्वतः हो तो, दोनोंमें आपत्ति बतायी—'यदि तत्त्वतः सृष्टि हो तो तत्त्व फूट जायेगा और अतत्त्वतः सृष्टि होना शक्य ही नहीं है। माया भी नहीं कर सकती तो—'तत्त्वमें रह कर माया सृष्टि करती है।' यह सिद्धान्त होगा।

माया कैसे रहती है ? भावरूपा, अभावरूपा कि भावाभावरूपा ? तो बोले—अनिर्वचनीयरूपा। अनिर्वचनीयरूपा'का क्या अर्थ है ? तत्त्वज्ञान होने-तक मायाकी कल्पना करो; तत्त्वज्ञान होनेपर मायाकी कल्पना छोड़ दो। ब्रह्ममें-तत्त्वमें माया भी तात्त्विक नहीं है।

अनिर्वचनीय माने वक्तासे अभिन्न। जो अनिर्वचनीय पदार्थका निर्वचन कर रहा है, उससे अनिर्वचनीयताका अभिन्न होना ही अनिर्वचनीयका लक्षण है। जिस अधिष्ठानमें अनिर्वचनीयताका निर्वचन किया जाता है, उस अधिष्ठान से अभिन्न होना ही अनिर्वचनीयका लक्षण है।

•

: २० :

सद्वस्तुके मायिक जन्ममें दृष्टान्त

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ॥२९॥
अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥३०॥

अर्थ—जैसे स्वप्नमें मन मायाके द्वारा द्वैताभासरूपसे स्फुरित होता है, वैसे ही जाग्रत्में भी मन मायासे ही द्वैताभासरूपमें स्फुरित होता है ॥२९॥ निःसन्देह, स्वप्नमें अद्वय मन ही द्वैताभासरूपसे भासता है। उसी प्रकार जाग्रत्में भी निःसन्देह अद्वय मन ही द्वैताभासरूपसे भासता है ॥३०॥

स्वप्नमें मन अकेला रहता है, लेकिन ऐसी माया मनके साथ लगी हुई है कि अकेला मन अनेक-सा भासता है।

एक सन्त हैं जो सपनेका नाम सुनते ही कह उठते हैं—अरे! सपने-वपनेकी बात मत करो। सपनेका नाम ही मत लो! आओ, युक्तिसे, बुद्धिसे, प्रमाणसे विचार करें, द्वैत है कि अद्वैत है! यह सपना-वपना क्या होता है?

असली बात यह है कि उन महात्माके आँख नहीं हैं! इसका असर क्या होता है, आप जानते हैं? जो जन्मान्ध होते हैं, उनको रूपका सपना नहीं आता है। वे सपनेके दृष्टान्तसे इसीलिए चिढ़ते हैं क्योंकि जन्मान्ध होनेके कारण उनको रूपका सपना ही नहीं आता। उनको तो आवाजका सपना आता है कि कोई बोल रहा है। मैंने पूछकर देख लिया, उनको स्वप्न नहीं आता है।

जिसको स्वप्न नहीं आता है, उनके लिए तो स्वप्नका दृष्टान्त कुछ महत्त्वका नहीं रहा! उनको रज्जुसर्पका दृष्टान्त भी किसी कामका नहीं। उनको रज्जुमें सर्पका कभी भ्रम ही नहीं होगा।

एक आदमी था। वह अन्धेरेमें गया बाहर। गाँवमें शौचके लिए बाहर जाते ही हैं? थोड़ी वर्षा हो रही थी। जब उठा, तो उठते समय उसे ऐसा मालूम पड़ा कि 'हमारे' पाँवमें साँप लिपट गया। उसे शंका हो गयी कि साँप काट गया। लहर आने लगी, बेहोश होने लगा। बिलकुल सच्ची बात है!

घरके लोग इकट्ठे हुए। झाड़नेवाले बुलाये गये। डॉक्टर बुलाये गये। 'कुछ औषधि करो, कुछ चिकित्सा करो, इसको साँप काट गया। वह तो लम्बी

साँस ले और पसीना-पसीना होवे। लोग नीमकी पत्ती देकर पूछें—'तुम्हें कड़वी लगती है कि नहीं ?' वह कहे, 'नहीं लगती।' कहते हैं कि साँपका जहर चढ़े तो नीमकी पत्ती कड़वी नहीं लगती। गाँवमें ऐसा मशहूर है कि नीमकी पत्ती तो क्या, उस समय जहर भी दो, तो कड़वा न लगे। दिमागकी स्थिति तो ऐसी हो जाती है।

बादमें किसी आदमीने पूछा—'कहाँ साँप काट गया ? हम कौड़ी चलाकर उसको बुलावें। साँप आखिर है कहाँ ?'

उन्होंने बताया, 'अमुक जगह हम घरके बाहर शौचके लिए गये थे, वहाँ साँप काट गया।'

एकने बताया—'अरे, वहाँ साँप कहाँ रहेगा ? तो हुआ क्या था कि घरका जो कूड़ा-कचरा फेंका गया था उसमें रबड़का बना हुआ एक साँप कूड़ेमें चला गया था। रातको अंधेरेमें पाँवसे लगा, तो साँप सरीखा मालूम हुआ। उससे लहर आने लगी, उससे बेहोशी आने लगी, पसीना आने लगा। उससे जहर आने लगा। इसीको बोलते हैं 'भ्रम।'

इस संसारमें हम लोगोंको जो बहुत-सारा दुःख होता है वह मानसिक ज्यादा होता है। अभी घाटेका समाचार सुना दें, तो टट्टी लगने लग जाय! तो सपनेकी बात आप देखो! यह सपनेका मेला शरीरके भीतर बहुत छोटे-से स्थानमें लगता है। हमको तो सपने आते हैं। ऐसा मत समझना कि हम यह बात अनुमानसे बोलते हैं। कई लोग ऐसे वहममें पड़ते हैं। बोलते हैं—'तत्त्व-ज्ञान होनेपर न सपना आवेगा न सुषुप्ति रहेगी। तब तो जाग्रत् भी नहीं रहेगा। वह बेचारा तत्त्वज्ञानी तो मर जायगा। वृन्दावनमें तो वैष्णव लोग ऐसे कहते हैं कि—'तत्त्वज्ञानी प्रवृत्तिमें क्यों पड़ेगा ?' तो क्या करेगा ? 'बैठा रहेगा। तत्त्वज्ञानीको तो भूख-प्यास भी नहीं लगेगी। संसार मिथ्या है तो खायेगा भी नहीं। पानी भी नहीं पियेगा। तत्त्वज्ञानीकी साँस तो ऐसी मामूली-सी चलती है।'

फिर बोले—'तत्त्वज्ञानीका मन तो कभी-कभी फुरता है।' तब तो तत्त्वज्ञानीका अर्थ हुआ कि मर जाओ! तत्त्वज्ञानी माने मुर्दा। ऐसा ये लोग कहते हैं। स्टंट क्या है, यह भी समझना चाहिए। कहनेवालोंका मतलब यह है कि कोई जिज्ञासु दुनियामें किसीको तत्त्वज्ञानी न मानें, उसकी शरणमें न जायँ, जिज्ञासा न करे, उससे तत्त्वज्ञान प्राप्त न करे।

बोलते हैं—'तत्त्वज्ञानी यह करता है। तत्त्वज्ञानी यह करता है, तत्त्व-

ज्ञानी ऐसे रहता है, 'तत्त्वज्ञानी वैसे रहता है।' माने, तत्त्वज्ञानी मिर्च खा ले, तो तत्त्वज्ञान मिट गया। असलमें ऐसे लोग लोगोंको ज्ञानकी ओर प्रवृत्त होनेमें बाधा डालनेके लिए ऐसी बात करते हैं। जैसे चुनावके जमानेमें एक-दूसरेके विरुद्ध बोलते हैं कि 'वह तो वेश्याका बेटा है, उसने तो वहाँ चोरी की थी'— वैसे यह फैलाया हुआ स्टंट है।

ज्ञानी खाता है, पीता है, चलता है, उसे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति सब अवस्थाएँ होती हैं, वह सपना देखता है, उसके मन होता है, बुद्धि होती है, आँख-कान-नाक होते हैं, वह बैठता है, बोलता है। तत्त्वज्ञानसे शरीरमें और शरीरकी स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

एकने पूछा—'महाराज! तत्त्वज्ञानीको कैसे पहचानें?' हमने कहा— 'उसके कान कुछ लंबे-लंबे होते हैं, क्योंकि गौरसे श्रवण करते-करते तत्त्वज्ञानी हुआ है न? तो कान गौरसे श्रवण करनेमें लंबे होगये हैं। बैल सरीखे होगये हैं। गोकर्ण होगया होगा!'

सपना सबको आता है। किसी-किसीको आनेके बाद भूल जाता है और किसीको याद रहता है। सपनेमें क्या होता है? सपना उसको कहते हैं कि जिस समय वह दिखायी पड़े उस समय वह जाग्रत् मालूम पड़े और जगने पर जो असत् होजाय—

स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधे तदसद्भवेत्।

यह शंकराचार्य भगवान्का वचन है।

सपनेमें कभी आपने मीलों लंबा स्थान देखा होगा। हमको तो एक बार सपनेमें हवाई जहाजमें उड़नेका काम पड़ा, जब पहला विश्व-युद्ध हो रहा था। सपनेमें हवाई जहाजपर उड़ा तो जर्मनी और इटली, युद्धभूमि और सैनिक, वह बमगोले और तोप। सैकड़ों-हजारों मील लंबी धरती सपनेमें दीखती थी। जो स्थान था सपनेमें, उस थोड़े-से स्थानमें मन ही बहुत-सा स्थान देख रहा था! इस समय भी आपको बहुत बड़ा स्थान मालूम पड़ रहा है।

छः घंटे लगे उड़नेमें और सपना तो कुल मिलाकर पाँच मिनट भी नहीं आया था। लाखों आदमी देख लिये इतनेमें। लाखों आदमी कहाँ थे? हवाई जहाज तो था ही, खानेकी चीजें देखीं, पीनेकी चीजें देखीं, पहाड़ खड़े देखे, नदियाँ बहती देखीं, चिड़िया उड़ती देखीं, वृक्ष देखे, वस्तु देखी। तो सपनेमें वस्तु न होनेपर भी वस्तु दिखायी पड़ी। स्थान न होनेपर भी स्थान देखा और समय न होनेपर भी समय मालूम पड़ा। अपने कोई मित्र न थे, पर

मित्र मालूम पड़े। शत्रु मालूम पड़ा। एकपर गुस्सा आया, एकसे प्यार हुआ ! वह सब क्या था ?

जिसपर गुस्सा आया, वह भी अपना मन था कि नहीं ? जिससे प्यार हुआ, वह भी अपना मन था कि नहीं ? देश-स्थानकी लम्बाई-चौड़ाई और समय में घंटों ! वह क्या था ? वह अपना मन था और उस समय बिलकुल सच्चा ! इतना ही सच्चा मालूम पड़ा जितना जाग्रत्‌में।

जब जग गये तब ? कुछ नहीं। परसों-नरसों एक वेदान्ती पूछ रहे थे 'क्या दृष्टि रखनी चाहिए ?'

अरे ! जिसको रखना पड़े सो भार ! जो रहे, सो हम ! मारो बमगोला दृष्टिको ! 'वक्त देखे न बेवक्त ! न मौका देखे न बेमौका ! मारूँगा कमंडल, फूट जायगा सिर !'

क्या दृष्टि रखनी है ? बारह घंटे दुनिया दीखे और एक सेकंड यह खयाल हो जाय कि यह जो मैंने बारह घंटा देखा, वह सब स्वप्न है और मैं सत्य हूँ, तो एक सेकण्ड प्रबल है कि बारह घंटा प्रबल है ? एक सेकण्डमें बारह घंटेका सपना झूठा हो जायगा कि नहीं हो जायगा ?

यदि एक क्षणके लिए ब्रह्मवृत्तिका उदय होवे, तो वह कोटि-कल्पके जन्म-मरण, संस्कार, पाप-पुण्य, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, हिरण्यगर्भ, प्रकृति सबको स्वाहा कर देगी कि नहीं ?

एक क्षणकी ब्रह्मदृष्टि ! पाप-पुण्य तो ऐसे जल जाते हैं, जैसे सपनेका शहर जल रहा हो ! एक क्षणकी बात !

स्नातं तेन समस्त-तीर्थसलिले, दत्ता च सर्वा मही।
यज्ञानां च कृतं सहस्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः॥
त्रैलोक्याश्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्यो ह्यसौ।
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्॥

एक क्षण ब्रह्मका विचार किया, उससे बड़ा और कोई पुण्य नहीं है। सत्संग होता रहता है और लोग लेकर चन्दन और फूलमाला पहुँच गये और सत्संगमें विघ्न उत्पन्न कर दिया। उनको मालूम नहीं है कि सत्संगमें ज्यादा पुण्य है कि चन्दन-मालामें ज्यादा पुण्य है ? सभी तीर्थमें स्नान करनेसे जो पुण्य होता है, वह एक क्षणके सत्संगमें स्नान (श्रवण) करनेसे होता है। उसने सत्संगमें बाधा डालनेसे अपने पुण्यमें बाधा डाली।

अरे ! पहले सत्संगमें डुबकी लगाओ। पहले सत्संगकी गंगामें नहाओ !

सत्संगके अगाध समुद्रमें स्नान करो। सारी पृथिवीका नहीं, सारी पृथिवीके दानका पुण्य लूटो। सब ब्रह्मार्पण कर दो। सारे यज्ञ हो गये—श्रवणयज्ञ, मननयज्ञ, निदिध्यासनयज्ञ! सम्पूर्ण देवताओंकी पूजा हो गयी! पितरोंका उद्धार हो गया। वे कभी गये ही नहीं नरकमें त्रैलोक्यपूज्य है वह। कौन? एक क्षण ब्रह्मविचारमें जिसका मन स्थापित हो जाता है, वह।

क्या है उसके सामने दान? क्या है उसके सामने व्रत? क्या है उसके सामने धर्म? क्या है उसके सामने पूजा? सत्संग तो प्रत्यक्ष ज्ञानका खजाना है। वह मरनेके बाद भलाई करनेवाला नहीं है। यह तो जिन्दगीमें तुरन्त भलाई करनेवाला है। दुनिया बदल दे।

संपूर्णं जगदेव नंदनवनं सर्वे विकल्पद्रुमाः।
गंगावारि समस्तवारिनिवहा पुण्याः समस्ता क्रियाः॥

ध्यानसे बड़ा सत्संग है, समाधिसे बड़ा सत्संग है। समाधिमें उतनी ही बात मालूम हो सकती है, जितनी अपनेको पहलेसे मालूम है। संस्कारजन्य ज्ञान ही समाधिसे उद्‌बुद्ध हो सकता है। समाधिके बाद जब जगेंगे, तो संस्कारजन्य ज्ञानका ही उद्‌बोध हो सकता है। इस महावाक्यजन्य ज्ञानका उद्‌बोध समाधिसे या समाधिमें नहीं हो सकता। समाधिके बाद भी नहीं हो सकता।

क्या है सत्संगके आगे समाधि? क्या है सत्संगके आगे ध्यान? क्या है सत्संगके आगे पूजा? क्या है सत्संगके आगे माला? क्या है सत्संगके आगे व्रत? क्या है सत्संगके आगे दान?

यह तो सम्पूर्ण विश्वके दानकी तैयारी है। एक गिनी सोना नहीं। एक माशा नहीं, संसारका सब सोना, सब चाँदी, सब हीरा, सब मोतीका सत्संगमें आनेपर दान हो जाता है। उनके दानसे जो पुण्य होता है, उस पुण्यसे अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति होती है।

सम्पूर्ण जगत् नन्दनवन है, सारे वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, सारा जल गंगाजल हो जाता है। सारी क्रिया पुण्य हो जाती है।

वाचः प्राकृतसंस्कृता श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी।

जिस भाषामें बोलो, वही वेद हो जाता है और सारी पृथिवी काशी हो जाती है। किसके लिए? ब्राह्मीस्थिति—एक बार ब्रह्ममें जिसका मन स्थिर हो जाय, उसके लिए।

सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि।

जैसे हैं वैसे—सोते हुए ब्रह्म, जागते हुए ब्रह्म, टट्टीघरमें ब्रह्म, बाथ-रूममें ब्रह्म, बाजारमें ब्रह्म, ब्रह्म-ही-ब्रह्म! परमात्मा-ही-परमात्मा। तो जैसे स्वप्नमें स्वप्नका देश, स्वप्नका काल, स्वप्नकी वस्तु, स्वप्नका व्यक्ति, स्वप्नका सम्बन्ध, स्वप्नके धर्माधर्म, स्वप्नके देवता, स्वप्नके ब्रह्मा-विष्णु-महेश, स्वप्नके न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त—जैसे सब मनः—स्पन्दित हैं, मायासे मन ही सब कुछ बनता है; वैसे ही जाग्रत्में भी सब मनका ही स्पन्दन है। जैसे सिनेमा देखते हैं, पर्देपर तस्वीरें दीखती हैं, वे क्या हैं? रोशनीका हिलना। संस्कारविशिष्ट प्रकाशका स्पन्दन है न! बस वैसा ही है जाग्रत् स्वप्न।

मनमें जो दिखता है, वह क्या है? संस्कारविशिष्ट मनका स्पन्दन! संस्कारविशिष्टज्ञानका स्पन्दन! परन्तु बाबा, यह सपनेकी बात नहीं, बात कर रहे हैं अबकी, अब जो देशकी लम्बाई-चौड़ाई है, यह एशिया, यह अमेरिका, यह अफ्रिका, यह यूरोप—यह क्या है? यह मनःस्पन्दित है। सौ-दो सौ, हजार-लाख वर्षोंका जो इतिहास है, संस्कृति है, यह क्या है? मनः-स्पन्दित है। यह सम्बन्ध, यह अवस्था, यह धर्म, यह व्यक्ति—यह क्या है? मनःस्पन्दित है। मायासे संस्कारविशिष्ट मन ही स्पन्दित हो रहा है और यह जाग्रत् अवस्था मालूम पड़ रही है।

बोले—'स्वप्न तो संस्कारसे आते हैं।'

'अरे! यह जाग्रत् भी संस्कारसे ही आता है। स्वप्नावस्था जागनेपर बाधित हो जाती है और यह जाग्रत्-अवस्था ब्रह्मज्ञान होनेपर बाधित हो जाती है। जब तुम स्वप्नको जाग्रत्-संस्कारजन्य बोलते हो, तो संस्कारजन्य तो है न? वैसे ही यह जाग्रत् पूर्वजन्म संस्कारजन्य है। दोनों संस्कारजन्य हैं। संस्कारविशिष्टज्ञान ही स्वप्नके रूपमें भासता है और संस्कारविशिष्ट-ज्ञान ही जाग्रत्के रूपमें भासता है। यह माया है।

अनन्तमें न देश है, न देशावयव-पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण है। अनन्तमें न काल है, न कालके अवयव एक मिनट, दो मिनट, कल्प, युग, मन्वन्तर है। जो निरवयव काल है, वह अधिष्ठानसे अभिन्न है। जो निरवयव देश है, वह अधिष्ठानसे अभिन्न है। जो निरवयव वस्तु है, वह अधिष्ठानसे अभिन्न है।

जो सावयव है, वह भास रहा है। वह संस्कारविशिष्टज्ञानसे भास रहा है। बिलकुल स्वप्न है।

अद्वयं च द्वयाभासं-मनः स्वप्ने न संशयः।

अरे, संशय मत करो! भाई, पीछेकी याद कर-करके जरो मत, मरो मत, आगेकी याद कर-करके डरो मत! यह वर्तमानमें जो दीख रहा है, वह कैसा है? 'अद्वयं च; 'न संशयः' । शंका नहीं करना, यह अनुभवसिद्ध बात है।

स्वप्नमें अद्वय मन अकेला रहकर केला (बहुत) भासता है। केला जिसमें एक साथ बहुत होते हैं। जो अकेला नहीं, वह केला! 'कैवल्य' शब्द है न, उसमें-से 'केला' बना दिया है। 'केवल' शब्द है न, 'के' को 'व' के आगे रख दो तो 'वकेल'—'अकेला'। तो मन है बिलकुल अकेला और अनेकरूप भासता है। मनकी कल्पना ही है।

संसारमें जो बीत गया, उसे मान लो कि बीत गया। सच्चा भी मानो तो भी लौट तो नहीं सकता। अब दुःख भोगना अपने हाथकी बात है। जो आनेवाला है, वह तुम्हारे हाथमें है? नहीं है। तो उसके लिए डर-डरके क्यों मरना? अरे! मरना भी है तो डर-डरके क्यों मरना? यह तो बिलकुल व्यवहारकी बात है। यदि यह निश्चित हो गया कि मरना है, तो फिर डरना क्यों? एक व्यवहारकी बात बताता हूँ।

हमारी सरकारने रुपयेका अवमूल्यन कर दिया। अवमूल्यन इनके हाथमें था। अब वे चाहे कि हम अवमूल्यन वापिस ले लें, तो है सरकारके हाथमें? बिलकुल नहीं है। लड़ना बेकार है। अब यदि दूसरी पार्टीकी सरकार बना दी जाय। तो वह भी वापिस नहीं ले सकती। क्यों नहीं ले सकती? उसका सम्बन्ध तो सम्पूर्ण विश्वके साथ है न? अब तुम अवमूल्यनको वापिस ले लो, तो अमेरिका मानेगा? ब्रिटेन मानेगा? बात तो निकल गयी हाथसे! अब कांग्रेसी आपसमें जूतम पैजार करें कि—'नहीं, तुमने गलत किया, तुमने गलत किया, तुमने गलत किया,' तो अब क्या फायदा होगा? अब तो बात हाथसे निकल गयी! अब इसको सँभालना पड़ेगा। लड़ाईसे काम नहीं बनेगा, सँभालना पड़ेगा।

इसी तरहसे कोई मर गया, कोई बिछुड़ गया, कुछ खो गया, अब उसके लिए अपने मनमें द्वन्द्व क्यों? लड़ाई क्यों? यह तो सपना है।

एक मन अनेक रूपमें भास रहा है। संशय मत करो। संशय अज्ञान-निद्राका गाढ़ रूप है; जिसमें उद्‌बुद्ध संस्कार होते हैं, वह रूप है संशय। इसका संस्कृतमें अर्थ है—'सो गये'। 'संशेरते जना अस्मिन् इति संशयः।' सो गये। अब तुमको सच-झूठका कोई ज्ञान नहीं रहा। मनमें आयी शंका और परमार्थसे भ्रष्ट हो गये। 'संशयात्मा विनश्यति।'

सं = सुखं, शं = शान्तिं; का = काट दे। सुख-शांतिको जो काट दे, वह शंका। संशय आया और मनकी शांति गयी।

एक बुद्धिसागर था। वह जिस पेड़की डालीपर बैठा था, उसीको काट रहा था। यह संशय वह चीज है, जो जिस दिलमें रहता है, उसीको काटता है। जिसपर संशय होता है, उसका नुकसान नहीं होता, जिसके दिलमें संशय होता है, उसका नुकसान होता है। यह बात हम लोगोंको करनेकी है, पूछनेकी है।

संशय जिस दिलमें रहेगा, उसकी हानि करेगा। एक आदमीसे बहुत दुश्मनी है तुम्हारी, उसको मालूम नहीं है। तो नुकसान किसका होगा? जिस आदमीसे तुम्हारी दुश्मनी है, उसका नुकसान थोड़े होगा? तुम ही जलभुनकर मरोगे न? यह है अपने घरमें दुश्मनी बसाना। द्वेष, भय, संशय, मोह, दुःख शोक—यह सब अपने घरमें, बसाना तो ऐसा ही है, जैसे—'आ बैल मुझे मार।' निःसंदेह, यह बात कह रहे हैं; असंदिग्धरूपसे यह बात कह रहे हैं। क्या?

स्वप्नमें देश, काल, वस्तु, सम्बन्ध, अवस्था, धर्म, स्वभाव आदिके रूपमें हमारा मन ही भासता है। दुश्मनका मन भी हमारा मन है और दोस्तका मन भी हमारा मन है।

अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः।

जागते समय यह न समझना कि उसके ऊपर ढेला फेकेंगे तो हमको नहीं लगेगा। जैसे सूरजपर आदमी थूंके तो थूंकनेवालेपर गिरता है न! यह विचित्र नियम है सृष्टिका कि कर्म कर्ताको फल देता है। माने हमारा फेंका हुआ ढेला एक दिन हमपर गिरेगा।

इसका मतलब यह हुआ—अपना छोड़ा हुआ तीर एक दिन अपने कलेजेमें लगेगा। इस संसारमें काम है, क्रोध है, लोभ है, भय है, मोह है, यह तो सब सपनेका खेल है। एक परमात्मा, एक अधिष्ठान, एक अद्वय ब्रह्म ही है।

अब दूसरी बात—हम लोग जब जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका विवेक सुनते हैं, तो ऐसा लगता है कि शरीरसे हम रातको सोये थे; हमने सपना देखा और अब हम इस शरीरसे जाग रहे हैं। यह विवेक नहीं है, यह पाद नहीं है। अभी एक कदम भी आप परमार्थकी ओर नहीं बढ़े, यदि ऐसा सोचते हैं तब क्या है?

जैसे सपनेमें हम ही सारी सृष्टिको देख रहे थे और उसमें एक सेठजी मिले। हम बोले—'सेठजी! तुम बड़े पुण्यात्मा हो कि तुम्हें धन मिला है।'

बोले—'महाराज! हमारे पूर्वजोंकी कमाई है। हमारे पूर्वजन्मका पुण्य है। अभी पुण्य कर रहे हैं तो अगले जन्ममें धर्मात्मा बनेंगे।'

अब ये सपनेके सेठजी या उनके पूर्वज हैं क्या? क्या सपनेके सेठजीने पूर्वजन्ममें पुण्य किया था? क्या सपनेके सेठजीको अगने जन्मका पुण्य मिलेगा? यह तो सब आपका मन है, जो स्वप्न बनकर देख रहा है। उसमें सब दिख रहा है। उसमें आप स्वयं भी हाथमें गंगाजलकी झारी लेके स्नान करने जा रहे हैं। सपनेमें वह आप हैं कि चारपाईपर लेटा हुआ जो सपना देख रहा है, वह आप हैं? जरा ध्यान देना। आप कौन-से हैं? जो प्रयागमें भीड़में कुम्भ-स्नान कर रहे हैं, वह आप हैं कि जिसके सपनेमें कुम्भका मेला दीख रहा है, वह आप हैं? कुम्भकी धरती, कुम्भकी गंगा, कुम्भका आसमान, कुम्भका सूर्य-नक्षत्र, कुम्भके लाखों आदमी और कुम्भके आप खुद जो गंगाजीमें स्नान कर रहे हैं, वह आप हैं कि जो कुम्भका सपना देख रहा है, वह आप हैं?

इसे आत्मानात्मविवेक बोलते हैं। इस समय जाग्रत्में जो सिंहासनपर बैठकर बोल रहा है, वह मैं हूँ कि जो समूचे सत्संगभवनका, भारतीयविद्या-भवनका, बम्बईका, भारतवर्षका, उपद्वीपका, महाद्वीपका, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डका, सूर्य-चन्द्रका जो सपना देख रहा है, कहीं अधिष्ठानरूपसे लेटा हुआ, वह मैं हूँ?

आप जो सत्संगमें बैठकर सुन रहे हैं, वह आप हैं कि वक्तासहित, श्रोतासहित, मकान-धरतीसहित, सूर्यचन्द्रमासहित सम्पूर्ण सृष्टिका जो द्रष्टा है, अधिष्ठान है, वह आप हैं? जाग्रत्का विवेक यह है। आप जाग्रत्-पुरुष नहीं हैं, आप जाग्रत्-अवस्थाके द्रष्टा हैं। जो आप कुम्भके मेलेमें दर्शन करते हैं, जो आप सत्संग-भवनमें बैठे हैं, वह आप कौन हैं? वह आप जाग्रत्-पुरुष हैं। प्रकृति और प्रकृति-विशिष्ट और प्रकृतिका अधिष्ठान सबकी कल्पना करनेवाला सबका द्रष्टा जो अधिष्ठान-चेतन हैं न, वह आप हैं। आप जाग्रत्-पुरुष नहीं, आप जाग्रत्के एक आदमी नहीं हैं; आप सारी जाग्रत् अवस्थाके द्रष्टा ब्रह्मचैतन्य हैं। यह अवस्थाका विवेक है।

एक बात मैं बता देता हूँ। संतोंकी शरणमें जाकर बैठना और वेदान्त सीखना—ऐसा व्यक्ति अभिमानका निवारण करके तब वेदान्तमें प्रवेश करता है, उसे ठीक-ठीक बोध होता है। और जो लोग केवल पोथी पढ़कर वेदान्ती हो जाते

हैं उनको अभिमानकी पुष्टि होकर वेदान्त आता है जो नहीं ही आता है। इसीसे काशीमें पाँचसौ वेदान्ताचार्य अगर मिलेंगे, वेदान्तकी परीक्षा देकर, 'वेदान्ताचार्य' जिनका खिताब है, उनमें-से ९९% नहीं, १००% वेदान्ती नहीं होते। 'शर्माजी' कहते हैं—'थोड़ी तो रियायत कर दो।' अच्छा, तो हजारमें एक नहीं, लाखमें एक—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (गीता ७.३)

महात्माओंके पास बैठकरके श्रवण करना दूसरी चीज है, मनन-निदिध्यासन करना दूसरी चीज है। और किताबमें-से वेदान्त पढ़कर पंडित बन जाना दूसरी चीज है। अरे, कन्याकुमारीसे लेकर बद्रीनाथतक और द्वारकासे लेकरपुरी तक; यह द्वारका, यह मथुरा, यह वृन्दावन, यह काशी, हृषिकेश, हरद्वार, यह गंगाजी—हम लोगोंने कोई घाटी छोड़ी थोड़े ही है जहाँ महात्माओंका सत्संग नहीं किया हो। हम लोगोंको अगर पोथीमें-से मिल जाता, तो पोथीको घोलकर पी लेते।

अब यह प्रसंग आ रहा है कि यह जो द्वैत है—सपनेमें मन जगे तो सपना दिखता है, वैसे जाग्रत्में मन जगे तब जाग्रत् दिखता है। बिना मनकी सृष्टि मिलती नहीं है। तो आओ, मनको समेट लें! और सृष्टि गायब!

बोले—'नहीं-नहीं' मन फिर फैलेगा तब फिर सृष्टि निकलेगी। वह तो जाल है। समेट लिया तो जाल छोटी हो गयी और बढ़ा दिया तो जाल बड़ी हो गयी। केवल मनके निरोधसे परमार्थदर्शन नहीं होता है।



: २१ :

अमनीभावमें द्वैत नहीं है

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥३१॥

अर्थ—यह जो कुछ चराचर द्वैत है सब मनका दृश्य है, क्योंकि मनके अमनीभावमें द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती।

इसमें संशय नहीं करना, यह बिलकुल सच्ची बात है कि स्वप्नमें जो हाथी दीखता है, वह दीखनेवाला हाथी और देखनेवाली आँख, आँखवाला आदमी ग्राह्य और ग्राहक ये दोनों मन ही हैं। विज्ञानके सिवाय न मनमें हाथी है और न आँख है। वह तो मनका ही हिलना है। जैसे पर्देपर प्रकाशका हिलना ही सिनेमाकी आकृति है, वैसे ही यह मनका हिलना ही आँख भी है और हाथी भी है।

जैसे स्वप्नमें है उसी प्रकार जाग्रत्में है। शरीरधारी अहं प्रत्ययका अर्थ होकर और वही अन्य रूपसे इद प्रत्ययका अर्थ होकर अपना मन ही भास रहा है। अहं और इदं दोनों प्रत्ययोंके अतिरिक्त न स्वप्न कुछ है, न जाग्रत् कुछ है। एक परमार्थ सत्य, विज्ञानमात्र ही दोनों अवस्थाओंमें विद्यमान हैं। कोई विशेष नहीं है। न दोनोंमें कोई कारण है न करण है। न दो प्रकारके दृश्य हैं। इस बातको अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा समझाते हैं। अन्वय-व्यतिरेक क्या होता है?

तत् सत्त्वे तत् सत्त्वम्। तदसत्त्वे तदसत्त्वम्।

माटी होवे तब घड़ा होवे और माटी न होवे तो घड़ा न होवे। इसका अर्थ हुआ कि माटीसे अतिरिक्त घड़ा नहीं है। मन होवे तब दुनिया होवे, मन सो जाय तो दुनिया न भासे। अन्वय माने मिट्टीके होनेपर घड़ाका होना, मनके होनेपर दुनियाका होना। व्यतिरेक माने मिट्टीके न होनेपर घड़ेका न होना। मनके न होनेपर दुनियाका न होना।

अन्वय और व्यतिरेककी युक्तिसे यह बात सिद्ध हुई कि मन ही सारी दुनिया, सारी खलक, सारे प्रपंचका बखेड़ा खड़ा करता है और मन मिट जाता है, तो सारे बखेड़े मिट जाते हैं। आज सबेरे एक सूक्तका अर्थ लिखवा रहा

था। ऋग्वेदका कोई सूक्त था। उसमें 'श्रद्धा' शब्दका प्रयोग आया। सूक्तमें ऐसा लिखा था—'देवता लोग उग्र असुरोंपर श्रद्धा करते हैं।' 'सायणाचार्य'ने टीकामें लिखा—

'इमे अवश्यं हन्तव्याः इति इति श्रद्धाम् चक्रते।'

इनको जरूर मार डालना चाहिए, ऐसी श्रद्धा करते थे। आपको इसका विज्ञान बताता हूँ। 'श्रद्धा' सूक्त है पाँच मंत्रोंका।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे।

यह क्या बात है? यह बात है कि जैसे किसीपर हम यह श्रद्धा करते हैं कि—'ये बड़े शक्तिशाली हैं, हमारी भलाई कर सकते हैं और हमारा हित कर सकते हैं। तो उनमें महत्त्वबुद्धि हुई कि नहीं?' ये हमारा हित कर सकते हैं'—ऐसी महत्त्वबुद्धि हुई, तो हमने अपनेसे उनको बड़ा मान लिया कि नहीं? यह श्रद्धा है। ऐसे ही जब हम किसीपर यह खयाल करते हैं कि ये हमें दुःख दे सकते हैं; अगर ये जिंदा रहेंगे, तो मैं जी नहीं सकता; तो यह भी श्रद्धा है। इसमें भी परोक्षता है।

श्रद्धा परोक्षपर ही होती है, प्रत्यक्षपर श्रद्धा नहीं होती। आप यहाँ बैठे हैं, यह हमारी आपपर श्रद्धा नहीं है, यह तो प्रत्यक्ष है। परन्तु आप लोग महात्मा हैं, यह मेरी श्रद्धा है, क्योंकि महात्मापन तो प्रत्यक्ष नहीं है। महात्मापन तो हृदयकी आकूती है।

जो चीज नहीं दीखती है उसको मानना श्रद्धा है। उदाहरणके लिए हम यह विश्वास करते हैं कि—'हमारा रिश्तेदार हमको सुख देगा; बादमें भले ही धोखा दे जाय। पर विश्वास करते ही हैं, श्रद्धा करते ही हैं। इसी प्रकार परोक्षकी कल्पना है।

कभी-कभी ऐसा मौका आता है कि जिनको हम शत्रु समझते हैं वह हमारा बड़ा भला करते हैं। हमारे मनका ही खेल है। किसीको शत्रु समझे और किसीको मित्र! किसीको दुःख देनेवाला और किसीको सुख देनेवाला! तो महत्त्वबुद्धि दूसरेमें गयी न? महत्त्वबुद्धि जब दूसरेमें जाती है, तब दुःख देनेवाला हुआ तो द्वेष होता है और सुख देनेवाला हुआ तो राग होता है। गुणवालेसे राग होता है और दोषवालेसे द्वेष होता है। गुण-दोषकी कल्पना ही तब होती है, जब मनीराम जाग्रत् रहते हैं। भागवतमें क्या बढ़िया समझाया है इस बातको—

पुंसोऽयुक्तस्य नानाऽर्थो भ्रमः स गुणदोषभाक्।
कर्माकर्म विकर्मेति गुणदोषधियो भिदा॥

श्रीगौडपादाचार्य शुकदेवजी महाराजके शिष्य हैं। सम्प्रदाय-परम्परामें सारा शांकर सम्प्रदाय इस बातको मानता है। गौडपादाचार्यजी महाराज बंगालसे चलकर दक्षिण देशमें गये। वहाँ शुकदेवगुफामें शुकदेवजीका दर्शन हुआ और उन्होंने गौडपादाचार्यपर अनुग्रह किया। ये 'अवधूत शुकदेव' हैं—इस गुरुपरम्परामें ऐसा उल्लेख मिलता है।

गौडपादाचार्य श्रीशुकदेवजीके द्वारा अनुगृहीत हैं। ज्ञान दिया उन्होंने, जैसे धनी दूसरेको धन दे सकता है, जैसे कर्मठ दूसरेको भी कर्ममें लगा सकता है, जैसे श्रद्धालु दूसरेको भी श्रद्धालु बना सकता है, वैसे ज्ञानी पुरुष दूसरेके ऊपर भी ज्ञानका अनुग्रह कर सकता है। श्रीशुकदेवजी महाराज क्या बोलते हैं?

'अयुक्तस्य पुंसः;—जो पुरुष अयुक्त है, उसको नानार्थका भान होता है। अयुक्त है माने जिसका मन अपने घरमें बैठा हुआ नहीं है। अपना घर अपना हृदय है, अपनी आत्मा है, अपना अधिष्ठान है। काल 'निरुक्त'में 'असुर' शब्दका अर्थ पढ़ रहा था। 'निरुक्त'में 'असुर' शब्दका अर्थ ऐसे लिखा है—जो अपने स्थानसे निर्वासित हो, उसका नाम 'असुर'। चंचलवृत्ति होनेके कारण जो अपने घरसे निकलकर दुनियामें इधर-उधर भटक रहा हो, उसका नाम असुर।

इन इन्द्रियोंने मनको अपने स्थानसे प्रच्युत कर दिया, मन हृदयमें रहनेकी वस्तु है हृदय मनका घर है। इन देवताओंने इन इन्द्रियोंको हृदयसे निकालकर विषयदेशमें फेंक दिया।

क्षेपणके अर्थमें 'असु क्षेपे' धातु है और उरन् प्रत्यय हुआ तो 'असुर' शब्द बना। 'असुर' शब्दका अर्थ हुआ कि 'अपने घरसे निकालकर फेंका हुआ।' अपने अधिष्ठानसे बाहर विषयमें फेंका हुआ। अपने निवासस्थान–हृदयसे बाहर फेंका हुआ। यह असुर कौन? विषयदेशमें असुरविद्ध-पाप्म-विद्ध मन असुर है। कहाँ—क्यों जाता है? हमको वहाँ सुख मिलेगा, चाटमें सुख मिलेगा, कपड़ेमें सुख मिलेगा, कुरसीमें सुख मिलेगा, पैसेमें सुख मिलेगा—'पुंसोऽयुक्तस्य।'

जब मन चंचल हुआ, तब यह-यह-यह फुरने लगा। अरे बाबा! कहीं तो वरमाला पहना दो! या हाथमें वरमाला लेकर जिन्दगी भर घूमोगे ही कि

किसको पहनावें ? क्या जिंदगीभर स्वयंवरमें बीतेगा कि 'यह ? कि यह ? कि यह ?'

जब मनुष्यका मन चंचल होता है, तब उसको नाना अर्थ दिखते हैं। नाना अर्थके भी दो अर्थ हैं—(१) अनेक इष्ट दिखना—हमको यह भी चाहिए, यह भी चाहिए, यह भी चाहिए। यह भी मनीरामका खेल है। (२) नानात्व-अनेकता दीखना—'फिर इसके बाद क्या होता है ?' उन नाना दीखनेवाली चीजोंको गुण-दोषसे युक्त मान लेते हैं। जिनको गुणसे युक्त मान लेते हैं, उनसे राग हो जाता है और जिनको दोषसे युक्त मान लेते हैं, उनसे दोष हो जाता है। और चीज बिलकुल एक।

सपनेमें भी राग-द्वेष हो जाता है, सपनेमें भी दोस्त और दुश्मन होते हैं। जैसे सपनेमें बन जाते हैं, वैसे ही जाग्रत्में बन जाते हैं। यह बात श्रीउड़िया बाबाजी महाराजने मनसे तोड़ी। वेदान्तकी समझ तो बहुत थी। समझो कि अबसे तीस वर्ष पहले ईशावास्य-उपनिषद्के मन्त्र 'सम्भूति-असम्भूति' पर मैंने लेख लिखा था। शंकराचार्य भगवान्का जो भाष्य है, इसपर वही ठीक है। नयी टीकाएँ लिखी गयीं हैं, वे ठीक नहीं हैं। 'कल्याण' में छपा था, कोई अबसे २८ वर्ष पहले। महात्माओंके पास तो सन् '३१-'३२-'३३में जाता ही था।

बाबाके पास आया तो उन्होंने बताया कि गुण-दोषका जो भेद है, वह मानसिक है। यह न समझना कि कोई बुरा है। बुराईका अधिष्ठान बाहर नहीं है अच्छाईका अधिष्ठान भी बाहर नहीं है। अपने हृदयमें जैसे भावसे, जैसी क्रियासे, जैसे व्यक्तिसे राग है, वैसा कोई बाहर दीखता है तो उससे मैत्री हो जाती है, राग हो जाता है; और अपने मनमें जिन क्रियाओंसे और जिन भावोंसे, द्वेष है और वैसा कोई बाहर दीखता है, तो उससे द्वेष हो जाता है, शत्रुता हो जाती है।

बाहर गुण-दोष नहीं होते हैं, मनका राग-द्वेष, गुण-दोषकी कल्पना निकालता है—

वसन्तिः प्रेम्नि गुणाः न वस्तुनि।

'भारवी'का यह श्लोक हमने बचपनमें पढ़ा था। हम समझते हैं कि प्रथम खण्ड मध्यमामें यह था और द्वितीय खण्डमें 'माघ'का 'शिशुपालवध' था। 'किरातार्जुनीय'का यह श्लोक है; तो प्रथम खण्ड मध्यमामें सन् '२६-'२७में यह श्लोक मैंने पढ़ा था। पर पढ़नेमें कुछ समझमें आया रहा हो, सो बात नहीं। परीक्षा दी थी। बिल्कुल ध्यान नहीं था।

वसन्तिः प्रेम्नि गुणाः न वस्तुनि ।

वस्तुमें गुण नहीं होते, प्रेममें गुण होते हैं, उसमें प्रेम होता है, उससे गुण मालूम पड़ते हैं। उसमें गुण हैं, इसलिए उसमें गुण नहीं मालूम पड़ते। दोष हैं, इसलिए दोष नहीं मालूम पड़ते, द्वेष है हृदयमें; इसलिए दोष मालूम पड़ते हैं।

पुंसाऽयुक्तस्य नानार्थः—मन जब चंचल होता है, तब नानात्व दिखता है, तब गुण-दोषकी कल्पना होती है। गुण-दोषकी यह कल्पना भ्रम है। फिर, गुणवान्‌को पानेके लिए और दोषवान्‌को छोड़नेके लिए कर्म-अकर्म और विकर्म-का झगड़ा खड़ा हो जाता है।

कर्माकर्म विकर्मेति गुणदोषधियो भिदः ।

यह बात बाबाने ऐसी तोड़ी—ऐसी तोड़ी कि चित्तमें कहीं जमने ही नहीं दे। यदि हम कहें कि अमुक आदमी निन्दा करता है, तो बोले—'मच्छर भिनभिना रहा है, तुम समझते क्यों हो? तुम्हारे मनमें निन्दा समझनेका संस्कार है। तुम निन्दाकी भाषा क्यों समझते हो? आदमी ऐसा बोले तो उसका नाम निन्दा और ऐसा बोले तो उसका नाम स्तुति, यह बात तुमने अपने मनमें बैठायी है। तुम उसकी जबान नहीं पकड़ सकते। तुम अपना मन ठीक कर सकते हो।' एक कदम इधर-उधर न चलने दें, एक कदम भी नहीं।

आपने सुना होगा, एक महात्मा अपने शिष्योंमें बैठकर प्रवचन कर रहे थे। एक बुढ़िया आयी; महात्माको गाली देने लगी। शिष्योंने कहा—'महाराज, आपको गाली देती है।'

बोले—'ना बाबा! किसी और को देती होगी! तुम लोग सत्संग करो।' तो उसने नाम लेकर गाली देना शुरू किया।

शिष्योंने कहा—'महाराज! आपको गाली दे रही है।'

बोले—'इस नामके हजार हैं। किसीको देती होगी। हमको नहीं देती है।' तो बुढ़ियाको आगया गुस्सा। वह पहुँच गयी महात्माके पास और उनका सिर पकड़ लिया। बोली—'तुम्हींको दे रही हूँ।'

शिष्योंने कहा—'महाराज! यह कितनी गुस्ताखी कर रही है!'

वे बोले—'बाबा, इसकी पहुँच अन्नमयकोशतक है। वह अन्नमयकोशको गाली दे रही है। मैं अन्नमय कोश नहीं हूँ! मैं तो साक्षी द्रष्टा हूँ!'

यह महात्माकी बात है! यह ब्रह्मप्रकाशजी महाराजने सुनायी थी। हमारी दोस्त-दुश्मनकी दुनियाँ कहाँसे निकली है? राग-द्वेषके संस्कारसे संस्कृत मनसे। राग-द्वेषकी बात छोड़ दो, लेकिन नानात्व तो है न!

और ऊपर चलो। महाकालीके छह रूप हैं। तन्त्रमें ऐसा माना है। कोई-कोई बारह भी मानते हैं और कोई छह रूप मानते हैं—

(१) द्रव्य-मिट्टी, पानी, आग—यह देवीका रूप है।

(२) जो इसमें क्रिया होती दीखती है, सो।

(३) क्रिया के मूलमें जो इच्छा होती है, सो।

(४) इच्छाके मूलमें जो विमर्श होता है—'यह क्रिया अच्छी और यह क्रिया बुरी'—सो।

(५) स्फुरणा—जो प्रतीत हो रहा है, सो।

(६) जिसको प्रतीत हो रहा है? जो अहम् है, सो।

ये छह कौन हैं? 'अहं अहं इति विमर्शः' एक अहंता, इदंताका स्फुरण प्रतीति दो; इदंतामें अच्छाई-बुराईका विमर्श—तीन; संग्रह-त्यागकी इच्छा—चार; इच्छाके अनुसार क्रिया—पाँच। क्रियाके अनुसार द्रव्य—छः। ये छः महाकालीके रूप हैं। और जब अपने-आपको ब्रह्म जानो तब क्या होगा?

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥

यह सारा द्वैत मनोदृश्य है। संस्कृत भाषाकी रीति यह है कि इसमें कोई बात प्रतिज्ञामात्रसे नहीं कही जाती। 'यह ऐसा है', 'यह ऐसा है'—यह तो हमको भी दिखता है और तुमको भी दिखता है। तब तो तुमको बोलकर बतानेकी कोई जरूरत नहीं थी। अरे भाई, जो हमको नहीं दिखता है, सो तो बताओ!

अगर तुम्हें बोलना है, तो ऐसी बात बताओ, जो हमको नहीं मालूम है। हमको मालूम है, वही तुम बताते हो; तो हमारा समय उसमें व्यर्थ हुआ। अपनी शक्तिका अपव्यय किया और हमारा मन जिस काममें लगा था, वहाँसे हटाया। हमारी कर्णशक्तिका अपव्यय किया।

व्यवहारकी दृष्टिसे देखो, एक चीज दीख रही है। हमको भी वैसी, उसको भी वैसी। एकने कहा—'यह गुलाबका फूल है।'

'अरे भाई! गुलाबका फूल तो हम भी देख रहे हैं, तुम भी देखते हो!'

उसने कहा—'महाराज, यह मखमली गुलाब है।'

गुलाबकी बहुत-सी किस्में होती हैं। तब मालूम हुआ कि—हाँ, इस गुलाबमें कोई विशेषता है! कोई बात तो बताओ, क्या है? ऐसे क्यों अपनी जबान-खराब करते हो? हमारा कान खराब करते हो? कोई प्रयोजन हो तो

बोलो! संस्कृत भाषामें रीति यह है कि कोई बात प्रतिज्ञामात्रसे नहीं कही जाती कि—'यह चीज ऐसी है।'

मनोदृश्यमिदं द्वैतं सर्वं मन इति प्रतिज्ञा। (शांकरभाष्य)

'यह सारा द्वैत मन है'--ऐसी प्रतिज्ञा है। क्यों? जब मन रहता है, तब द्वैत मालूम पड़ता है और जब मन नहीं रहता है, तब द्वैत नहीं मालूम पड़ता--

तद् भावे भावात् तदभावे अभावात्।

यह क्या हुआ? यह हेतु हुआ। इसमें दृष्टान्त क्या है? इसमें दृष्टान्त है—मृद भावाभावे घट भावाभाववत्।

अर्थात् मिट्टीके होने-न-होने पर घड़ेका होना—न होना, होता है, वैसे मनके होने-न-होने पर संसारका होना—न होना, होता है। इसलिए मनसे जुदा यह दुनिया नहीं है। श्रीरमण महर्षिका एक श्लोक है--

शब्दादिरूपं भुवनं समस्तं।
शब्दादि-सत्तेन्द्रिय वृत्तिभास्यम्।
तत्तेन्द्रियाणां मनसोऽवशेष्या·····॥

यह संसार क्या है? शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध। परन्तु ये शब्दादिकी सत्ता कैसे मालूम पड़ती है? इन्द्रियोंकी वृत्तिसे। कान-त्वचा-आँख-जीभ-नाक। परन्तु इन्द्रियाँ हैं, यह कैसे मालूम पड़ता है? मनसे। मनीराम सो जायँ तो? न कानका पता, न आँखका पता, न नाकका पता, न जीभका पता, न शब्द, न स्पर्श।

सुषुप्ति तो रोज होती है न! समाधि तो रोज होती है। आप ऐसा समझो—एक तो गिनतीकी समाधि होती है। गिनतीके तरीके अलग-अलग हैं। जाग्रत् और स्वप्नकी संधिमें, स्वप्न और सुषुप्तिकी सन्धिमें; सुषुप्ति और जाग्रत्की सन्धिमें; स्वप्न और जाग्रत्की सन्धिमें, जाग्रत् और सुषुप्तिकी सन्धिमें। इतनी समाधि तो रोज होती है।

अरे! यह छोड़ो। हम गिनकर बताते हैं आपको। यह जो श्वास है, वह बाहरसे भीतर जाता है और भीतरसे बाहर जाता है। अब यह बताओ आप, श्वास भीतरसे बाहर आती है तो थोड़ा रुककर निकलती है कि बिना रुके निकलती है? जितनी देर रुक जाती है उतनी देर समाधि-काल है। फिर निकलती है। यह समाधि है।

एक बात देखो—आपके मनमें एक स्त्री आयी, फिर दूसरी स्त्री आयी। एक पुरुष आया, फिर दूसरा पुरुष आया। घड़ा आया, कपड़ा आया, मकान

आया। तो तीनोंके बीचमें कोई फोंफर रहता है कि नहीं? 'फोंफर' गँवारु शब्द है। हमारा गँवारुपन कभी-कभी जाग जाता है। 'फोंफर' माने अवकाश, पोल। घटाकारवृत्ति शान्त हुई और पटाकारवृत्तिका उदय नहीं हुआ। इन दोनोंके बीचमें जो सन्धिकाल है, उस समय आपके मनकी क्या दशा रहती है?

संसार कब मालूम पड़ता है? यह दुनिया कब मालूम पड़ती है? यह पति कब मालूम पड़ता है? यह पुत्र कब मालूम पड़ता है? यदि ऐसा माना जाय कि ये तीन अवस्था रोज होती है, तो तीन अवस्थाकी पाँच सन्धि तो होंगी ही कम-से-कम? २१६०० श्वास आती है, तो उतनी ही सन्धि होंगी, बराबर-बराबर? जितनी श्वास उतनी सन्धि। और जितनी वृत्तियाँ आपके मनमें उठती हैं, उन दो वृत्तियोंके बीचमें अवकाश तो रहता है—तो अनन्त वृत्तियोंके मध्यकी अनन्त समाधियाँ हुईं!

समाधि माने क्या होता है? 'रा.....म'—आप बोलते हैं न? तो एक बार मनमें आया 'रा' और एक बार मनमें आया 'म'। 'रा' और 'म'के बीचमें जो काल है, उसको लम्बा कर दो। थोड़ा बढ़ा दो तो समाधि हो जायगी।

बारह मात्रातक बढ़नेके बाद समाधि हो जायगी। रहती तो समाधि है, पर बड़ी समाधि मानी जायगी, बारह मात्रा तक बढ़ा देने पर। तब वह छोटी समाधि नहीं, बड़ी समाधि मानेंगे। 'रा' बोलते हैं और 'म' बोलते हैं। 'ओ-म्' बोलके 'म्' को जरा लम्बा खींचो और शक्ति क्षीण हो जाय, कि अब आगे नहीं बढ़ना है, और फिर दूसरी बार साँस मत लो थोड़ी देर। दूसरा 'ओ' शुरू मत करो। देखो, इस 'म' कारकी नोकपर समाधि रहती है।

अब यह बात कहो कि हम सब किताबमें पढ़ लेंगे। यदि आप अपने भीतर नहीं पढ़ोगे तो किताब काम नहीं देगी। भीतरकी किताब पढ़ोगे तब काम आवेगा। इसका अर्थ यह है कि जब मन चंचल न होवे, सन्धिमें होवे, सुषुप्तिमें होवे, मूर्छामें होवे, समाधिमें होवे, तब मनमें कोई सृष्टि नहीं है।

मनसो ह्यमनी भावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।

जिसकी तुम याद करते हो, कि यह तुम्हारा खो गया, उसको तुम अपनेसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझते हो? अरे! वह तो तुम्हारे सुखके लिए था। वह खो गया, तो तुम तो हो! तुम अपनी सत्ताको कैसे भूल जाते हो? तुम अपनी महत्ताको, अपनी उपस्थितिको, अपने प्रकाशक स्वरूपको, अपने आनन्द स्वरूपको कैसे भूल जाते हो? तुम स्वयं स्वयंप्रकाश, तुम परम प्रिय! तुम्हारी

सत्ता देश-काल-वस्तुसे अक्षुण्य है। कोई घिस नहीं सकता तुमको। लम्बाई-चौड़ाईसे तुम फट नहीं सकते, काल तुमको घिस नहीं सकता, विकृत नहीं बना सकता; जंग नहीं लगा सकता; वस्तुएँ तुमको ढँक नहीं सकतीं—ऐसे तुम! और यह मनीराम ?

बात यह है कि तुमने अभ्यास ही वस्तु-दर्शनका किया। अभ्यास माने ? हमको पहले मोकलपुरके बाबाने यह अर्थ बताया था—'अभ्यास' माने दुहरौनी। हमलोग तो गाँवकी बात जानते हैं न! दुहरानेका नाम 'अभ्यास' है। 'भू' धातु है, लेट्-लकारमें 'बभूव' रूप बनता है—बभूव-भू और भू-अभ्यासे चच्छ। अभ्यास=दुहराना। तो इस दुनियाको हमने अपने मनमें दुहराया है। यह हमारा दोस्त, यह हमारा दुश्मन; पैसेके बिना कैसे जीयेंगे ? यह दीनताका अभ्यास हमने किया है।

यह दैन्यका अभ्यास है कि यह नहीं होगा, तो हमें कौन सुख देगा ? 'यह नहीं होगा, तो हमें कौन सुख देगा ?' इसीसे महात्मा लोग कहते हैं— 'विवेकदर्शनाभ्यास और वैराग्य'– मनको अमन बनानेके लिए आवश्यक है। 'अमन' शब्द उर्दूमें भी बहुत बढ़िया है। अमन=शान्ति।

जब पहले युद्ध हुआ था, तब हम बच्चे थे। तो अंग्रेज लोग 'अमनसभा' करते थे। 'सभा' तो था संस्कृतका और 'अमन' था उर्दूका। 'हिन्दुस्तानी' भाषा। उसी समय सन् १९१७-१८ या २१में अमनसभा चली। अमन=शान्ति। 'आमिन्' भी बोलते हैं—आमिन् = शान्ति-शान्ति-शान्ति। यह अमन है। तो, यह सचमुच अमन है माने मन न होना। इसीको शान्ति बोलते हैं।

'विवेकदर्शनाभ्यास' क्या ? जो बात विचारसे सिद्ध है उसका अभ्यास करो; जो चीज वासनासे सिद्ध है, उसका अभ्यास मत करो, क्योंकि वासना अनविचारे आती है। दुनियामें चलते-फिरते कोई चीज दिखायी पड़ती है, तो हमारे मनमें आता है कि यह चीज हमें मिल जाय। तो वासना अनविचारे आती है। फिर सोचते हैं कि—'नहीं-नहीं, यह चीज हमारी नहीं है, इसपर हमारा हक नहीं है, यह हमारे लिए काला काम है, शुक्ल कर्म नहीं है।

यह सब संस्कृतके ऊँचे ग्रन्थोंमें हैं—शुक्लकर्म, कृष्णकर्म, अशुक्ल-अकृष्ण कर्म। 'योगदर्शन'के मूलमें सूत्र है—'शुक्लकर्म' माने सफेद कर्म और कृष्णकर्म माने काला काम। जो न शुक्लकर्म है और न कृष्णकर्म है, वह मिश्रकर्म है। वहाँ तीन प्रकार बताये हैं।

'यत्किञ्चित् सचराचरम्'—जो कुछ चराचर सृष्टि है; चर=चलने-

वाली, प्राणी सृष्टि--चींटी, जुँआ, खटमल, पशु-पक्षी, मनुष्य सब चर हैं। पेड़, मकान, धरती--ये सब अचर हैं।

यह चर सृष्टि ही नहीं, अचर सृष्टि भी मन हो है। क्योंकि मन हो तो दीखे=मनोदृश्यं। इसमें एक सिद्धान्त बताता हूँ। तत्त्वज्ञानके पूर्व तो यह चराचर सृष्टि मन है, लेकिन अधिष्ठान-याथात्म्य बोधसे अर्थात् आत्मा और ब्रह्मकी एकताके ज्ञानसे जब मन बाधित हो जाता है तो मन भी अधिष्ठानसे अभिन्न है। और चराचर सृष्टि भी अधिष्ठानसे अभिन्न है। तब दीखता हुआ भी कुछ नहीं दिखता। होता हुआ भी कुछ नहीं होता।

समझानेके लिए ऐसे बोलना पड़ता है कि मनकी चंचलतामें सृष्टि है और मनके विरोधमें सृष्टि नहीं है।

'विवेकदर्शनाभ्यास'--मनके कहे पर मत चलो। यह वासना दोनों तरफसे डुबोती है। यह मैं बड़े-बड़े अनुभवियोंसे प्राप्त और अपने अनुभवमें आयी हुई बात बताता हूँ कि जब हम अपनी वासनाके अनुसार काम करते हैं और सफल हो जाते हैं---पहले मैं सफलताकी ही बात करता हूँ—तो अभिमान होता है कि मैंने क्या बुद्धिमानी की कि यह काम बन गया ! इससे अपनेमें बुद्धिमानपनेका अहंकार आता है। यह अहंकार फिर दूसरी वासनामें लगाता है, फिर तीसरी वासनामें लगाता है। तब मनुष्य अहंकार और वासनाके चक्करमें परमार्थसे च्युत हो जाता है। अज्ञानपर फिर परत-पर-परत--और आवरण, और आवरण ! अज्ञान गाढ़ा हो जाता है।

और यदि वासनाके अनुसार काम न हुआ, तो ? विषाद होता है। विषाद होगा कि 'हाय-हाय ! हमारी वासना पूरी नहीं हुई।' तो अंतःकरणका, जो प्रसाद है वह भंग हो जाता है—अशुद्ध हो जाता है अंतःकरण।

तो अपनी वासनाके अनुसार जो कर्म करते हैं, वे सफलता मिले तब भी बुरे रास्तेपर जाते हैं और विफलता मिले तब भी बुरे रास्तेपर जाते हैं। क्योंकि अहंकार और वासनाकी सृष्टि ऐसी ही है।

जब करपात्रीजीका यज्ञ हुआ था, तब सन् ४५ की बात है; श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके सामने ही। एक सेठ थे बम्बई में। उसको सपने आते थे कि 'आज यह नम्बर आवेगा।' कोई सट्टे-बट्टेकी बात होगी, मैं तो नहीं जानता। कोई नम्बर आते थे। उसने बताया—'आज एक लाख कमाया—दो लाख कमाया—चार कमाया-पाँच-छः कमाया।' कोई बीस लाख रुपये उसके पास हो गये। उसने हमको बताया कि 'हमको नम्बर आते हैं सपने में।'

मैंने उसको कहा—'किसी दिन गलत आवेगा तब क्या होगा बाबू ?'

वह बोला—'गलत कैसे आवेगा ? हमारा देवता बता देता है।' एक दिन ऐसा गलत आया कि घरका तो सब गया ही, उसके मकान बिक गये, खाना-रहना मुश्किल हो गया। उसके एक मित्रने उसको तीन सौ रुपया महीना देकर उसका पालन-पोषण किया।

यह हमने क्यों बताया ? मनकी आवाज धोखेबाज हैं। कहो कि—'हमारा शुद्ध अन्तःकरण यह आवाज देता है' ! तो कितने संस्कार हैं तुम्हारे अन्तःकरणमें और कितनी वासनाएँ छिपी हुई हैं—यह तुम नहीं जानते हो ! इसलिए चलना चाहिए शास्त्रके अनुसार, गुरुके अनुसार, अपने इष्टदेवकी प्राप्ति के लिए, जिससे वासना शान्त हो, उसके लिए।

इस अन्तःकरणकी आवाज एक दिन ऐसा धोखा देती है कि आदमी कहींका नहीं रहता। 'इलहाम-इलहाम' जो बोलते हैं न, वह अन्तःप्रेरणा महात्माओंको होती है, सबको नहीं और वह कभी-कभी सच्ची भी होती है।

अपनी वासनाके विपरीत इलहाम हो तो उसे मानना और अपनी वासनाके अनुकूल इलहाम हो तो न मानना। जैसे किसीके लिए पाँच रुपया देनेका मन हो और अन्तःकरणसे प्रेरणा आवे कि 'मत दो'—तो आप क्या समझते हैं ? ईश्वरने मना किया है देनेसे ? ईश्वरने मना नहीं किया है, लोभने मना किया है। उसको आप पहचानते नहीं हैं।

अन्तःकरणसे प्रेरणा आवे कि 'इस लकड़ीसे ब्याह कर लो'—तो ईश्वरने आज्ञा दी है ? ईश्वरने नहीं, कामने आज्ञा दी है। यह नहीं पहचान सकता मनुष्य ! विवेकदर्शन अर्थात् पहले विवेक करो। विवेक माने विवेचन। विवेचनका मतलब क्या होता है ? दो चीजें एकमें मिल गयी हों,तो उनको अलग-अलग करना। इसको 'विवेक' कहते हैं।

आपको शब्दशास्त्रका भी ज्ञान थोड़ा-थोड़ा दें—'विवेचनम् विवेकः। विचिर पृथक् भावे ' अगर चना और गेहूँ दोनों मिल गये हों तो चनेको और गेहूँको बीन-बीनकर अलग करना विवेक है।

जहाँ आत्मा और जगत्-निर्वासन सत्य और वासनाजन्य विषय, मिल गये हैं, उनको विवेक करके अलग-अलग करना और जो विविक्त पदार्थ है, जो विवेकसे सिद्ध पदार्थ है, उसमें बारम्बार अपने मनको स्थापित करना—नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न अखण्ड सत्यमें मनको बारम्बार स्थापित करना विवेकदर्शनाभ्यास कहलाता है।

विवेकदर्शनका अभ्यास पक्का कैसे होगा ? वैराग्य से। वैराग्य माने ऐन्द्रियक सुख देनेवाली वस्तुओंका रंग अपने मनपर मत चढ़ने दो। वैराग्य मनमें होता है।

'विवेकदर्शनाभ्यास'की बात एकबार फिरसे आपको सुनाता हूँ। इसकी चार कक्षा बना लो—(१) विषय मालूम पड़ते हैं। विषयको जाननेवाला विषयी मालूम पड़ता है। यह प्रथम विवेक है। देह भी मालूम पड़ता है। शरीर को विषयी मत समझना। शरीर विषय है, विषयी नहीं है। जैसे मिट्टीका डला, जैसे घड़ी, जैसे किताब, जैसे फूलमाला, वैसे यह शरीर भी विषय है। उसको जाननेवाला उससे न्यारा है। यह प्रथम विवेक है—एक विषय और एक विषयी।

(२) जो विषय होगा, वह अनित्य होगा और जो विषयी होगा, वह नित्य होगा। यह दूसरा विवेक है।

(३) जो अनित्य होगा वह विकारी होगा और जो नित्य होगा वह निर्विकार होगा।

(४) जो विकारी होगा वह मिथ्या होगा और जो निर्विकार होगा वह सत्य होगा।

विषय अनित्य, विकारी, मिथ्या—ये चार बात संसारके बारेमें समझो। ज्ञाता (चैतन्य), नित्य, निर्विकार और सत्य—ये चार बातें हुई आत्माके बारे में।

दोनों तरफ चार-चार बातें हुईं ! सत्यमें मिथ्याका तो कोई अस्तित्व नहीं होता। मिथ्या वस्तुसे द्वैत नहीं होता। इसलिए पाँचवाँ विवेक निकला कि (५) आत्मा अद्वितीय है। यह पाँचवाँ फल निकला इस विचार का। इसको बोलते हैं—'विवेक दर्शनाभ्यास'। कहीं वेदान्तियोंसे सुन लिया कि—'वेदान्तमें दुहराना नहीं होता है'—और यह बात पक्की न बैठ जाय इसलिए हम आपको वैराग्य और विवेकदर्शनाभ्यासकी बात सुनाते हैं।

हमको एक महात्माने बचपनमें एक बात सुनायी थी, वह आपको सुनाते हैं। हमने पण्डितोंसे वेदान्त नहीं पढ़ा है। हमने 'वेदान्ताचार्य'की परीक्षा पास नहीं की है। इतने वेदान्ताचार्य तो आकर हमसे सीख जाते हैं कि—'वेदान्तका अभिप्राय क्या है ?' पण्डितोंसे नहीं पढ़ा, महात्माओंसे पढ़ा। महात्माओंसे अध्ययन नहीं किया, श्रवण किया। माने, आत्मसाक्षात्कारके लिए श्रवण-मनन-निदिध्यासन किया। पाण्डित्यके लिए वेदान्त-अध्ययन नहीं किया।

एक महात्माने बताया—'यदि तुम्हारे सामने ईश्वर प्रकट हो और वैराग्य और निवृत्तिके विरुद्ध आदेश दे, तो उससे कहना कि हमारे मनमें वासना होगी, उसे पूरी करनेके लिए तुम ऐसा कह रहे हो। हमको वैराग्य और निवृत्तिके विरुद्ध क्यों चलाते हो? हमारे राग और वासनाको मिटा दो न! तुम्हारा सामर्थ्य है। तुम कैसे ईश्वर हो कि हमारे अन्तःकरणकी अशुद्धिको दूर नहीं करते? उसको पूरी करनेकी सलाह देते हो? ईश्वर आवे तो ऐसे बात करना।' महात्माने सिखा दिया।

आपको शांकर सम्प्रदायकी रीति बताते हैं। शंकराचार्यने वेदान्त बताया इसलिए हम नहीं मानते हैं, वेदान्तके अनुसार उन्होंने प्रवचन किया, इसलिए हम उनको मानते हैं। माने, शंकराचार्यने बताया, इसलिए शंकराचार्य आज मान्य हैं। बड़ी अद्भुत बात है। यह शांकरसम्प्रदायमें मान्य है। मूर्ति तो लोग अब बनाने लगे हैं।

शंकराचार्य कहते हैं—कि यदि 'व्यासमें और ब्रह्मसूत्रमें मतभेद हो जाय, तो किसको मानोगे?' शंकराचार्यने यह प्रश्न उठाया है। उन्होंने लिखा 'उपनिषद्को मानना होगा, व्यासके सूत्रको नहीं। व्यासके सूत्रका अर्थ यदि उपनिषद्के विपरीत मालूम पड़े, तो बलात् उस सूत्रका अर्थ श्रुतिके अनुकूल कर लेना चाहिए। ऐसे लिखा है 'ब्रह्मसूत्र'के भाष्यमें।'

अब एक बात और बतावें? शंकराचार्यपर भी यह बात पड़ी है। सुरेश्वराचार्यने वार्तिकमें लिखा है कि—यहाँ श्रुति ऐसा बोलती है और शंकराचार्य ऐसा बोलते हैं, तो श्रुति और शंकराचार्यमें ही मतभेद मालूम पड़ता है।

वेदान्तियोंकी यह महिमा देखो! वे व्यक्तित्वसे अभिभूत नहीं हैं। अव्यक्त ब्रह्मसे एकता प्राप्त करना और व्यक्तित्वसे अभिभूत हो जाना परस्पर विरुद्ध है। सुरेश्वराचार्यने वहाँ लिखा है, 'यहाँ श्रुतिका अभिप्राय ऐसा मालूम पड़ता है और शंकराचार्यने भाष्य ऐसा किया है, तो श्रुतिका जो अभिप्राय है, वही ग्राह्य है। 'वार्तिक'में यह प्रसंग आया है। यह वार्तिक तो उक्तानुक्तविरुद्ध चिन्तापूर्वक लिखा हुआ है।

व्याकरणमें भी ऐसा होता है! महाभाष्यकार 'पतञ्जलि' कहते हैं—'पाणिनीको और बोलना चाहिए!' कात्यायन कहते हैं—'यह नियममें और रहना चाहिए' इसीसे बोलते हैं कि व्यास, शंकर और सुरेश्वराचार्य—ये तीनो वेदान्तके मूल हैं। तो क्या बात हुई?

यदि निवृत्ति और वैराग्यके विपरीत ईश्वर आदेश करे, तो प्रार्थना करनी चाहिए कि 'हमारी वासनाको पूरी मत करो, इसे मिटा दो। ऐसा आदेश तुम क्यों देते हो ?'

यदि श्रुति और उपनिषद्के विपरीत अनुभव मिले—कि हम आँख बन्द करके पचास करोड़ योजन ऊपर चढ़ गये। वहाँ हमें एक लोक मिला और वहाँ हमें कुल्लैमालिक मिले। तो बोलें—'बाबा, श्रुति कहती है कि परब्रह्म परमात्मा सर्वदेशमें है और देशातीत है। वह कहीं एक जगह बैठा हुआ नहीं है! श्रुतिके विपरीत तुम्हारा अनुभव गलत है।'

अनुभव प्रमाण नहीं है, श्रुति प्रमाण है। वैराग्यके विपरीत आदेश अप्रमाण है! श्रुतिके विपरीत अनुभव अप्रमाण है! पहुँचना पड़ेगा, समझना पड़ेगा। अपनी बुद्धि और श्रुतिमें विरोध हो, तो प्रमाण कौन ? अपनी बुद्धि या श्रुति ! श्रुति प्रमाण है। अपनी बुद्धिपर इतना अन्धविश्वास कि श्रुतिको ही अप्रामाणिक कह दो !

एक बात और है ! एक महात्माने हमारे बचपनमें बतायी थी। हमारे शास्त्रका अक्षर-अक्षर, पंक्ति-पंक्ति बिलकुल सच्चा है। यह तो जब सारी परिस्थितियोंका आकलन नहीं होता, कि किस परिस्थितिमें यह बात लागू होती है और सारे देशका, सारे विश्वका आकलन नहीं होता कि देशके किस कोनेमें यह बात सच्ची है और कालके किस हिस्सेमें यह बात सच्ची है, ऐसे समझो कि किस जातिके लिए, किस व्यक्तिके लिए यह बात सच्ची है; जब मनुष्यकी पूर्ण दृष्टि नहीं होती, तब शास्त्र मिथ्या मालूम पड़ता है। पूर्णदृष्टि-से देखो तो किसी-न-किसी देशमें, किसी-न-किसी कालमें, किसी-न-किसी जातिके लिए किसी-न-किसी व्यक्तिके लिए वह बिलकुल सच्चा होगा। यह बचपनका हमारा संस्कार है।

संस्कार ही तो है! महात्माने यज्ञोपवीत कर दिया। यह यज्ञोपवीत-संस्कार हो गया। संस्कार कर दिया, पर वह छूटता नहीं और ऐसा ही लगता कि 'यह ऐसा ही ठीक है।' विज्ञान आते हैं और जाते हैं। यन्त्र बनते हैं और बिगड़ते हैं। मनुष्योंमें कोई हवा बहती है और चलती है। अहिंसाकी हवा आयी तो लोगोंने कहा—'हिंसाकी जरूरत नहीं है। जब किसीने आक्रमण कर दिया, तो बोले—'हिंसाकी जरूरत है।'

शास्त्रमें हिंसा और अहिंसा दोनोंकी जरूरत पहलेसे लिखी है। जब अहिंसक बने, तो हिंसाशास्त्र छोड़ दिया और जब हिंसक बने तो अहिंसाशास्त्र छोड़ दिया। शास्त्रमें तो दोनों परिस्थितिके लिए दोनों बात लिखी हुई हैं। •

: २२ :

आत्मसत्यानुबोधसे अमनीभाव

आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ॥३२॥

अर्थ :—जब आत्मसत्यके अनुबोध होनेपर मन संकल्प नहीं करता, उस समय वह अमनी भावको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि तब ग्राह्यका अभाव होनेसे मन ग्रहणके विकल्पसे रहित हो जाता है।

श्रुतिने स्पष्ट वर्णन किया कि यह संसार मनके साथ ही है। जब सुषुप्तिमें या समाधिमें मन नहीं रहता है, तब संसार भी नहीं रहता है। ऐसे बताया कि सुषुप्तिमें पिता-पिता नहीं रहता—

अत्र पिता अपिता भवति माता अमाता भवति।
वेदा अवेदाः भवति देवा अदेवा भवन्ति॥

(बृहद० ४.३.२२)

उस समय माता-माता नहीं रहती, उस समय देवता-देवता नहीं रहते, उस समय वेद-वेद नहीं रहते।

सुषुप्ति कालमें और समाधिकालमें जब मन सो जाता है तब द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती। जबतक मन जागता है, तबतक द्वैतकी उपलब्धि है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनसे जुदा द्वैत नहीं है।

मिट्टी है तो घड़ा है, मिट्टी नहीं है तो घड़ा नहीं है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि मिट्टीसे जुदा घड़ा नहीं है। यह युक्ति हुई। यहाँ यह बात ध्यान रखना कि यहाँ समाधि और सुषुप्तिका विवेक नहीं किया गया है। उनको अलग-अलग बताना हो तो हम दस बात बता सकते हैं कि सुषुप्तिमें और समाधिमें क्या फरक है?

सुषुप्ति स्वभाव-सिद्ध है, समाधि प्रयत्न-सिद्ध है। सुषुप्ति तमस्का आधिक्य है, समाधि सत्त्वकी अधिकता है। सुषुप्ति अन्धकाररूप है, समाधि प्रकाशरूप है। ये सब भेद हैं दोनोंमें। भेदका निरूपण करनेके लिए हम अभी समाधि-सुषुप्तिका नाम नहीं ले रहे हैं।

हम तो यह ले रहे हैं नाम कि मन जिस हालतमें नहीं रहता, उस हालतमें द्वैत नहीं भासता, द्वैतकी प्रतीति नहीं होती। तो द्वैतका भान मन ही है।

बोले—'समाधिमें सुषुप्तिमें द्वैत न मालूम पड़े, परन्तु रहता तो है!'

बोले—'हम प्रमाणके विरुद्ध कोई बात नहीं करते। अगर प्रमाणसे यह बात सिद्ध हो जाय कि सूर्य पृथिवीसे तेरह लाख गुना बड़ा है, तो हमारी आँख चाहे उसको जितना छोटा बतावे, हम उसे मान नहीं सकते। प्रमाणसे यह सिद्ध हो जाय कि आकाशमें नीलिमा नहीं होती, तो आँख भले बतावे, कि नीलिमा होती है, उसको हम नहीं मानते।

प्रमाण-प्रमेयके बारेमें दो मत है :—(१) 'मानाधीना मेयसिद्धिः।' मानके अधोन है मेयकी सिद्धि जो कोई वस्तु सिद्धि होती है, वह प्रमाणसे सिद्ध होती है। पहले मानकी सिद्धि और फिर मेयकी सिद्धि। (२) 'मेया धोना मानसिद्धिः।' पहले जब मेय वस्तु रहती है, तब प्रमाणकी सिद्धि होती है।

'अच्छा, वेदांतीजी! आप बता दो! इस सम्बन्धमें आपका क्या मत है?'

'हमारा मत यह है कि 'मेयाधीना मानसिद्धि'से मानका खण्डन हो गया और 'मानाधीना मेयसिद्धि'से मेयका खण्डन हो गया। मान-मेय विहीन जो दोनोंका प्रकाशक है, वह स्वतः सिद्ध, स्वयं प्रकाश, स्वयं सत्, स्वयं चित्, स्वयं प्रिय है! केवल आत्मवस्तु तो सत्य है और बाकी सब परस्पर-विरुद्ध, अतएव परस्पर-खण्डित, अनिर्वचनीय है।

अगर उनको बहुत-बहुत आदर दिया जाय, तो 'मानाधीना मेयसिद्धि भी अनिर्वचनीय है और 'मेयाधीना मानसिद्धि' भी अनिर्वचनीय है। उनका बहुत आदर करो तो उनको अनिर्वचनोयको कक्षामें निक्षिप्त कर दो।

अब? प्रमाणसे यह बात सिद्ध होती है कि मनके बिना प्रपंचकी उपलब्धि नहीं है। 'अमनीभाव' कैसे होता है? 'मनसो ह्यमनीभावे'—मन अमन कैसे होता है?

जिनको गहराईसे वेदान्तका ज्ञान नहीं है जिन्होंने केवल पोथी पढ़कर वेदान्तकी परीक्षा दे दी है, वह तो केवल सर्टिफिकेट लेनेके लिए ऐसा करते हैं। वे 'अमनीभाव'का अर्थ क्या करेंगे कि किसी अभ्यास-वैराग्यके योगसे दृश्य-में वैराग्य हुआ और आत्माकार वृत्तिका अभ्यास किया; अभ्यासकी दृढ़तासे, गाढ़तासे मन निःसंकल्प होकर बैठ गया; तो मनका अमनोभाव हो गया। जो 'समना' है वह प्रयत्नके द्वारा संपद्यमान होकर 'अमना' होता है।

'समना'का 'अमना' होना कैसे ? वे कहते हैं—वैराग्य और अभ्याससे। क्योंकि वैराग्य नहीं होगा तो मन दृश्यको छोड़ेगा नहीं और अभ्यास नहीं करोगे तो मन एक जगह बैठेगा नहीं। जहाँ फँसा है, वहाँसे छुड़ानेके लिए तो वैराग्य चाहिए और जहाँ जमाना है, वहाँ जमानेके लिए अभ्यास चाहिए। बारम्बार-बारम्बार वहीं जमाओ।

हमारे एक महात्मा बताते हैं—'एक राजा था। उसे एक लड़कीकी शादी करनी थी। वह पशुओंका बड़ा प्रेमी था। उनका अध्ययन करता था। उसने घोषणा कर दी कि 'जो हमारी बकरीका पेट भर दे, उसके साथ हम अपनी लड़कीकी शादी कर दें और आधा राज्य भी दे दें।'

अब महाराज, बड़े-बड़े नौजवान आये। खूब खिलावें उसे अच्छी-अच्छी चीज! हरी-हरी घास खिलावें, हलवा-पूरी खिलावें और राजाके सामने ले आवें कि 'महाराज! भर दिया पेट।' राजा कोई चीज रख दे कि 'लो, रखो उसके सामने।' तो फिर बकरी उसमें मुँह मार दे। खाने लग जाय उसको।

शर्त यह थी कि जो बकरीका पेट नहीं भर सकेगा, उसे जेलखानेमें डाल देंगे। बड़े-बड़े नौजवान जेलमें जाने लगे। लड़कीका और आधे राज्यका लोभ! बकरीका पेट भरने जायँ और भरे नहीं।

एक था गड़ेरिया। जिंदगीभर उसने बकरी पाली थी। उसने राजा साहबको कहा—'आप बकरी हमें दे दीजिये—दिनभरके लिए। हम बकरीका पेट भर देंगे।'

राजाको तो विश्वास था कि पेट भरेगा नहीं। गड़ेरियेने बकरीको तो बाँध दिया और एक बढ़िया चीज अपने हाथमें लेकर उसके सामने जाय। जब बकरी उसमें मुँह मारे, तो लेकर एक डण्डा उसके मुँहपर मारे। तब बकरी मुँह फेरकर खड़ी हो जाय। वह थोड़ी देरमें बढ़िया-बढ़िया चीज हाथमें लेकर फिर आवे और बकरी मुँह मारने जाय कि डण्डा लगे। अब बकरी समझ गयी कि किसी चीजमें मुँह मारेंगे तो डंडा लगेगा।

दिन भर भूखा रखा बकरीको, पर डंडेसे मार-मारकर परेशान कर दिया। अब उसके सामने खानेकी चीज रखो तो मुँह घुमाकर खड़ी हो जाय। फिर उधर ले जाय गड़ेरिया, फिर उधर ले जाय। दिन भरमें अभ्यास करा दिया कि किसी चीजमें मुँह मारोगी तो डंडा लगेगा। बादमें ले गया बकरीको राजाके पास।

बकरी तो दिनभरकी भूखी। राजा बहुत बढ़िया हरी घास लेकर उसके सामने आया—'देखो, खाती है कि नहीं खाती है।'

गड़ेरियेने कहा—'महाराज, आप ही खिलाइये। हम तो सिर्फ खड़े रहते हैं।' अब जो हरी घास लेकर राजा गया बकरीके पास तो पीछे-पीछे गड़ेरिया। गड़ेरियाको देखते ही बकरी मुँह फेरकर खड़ी हो गयी। उसने घासमें मुँह नहीं मारा। गड़ेरियेने कहा—'देखो महाराज, बकरीका पेट भर गया ?'

मनकी जो वृत्ति है, वह बकरीके समान है। विवेकका डंडा मार-मारकर इसे ठीक करो। इसकी आदत बदलो तो यह बदले। जो लोग साधनके पक्षमें ज्यादा हैं, योगके पक्षमें ज्यादा हैं, वे लोग डंडा मार-मारकर इस मनको विरक्त बनाना चाहते हैं।

इसमें दो पक्ष हैं—अपनी जगहपर जमानेके लिए अभ्यास चाहिए। और जहाँ दुनियामें मन फँसा हुआ है, वहाँसे मनको हटानेके लिए वैराग्य चाहिए। 'योगदर्शन' में आया है—

अभ्यासवैराग्याभ्याम् तन्निरोधः। (योग० १.१२)

गीतामें आया—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (गीता ६.३५)

मनको ग्रहण करनेका यही उपाय है। परन्तु वेदांतियोंका उपाय विलक्षण है—

कथं पुनरमनी भावः ? (भाष्य)

वेदान्तियोंका अमनीभाव कैसे होता है ? यहाँ कोई अग्निहोत्र नहीं है, कोई इष्टदेवता नहीं है, कि उसमें लेजाकर मनको सधाये। यह प्राणायाम-प्रत्याहार नहीं है, धारणाध्यान नहीं है और फिर भी मनका अमनीभाव सिद्ध है।

एतेन योगप्रत्युक्तः।

वेदान्तदर्शनमें तो योगके सिद्धान्तका खण्डन किया हुआ है। वे कहते हैं कि योगी लोग तीन बात छोड़ दें तो हमारी-उनकी एकता है—

आत्मभेदो जगत् सत्यं ईशोऽन्यः इति चेत् त्रयं।
त्रैः हि त्यजते तदा सांख्ययोगवेदान्त सम्मतिः॥

आत्मा अनेक हैं, जगत् सत्य है, ईश्वर अन्य है—ये तीन बात यदि योगी छोड़ दें तो हमारी-उनकी सम्मति है। तीन बातका हमारा-उनका मतभेद है।

वेदान्तीको अमनीभाव कैसे प्राप्त होगा ?

आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा।

शंकराचार्य भगवान्‌ने अद्भुत बात कही। आत्मसत्यका बोध होवे—

आत्मैव सत्यम् आत्मसत्यम् मृत्तिकावत्।

'छान्दोग्य उपनिषद्' की श्रुति है—

'मृत्तिकेत्येव सत्यम्', 'आपः इत्येव सत्यम्,' 'अग्नि इत्येव सत्यम्', 'वायु इत्येव सत्यम्', 'आकाश इत्येव सत्यम्'।

वाचारंभणं विकारो नामधेयम्।' (छा० ६.१.४)

दुनियामें जो छोटी-छोटी चीजें दिखायी पड़ती हैं, बननेवाली और बिगड़नेवाली, यह सब विकार हैं उनकी तारीफ क्या है ? 'नामधेयम्'—वह नाम है। 'वाचारम्भणम्'—वाणीसे कही जाती हैं और दरअसलमें नहीं हैं।

सत्य तो तत्त्व है। बननेवाली और बिगड़नेवाली जो चीजें हैं, वे सत्य नहीं हैं। वेदान्तमें सत्यकी एक परिभाषा है—'यदबाधितं तत् सत्यम्'। जो कभी किसी प्रमाणसे बाधित न हो, उसका नाम सत्य है! किसी कालमें बाधित न हो, किसी देशमें बाधित न हो, किसी आकारमें बाधित न हो। बाधित होना मिथ्याका लक्षण है। जो सर्वदेशमें सर्वकालमें और सर्ववस्तुमें अबाधित वस्तु है वह सत्य है। जैसे आत्मा जाग्रतमें है, स्वप्नमें है, सुषुप्तिमें है यह ब्रह्मदर्शन है।

तददन्यत्वम् आरंभण शब्दादिभ्यः। (ब्रह्मसूत्र २.१.१४)

यह वेदान्तदर्शनका सूत्र है। अब वे कहते हैं कि शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे केवल अपने आत्माको सत्य जानना, आत्मसत्यानुबोध है। मशीनसे नहीं, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्रसे नहीं। कोई टेक्नीक-लौकिक इसके लिए नहीं है। कोई इसके लिए मन्त्र नहीं है कि आओ, हम तुम्हें किसी मन्त्रसे तत्त्वज्ञान करा देते हैं।

किसी जन्तरसे, मन्तरसे, तन्तरसे आत्मज्ञान नहीं होता। सम्पूर्ण प्रमाण-प्रमेय भावका निषेध कर देनेके अनन्तर जिनका निषेध सम्भव नहीं वही आत्मा है। वेदांतमें वृत्तिप्रभाकर प्रमाण-प्रमेयका विचार करता है। 'विचार-सागर' साधन-साध्यका विचार करता है; परन्तु प्रमाण-प्रमेय तथा साधन-साध्यका विचार निषेधके लिए है।

कोई ऐसा औजार हमारे पास नहीं है जिसके द्वारा हम आत्माकी अद्वितीयताको, ब्रह्मताको पकड़ लें। ऐसी कोई सँड़ासी दुनियामें नहीं है, जिसके द्वारा हम आत्माकी अद्वितीयताको, ब्रह्मताको पकड़ लें। ऐसी कोई सँड़ासी आजतक न देहकी बनी, न मनकी बनी, न बुद्धिकी बनी जिससे आत्माको पकड़ा जा सके और आत्माका अमृतरस शीशियोंमें बिके कि मरनेपर मुँहमें डाल दो। अमृतवटी बिके बाजारमें ऐसा नहीं हो सकता।

आचार्यका नियामक भी शास्त्र है। यदि कोई आचार्य उपनिषद्के विरुद्ध बोले, तो उसका आचार्यत्व ही क्षीण हो गया। उपनिषद् बोले और ऐक्यप्रति-

पादक न हो, द्वैतप्रतिपादक हो तो ? द्वैतप्रतिपादक उपनिषद् अपराविद्या है, पराविद्या नहीं है; वह भी बाधित है।

केवल ऐक्यप्रतिपादक उपनिषद् हो और तदनुवर्ती आचार्य वह जब उपदेश करता है और जब बोध होता है कि 'आत्मैव सत्यम्'—आत्मा ही सत्य है। आत्मातिरिक्त कोई वस्तु सत्य नहीं है, तब सत्यानुबोध होता है।

तेन संकल्प्या भावतया न संकल्पयते।

जब आत्मसत्यका बोध हुआ, तब यह बोध हुआ कि 'आत्मा ही सत्य है।' आत्माके अतिरिक्त दूसरा कुछ सत्य नहीं है। तब संकल्प किसका करेंगे ? संकल्पका विषय बाधित हो गया।

तेन संकल्प्याभावात् न संकल्पयते।

बोले—'स्वर्ग जायेंगे।' स्वर्ग तो बाधित हो गया। 'वैकुण्ठ जायेंगे।' वह भी बाधित हो गया।

अभी तो यह छोटी बात सुना रहा हूँ। अब उससे बड़ी बात सुनायेंगे। बात इससे बड़ी है। संकल्प ही मनका व्यावहारिक रूप है। मनकी लम्बाई-चौड़ाई आपको मालूम है ? मन कितना लम्बा ? कितना चौड़ा ? अरे, वह तो मनका विषय जितना लम्बा-चौड़ा होता है, मनको भी उतना ही लम्बा-चौड़ा मानते हैं। मनका रंग आपको मालूम है ? लाल-पीला-काला-नीला—कुछ ? मनका वजन आपको मालूम है ? कितना गुरुत्व है, कितना भार है मनमें ? यह सब ऐसा ही है। मनकी उमर मालूम है आपको ? मनकी उमर मालूम नहीं है कि कब पैदा हुआ और कब मरेगा यह पट्ठा ?

न तो मनको उमर मालूम, न रंग, न वजन, न लम्बाई-चौड़ाई। मनकी रेखा मालूम नहीं। भले ही मनोवैज्ञानिक लोग कागजपर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी कोई लम्बी, कोई गोल लकीर खींचकर बता दें और कहें कि यह मनकी आकृति है।

आत्मसत्यमें जो संकल्प उदय होता है, उससे मनकी सिद्धि होती है। संकल्पमात्रसे सिद्ध यह मन है। संकल्प कैसे सिद्ध होता है ? संकल्प्यापेक्षया। जिस वस्तुका संकल्प होता है उसकी अपेक्षासे सिद्ध होता है।

जब 'सर्वं आत्मा'—सब आत्मा ही है, यह ज्ञान हो गया, तब संकल्पका कोई विषय नहीं रहा, अतः संकल्प भी नहीं रहा। संकल्प बाधित हो गया। जब संकल्प बाधित हुआ, तो मनका मनस्व न रहा। मनकी स्फुरणा ही बन्द। एक बात आपको सुनाते हैं—

एक आये चेलाजी। ऐसे-ऐसे चेला आते हैं कि हद्द ही हो जाती है।

एक आदमीने हमसे कहा कि—'अगर आप हमारे लिए रोते नहीं हैं, दुःखी होते नहीं हैं, तो आपका हमसे प्रेम है, यह बात हम कैसे समझ सकते हैं?' बिलकुल ऐसे बोला। यह तो हमने मामूली बात सुनायी। जो हमको रुलाना चाहता है, क्या उसको हम अपना प्रेमी मानें?

इतना ही नहीं है। इसके आगे सुनाते हैं। एक आदमीने कहा—'मरनेके बाद आत्माका अस्तित्व रहता है, इसमें क्या प्रमाण है? और जन्मनेके पहले आत्माका अस्तित्व था, इसमें क्या प्रमाण है?' थोड़ा शास्त्र, अनुमानमें बताने लगा तो बोला—'ऐसे नहीं, पहले तुम मर जाओ; मरकर फिर आओ और अपनी सत्ता सिद्ध करो। तब हम समझेंगे कि मरनेके बाद आत्मा रहती है।' आप लोगोंको तो हँसी आती है न! हमको तो उसका समाधान करना पड़ता है। हमको तो इस प्रश्नका भी उत्तर देना पड़ता है।

'अमनीभाव' बताता हूँ। 'न संकल्पयते यदा'—आत्माके सिवाय दूसरा कोई सत्य नहीं है। इसलिए जो संकल्प जिसके बारेमें उठता है, वह भी आत्मा है और जिसमें संकल्प उठता है वह भी आत्मा है और संकल्प भी आत्मा है। इसलिए न केवल संकल्पके विषयका अत्यन्ताभाव हो गया, बल्कि स्वयं संकल्प और मनका भी अत्यन्ताभाव हो गया।

चेलाजीने कहा—'महाराज! जब आपका संकल्प उठना बन्द हो जायगा और आपका बोलना बन्द हो जायगा, तब हम समझेंगे कि आपको अमनीभाव प्राप्त हुआ।'

हमने जो दो दृष्टान्त दिये, उसके साथ इसको मिलाओ। हम रो-रोकर दुःखी होकर अपनेको प्रेमी सिद्ध करें और मरकर आत्माका अस्तित्व सिद्ध करें और चुप होकर और अमनीभाव प्राप्त करके शिष्यको उपदेश करें। यह कैसे बनेगा? उल्टी बात हुई वह। जड़ीभावका नाम अमनीभाव नहीं है, यह बात वेदांतीसे सीखनी पड़ेगी।

बोलता हुआ भी अमन है और सोचता हुआ भी अमन है, यह बात समझनी पड़ेगी। क्योंकि संकल्प जिसके बारेमें उठते हैं, उसकी सत्ता नहीं है। संकल्प स्वयं आत्मामें जुदा नहीं है और जिस मनमें-से संकल्प उठता है वह मन भी आत्मासे जुदा नहीं है। संकल्पकी कारणावस्था मन और मनकी कार्यावस्था संकल्प, संकल्पकी कारण-कार्यावस्था माने मन और संकल्प—मनका व्यावहारिक रूप संकल्प और संकल्पका बीजरूप मन—ये दोनों जहाँ बाधित हो गये, वह आत्मदेव तो सदा अमना है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुः अग्र्यं पुरुषं महान्तम्।
(श्वेता० ३.१९)

पग बिनु चले सुने बिनु काना। कर बिनु करम करे विधि नाना॥
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु वाणी वक्ता बड़ योगी॥
त्वक् बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहे प्राण बिनु पास और देखा,
अस सब भाँति अलौकिक करनी।....

यही है महाराज ! तो मन भी वही, संकल्प भी वही और संकल्पका विषय भी वही।

'न संकल्पयते यदा'—इसका अर्थ है कि तत्त्वज्ञान हो गया तो अमनीभावकी प्राप्ति हो गयी, मनकी सत्ता बाधित हो गयी, संकल्पकी सत्ता बाधित हो गयी। अपने स्वरूपके अतिरिक्त कुछ रहा नहीं। तत्त्वज्ञानीको जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड दिखते हैं, उसमें नरक-स्वर्ग, पशु-पक्षी, यमदूत, जुआँ-जोंक-खटमल, खाँसी-कफ सबका सब अपना आत्मा ही है, यह बोध हो गया। तब यह मनीराम कहाँ रहे ? मनीरामका अलग न रहना ही अमनीभाव है।

स्फुरति चेदात्मैव इति न विवेकी दृष्ट्या मनो नाम अस्ति।

यदि मनकी स्फुरणा होती है तो वह आत्मा ही है; क्योंकि तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे मन नामकी कोई दूसरी वस्तु नहीं है; वह अमन दशाको प्राप्त हो गया है।

अब एक-दो इधर-उधरको बात ! क्या ?

(१) जबतक हम स्थूल शरीर या सूक्ष्म शरीर या 'अज्ञोऽहम्' इत्याकारक अभिमान—माने कारण या अविद्या शरीरमें—अविद्याको ही कारण शरीर बोलते हैं—'अहं' करके बैठे हुए हैं, तबतक मेरा शरीर, मेरा अन्तःकरण और मेरा अज्ञान, मैं अज्ञानी—यह सब भी बना रहेगा।

तत्त्वज्ञानका अर्थ हुआ, 'मैं ब्रह्म हूँ।' सामान्यरूपसे इस बातको समझो—जब 'मैं ब्रह्म हूँ' तो मेरे अन्दर न माया, न अविद्या ! जब माया—अविद्या नहीं, तो अविद्याका कार्य अन्तःकरण कहाँ ? जब अन्तःकरण ही नहीं, तो जो कुछ संकल्पादि दिखायी पड़ रहा है वह काल अन्तःकरणाभास दिखायी पड़ रहा है।

अन्तःकरणाभास माने ! जैसे सपनेमें हजारों आदमी दिखायी पड़ते हैं तो वे हजारों मनवाले हैं कि नहीं ? हजारों आँखवाले हैं कि नहीं ? हजारों अपने-

अपने संकल्पवाले हैं कि नहीं ? तो हजारों मनुष्याभास, अन्तःकरणाभाससे युक्त प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः वहाँ न कोई मनुष्य है, न कोई अन्तःकरण है।

यह जो मनुष्य ज्ञानी बना बैठा है, वह मनुष्य और उसमें जो अन्तःकरण है सो—वह सब आभासरूप है। अन्तःकरणमें संकल्प उठे कि न उठे, यह चिन्ता ब्रह्मको होगी ?

आज ज्ञानीजीको बड़ी चिन्ता है, क्योंकि आज उनके मनमें कोई वासना उठी। आज ज्ञानीजीको बड़ी चिन्ता है, क्योंकि आज उनके मनमें कोई संकल्प उठ गया। क्यों ज्ञानीजी ? तुम्हारा मन तो बाधित हो गया ! तुम ब्रह्म हो, फिर यह चिन्ता कैसी ?

ज्ञानीका कर्तव्य यह नहीं है कि प्राणायाम-प्रत्याहार करके मनको शान्त करे। ज्ञानीकी दृष्टिमें अन्तःकरणका बाधित होना माने स्वरूपदृष्टिसे अन्तः-करणका न होना ही अमनीभाव है।

उसके संकल्पके उत्थानमें भी 'संकल्पका अत्यन्ताभाव अपने स्वरूपमें है'—यह बोध ही उसका स्वरूप है और यह बोध ही उसका सर्वस्व है।

(२) अब इस बातको हम दूसरे ढंगसे सुनाते हैं। यह हमारी खास बहुत खोज की हुई चीज है। आपको तो यहाँ कथामें बैठे-बैठे सैकड़ों आदमियोंको ऐसे ही सुना देते हैं। हमारे तो इसमें बरसों लगे हैं। कहाँ-कहाँकी खाक छाननी पड़ी है। नंगे पाँव, नंगे सिर, गंगा किनारे भटकना पड़ा है। उस साधुके पास गये, उस महात्माके पास गये, उससे प्रश्न किया, उससे प्रश्न किया।

'संकल्पयते'—में कर्ता होता है। पहले आप 'संकल्पयते'की स्थिति देखो। जब पहले हम संकल्प करते हैं, तो संकल्पमें वृत्ति होती है। संकल्पका विषय होता है।

परन्तु 'न संकल्पते'में भी बिलकुल तीनों चीजें होती हैं—'न संकल्प-यते'का भी कर्ता होता है। 'हमने संकल्प किया, हमने संकल्प नहीं किया ! हमने संकल्प बन्द कर दिया।' ये पट्ठे जब पाँच रुपया कमाकर खुश होते हैं कि—'हमने पाँच रुपया कमाया' तो इसका अभिमान होता है, पाँच रुपया देनेके बाद भी अभिमान होता है कि हमने पांच रुपया दिया। इसीसे शास्त्रमें आता है कि इन लोगोंके सम्पर्कसे—जिनको कमानेका अभिमान है उनसे भी और जिनको देनेका अभिमान है उनसे भी—दोनोंसे ही बचना चाहिए। क्योंकि वे तो पैसेकी वजहसे ही बड़े बनते हैं। पैसा आनेसे बड़ा और पैसा देनेसे बड़ा। उनमें अपना तो बड़प्पन कुछ है नहीं। बड़प्पन तो सारा पैसेका है। पैसेने आकर बड़ा

बनाया। पैसेने जाकर बड़ा बनाया। वह खुद क्या है? उनके अन्दर तो ठनठनपाल! कुछ निकला नहीं।

जो लोग दूसरेके सहारे बड़े हैं, मिनिस्टरके चपरासी, उनका मिनिस्टर धन है और वे हुए मिनिस्टरके चपरासी! बिहारमें एक सज्जन हुए चीफ मिनिस्टर। पुरानी बात है। उन्होंने एक सेठको चिट्ठी लिखवायी कि 'हमारे जमाईकी जीविकाका बन्दोबस्त करो।'

पाँच हजार बीघा जमीन जमाईके नामसे सेठने लिख दी। 'लो महाराज, खेती करो!' ट्रैक्टर आये और खेती शुरू हो गयी। थोड़े दिनोंके बाद मिनिस्टर उतर गये! चढ़ती जवानी उतरनेमें क्या देर लगती है? हमारे सामने कितनी लड़कियाँ पैदा हुईं, जवान हुईं और अब बुढ़िया हो गयीं। छह-छह, आठ-आठ बच्चे हो गये। यह जवानी जाते कितनी देर लगती है? झूठा ही अभिमान है। दुनियाकी यह जवानी रहनेवाली नहीं है। इस संसारकी वस्तु रहनेवाली नहीं है।

जब यह मिनिस्टर उतर गये तो उस सेठने वह जमीन छीन ली। फिर जमाई बाबू ज्यों-के-त्यों!

जो लोग दुनियाकी किसी चीजको लेकर बड़े बनते हैं, चाहे ग्रहणसे चाहे त्यागसे, उनके बड़प्पनकी कोई कीमत नहीं हैं। 'न संकल्पयते'में भी कर्ता है, कि मैं संकल्प नहीं करता हूँ। एक अन्तःकरणका अभिमानी हुए बिना संकल्पका करना या न करना नहीं बनता, हम ऐसे सोचते थे और महात्माओंसे जाकर पूछते थे—क्यों जी, हम ब्रह्म हैं तो चींटीका अन्तःकरण मेरा। खटमलका अन्तःकरण मेरा। इन्द्रका अन्तःकरण मेरा। ब्रह्मा-विष्णु-महेशका अन्तःकरण मेरा। अब तुम यह कहते हो कि यह रहे और यह न रहे? सिर्फ इस अन्तःकरणकी जिम्मेदारी हमपर काहेको डालते हो?

अगर कोई साधन है तो यह है कि यह अंतःकरण न सच्चा है, यह अंतःकरण न मेरा है, यह अंतःकरण न मैं हूँ।

तो, 'न संकल्पयते'में भी एक कर्ता है और उसमें 'न संकल्पयते'की एक वृत्तिकी शान्त दशा है। वहाँ भी अभाव वृत्तिका विषय है। क्योंकि निद्राको जब अभाववृत्त्यालम्बना मानते हैं तो वृत्तिकी शान्तिको शान्तवृत्त्यालम्बना मानना ही पड़ेगा। वहाँ भी अभावरूप विषयको लेकर संकल्पको कर्ताके द्वारा एक स्थितिमें डाला गया है। इसलिए समाधिका नाम 'न संकल्पयते' नहीं है और षुसुप्तिका नाम भी 'न संकल्पयते' नहीं है।

निद्रा—सो जानेसे हम संकल्पमुक्त नहीं हुए। समाधि लग जानेसे हम संकल्पमुक्त नहीं हुए। वैराग्यसे हम संकल्पमुक्त नहीं हुए। आत्माकार वृत्तिसे भी हम संकल्पमुक्त नहीं हुए, क्योंकि आत्माकारवृत्ति तो एक अंतःकरणका नशा है। आत्माकारवृत्ति तो एक अंतःकरणकी खुमारी है। उसके साथ हमारा क्या नाता? क्या रिश्ता?

तो फिर अमनस्कता कब पैदा होती है? अमनस्कता तब पैदा होती है, जब—

स्फुरति चेत् आत्मैव इति विवेकी दृष्ट्या।

सारे संसारकी स्फुरणा हो रही है। परन्तु जो स्फुरण हो रहा है, वह आत्मा ही है। अपने सिवा तो दूसरा कुछ है नहीं। वह वृत्ति भी आत्मा, वह प्रपंच भी आत्मा, अपना स्वरूप भी आत्मा। आत्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु तो है ही नहीं। तब?

न मनो नामास्ति—मनकी सत्ता मिट गयी। मनका आस्तित्व मिट गया। यह फुरफुराती चीज आत्मा ही है। यह स्फुरणका विषय बनती हुई भी आत्मा ही है। स्फुरणका आश्रय बनती हुई भी आत्मा ही है।

बाध दशा है—उसमें मन चाहे शान्त रहे, चाहे फुरे, इसमें आग्रह नहीं है। मन चाहे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डरूपमें फुरे, चाहे शान्त हो करके अपनेको ब्रह्मसे भिन्न न दिखावे, अपने आश्रयसे, अपने अधिष्ठानसे भिन्न न दिखावे। सर्प रज्जुसे अपनेको अलग दिखावे कि न दिखावे, वह रज्जुके सिवा और कुछ नहीं है।

यह मन भी सर्प है। कैसे सर्प है? 'सर्पणात् सर्पः' सर्पण करता है माने यहाँसे वहाँ जाना-आना और सो भी टेढ़े चलना। यह साँप हमेशा टेढ़ा चलता है। कभी सीधा नहीं चलता। 'सर्प' धातु गत्यर्थक है—जो रेंगे। अमनस्तां तदा याति।

(३) आत्मसत्यानुबोधेन—श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके सामने शंकर भगवान् प्रकट हुए। जब वे साधक थे; तबकी बात है। बड़ी व्याकुलता थी उनके चित्तमें। शंकर भगवान्ने दो श्लोक बाबाको बताये।

आप मनीरामकी शक्तिको नहीं जानते। पत्नी ही बना लेते हैं, सो बात नहीं, हम तुम्हारे साथ मरेंगे—यह भी मान लेते हैं। प्रेयसी-प्रीतम बना लेते हैं, इतनी ही ताकत नहीं है; बच्चे भी यही बना लेते हैं। माँ-बाप भी यही बनाते हैं। धन-दौलत भी यही बनाते हैं। ब्रह्माण्ड भो यही बनाते हैं, कोटि-

कोटि ब्रह्माण्ड भी यही बनाते हैं। ऐसे शक्तिशाली मनका निषेध करना है। मनके निषेधमें समस्त अनात्माका निषेध हो जाता है।

अब यह देखो, कि ऐसी कौन-सी वस्तु रह गयी, जिसका निषेध नहीं हुआ ?

अपना निषेध नहीं हो सकता। तो अपना आपा ही रह सकता है। वही निषेधावधिरूप तुम हो ! शंकर भगवान्‌ने बाबाको यही बताया था।

नेतिनेतीति नेतीति शेषितं यत्परं पदम्।
निराकर्तुमशक्यत्वात् तदस्मीति सुखी भव॥

तुम ईश्वरको न बोल सकते हो कि 'ईश्वर' नहीं है। इतना सामर्थ्य है तुम्हारे अन्दर ? दूसरा जीव नहीं है, दूसरा जगत् नहीं है। अपने सिवाय तुम सबको काट सकते हो, लेकिन तुम जरा अपनेको तो काटो ! काटनेवाला कौन ? देश कट गया, काल कट गया, वस्तु कट गयी, स्वगत कट गया, सजातीय कट गया, विजातीय कट गया, अन्य रूपसे ईश्वर कट गया, अन्यरूपसे दृश्यजगत् कट गया ! चैतन्यमें ईश्वर, जगत् और द्वितीयत्व कट गया, लेकिन तुम कहो कि 'मैं नहीं हूँ ?'

निराकर्तुमशक्यत्वात्—अपने अभावका अनुभव कोई नहीं कर सकता। वही तुम हो। **तन्मयो भव सर्वदा।**

जड़तां वर्जयित्वैतां शिलाया हृदयं च यत्।
अमनस्कं महाबाहो तन्मयो भव सर्वदा॥

अमनस्क—कौन एक-एक चीजका नाम लेकर काटे कि 'मैं घड़ा नहीं हूँ' 'मैं कपड़ा नहीं हूँ'; 'मैं मकान नहीं हूँ'; 'मैं गाय नहीं हूँ'; 'मैं भैंस नहीं हूँ'; 'मैं हाथी नहीं हूँ'; कौन काटे कि 'मैं यह नहीं', 'मैं यह नहीं।' ऐसे ही काट दो सीधे-सीधे। क्या ? 'अमनस्कम्'—मन ही नहीं है।

निरस्त सर्व संकल्पा या शिलावद् स्थितिः।
जाग्रन्निद्रा विनिर्मुक्ताः सा स्वरूपस्थितिः परा॥

काट दिया मनको। मूर्तिकारने अभी देखी नहीं है चट्टान, मूर्ति बनानेके लिए। ऐसी चट्टान जिसका न ओर, न छोर, न आदि, न अन्त; कालका न आदि-अन्त और देशका न ओर-छोर, न जड़-चेतनकी विभाजक रेखा। ऐसा सत्, ऐसा चित्, ऐसा आनन्द, ऐसा प्रिय !

'अमनस्तां तदा याति'—मनको बाधित करो। जैसे घड़ा-शकोरा आदि असत्य हैं, उसमें मृत्तिकामात्र सत्य अनुस्यूत है, इसी प्रकार ये जो अनात्म सत्य

दिखायी पड़ रहे हैं, उनमें आत्ममात्र सत्य है। उसको सन्मात्र, अपने आपको सन्मात्र अवधारण करनेसे, निश्चय करनेसे—'ग्राह्याभावे तदग्रहम्'—ग्राह्यका ही अभाव हो गया। कुछ पकड़नेका है ही नहीं।

'अग्राह्यम्'—श्रुति कहती है कि—**'अग्राह्यम् नहि गृह्यते'** (बृहदा० ३.९.२६)। किसीने कहा—'यह देखो, हम ईश्वरको हाथसे पकड़कर लाते हैं।'

अरे भाई! हम ईश्वर उसको कहते हैं, जिसने तुमको पैदा किया, जिसमें तुम दीख रहे हो, जिसमें तुम लीन होते हो। तुम जिसको पकड़कर लाये हो, उसको हम ईश्वर थोड़े ही बोलते हैं! यह कारणत्वसे संगत तो होना चाहिए न! भले वह कारणत्व 'मायिक' होवे; भले वह कारणत्व 'कल्पित' होवे; भले वह कारणत्व 'आविधक' होवे; भले वह कारणत्व 'प्रतिषिद्ध' होवे।

(४) एक बार परमात्मासे जुदा दूसरी कोई चीज नहीं है, यह समझानेके लिए कार्य-कारणभावका विवेचन है। कार्य-कारणका विवेचन सत्का विवेचन है, द्रष्टा-दृश्यका विवेचन चित्का विवेचन है, भोक्ता-भोग्यका विवेचन आनन्दका विवेचन है। शुरू कहाँसे करो? आनन्दसे।

शुरू करो तो यहाँसे करो कि हमें क्या चाहिए? फिर, हम यह दृश्य नहीं, द्रष्टा और फिर जो अन्य आनन्द चाहिए था, सो दृश्य, वह असत् और हम सत्। सत् और असत्में दुश्मनी नहीं होती। एक आदमी सच्चा था, पहलवान! वन्ध्यापुत्रके साथ उसकी लड़ाई हो रही थी। तो वह ठीक है? एक तलवार वन्ध्यापुत्रने सच्चेको मारी और एक तलवार सच्चेने वन्ध्यापुत्रको मारी। ऐसी लड़ाई कभी होगी? मिथ्या और सत्य ये दो वस्तु नहीं होतीं। मिथ्या जो होता है, वह सत्यरूप आश्रयमें कल्पित, सत्यरूप आश्रयमें भासमान, सत्यरूप आश्रयमें लीन होनेवाला और स्वरूपतः सत्य ही होता है।

इसीसे हम कहते हैं कि जबतक मालूम पड़े कि मिथ्या प्रपंच अलग और सत्य आत्मा अलग, तबतक 'मिथ्या' शब्दका अर्थ ही तुम्हें नहीं मालूम है, क्योंकि मिथ्या वस्तु किसीसे अलग-अलग नहीं हुआ करती। जबतक मालूम पड़े कि साँप अलग और रस्सी अलग, तबतक तुमने अभी रस्सीको समझा ही नहीं।

बाबा! वेदान्तकी क्या महिमा सुनावें! जहाँ कण भी ब्रह्म हो जाता है और द्वैत भी सच्चिदानन्द हो जाता है और कुछ बदलता नहीं। केवल अज्ञानकी निवृत्ति अभीष्ट है।

अच्छा, तो फिर मन भी ब्रह्म हो गया न? प्रपञ्च भी ब्रह्म! 'तदग्रहम् अग्रहम् ग्रहणविकल्पनावर्जितम्।' अरे बाबा! मनमें क्या ग्रहणकी विकल्पना है?

\+ \+ \+

आत्मसत्यका अनुबोध हुआ—'आत्मैव सत्यम् नान्यत्'—आत्मा ही सत्य है, अन्य नहीं। इसी अनुबोधका विवेचन है, अन्यका नहीं। यह घड़ा है कि कपड़ा है, तत्त्व-दृष्टिसे यह खयाल करनेकी जरूरत नहीं। यह माटी है—कपड़ा भी माटी और घड़ा भी माटी। तत्त्वदृष्टि है—'**मृत्तिकेत्येव सत्यम्।**' यह त्रैत-प्रमाण है। **वाचारंभणं विकारो नामधेयम्।**

वेदान्तमें, जो अलग-अलग नाम लेते हैं और इन्द्रियोंसे जो अलग-अलग रूप देखते हैं, यह तो जबानी-जमाखर्च है, यह तो ऐन्द्रियक प्रतीति है। सच्ची चीज तो बिलकुल एक ही है! तब तो 'अमन' हो गये। पर अभी भी 'समन' कहाँ हुए हैं? अमन नित्य ही अमन है।

जब ग्राह्य ही नहीं रहा तो, ग्रहण कहाँ रहा? 'ग्राह्याभावे तदग्रहम्।' जब अन्य कोई वस्तु ही नहीं रही, तो ग्रहण करनेवाला मन भी कहाँ रहा? यह भी नहीं है, जैसे ब्रह्म ही सर्व-विषय है, वैसे ब्रह्म ही मन है, ब्रह्म ही सर्व-इन्द्रियाँ हैं। 'अमनस्तां तद याति।'

इसमें साधनपक्ष दूसरा है और सिद्धपक्ष दूसरा है। साधनमें व्यतिरेकी—प्रक्रिया होती है और सिद्ध पक्षमें अन्वय-प्रक्रिया होती है। जैसे संसारमें जितने रूप हैं, वे आँखसे दिखते हैं—'यह स्त्री है, यह पुरुष है।' आकृतिमें भेद है न? स्त्रीका शरीर दूसरे प्रकारका, पुरुषका दूसरे प्रकारका। किताब और चीज है, घड़ी और चीज है, मेज और चीज है। आकृतिमें भेद है, रूपरंगमें भेद है, नाम सबका अलग-अलग है—नाममें भी भेद है। लेकिन आँखके बिना तो कुछ नहीं दिखायी पड़ता न? तो यह बात दो तरहसे कही जायगी—

(१) जिस आँखसे यह सब दिखता है, वह आँख सबसे न्यारी है।

(२) आँखके बिना कुछ दीखता ही नहीं। इसलिए आँखसे जुदा कुछ नहीं है।

इसलिए वेदान्तमें बोलनेकी दो प्रक्रिया कही जाती हैं—(१) व्यतिरेककी प्रक्रिया और (२) अन्वयकी प्रक्रिया। एकको बोलते हैं निषेधमुख और एकको विधिमुख।

हम पहले ऐसे कई बार सोच चुके हैं, बहुत सोच चुके हैं कि रूपको देखने-वाला भी रूप है। रूपतन्मात्रा चेतन द्रष्टाके आगे आयी और रूपतन्मात्रासे रूप दीखने लगा। रूप तन्मात्रासे रूप दीखता है। मनमें भी रूपतन्मात्रा है। तभी आँख मालूम पड़ती है। इसका मतलब हुआ कि मनमें रूपतन्मात्रा है, तब वह रूपतन्मात्रावाली आँखसे रूपको देखता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम अपने-आपको ही देखते हैं।

दुनियामें हम जब किसीको चोर समझते हैं, तब मनवाले चोरको बाहर देखते हैं और जब हम किसीको साहूकार देखते हैं, तब मनवाले साहूकारको ही बाहर देखते हैं। वेदान्तोंमें इसकी प्रक्रिया ऐसी है—

रूपं दृश्यं लोचनं दृक्। दृग् दृश्यं दृश्यमानत्वं, दृश्याविवृत्तयः साक्षिभिरेव न तु दृश्यते।

देखनेवाला ही दीखनेवाले पदार्थके रूपमें भी भास रहा है और दीखनेवाले सब पदार्थोंसे देखनेवाला न्यारा है—इस बातको वेदान्तीलोग ज्यादा पकड़ते हैं। और, 'देखनेवालेसे दीखनेवाला न्यारा नहीं है।'

देखनेवाला ही अपने-आपको नाना रूपमें, नाना नाममें, नाना प्रकारोंमें सर्वं रूपमें देख रहा है। नहीं तो वामदेवका वचन आप पढ़ो न—

अहं मनुरभवं सूर्यश्च। (बृहद० १.४.१०)

मैं ही मनु और मैं ही सूर्य। वामदेव ऐसा कैसे बोलते हैं? इसका मतलब यह हुआ कि जो ईश्वर भीतर अपनी आत्माके रूपमें है, वही ईश्वर जगत्के रूपमें बाहर भी है। बाहर और भीतरका भेद मनसे है। कालमें जो भेद है, पहलेका काल और पीछेका काल यह भी मनसे ही है। हिन्दू-मुसलमानका भेद है सो, हिन्दुस्तान-पाकिस्तानका भेद है सो, महाराष्ट्र-मैसूरका भेद है सो—यह सब मनका भेद है। महाराष्ट्र-गुजरातका है सो। मनसे भेद है। ये मनीराम भेद बनाते नहीं हैं, भेद दिखाते हैं। आश्चर्य यही है। हम लोग भूलसे इसे सच्चा मानते हैं। आँखका काम दिखाना है। आँखमें भ्रम नहीं होता। बुद्धिमें भ्रम होता है। आँखसे आकाशकी नीलिमा दीखती है और बुद्धिमें भ्रम होता है कि यह सच्ची है।

अच्छा, बोलो—'सब ब्रह्म।' 'सब ब्रह्म है'—इस बातको शैव-वैष्णव-शाक्त-सौर-गाणपत्य सब मानते हैं। वेदको तो सब मानते हैं।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

सब ब्रह्म है।

ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं, आत्मैवेदं सर्वं स एवेदं सर्वं, अह्मेवेदं सर्वम्; ब्रह्मैवेदं सर्वं; सत् इदं सर्वं; चित् इदम् सर्वं।

वेद तो कहता है कि सर्व ब्रह्म है।

बोले कि—'भाई, जब समाधि लगावेंगे जब कुछ नहीं सूझेगा तब सब ब्रह्म होगा।'

'तो क्या अंधकारका नाम ब्रह्म है?' अरे! जड़ता नहीं छोड़ोगे तो ब्रह्मज्ञान कहाँसे होगा?

जड़तां वर्जयित्वैतां शिलायां हृदयं च यत्।
अमनस्कं महाबाहो तन्मयो भव सर्वदा ॥

पहले जड़ताको निकाल फेंको! जड़ता यह कि 'वह ईश्वरसे जुदा है,' 'यह ईश्वरसे जुदा है'—उसको पहले बाहर करो।

हमारे एक महात्मा हैं। उन्हें इस बातमें थोड़ा संकोच होता है कि वे अपनेको 'वेदान्ती' कहें। अरे बाबा! जो-जो अपनेको अक्लमंद सिद्ध करना चाहते हैं, वे अपनेको 'पोथी माननेवाला' नहीं मानते। अपनेको पोथीवाला माने तो उनकी अक्लमंदी कट जाती है। पोथीमें अक्लमंदीकी बात लिखी हो तो क्या किया जाय? नहीं-नहीं, न पुरान, न कुरान, न वेद, न बाइबिल। तुम्हारी नजरसे जो चीज ईश्वर नहीं मालूम पड़ती, उसको छोड़ दो।

तुम्हें दुनियामें दो चीज मालूम पड़ती है कि नहीं? एक जगह ईश्वर मालूम पड़ता है और एक जगह ईश्वर नहीं मालूम पड़ता है। यह बड़ा स्थूल दृष्टिकोण है। एक चीज पाप मालूम पड़ती है और एक चीज पुण्य मालूम पड़ती है। तो तुम्हारी नजरसे जो पाप मालूम पड़े, उसको छोड़ो। तुम्हारी नजरसे जो दुःख मालूम पड़े, उसको छोड़ो। तुम्हारी नजरसे जो संसार मालूम पड़े, उसको छोड़ो, तुम्हारी नजरसे जो अनात्मा मालूम पड़े, उसको छोड़ो।

अब वे कहेंगे—'देखो, बिना उपनिषद्के तुमको आत्मस्थ कर दिया कि नहीं?'

अरे भाई! तुमने आत्मस्थ कहाँ किया? तुमने तो 'नेति' शब्दका अर्थ बताया। तुमने तो 'नेति'—इस वाक्यका अर्थ बताया कि अपनी नजरसे जो अन्य मालूम पड़े, उसको छोड़ते जाओ। अपनी नजरसे जो-जो अन्य मालूम पड़े, उसको छोड़ते जाओ। तुमने तो अपनी दृष्टिमें 'नेति'का जो अर्थ है, वही बताया। तुम हो तो वैदिक; लेकिन अभिमानके कारण अपनेको मानते हो अवैदिक।

'सब ब्रह्म है'—यह बात शाक्त-सिद्धान्तमें भी मानी जाती है। देवी—एक शक्ति भगवती सर्वरूपमें प्रकट हो रही है।

सर्वस्वरूपे सर्वे ते सर्वशक्ति समन्विते।

शैव लोग मानते हैं, 'सब शिव ही हैं।' गाणपत्य मानते हैं, 'सब गणेश ही हैं।' सौर मानते हैं, 'सब सूर्य ही हैं।' वैष्णव मानते हैं, 'सब विष्णु ही हैं।'

मध्वाचार्य मानते हैं कि जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण परमेश्वर हैं। माटी भी वही, कुम्हार भी वही। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं—'सब परमात्माका, परमेश्वर-ब्रह्मका संकल्प है।'

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज कहते हैं—'सब ब्रह्म है।' जैसे एक अनारका फल हो, उसमें छिलका भी वही, गूदा भी वही, बीज भी वही और सबका नाम है 'अनारका फल।' ऐसे ही, एक ब्रह्म है, उसमें बीज भी है, छिलका भी है, गूदा भी है। सब ब्रह्म है, वही एक अंशसे सृष्टि बनता है, और वही एक अंशसे सृष्टि बनाया जाता है। वही ईश्वर है, वही जीव है, वही प्रकृति है, वही सब है।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं, 'न माया, न छाया, न अन्य। कुछ नहीं। स्वयं अपने-आपमें स्वसंकल्पसिद्ध परमेश्वर है।'

अद्वैत वेदान्ती भी कहते हैं—'सब ब्रह्म है।' अद्वैत उपासक भी कहते हैं—'सब ब्रह्म है'। जितने वैदिक हैं, शैव, सौर, शाक्त, गाणपत्य, वैष्णव—फिर वैष्णवोंमें भी द्वैतविशिष्ट-अद्वैत=विशिष्टाद्वैतवादीरामानुजीय; अद्वैतविशिष्ट-द्वैतवादी श्रीवल्लभाचार्यजी; स्वाभाविक द्वैताद्वैतवादी-द्वैत-अद्वैत समानवादी निम्बार्काचार्य; केवल द्वैतवादी मध्वाचार्य; औपाधिक द्वैताद्वैतवादी भास्कराचार्य, अचिंत्यद्वैताद्वैतवादी श्रीचैतन्य महाप्रभु; सब प्रपंचको परमेश्वरस्वरूप मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं है। ये सब बोलेंगे—

सबके घटमें साईं रमता, कटुक वचन मत बोल रे।

इसमें कोई मतभेद नहीं है। सबको अपना इष्टदेव समझकर ही उसके साथ कोमल व्यवहार करना। मृत्युके रूपमें भी परमेश्वरको देखना और जीवनके रूपमें भी परमेश्वरको देखना, अर्थात् मृत्यु भी वही है और जीवन भी वही है। कभी चिकोटी भी वही काट लेता है और प्यार भी वही करता है। चपत भी वही लगाता है और प्यार भी वही करता है। दुश्मनने प्यार भी किया तो गलत और दोस्तने चिकोटी भी काटी तो अच्छी। ईश्वरका ही दोनों काम है। बच्चेको माँने एक गुड़िया दी और फिर छीन लिया। जब दोनों काम माँने किया तो दुःखकी क्या बात?

यह बात आपको सुनाते हैं कि उपासक लोगोंके द्वारा स्वीकार किये हुए जितने अद्वैत हैं, वे एक राशिमें हैं और अद्वैत-वेदान्तियोंके द्वारा स्वीकृत जो अद्वैत है, वह दूसरी राशिमें है। क्या फरक है? शैव-शाक्त-सौर-गाणपत्य-वैष्णव सबके मतमें अद्वैत तत्त्व सविशेष है। और अद्वैतमें निर्विशेष अद्वैत तत्त्व है।

सविशेषाद्वैतमें भी अहम्‌वादी, इदम्‌वादी और उभयवादी—तीन प्रकारके हैं। जो कश्मीरी शैव हैं, वे 'अहम् महेश्वरः'—मैं महेश्वर हूँ—अहम्‌वादी हैं। ये अद्वैतवेदान्ती नहीं हैं। ये अद्वैतवेदान्तका तो घनघोर खण्डन करते हैं।

'इदं महेश्वरः'—यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा ही है। 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः—परमात्मा ही है।

श्रीवल्लभाचार्यजी आदि जो हैं, वे कहते हैं—'अहं च, इदं च'—मैंके रूपमें है सो और यहके रूपमें है सो—दोनों परमेश्वर हैं। 'यह परमेश्वर है'; 'मैं परमेश्वर है'। दोनों परमेश्वर है और दोनोंसे विलक्षण परमेश्वर है।

एक बात आपको दिखाता हूँ। ये जितने उपासक हैं, वे ब्रह्ममें एक अयुतसिद्ध विशेष मानते हैं जो बनावटी नहीं है, वह-है-ही है। वह क्या है? जैसे वैकुण्ठ नित्य है, गोलोक नित्य है, माने स्थानविशेष नित्य है। फिर उसमें राधाकृष्ण, लक्ष्मी नारायण, गौरीशंकर आदिके रूपोंको नित्य मानते हैं, सत्य मानते हैं। सब ब्रह्म, परन्तु उसमें जो आकृति है, रेखा है—ईश्वरके संकल्पसे ही अपनेमें जो रूपविशेषकी रेखा है—वह सच्ची है और हमेशा यह रूप रहनेवाला है, ऐसा मानते हैं।

'हमेशा' माने क्या होता है? 'आज-कल-परसों-नरसों, पीछेके कल और परसों—आगेका कल और परसों—इसी बदलते हुए कालका नाम तो हमेशा है। यह 'हमेशा' तो खुद ही बदलता रहता है। तो स्थानका सम्बन्ध, समयका सम्बन्ध और रूपका सम्बन्ध माने व्यक्तित्व—इनसे विशिष्ट उपासकोंका अद्वैत तत्त्व होता है। वे कहते हैं कि जो मूल-तत्त्व है, वही व्यक्तित्व है और जो व्यक्तित्व है, वही मूल-तत्त्व है। मूल-तत्त्वमें जो व्यक्तित्व है, वह शास्त्र-प्रमाणसे सिद्ध है। ऐसा कोई उपासक न होगा जो शास्त्र-प्रामाण्यको स्वीकार न करे। तो यह क्या हो गया? विशेषका सम्बन्ध हो गया। विशेष देश, विशेष काल, विशेष व्यक्तित्व! व्यक्तित्वमें विशेष गुण, विशेष क्रिया, विशेष आकृति, विशेष रूप, विशेष लीला, इन सबसे विशिष्ट उपासस्य तत्त्व है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। वैष्णवलोग आपसकी बोलीमें परिष्कार करते हैं। एकने कहा—'ब्रह्म परिणामी है।' यह स्थानकी नित्यता, कालकी नित्यता और व्यक्तित्वकी नित्यता यह सब ब्रह्मका परिणाम है।

प्रतिवादी कहता है—'यदि तुम परिणाम मानते हो, तो परिणाम माने क्या होता है, यह जानते हो?' जो नम होकर बदल जाय। नम्र होकर द्रवावस्थाको प्राप्त होकर बदलना, कोमल होकर बदलना—यह नमन, परिणमन है। नमनमें नम है। नम प्रविभावे और परितापनम् परिणमनम्—माने एक रूपसे दूसरे रूपको प्राप्त हो जाना। दूध दही हो गया। 'परिणाम' शब्दका अर्थ तो

विकार होता है। यह तो बिलकुल उपादानके सजातीय ही एक पदार्थसे दूसरा पदार्थ बन गया।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने इसका संशोधन किया। बोले—'नहीं अविकृत रहते हुए ही परिणामको प्राप्त होता है।

निम्बार्काचार्यजी कहते हैं, 'कभी द्वैत, कभी अद्वैत। प्रलयकालमें अद्वैत, व्यवहारकालमें द्वैत।'

मध्वाचार्य कहते हैं—'प्रलयकालमें और व्यवहार कालमें दोनोंमें द्वैत।'

निम्बार्काचार्य कहते हैं—महाप्रलयमें अद्वैत है—

आनी तदेतम् अनया तदेतम्।
आनी ददातम् अनया तदेतम्॥

एक था बिलकुल, महाप्रलयकालमें। बिना वायुके श्वास ले रहा था—'आनीद-दातम्'। प्राणमें क्रिया हो रही थी, जीवन था—अदातम्। श्वास लेनेके लिए वायुकी अपेक्षा नहीं थी। वह एक था। 'आनी' से तीन बात निकल आती है—एक तो 'आनी' एकवचन हुआ। एक कर्ता था, श्वास लेनेवाला। और एक श्वास लेनेकी क्रिया थी। आनी थी और एक भूतकाल था।

अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि 'न यहाँ प्राणनक्रिया विवक्षित है, कि श्वास ले—तन्मात्रको श्वास लेना जरूरी नहीं है, न तो प्राणनक्रियाका कर्तृत्व विवक्षित है और न स्थान विविक्षित है। केवल तन्मात्रता विवक्षित है। निषेध-कालमें, इस समय जब हम निषेध कर रहे हैं, निषेधकालावच्छेदेन, इस समय जो मालूम पड़ता है ऐसा समय उस समय था? नहीं था। ऐसा समय उस समय नहीं था, ऐसा स्थान उस समय नहीं था, ऐसी क्रिया उस समय नहीं थी, ऐसा कर्तृत्व उस समय नहीं था; ऐसा बहुत्व उस समय नहीं था।

'प्रलयमें भी द्वैत रहता है', यह मध्वाचार्य कहते हैं। 'प्रलयमें अद्वैत और व्यवहारमें द्वैत'—यह निम्बार्काचार्य कहते हैं। प्रकृति और जीव परमात्मा-के शरीररूप हैं; कुछ समय लीन रहते हैं और कुछ समय प्रकट रहते हैं—ये विशिष्ट हैं, द्वैत विशिष्ट हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने इसमें संशोधन किया—'नहीं, विशुद्ध सविशेष है। जैसे सोनेसे जेवर बनता है, तो विकार होता है, वैसा श्रुतिमें जो सुवर्ण-मृत्तिका और लोहेका दृष्टान्त दिया हुआ है, वह विकारीका दृष्टान्त नहीं है। अविकृत दृष्टान्त है। लोहा ज्यों-का-त्यों रहता हुआ ही औजार बनता है। उसमें दूधसे दही नहीं बनता। सोना सोना रहता हुआ ही जेवर बनता है।

उसमें कहीं जेवरसे दूधकी तरह दहीकी उत्पत्ति नहीं होती। मिट्टी-मिट्टी रहते हुए ही घड़ा बनती है। इसलिए कारणमें विकार हुए बिना ही वह कार्याकार होता है।

बोले (पूर्वपक्ष)—कार्याकार होवे और विकार न होवे, ऐसी चीज दुनियामें देखनेमें नहीं आती।

उन्होंने कहाकि लौकिक वस्तुका निरूपण करना हो तो लौकिक दृष्टान्त होता है। परन्तु अलौकिक वस्तुका दृष्टान्त देना हो तो दृष्टान्त भी अलौकिक देना चाहिए।

अच्छा, अलौकिक दृष्टान्त बताओ! तो कहा—'चिन्तामणिसे किसीने कहा—'हे चिन्तामणि! हमें एक बच्चा दे दो।' चिन्तामणिने एक बच्चा दे दिया। परन्तु चिन्तामणिमें कोई विकार हुआ? कल्प वृक्षसे किसीने कहा—'कुछ मोहरें बरसा दो।' कल्पवृक्षने कुछ मोहरें बरसा दीं, तो क्या कल्पवृक्षमें कोई विकार हुआ? कामधेनुसे किसीने कहा—'हे कामधेनु! आज तुम हमको अपने थनसे जो दूध देती हो, सो नहीं चाहिए, हमको सीधे घी दे दो अपने थनसे।' अब कामधेनुको यह जरूरत नहीं है कि वह पहले दूध निकाले, फिर दही जमाये, फिर मन्थन होवे, फिर घी बने। बिना दूध-दही आदि विकारोंके माध्यमके ही कामधेनु घी दे सकती है। तो कामधेनुमें कोई विकार नहीं हुआ। ईश्वर भी अलौकिक पदार्थ है। इसलिए बिना किसी प्रकारका विकार हुए ही वह सृष्टिके रूपमें परिणत हो जाता है। इसे अविकृत परिणाम बोलते हैं।

वैष्णवोंमें मुख्य चार मत हैं—(१) द्वैत, (२) विशिष्टाद्वैत, (३) द्वैताद्वैत और (४) विशुद्धाद्वैत।

विशिष्टाद्वैत = द्वैत विशिष्ट, अद्वैत माने जड़ और चेतन दोनोंसे विशिष्ट, दोनोंसे विशिष्ट-चिदचिद्-विशिष्ट। क्रमशः इन मतोंके आचार्य हैं—मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य और बल्लभाचार्य। इन लोगोंका थोड़ा अवान्तर भेद है।

श्रीवल्लभाचार्यजीका विशुद्धाद्वैत—परिणामके कारण जो विकारकी प्राप्ति थी, उसका उन्होंने शोधन कर दिया। विकारकी कल्पनाका उन्होंने बिलकुल शोधन कर दिया कि 'परब्रह्म परमात्मामें कोई विकार नहीं है। ज्यों-का-त्यों है! सविशेष परमात्माका निरूपण सब उपासक संप्रदायोंमें है। यह सविशेषाद्वैत है।

हमलोग ईश्वरपुरी शैवोंका जो मत पढ़ते हैं वह महेश्वराद्वैत स्वतन्त्रवाद

है। जीवात्मा महेश्वर है। ये सब सगुणाद्वैत हैं। 'अहम् महेश्वरः' वाला भी सगुण है।

निर्गुण क्या है? इन सब प्रक्रियाओंमें यह बात बतायी जाती है कि परमात्मा-परमेश्वर सृष्टिके रूपमें कैसे बना अथवा परमात्मासे सृष्टि कैसे हुई? और परमात्मासे होकर परमात्मामें स्थित है, परमात्मामें लीन होती है—

जन्माद्यस्य यतः। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

अब क्योंकि परमेश्वर ही सृष्टिके रूपमें बनता है, इसलिए ये जितने मार्ग होंगे, वे सब प्रवृत्तिके अनुकूल मार्ग होंगे।

साधनका भी विचार कर लो—ये कहेंगे कि 'संन्यासकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सर्व रूपमें परमेश्वर है। इसलिए उपासनादि रूप जो प्रवृत्ति है, उसीसे हम परमेश्वरको संतुष्ट करके ईश्वरको प्राप्त कर लेंगे'—यह एक प्रक्रिया हुई।

अब दूसरी प्रक्रिया देखो—निर्विशेषकी प्रक्रिया ऐसे नहीं होती कि 'वह यह हो गया।' निर्विशेषवादी कहते हैं—'हमें जहाँ पहुँच जाना चाहिए, वहाँसे सोचना तुम शुरू करते हो और हम जहाँ हैं, वहींसे सोचना शुरू करते हैं।

इन दोनोंकी बातमें किसमें क्या दोष है, यह नहीं बताता हूँ और किसमें क्या गुण है यह भी नहीं बताता हूँ। दोनोंकी प्रक्रियाका दिग्दर्शन-मात्र आपको बताता हूँ।

कोई गया महात्माके पास और पूछा—हमको बताओ कि परमेश्वर कैसा है?'

महात्मा—तू अपनेको जानता है?

'नहीं जानता हूँ।'

महात्मा—भलेमानुस! साढ़े तीन हाथ शरीरमें रहनेवाला जो जीव है, वह तो अपनेको जानता नहीं, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिनके एक-एक रोम-कूपमें, उनको तू कैसे जानेगा? पहले अपनेको ही जान। 'त्वं' पदार्थका शोधन कर। पहले शरीरके बाहर जो 'स्त्री-पुत्र-धन आदि हैं वे मैं नहीं हूँ, मेरे नहीं हैं।' उनको करो बाहर। ये हाथ-पाँव, मैं नहीं, मेरे नहीं। उनको करो बाहर। यह संशोधन किया है? निवृत्ति हुई न!

मार्गमें यह निवृत्ति आगयी। बाहरसे भीतर लौटना। वहाँ परमेश्वर एकसे अनेक हुआ और यहाँ अनेकमें-से हटकर एकमें आनेकी प्रक्रिया है। उत्पत्ति-

रहित द्रष्टा-दृश्यविवेक हुआ। यहाँ निषेध है! अब इसमें निवृत्ति मार्गकी प्रधानता हो जायगी। और, निषेध ही साधनकी प्रक्रिया हो जायेगी।

निषेधमें वे कहते हैं—'चेतन कौन? जो चेत्यसे विलक्षण हो। द्रष्टा कौन? जो दृश्यसे विलक्षण हो। सत्ता कौन? जो आरोपित आकारसे विलक्षण हो। आनन्द कौन? जो भोक्ता और भोग्यरूप पदार्थसे विलक्षण हो। इस तरहसे विचार करते-करते संपूर्ण गुणोंका अपवाद करके, संपूर्ण विशेषोंका अपवाद करके, बाहर व्यवहारमें निवृत्ति स्वीकार करके और प्रक्रियामें 'नेति-नेति' रूप निषेध स्वीकार करके निषेधावधिरूपसे जो आत्मा शेष रहा, उसे श्रुतिने ब्रह्म और आत्मा बताया। तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'का क्या रूप होगा?

सम्पूर्ण उपासक जगत्‌में जगत् और ब्रह्मका मुख्यसामान्याधिकरण है। वेदान्तियोंमें दो शब्द चलते हैं—'मुख्यसामान्याधिकरण्य' और 'बाधसामान्याधिकरण्य'। जैसे जेवर क्या है? सोना है। घड़ा क्या है? मिट्टी है। यह है मुख्यसामान्याधिकरण्य।

घटाकाश क्या है? महाकाश है। यह सम्पूर्ण विश्व क्या है? परमात्मा। सम्पूर्ण जीव क्या है? परमात्मा। यह मुख्य सामान्याधिकरण्य है। सर्व उपासकोंके मतमें सम्पूर्ण घटादि आकारोंका मृत्तिकाके साथ मुख्यसामान्याधिकरण्य है। घटाकाशादिका महाकाशके साथ मुख्य सामान्याधिकरण्य है। सम्पूर्ण आभूषणोंका स्वर्णके साथ मुख्य सामान्याधिकरण्य है।

वेदान्तियोंमें बाधसामान्याधिकरण्य है। एक अखण्ड, अद्वय, एकरस, परिपूर्ण। परमात्मामें यह द्वैत क्या है? द्वैत अपने अभावके अधिकरणमें भासमान है। जैसे सर्प अपने अभावके अधिकरण रज्जुमें भासमान है, इसी प्रकार यह जीवत्व, यह ईश्वरत्व, यह जगत्त्व यह कार्य-कारणत्व, यह भोक्तृभोग्यत्व, यह प्रमातृ—प्रमेयत्व—सब अपने अभावके अधिकरणमें भासमान होनेके कारण, नित्य होने पर भी सत्य नहीं है। ऐसा अद्वैत वेदान्ती कहते हैं।

'नित्य' और 'सत्य'में फरक होता है। नित्य जो होता है वह कालकी धारामें चलता है। सत्य जो होता है, उसमें कालकी धारा आरोपित होती है। यह बात वेदान्ती लोग समझते हैं। कल था, आज है और फिर कल होगा। यह कालकी धारा हुई।

'कल इस समय न रात्रि थी न दिन था।'

'अच्छा, रात्रि और दिन नहीं थे तो महीना होगा! महीना नहीं होगा

है। जीवात्मा महेश्वर है। ये सब सगुणाद्वैत हैं। 'अहम् महेश्वरः' वाला भी सगुण है।

निर्गुण क्या है? इन सब प्रक्रियाओंमें यह बात बतायी जाती है कि परमात्मा-परमेश्वर सृष्टिके रूपमें कैसे बना अथवा परमात्मासे सृष्टि कैसे हुई? और परमात्मासे होकर परमात्मामें स्थित है, परमात्मामें लीन होती है—

जन्माद्यस्य यतः। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

अब क्योंकि परमेश्वर ही सृष्टिके रूपमें बनता है, इसलिए ये जितने मार्ग होंगे, वे सब प्रवृत्तिके अनुकूल मार्ग होंगे।

साधनका भी विचार कर लो—ये कहेंगे कि 'संन्यासकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सर्व रूपमें परमेश्वर है। इसलिए उपासनादि रूप जो प्रवृत्ति है, उसीसे हम परमेश्वरको संतुष्ट करके ईश्वरको प्राप्त कर लेंगे'—यह एक प्रक्रिया हुई।

अब दूसरी प्रक्रिया देखो—निर्विशेषकी प्रक्रिया ऐसे नहीं होती कि 'वह यह हो गया।' निर्विशेषवादी कहते हैं—'हमें जहाँ पहुँच जाना चाहिए, वहाँसे सोचना तुम शुरू करते हो और हम जहाँ हैं, वहींसे सोचना शुरू करते हैं।

इन दोनोंकी बातमें किसमें क्या दोष है, यह नहीं बताता हूँ और किसमें क्या गुण है यह भी नहीं बताता हूँ। दोनोंकी प्रक्रियाका दिग्दर्शन-मात्र आपको बताता हूँ।

कोई गया महात्माके पास और पूछा—हमको बताओ कि परमेश्वर कैसा है?'

महात्मा—तू अपनेको जानता है?

'नहीं जानता हूँ।'

महात्मा—भलेमानुस! साढ़े तीन हाथ शरीरमें रहनेवाला जो जीव है, वह तो अपनेको जानता नहीं, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिनके एक-एक रोम-कूपमें, उनको तू कैसे जानेगा? पहले अपनेको ही जान। 'त्वं' पदार्थका शोधन कर। पहले शरीरके बाहर जो 'स्त्री-पुत्र-धन आदि हैं वे मैं नहीं हूँ, मेरे नहीं हैं।' उनको करो बाहर। ये हाथ-पाँव, मैं नहीं, मेरे नहीं। उनको करो बाहर। यह संशोधन किया है? निवृत्ति हुई न!

मार्गमें यह निवृत्ति आगयी। बाहरसे भीतर लौटना। वहाँ परमेश्वर एकसे अनेक हुआ और यहाँ अनेकमें-से हटकर एकमें आनेकी प्रक्रिया है। उत्पत्ति-

रहित द्रष्टा-दृश्यविवेक हुआ। यहाँ निषेध है! अब इसमें निवृत्ति मार्गकी प्रधानता हो जायगी। और, निषेध ही साधनकी प्रक्रिया हो जायेगी।

निषेधमें वे कहते हैं—'चेतन कौन? जो चेत्यसे विलक्षण हो। द्रष्टा कौन? जो दृश्यसे विलक्षण हो। सत्ता कौन? जो आरोपित आकारसे विलक्षण हो। आनन्द कौन? जो भोक्ता और भोग्यरूप पदार्थसे विलक्षण हो। इस तरहसे विचार करते-करते संपूर्ण गुणोंका अपवाद करके, संपूर्ण विशेषोंका अपवाद करके, बाहर व्यवहारमें निवृत्ति स्वीकार करके और प्रक्रियामें 'नेति-नेति' रूप निषेध स्वीकार करके निषेधावधिरूपसे जो आत्मा शेष रहा, उसे श्रुतिने ब्रह्म और आत्मा बताया। तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'का क्या रूप होगा?

सम्पूर्ण उपासक जगत्में जगत् और ब्रह्मका मुख्यसामान्याधिकरण है। वेदान्तियोंमें दो शब्द चलते हैं—'मुख्यसामान्याधिकरण्य' और 'बाधसामान्याधिकरण्य'। जैसे जेवर क्या है? सोना है। घड़ा क्या है? मिट्टी है। यह है मुख्यसामान्याधिकरण्य।

घटाकाश क्या है? महाकाश है। यह सम्पूर्ण विश्व क्या है? परमात्मा। सम्पूर्ण जीव क्या है? परमात्मा। यह मुख्य सामान्याधिकरण्य है। सर्व उपासकोंके मतमें सम्पूर्ण घटादि आकारोंका मृत्तिकाके साथ मुख्यसामान्याधिकरण्य है। घटाकाशादिका महाकाशके साथ मुख्य सामान्याधिकरण्य है। सम्पूर्ण आभूषणोंका स्वर्णके साथ मुख्य सामान्याधिकरण्य है।

वेदान्तियोंमें बाधसामान्याधिकरण्य है। एक अखण्ड, अद्वय, एकरस, परिपूर्ण। परमात्मामें यह द्वैत क्या है? द्वैत अपने अभावके अधिकरणमें भासमान है। जैसे सर्प अपने अभावके अधिकरण रज्जुमें भासमान है, इसी प्रकार यह जीवत्व, यह ईश्वरत्व, यह जगत्त्व यह कार्य-कारणत्व, यह भोक्तृभोग्यत्व, यह प्रमातृ—प्रमेयत्व—सब अपने अभावके अधिकरणमें भासमान होनेके कारण, नित्य होने पर भी सत्य नहीं है। ऐसा अद्वैत वेदान्ती कहते हैं।

'नित्य' और 'सत्य'में फरक होता है। नित्य जो होता है वह कालकी धारामें चलता है। सत्य जो होता है, उसमें कालकी धारा आरोपित होती है। यह बात वेदान्ती लोग समझते हैं। कल था, आज है और फिर कल होगा। यह कालकी धारा हुई।

'कल इस समय न रात्रि थी न दिन था।'

'अच्छा, रात्रि और दिन नहीं थे तो महीना होगा! महीना नहीं होगा

तो ऋतु होगी। ऋतु नहीं होगी तो संवत्सर होगा ! और संवत्सर नहीं होगा तो मन्वन्तर और कल्प होगा ?'—यह निषेधके रूपमें सामान्यरूपसे उदाहरण बना दिया। जो सम्पूर्ण विशेष है, वह कार्य है या कारण है। जो सम्पूर्ण विशेष है, वह प्रमाता है या प्रमेय है। प्रमाता है तो सर्वज्ञ है या अल्पज्ञ है। और सम्पूर्ण अनात्म प्रपञ्च भोक्ता है या भोग्य है।

कार्य और कारण सत्तामें, द्रष्टा और दृश्य चेतनमें और भोक्ता और भोग्य आनन्दमें—सत्-चित्-आनन्द समझानेके लिए व्यवहारमें कल्पित हैं। जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका बोध है, वह निर्विशेषमें ऐक्य है। अद्वैत वेदान्तमें ऐसे समझाते हैं।

'सविशेषमें ऐक्य है'—यह सम्पूर्ण सगुण ब्रह्मवादियोंका सिद्धान्त है। जैसे एक समुद्र है। उसमें तरंग उठती हैं। तरंग क्यों उठती हैं ? यद्यपि तरंग और समुद्रमें कोई भेद नहीं है परन्तु वायुरूप निमित्त होनेसे समुद्रमें तरंग उठती है और आकाशमें अवकाश होनेके कारण तरंग ऊपर उठती है। यदि समुद्र अद्वितीय होता तो न तो उसमें वायुरूप निमित्त होता और न तो उसमें आकाशरूप अवकाश होता और तब उसमें तरंग भी न उठतीं।

स्वर्ण है। उसमें टाँकी मारकर शकल बनायी। थोड़ा सोना हटा दिया या थोड़ा सोना बढ़ा दिया तब शकल बनी ! तो हटाने-बढ़ानेका देश है, टाँकी मारनेवाला कर्ता है, हटाने-बढ़ानेका काल है, टाँकी मारनेका कारण। कहो नहीं, हमने तो सोना गला दिया। गलाकर खट्टेमें डाल दिया; तो निमित्त है। बिना निमित्तके नहीं बना। जिस परमेश्वरमें पूर्व-पूर्व कल्पके संस्कारको ले करके स्वभाव माया बैठी रहती है, इसी परमेश्वरमें संकल्पात्मक सृष्टिका उदय और विलय होता है।

परमात्माका परमार्थ स्वरूप अद्वैत वेदान्त बताता है। जो परमात्माका परमार्थ स्वरूप है, इसमें आनन्दमें भोक्ता-भोग्यका भेद नहीं है; चित्में सर्वज्ञ-अल्पज्ञका भेद नहीं है; बहुत सारे प्रमाता—प्रमातृत्व और बहुत सारे प्रमेय नहीं हैं; और सत्में कार्य-कारणरूप पूर्वावस्था और पश्चादवस्थाका भेद नहीं है।

यह सर्वनिवृत्ति-मार्ग द्वारा सर्वनिषेधावधिरूप प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्वका बोध हुआ। उसमें अब यह प्रपंच क्या है ? उपासकोंने पहले अन्वय कर लिया था, निषेध नहीं किया था। वेदान्तियोंका क्या होगा ? उन्होंने पहले निषेध करके अब प्रश्न उठाया कि 'तब यह प्रपञ्च क्या है ?' जहाँ नहीं होना

चाहिए था, वहीं अद्वितीय ज्ञानमें, उस अद्वितीय सत्तामें, उस अद्वितीय आनन्दमें अर्थात् अद्वितीय प्रत्यक् चैतन्य ब्रह्ममें यह प्रपञ्च न होने पर भी भास रहा है। यह बात वेदान्तकी निकली ! बात कहाँ-की-कहाँ पहुँच गयी !

जो वस्तु अपने अभावके अधिकरणमें भासती है, वह वस्तु अपने अधिकरणसे भिन्न नहीं होती। अध्यस्त वस्तु अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती। सर्प रज्जुसे भिन्न नहीं होता। घट मृत्तिकासे भिन्न नहीं होता। जेवर स्वर्णसे भिन्न नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वसे जुदा यह प्रपञ्च नहीं है।

यदि कहो कि वासनाको शान्त करनेके लिए और संकल्पको मिटानेके लिए कुछ करो, तो अद्वैत वेदान्ती कहते हैं—

तत्त्वावबोध एवायं वासनातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः॥

चुपचाप बैठनेका नाम निःसंकल्प होना नहीं है। जो संकल्पके पीछे कर्ता था, वह मर गया और जो संकल्पके सामने संकल्प्य था, वह भी मर गया और संकल्प आत्मासे अभिन्न हो गया ! यह फुरफुराता हुआ संकल्प, फुरफुराता हुआ संकल्पक और फुरफुराता हुआ संकल्प्य—एक देहमें फुरफुराता हुआ 'अहम् कर्ता' संकल्पका अभिमानी और संकल्प; तथा सम्पूर्ण विश्वके रूपमें फुरफुराता हुआ संकल्प्य—यह अपने स्वरूपसे भिन्न नहीं है। यह क्या हुआ ? 'वासनातृणपावकः।'

स्वयं संकल्प, स्वयं संकल्पक और स्वयं संकल्प्य—एक दृष्टिसे तीनों नहीं और एक दृष्टिसे तीनों—व्यतिरेक दृष्टिसे तीनों नहीं और अन्वय दृष्टिसे तीनों—यह बाधसामान्याधिकरण्य है; यह केवल जिज्ञासुके लिए है। यह तत्त्वविद्के लिए नहीं है।

बाधसामान्याधिकरण्यकी यह जो प्रक्रिया बतायी—'नेति-नेति'—जो निषेध है अथवा जो बाधसामान्याधिकरण्य है—'नायं सर्पः रज्जु अयम्'—सच्चाई नहीं है। यह सर्प नहीं है, रज्जु है। यह जेवर नहीं है, सोना है। इस बाधसामान्याधिकरण्यकी आवश्यकता अज्ञान दशामें जिज्ञासुके लिए पड़ती है। अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें—ब्रह्मदृष्टिमें, माने ज्ञानोत्तरकालीन व्यवहारमें, बाधसामान्याधिकरण्यकी आवश्यकता नहीं रहती है। वहाँ सर्व शब्दोंका नित्य सामान्याधिकरण्य ही है।

'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'—प्रक्रियामें आग्रह हो जानेपर विवाद हो जाता है और प्रक्रियामें आग्रह न रखें तो सब एक सरीखे। रहनी सबकी एक-सी। यहांतक कि वेदान्त ज्ञानी-अज्ञानीमें, बद्ध और मुक्तमें भेद नहीं करता। ब्रह्मा और कीड़ेका भेद नहीं करता। ब्रह्मोपाधिक चैतन्य जो वस्तु है; कीटोपाधिक चैतन्य भी वही वस्तु है। उपाधि ब्रह्माभिन्न है तो फिर ब्रह्मोपाधिक चैतन्य और कीटोपाधिक चैतन्यमें भेद कहाँसे होगा ?

'ग्राह्याभावे तदग्रहम्'—जब ब्रह्मसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, तो अष्टावक्रजीने कहा—

न ग्रहस्तत्र यो सर्वः पुंसामतिप्रवर्तते।
यथा तथा यत्र तत्र सममेवावतिष्ठते॥

जैसे-तैसे, ज्यों-त्यों, यत्र-तत्र, जहाँ-तहाँ यह सम (ब्रह्म) ही है।

यहाँतक कि जाननेवाला और जाना जानेवाला ज्ञान—ज्ञप्तिमात्र ब्रह्म और अज्ञानका निवर्तक ज्ञान–ये दोनों भी दो नहीं हैं। बिलकुल एक अखण्ड सत्ता ही, एक अखण्ड ज्ञान ही विद्यमान है।



: २३ :

आत्म-बोध किसको ?

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते।
ब्रह्म ज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुद्ध्यते ।।३३।।

अर्थः—सर्वकल्पनारहित अजन्मा ज्ञानको ब्रह्मवेत्ता लोग ज्ञेय ब्रह्मसे अभिन्न बताते हैं। ब्रह्मविषयक वह ज्ञान अज और नित्य है। इस अज ज्ञानसे अज ब्रह्म जाना जाता है।

श्लोक व्यावर्त्यां शंकां उत्थापयति।

इस श्लोकसे जो शंका काटी गयी है, निवारण की गयी है, उसको पहले उठाते हैं। यह प्रश्न उठाया कि—पहले श्लोकमें यह बात कही कि जब आत्म-सत्यका अनुभव होता है, तब मन अमन हो जाता है; क्योंकि अपने स्वरूपभूत सत्यमें, आत्मसत्यमें न कोई संकल्पक कर्ता है, न कोई संकल्पका विषय है। जो कुछ संकल्पका विषय मालूम पड़ता है, वह भी बाधित और जो कुछ संकल्पका कर्ता मालूम पड़ता है, वह भी बाधित। जीव और जगत् दोनों बाधित।

'बाधित' शब्दका अर्थ भी वेदान्तका अपना न्यारा ही है।

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः। (पंचदशी)

जीव और जगत्के मिथ्यात्वका निश्चय ही बाध है, उनकी अप्रतीतिका नाम बाध नहीं है। माने 'बाध' वेदान्तियोंका पारिभाषिक शब्द है। किसी चीजका मालूम न पड़ना, यह उसका बाध नहीं। अधिष्ठानका बोध हो जानेसे दृश्यमान वस्तुकी ब्रह्मरूपताका ऐसा ज्ञान हो जाना कि (अधिष्ठानमें) यह तो बिलकुल भ्रान्तिसिद्ध है—इसीका नाम बाध है। कभी किसीको रस्सीमें साँप दिखता हो और थोड़ी देरके लिए किसी भी कारणसे रस्सी दिखना बन्द हो जाय तो क्या सर्प होनेका भ्रम मिट जायगा ? उसके न दिखनेसे सर्पका बाध नहीं होगा।

तब यह हुआ कि अधिष्ठानका ज्ञान हुआ, आत्मसत्यका बोध हुआ और बोध होनेके बाद मन तो कुछ रहा ही नहीं। यह सिद्ध हुआ कि द्वैत तो आत्मज्ञान होनेके पहले भी नहीं था, आत्मज्ञान होनेके समय भी नहीं था,

आत्मज्ञान होनेके बाद भी नहीं है। तो आखिर तुमको यह ज्ञान हुआ, सो कैसे ? जब पहले ही मन नहीं था तो ज्ञान हुआ कैसे ? श्रुति कहती है—'मनसैवेदमाप्तव्यम्' (कठ० २.१.११) परमात्माको कैसे जाना ? मनसे जाना मनसे ही ज्ञान होता है। जो अपने मनसे सोचे, झूठमूठ भी सोचे कि परमात्मा हमको मिला हुआ है, तो परमात्मा ऐसा भोलाभाला है, कि वह कहे कि—'हाँ भाई, हम तुमको मिले हुए हैं।'

जब कोई कहे कि 'परमात्मा हमसे दूर है,' तो परमात्मा उससे दूर हो जाता है, अनमिला हो जाता है। माने माया सारी ज्ञानकी है। तो रीति अलग-अलग होती है। एकने कहा—'स्वामीजी ! आप हमारे घर भोजन करने क्यों चलेंगे ?' एक रीति तो यह है कि उसको खुश करनेके लिए हम बोलेंगे कि—'हाँ-हाँ, जरूर चलेंगे, क्यों नहीं चलेंगे ?' सामान्यरूपसे शिष्टताका, सभ्यताका उत्तर यही है और यही कहलानेके लिए उसने कहा—'क्यों चलेंगे ?'

अब, यदि कोई फक्कड़ हुआ, तो वह बोलेगा—'अच्छा भाई, तुम्हारा यदि यही विश्वास है कि हम नहीं चलेंगे तो मनसा ही सिद्ध ! जब तुम यही सोचते हो कि 'क्यों जायेंगे ? तो हम भी यही सोचते हैं कि क्यों जायेंगे ? क्या जरूरत है जानेकी ?' यह फक्कड़ी ज्ञान होगया ! यह भोलेपनकी बात है।

परमात्मा है भोलाभाला। यदि तुम उससे कहो कि तुम मेरे दिलमें हो, हम-तुम एक हैं, तुम तो हमसे मिले-मिलाये हो, तो परमात्मा कहेगा—'हाँ, ऐसा ही है।' अगर कह दिया कि 'अरे बाबा ! तुम तो अनमिले हो, अनदेखे हो, हो कि नहीं हो ?' तो कहेगा हाँ, ऐसा ही है।' यह बात उपनिषद्में लिखी है।

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः। (तैत्तिरीय० २.६)
अहम् ब्रह्मेति चेत् वेद अपरोक्षं तदुच्यते॥ (पंचदशी ६.१६)
असत् ब्रह्मेति चेत् वेद स्वयं एव भवेदसत्॥ (पंचदशी ३.२५)

यदि कोई यह समझने लगे कि ब्रह्म नहीं है, तो उसके लिए ब्रह्म नहीं हो जाता है और यदि—'अहम् ब्रह्मेति चेत् वेद' यह जाना कि—'मैं ब्रह्म हूँ' तो 'अपरोक्षं तदुच्यते'—तो ब्रह्म अपरोक्ष हो जायेगा।

उपनिषद्में ब्रह्मकी उपलब्धिकी प्रणाली क्या लिखी है ? उसके बारेमें 'हाँ'-'हाँ' बोलो—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यः तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥ (कठ० २.३.१३)

जो कहता है—'है' मिला है, हमारा प्यारा है, हमारा आत्मा है'—उसीको मिलता है। आप जैसा कहोगे, वैसा-वैसा होता जायगा।

तुम कहोगे कि—'तुम दुश्मन हो, मार डालोगे, तो वह दुश्मन है, मार डाले।

यह बड़ी विलक्षण बात है। दुश्मन भी तो वही है। संहारकर्ता रुद्र भी तो वही है। वह सारी सृष्टिका प्रलय करता है। माने ऋजु अन्तःकरण चाहिए। 'मनसैवेदमाप्तव्यम्'—सीधे-सरल हृदयसे परमात्माके सम्मुख होना चाहिए।

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः (कठ० १.३.१२)

सूक्ष्मदर्शी लोग सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धिसे परमात्माको जानते हैं। सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धिका अभिप्राय क्या है?

हमारे एक मित्र हैं। वे यह पूछते हैं कि 'किस साधनसे परमात्माकी प्राप्ति होगी?' और एक पूछता है कि—'जब परमात्मा अभी है, यहीं है, तो उसको देखनेके लिए, जाननेके लिए कौन-सा प्रमाण है?'

आप इन दोनोंके अर्थका भेद नहीं समझेंगे, तो वेदान्तके रास्तेमें नहीं चल सकते। साधनसे जो चीज मिलती है, वह सिद्ध परमात्मा नहीं है। साधनसे माने पैसेसे खरीद लिया, यह भी एक साधन है। परमेश्वरको हमने हाथसे पकड़ लिया, यह भी एक साधन है। 'किसी चीजको कड़ाहीमें पकाकर परमेश्वर बना लिया।' ऐसा नहीं होता।

परमात्मा साधन-साध्य नहीं होता है। कर्म-उपासना-योग, ये साधन हैं। ये श्रद्धासे किये जाते हैं। इनका कर्ता होता है। इनमें आवृत्ति होती है। इनसे फल उत्पन्न होता है। और यह फल विषयरूप होता है। इसलिए कर्म, उपासना और योगरूप साधन परमात्माकी प्राप्तिके लिए नहीं है।

परमात्माकी प्राप्तिके लिए तो प्रमाण चाहिए। प्रमाण माने जैसे आँखसे हमको रूप दीखता है। साधन अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए होता है। प्रमाण वस्तुके यथार्थ स्वरूपके साक्षात्कारके लिए होता है।

एक हमारे मित्र हैं। एक दिन कोई प्रसंग चला तो बोले—'कर्मसे परमात्माकी प्राप्ति होती है।'

मैंने उनसे पूछा कि 'कर्म कौन-सा प्रमाण है? प्रत्यक्ष है कि अनुमान है? उपमान है कि शब्द है? अनुपलब्धि है कि अर्थापत्ति है? किस प्रमाण-में अन्तर्भुक्त है कर्म?' यह बात उनके ध्यानमें बैठी नहीं।

वे बोले—'गीतामें लिखा है।'

यज्ञायाचरते कर्म समग्रं प्रविलीयते। (गीता ४.२३)

यज्ञके लिए जो कर्म करता है, उसका सारा कर्म प्रविलीन हो जाता है। यह प्रमाण है।

उनके ध्यानमें प्रमाण माने नेत्र-श्रोत्र, रसना-घ्राण-मन नहीं आया; उनके ध्यानमें प्रमाण माने आया श्लोक। 'यज्ञकर्म प्रमाण है कि नहीं ?'

कर्म कर्मके विलयमें साधन है, प्रमाण है—उनके कहनेका अभिप्राय यही हुआ न! परन्तु इस श्लोकका तो अभिप्राय ही निराला है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरते कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

अरे! वहाँ तो ज्ञानावस्थित चेतसः तो पहले है मुक्तस्य, गतसंगस्य तो पहले ही है! इस प्रकार वह तो सब तत्त्वज्ञके कर्मका निरूपण है। तत्त्वज्ञके द्वारा जो कर्म होता है, वह लीन हो जाता है।

यह बताया आपको कि जिससे अपनेमें कर्तापन आवे, साधनको दुहराना पड़े और उससे किसी फलकी उत्पत्ति होवे, तो जो फल उत्पन्न हुआ, वह परमात्मा नहीं है। जो आवृत्ति हुई, वह सुषुप्तिमें हो नहीं सकती। जो कर्तापन है, वह पापी-पुण्यात्मा बनाकर नरक-स्वर्गमें ले जायगा, सुखी-दुःखी कर देगा। इसलिए परमात्माकी प्राप्तिके लिए प्रमाण ढूँढ़ना पड़ता।

प्रमाण माने श्लोक नहीं, दोहा नहीं, किताब नहीं। प्रमाण माने ? जैसे 'यह घड़ी है' आँखसे घड़ी दीखती है, घड़ीके रूपमें आँख प्रमाण है। परमात्मा किससे दिखता है ? यह प्रश्न हुआ। आँखसे घड़ी तो दीखती है, परन्तु रोशनीमें दीखती है। तो आँख चाहिए, रोशनी चाहिए, घड़ी चाहिए। तीनों चाहिए। तब न घड़ी दीखे! यह घड़ी देखनेका तरीका हुआ। पर घड़ी न देखनी हो, रोशनी देखनी हो तब! रोशनी देखनेके लिए रोशनी नहीं चाहिए। रोशनी देखनेके लिए मशाल या दीया नहीं जलाया जाता। मशाल जलाकर मशाल नहीं देखा जाता।

परमात्मा क्या आँखसे दिखता है ? यह बात आपको समझना है। 'परमात्मा आँखसे दिखता है'—यह बात भक्ति-सिद्धान्तमें मानते हैं। भक्ति-विशिष्ट, प्रियता-विशिष्ट जो ज्ञान है, वह जब नेत्रके द्वारा बाहर निकलता है, तो

प्रियता-विशिष्ट परमेश्वरका दर्शन होता है। आप यह नहीं समझना कि शंकराचार्यको विष्णु भगवान्‌का दर्शन नहीं होता था, वे उनकी स्तुति नहीं करते थे। वह सब झूठा ही था, ऐसा नहीं समझना। उनके पास गंगाजी भी आती थीं और शंकर भगवान् भी प्रकट होते थे। नारायण भी प्रकट होते थे।

प्रियता-विशिष्ट ज्ञानके द्वारा सगुण-साकारका दर्शन होता है। ज्ञानी अपनी माँको देखता है कि नहीं? कैसे देखता है? मातृविशिष्ट ज्ञानसे माताका ज्ञान होता है। भ्रातृविशिष्ट ज्ञानसे भाईका साक्षात्कार होता है। हीरेको पहचान सकता है ज्ञानी कि नहीं? पहचान सकता है।

विशेष-ज्ञानमें विशेष अनुभव होता है। यह बात आपको इसलिए सुनायी कि ज्ञान-ज्ञानका स्तर होता है। यदि आप ध्यानमें सगुण-साकारको देख सकते हैं, तो उसी ध्यानके संस्कारसे संस्कृत नेत्रके द्वारा सगुण-साकारको देख सकते हैं। जिसकी समझमें न आवे, वह न समझे। 'देवी-देवी' करनेसे सब जगह काम थोड़े ही होता है? जो चलते हैं निर्गुणके मार्ग पर, परमार्थके मार्ग पर, उनकी बात है—

'मनसैवेदमाप्तव्यम्; दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या।

आप यह जानना चाहें कि हमारे हृदयमें राग है, कि नहीं? द्वेष है, कि नहीं? काम है, कि नहीं? क्रोध है, कि नहीं? तो यह आँखसे दिखायी नहीं पड़ेगा।

वह तो अपने प्रियतमके आकारमें परिणामको प्राप्त जो वृत्ति है, उससे प्रिय दिखेगा। शत्रुतासे भरी वृत्तिसे शत्रु दिखेगा। शत्रु आँखसे नहीं दीखता और मित्र भी आँखसे नहीं दीखता। शत्रु और मित्र द्वेष-विशिष्ट और राग-विशिष्ट वृत्तिसे दीखते हैं। उसी राग और द्वेषसे संस्कृत अन्तःकरणके द्वारा जब हम आँखसे देखते हैं तब बाहर दीखता है। इसीलिए सुना रहा हूँ आपको कि परमात्माको देखनेके लिए आपके पास क्या होना चाहिए? श्रुतिने पहले ही बताया—**मनसैवेदमाप्तव्यम्।**

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

अस्तु; प्रश्न यह था कि यदि बुद्धि भी बाधित हो गयी, जगत् भी असत्य हो गया और मन भी बाधित हो गया, असत्य हो गया, तो असत्य मनके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति कैसे होगी? मूल प्रश्न यह हुआ कि—

'यदि असदिदं द्वैतम्'—यदि यह द्वैत बिलकुल असत् है, तो—'केन मनसा,

केन बुद्धिरूपेण प्रमाणेन ? किस बुद्धिरूप प्रमाणके द्वारा, किस मनके द्वारा अपने अज आत्मस्वरूपको जानेगा ?

स्वं अजं आत्मतत्त्वं विबुद्धयते ? कैसे जानेगा कि मैं अजन्मा ब्रह्म हूँ ? क्योंकि मन तो असत् है।

इसका उत्तर देते हैं। जैसे रूपको देखनेके लिए आँखकी जरूरत होती है, वैसे रागद्वेषको देखनेके लिए आँखकी जरूरत नहीं होती है। सुषुप्तिको देखनेके लिए किसकी जरूरत है ? है न साक्षीभास्य ? वहाँ तो मन भी नहीं है। उस समय फिर भी सुषुप्ति का अनुभव होता है।

क्या सुषुप्तिका साक्षात्कार मनसे होता है ? क्या सुषुप्ति बुद्धिसे मालूम पड़ती है ? भावके प्रत्यक्षके लिए तो वृत्ति-विशिष्ट ज्ञानकी जरूरत पड़ती है; परन्तु अभावके प्रत्यक्षके लिए केवल साक्षी चाहिए। केवल साक्षी ही तो अभावप्रत्ययालंबना वृत्ति निद्राको देखता है।

सुषुप्तिका साक्षी कौन है ? मन और बुद्धि तो दोनों सो गये। केवल तुम-ही-तुम थे। इसका मतलब यह है कि बिना मन और बुद्धिके जो साक्षी अभावको देख सकता है वह अपनेको अभावका अधिकरण जान सकता है कि नहीं ? उस साक्षीके बारेमें जाग्रत् अवस्थामें एक भ्रम है। वह भ्रम यह है कि प्रत्येक सुषुप्तिका साक्षी अलग-अलग होता है।

लेकिन साक्षीमें तो न देश है, न काल है, न वस्तु है। देश-काल-वस्तुकी कल्पना होती है अन्तःकरणमें और सुषुप्तिमें अन्तःकरण ही नहीं रहता ! असल भ्रम यह है कि हर अन्तःकरणमें साक्षी अलग-अलग होता है। किस विशेषताको लेकर यह अलग होता है ?

अनन्वागतं पापेन अनन्वागतं पुण्येन।

सुषुप्तिकालमें न पाप रहता है, न पुण्य रहता है। पाप-पुण्य दोनोंका लोप हो जाता है। तो, 'यह पापी साक्षी है' और 'यह पुण्यात्मा साक्षी है'—यह भेद कैसे रहेगा ? पापी-पुण्यात्माका भेद कर्तामें रहता है ! 'यह सुखी साक्षी है' और 'यह दुःखी साक्षी है'—यह भेद कैसे रहेगा ? सुषुप्तिकालमें तो सुखी-पना और दुःखीपना रहता ही नहीं है। वहाँ भोक्ता भी नहीं है ! अच्छा, तो 'हम परिच्छिन्न साक्षी हैं'—यह भाव रहता है ? उस समय 'मैं परिच्छिन्न' हूँ—यह बात कहाँसे रहेगी जबकि वहाँ देश, काल, वस्तुरूप परिच्छेदक ही नहीं है। अच्छा, क्या सुषुप्तिमें तुम संसारी रहते हो ? संसारी माने क्या ? जैसे जिज्ञासु उसके बोलते हैं—'महाराज ! मैं तो संसारी हूँ।' तो जो संसारी होता है वह तो

जिज्ञासु होता ही नहीं। शंकराचार्यका सिद्धान्त पढ़ो। वे कहते हैं—'संन्यासी वेदान्तविचार करे। वह जिज्ञासु है। संन्यासी माने जो संसारी नहीं है। संसारी माने दुकानदार नहीं है। दुकान करो मौज से। नौकरका नाम संसारी नहीं है। बाल-बच्चेवालेका नाम संसारी नहीं है। जो वासनाको अपने साथमें लेकर सुख-दुःखमें पच रहा है, नरक-स्वर्ग भोग रहा है, आवागमनके चक्करमें चौपाटी और घरमें भटक रहा है जो 'यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए'के कारण श्रमशरणशील है, जो नरक-स्वर्ग और पुनर्जन्ममें आने-जानेवाला है, उसको संसारी बोलते हैं। तो क्या सुषुप्तिमें तुम संसारी रहते हो ? वहाँ तो संसारित्वकी कोई सामग्री ही नहीं रहती।

इसका मतलब यह हुआ कि सुषुप्तिकालमें जो साक्षी है, वह न पापी है न पुण्यात्मा है। न सुखी है, न दुःखी है। न संसारी है, न परिच्छिन्न है।

परन्तु जाग्रत् कालमें जो यह भ्रम बैठ गया है, कि 'मैं' परिच्छिन्न हूँ— हमारी नींद परिच्छिन्न है, हमारा सपना परिच्छिन्न है, हमारा जाग्रत् परिच्छिन्न है, अतएव हम परिच्छिन्न हैं। यह जो जाग्रत्कालीन भ्रम है, वह जाग्रत्कालमें तत्त्वज्ञान न होनेके कारण मिटा तो है नहीं। इसलिए सुषुप्तिकालमें है तो बिलकुल देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, अपापी, अपुण्यात्मा, असुखी, अदुःखी, असंसारी, साक्षीके रूपमें, परन्तु जाग्रत् अवस्थामें गुरुकी शरणमें जाकर वेदान्तका ज्ञान प्राप्त न करनेके कारण, यह अज्ञान न मिटनेके कारण, जब सुषुप्तिमें-से उठते हैं, तो फिर पहले दिनकी तरह पापी, पहले दिनकी तरह पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी-संसारी मान बैठते हैं।

सुषुप्तिमें जो साक्षी है वह इस समय विचार करके देख लो, परिच्छिन्न है कि अपरिच्छिन्न और वह साक्षी किसको जानता है ? जिसमें जाग्रत नहीं है, जिसमें स्वप्न नहीं है, प्रज्ञाका जिसमें घनीभाव है, अशेष-विशेष जहाँ अपने स्वरूपको छोड़कर कारणमें लीन हो गये हैं, उसका साक्षी है अपना आपा। तो सुषुप्तिको देखनेके लिए क्या साक्षी आपमें चश्मा लगाता है ? खुर्दबीनसे देखता है। दूरबीनसे देखता है ?

एक सज्जन थे। वे सोते समय भी चश्मा लगाया करते थे। किसीने पूछा कि 'तुम सोते समय क्यों चश्मा लगाते हो ?' तो बोले—'सपने अच्छे दिखेंग, इसलिए चश्मा लगाकर सोते हैं।'

सुषुप्ति दिखती है साक्षीको। 'नहीं दिखती है'—यह कहो तो गलत है। क्यों तुमको जाग्रत्-स्वप्नसे विलक्षण एक तीसरी अवस्थाका ज्ञान है। उस समय

मन और बुद्धि सो गये थे, तुम सोये नहीं थे। तुम कहो कि—'हम सोये थे! अरे! तुम नहीं सोये थे। भाई! तुम्हारी घरवाली सोयी थी। परन्तु उसके साथ तुम्हारा इतना प्रेम है कि उसके सोनेको तुम अपना ही सोना समझते हो।

बोले कि—'आज तो हम मर गये।' 'काहेको मर गये?' 'हमारी घरवाली बड़ी दुःखी है। हम मर गये।' तो उसके दुःखको अपने ऊपर ले लिया! किसीका पैसा चला गया तो बोले—'आज तो हम मर गये।' गया पैसा और तुम मर गये। क्यों? पैसाका जाना अपने ऊपर ले लिया। कोई अपना दोस्त चला गया तो 'हाय-हाय, हम मर गये।' 'हमारा दोस्त ही चला गया।'

जैसे दूसरेका जाना अपने ऊपर आरोपित करते हैं, वैसे यह मन-बुद्धिका सोना अपने ऊपर आरोपित करके तब जाग्रत्में बोलते हैं कि 'मैं सोया।' 'मैं' कभी सोता नहीं।

न हि द्रष्टुर्दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्।
न हि विज्ञातुर्विज्ञानेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्॥

(बृहदा० ४.३.२३)

अविनाशी होनेसे द्रष्टाकी दृष्टिका लोप कभी नहीं होता। विज्ञाताके विज्ञातिका लोप कभी नहीं होता, यह जानना।

अब आपसे यह पूछता हूँ कि जब आपको दूरबीन लगाकर सुषुप्ति नहीं दिखती है, खुर्दबीन लगाकर सुषुप्ति नहीं दिखती है, चश्मा लगाकर सुषुप्ति नहीं दिखती है; आँखसे सुषुप्ति नहीं दिखती है; कानसे सुषुप्ति सुनायी नहीं पड़ती है; नाकसे सुषुप्ति नहीं सूँघी जाती है; जीभसे सुषुप्तिका रस नहीं आता है; तो वह कौन है जो सुषुप्तिको देखता है? क्या मनसे सुषुप्ति मालूम पड़ती है? क्या मनसे सुषुप्ति दीखती है? क्या बुद्धिसे सुषुप्तिका अनुभव होता है? किस प्रमाणके द्वारा सुषुप्तिकी सिद्धि होती है?

सुषुप्तिमें प्रमाण क्या? बाबा! वहाँ तो प्रमाण और प्रमेयका व्यवहार ही सो गया था। प्रमेय हैं घट-पटादि और प्रमाण माने नेत्र-श्रोत्रादि। वहाँ तो प्रमाण-प्रमेयका व्यवहार नहीं था। उस व्यवहारके अभावके साक्षी तुम थे। तुमने सुषुप्तिको कैसे देखा? सुषुप्तिकी सिद्धि कैसे हुई? सुषुप्तिकी सिद्धि तो तुमसे ही हुई।

सुषुप्ति तो तुमने ही देखी। सुषुप्ति तो हमने ही देखी। यह हमारा बमगोला है। अब बमगोला तो बिलकुल छोटी चीज पड़ गयी है। अब तो यह राकेट है। यह अणुबम है। क्या? यदि बिना मनके, बिना बुद्धिके तुम अपनी सुषुप्तिको अन्यके समान देख सकते हो, तो क्या अपनेको बिना मन-

बुद्धिके नहीं देख सकते ? देख सकते हो अपनेको बिना मन-बुद्धिके। यह मार दिया अणु बम ! अरे, जिसने सबको जाना, उसको जाननेके लिए क्या मनकी जरूरत है ? दूरबीन लगानेकी जरूरत है कि 'मैं हूँ, कि मैं नहीं हूँ ?' खुर्दबीन लगानेकी जरूरत है कि 'मैं हूँ, कि मैं नहीं हूँ ?'

'मैं हूँ'—यह तो सिद्ध है। परन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह तो सिद्ध नहीं है न ? तो जाग्रत् अवस्थामें विचार कर लो न ! जिस सुषुप्तिमें देश लीन हो गया, काल लीन होगया, वस्तुएँ लीन होगयीं, सम्पूर्ण प्रपंच लीन होगया, जहाँ एक और अनेक उपाधिका भेद मिट गया, जहाँ अविद्या और विद्याका भेद मिट गया, उस अविद्यात्मक सुषुप्तिके साक्षी तुम और तुम्हें जाननेके लिए किसी औजारकी जरूरत नहीं। गुरुके बिना तुमने जाग्रत्-स्वप्नके अत्यन्ताभाववाली सुषुप्तिको जान लिया। शास्त्रके बिना जान लिया। वाक्यके बिना जान लिया। तो फिर अब अपने-आपको भी जानो कि तुम कौन थे उस समय ? अपने-आपको जानो—

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते।

श्रीगौड़पादाचार्य शंकराचार्यके 'दादागुरु' हैं। दादागिरी माने फक्कड़ी है इनमें। गौडपादाचार्यजी फक्कड़ हैं, फकीर हैं। सम्प्रदाय-प्रवर्तक, षड्दर्शन-स्थापक, वर्णाश्रममर्यादा-व्यवस्थास्थापक नहीं हैं। परन्तु शंकराचार्य भगवान् कारक-पुरुष हैं ! वे अद्वैतसम्प्रदायके प्रवर्तक हैं, वर्णाश्रम-मर्यादाके प्रतिष्ठापक हैं, षड्दर्शनोंके व्यवस्थापक हैं, ये तो सब कुछ हैं। इनकी महिमा अलग है ! परन्तु ये तो फक्कड़ हैं ! क्या फक्कड़ी है ?

एक बार 'दादा' (प्रेमानन्द) के मुँहमें कोई छाला-वाला हो गया था। एक डॉक्टरसे दवा ले आया, दवा लगायी तो और मुँह जलने लगा, छिल-छिला गया। बड़े डॉक्टरके पास गये तो उस डॉक्टरने भी वही दवा बतायी। दादाजीने कहा कि 'यह दवा तो मैंने लगायी। इसीसे तो जल गया।' डॉक्टरने पूछा—'कैसे लगायी ? तुमने यह दवा पानी मिलाकर लगायी कि सीधे-सीधे लगायी ?'

दादाने बताया—'सीधे-सीधे लगायी।'

'क्या उस डॉक्टरने नहीं बताया था, पानी मिलाकर लगानेके लिए ?'

'नहीं बताया था।'

'तो देखो, वह हमारा चेला है, हम उसके गुरु हैं।' 'तुमने चेलेकी दवा कर ली। अब गुरुकी दवा करो।'

बात वही होती है, गुरु और चेलेमें फरक हो जाता है।

शंकराचार्य तो आभासवादी भी हैं, अवच्छेदवादी भी हैं, प्रतिबिंबवादी भी हैं, दृष्टिसृष्टिवादी भी हैं और अजातवादी भी हैं। जितनी प्रक्रियाएँ वेदान्तशास्त्रकी निकली हैं, वे सब शांकरभाष्यमें-से निकलती हैं। वे सब प्रक्रियाओंकी व्यवस्था करते हैं और गौड़पादजी तो महाराज! यह लो 'अकल्पकमजं ज्ञानं।' एक अजातवादकी ही स्थापना करते हैं।

अकल्पकं = यह जो रूपकी कल्पना है, विविध और विचित्र स्त्री है—पुरुष है, पशु है—पक्षी है, मनुष्य है—यह सब-का-सब अपने अधिष्ठान ज्ञानमें अध्यस्त है। जो उस कल्पनाका कल्पक है वह भी उसी ज्ञानमें अध्यस्त है। उसमें कल्पक न सर्वज्ञ है, न अल्पज्ञ है। उसमें न कल्प्य प्रपंच है, न जगत्, न संसार। सर्वज्ञके द्वारा कल्पित जगत् और अल्पज्ञके द्वारा कल्पित संसार माने जीवसृष्टि और ईश्वरसृष्टि दोनों नहीं हैं। वेदान्तियोंके मतमें ऐसे बोलते हैं—

अकल्पकं = सृष्टि नहीं और सृष्टिके कल्पक नहीं—मात्र ज्ञान कल्पक और कल्प्यके भेदसे रहित कल्पना अपने अधिष्ठान ज्ञानसे अभिन्न है। परमात्माका जो ज्ञेयसे अनिर्भिन्न ज्ञानस्वरूप है, वह कैसा है? अज है। इस श्लोकमें तीन बार-'अज' शब्दका प्रयोग है। इसीसे तो इनको 'अजातवादी' बोलते हैं।

जरा कल्पना करो उस ज्ञानकी जिसमें कल्पना न हो। वह जायमान नहीं है। वह पैदा होता और मिटता नहीं है। ज्ञानका पैदा होना और मिटना नहीं होता।

घटज्ञानं जातं, घटज्ञानं नष्टम्।

घड़ेका ज्ञान पैदा हुआ और घड़ेका ज्ञान मिट गया—यह अनुभव ही गलत है।

घड़ा पैदा हुआ और घड़ा मिट गया। घड़ा हट गया और घड़ा सट गया। घड़ा बन गया और घड़ा फूट गया। मगर रोशनी ज्यों-की-त्यों।

आँख मंदी हो गयी, आँख तेज हो गयी, आँख अंधी हो गयी और ज्ञान? मंद आँखमें भी, तेज आँखमें भी और अंधी आँखमें भी बिलकुल एक। पुतलीके होने और न होनेका ज्ञानके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अंधे लोग तो ज्यादा समझदार देखनेमें आते हैं। उनके ज्ञानका नाश कहाँ होता है? आँख फूटनेसे ज्ञानका नाश कहाँ होता है? बहरे लोग भी समझदार देखनेमें आते हैं और अन्धे लोग भी ज्यादा समझदार देखनेमें आते हैं। इन्द्रियोंके नाशसे ज्ञानका नाश होता कहाँ है? विषयोंके नाशसे भी ज्ञानका नाश नहीं होता। अरे बाबा! यह ज्ञान अजन्मा और अमृत है।

'ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते'—का अर्थ है कि जिस ब्रह्मको तुम जानना चाहते हो, जिस आत्मसत्यको तुम जानना चाहते हो, उस ज्ञेयसे यह ज्ञान भिन्न नहीं है। घट आया तो ज्ञानका आकार घट और पट आया तो ज्ञानका आकार पट। घट-पट दो चीज आनेसे ज्ञानमें कोई फरक पड़ा हो, सो नहीं। 'यह तो बिलकुल ब्रह्मरूप ही है, ऐसा महात्मा लोग 'प्रचक्षते।'

यह 'प्रचक्षते' 'ज्ञानचक्षु' है। यह 'चक्षते'में वही धातु है जो चक्षुमें है। चक्षीन धातु है। उसीसे 'चक्षु' भी बनता है और 'चक्षते' भी बनता है। 'प्रचक्षते' में बड़ी भारी प्रामाणिक बात कही गयी है। क्या? अगर दो आदमी लड़ाई करते हुए आवें; एक कहता है कि—'हमने सुना है कि ऐसी बात है और एक कहता है कि—'हमारी देखी हुई यह बात है', तो जजको किसकी बात माननी चाहिए? सुने हुए की बात नहीं माननी चाहिए। देखे हुए की बात माननी चाहिए।

ब्रह्म जिस ढंगसे देखा जाता है अपने आपाको जाननेका जो ढंग है, उसको जिन लोगोंने देख लिया है, जान लिया है, उनका कहना है—यह 'प्रचक्षते' से बताते हैं। क्या कहना है उनका?

'ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यं अजेनानं विबुद्ध्यते।'—यह ज्ञान भी अजन्मा है। कभी पैदा नहीं हुआ है। 'नित्यं' है, माने उसका कभी नाश नहीं होता है। 'स्वयंप्रकाश है और 'अनाश' है।

ब्रह्मज्ञेयम् यस्य—ब्रह्मको ही जानता है। अब एक खुशीकी बात इसमें आ गयी है—'अजेनाजं विबुद्ध्यते'—अज ही अजको जानता है।

'अजेनाजं विबुद्ध्यते'—यह स्वयं अजन्मा है और अजन्माको जानता है। माने अजन्मा-अजन्मा एक है और उसमें उत्पत्ति और नाश नहीं है।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृहदा० ३.९.२८)

प्रज्ञानम् ब्रह्म (एतरेय० ३.९.३)

हमें जो ज्ञान हो रहा है, इसी ज्ञानसे—जिस ज्ञानसे हमें ऐसा मालूम पड़ रहा है कि 'यह लाउडस्पीकर है', 'यह पुस्तक है', 'यह श्रोता है,' 'यह वक्ता है'—यही ज्ञान इसको जरा एक बार विषयसे कतरा दो। बस! यह स्त्री, यह पुरुष, यह किताब,—इनको जाननेवाला एक प्रकाश। कौन प्रकाश? अहम् प्रकाश। यही तो बात है।

जिस ज्ञानसे यह रूमाल दिख रहा है, त्वचासे कोमल मालूम पड़ता है, आँखसे सफेद मालूम पड़ता है, नाकसे उसकी गंध मालूम पड़ती है, जिह्वासे

स्वाद मालूम पड़ता है कानसे शब्द मालूम पड़ता है—वह एक ज्ञान ही पांच इन्द्रियोंमें आकर इसे पाँच तरीकेका बता रहा है।

इस रूमालका ख्याल छोड़कर और एक ज्ञानको पंचधा प्रकाशित करने-वाली जो पाँच नदियाँ हैं—उन इन्द्रियोंका ख्याल भी छोड़ दो।

पंचनद्यः सरस्वती अपि यन्ति स स्रोतशः।
सरस्वती तु पंचधा स्रोतेषु भव सरित्।

एक सरस्वती है भीतर। उसकी पांच शाखा पाँच इन्द्रियोंके द्वारा बाहर निकलती हैं। पंच नद्यः। इसीको पंजाब बोलते हैं। वेदमें पंजाबके रूपमें (वर्णित है)। पाँच जो ज्ञानकी धारा बहती हैं शरीरमें, वह एकही ज्ञानकी धारा है। विषय भेदसे भी उनमें भेद नहीं है। इन्द्रिय भेदसे भी ज्ञान ही है और विषयभेदसे भी ज्ञान ही है।

विषय और इन्द्रियोंमें जो भेद है, उनको छोड़कर यही ज्ञानस्वरूप। तुम कौन हो ? 'अजेनाजं विबुद्ध्यते।' तुम हो अजन्मा।

पौराणिकोंने क्या किया ? देखो, ब्रह्माजीके दाढ़ी है, यह तो आपको मालूम है न ? शंकरजीकी दाढ़ी नहीं बनाते हैं और विष्णुजीकी दाढ़ी नहीं है। ब्रह्माको दाढ़ी लगा दी। वेदमें जरा एक बार देख लें इसका कारण क्या है ?

विष्णु भी पितामह नहीं है और रुद्र भी पितामह नहीं है। पितामह तो ब्रह्मा ही होते हैं। तो पितामहत्वकी सूचक दाढ़ी है। एक सामान्य बात यह कहते हैं—'लोकमें 'अज' कहते हैं बकरेको। बकरेको भी दाढ़ी होती है। ब्रह्माका नाम संस्कृतमें 'अज' है और बूढ़े तो हैं-ही-हैं। तो उनके साथ दाढ़ी जोड़ दी।

लेकिन महात्माओंने क्या किया ? उन्होंने देखा कि गौड़पादाचार्यने ऐसा लिखा—'अजेनाजं विबुद्ध्यते।' अज ही अजको जानता है। तब तो दाढ़ी रखना जरूरी हो गया। लेकिन दाढ़ी हो तो परमात्माका ज्ञान हो, यह बात नहीं है।

अज ही अजको जानता है। क्या मजेदार शब्द हैं ? ये लोग जो हिमा-लयमें रहते थे, उनको नाई वहाँ मिलता नहीं था। बाल रखनेमें कोई तक-लीफ भी नहीं होती थी। वहाँ ठंडा है तो बाल रक्षा करे। मुँहकी रक्षा करे, सिरकी रक्षा करे। बिना ओढ़े ही कंबल भगवान्ने मुँहपर बना दिया। तो

क्या होता था ? कभी-कभी इसका उत्सव होता था। जब महात्मालोग हिमालयसे उतरकर हृषीकेश आते थे तो ऋषियोंके केश वहीं मुड़े जाते थे, ऊपर नहीं, ऋषिकेशको हृषीकेश कहने लगे।

एक शब्द है 'हृषीकेश' और एक शब्द है 'ऋषिकेश'। एक 'ऋषिका' नामकी वेदद्रष्टी स्त्री थी, जिसने वेदके मंत्रोंका दर्शन किया था। उसके नामपर ऋषिकेश नाम पड़ा।

'अजेनाजं विबुद्ध्यते'का अर्थ है कि तुम जिस कक्षाके हो जाओगे, उसी कक्षाके सबको जानोगे। देह जानोगे तो सबको देहरूप जानोगे।

पापी सर्वत्र पापमाशंकते।

तुम पापी हो जाओगे तो सबको पापी समझोगे। तुम पुण्यात्मा हो जाओगे, तो सबको पुण्यात्मा समझोगे। जैसे तुम होओगे, तुम्हारी नजरसे सब वैसा ही दीखेगा।

अगर तुम अपनेको 'अज' जान लो—'मैं साक्षी हूँ। मैं बुद्धिमें उतरकर कर्ता नहीं बनता। मैं मनमें उतरकर संकल्पक नहीं बनता। मैं प्राणमें उतरकर क्रियावाला नहीं बनता। मैं देहमें उतरकर जन्म-मरणवाला नहीं बनता। मैं आनन्दमय कोशमें बैठकर भोक्ता-सुखी-दुःखी नहीं बनता। मैं परिच्छिन्न नहीं बनता।

यदि तुम अपनेको देहसे, प्राणसे, मनसे, बुद्धिसे, आनन्दसे और परिच्छिन्नतासे ऊपर उठाकर सच्चिदानन्दघनरूप साक्षीके रूपमें जानो तो तुम जान जाओगे कि 'जैसे पंचकोशसे न्यारा मैं अज हूँ, वैसे ही पंचकोशसे न्यारा परमात्मा अज है और अज-अज दो नहीं होते। अज और अज एक ही है। अजके द्वारा ही अज जाना जाता है।

अब यह बात बतायी कि ज्ञानको पकड़ो। यह 'जानना' आत्मा है। लाल जानकारीका नाम आत्मा नहीं है। पीली जानकारीका नाम आत्मा नहीं है। जानकारीको लाल-पीलीसे अलग करो।

आँखकी जानकारी नहीं। कानकी जानकारी नहीं। मनकी जानकारी नहीं। बुद्धिकी जानकारी नहीं। आँख, कान, मन, बुद्धिकी जानकारीसे जानकारीको अलग करो; सुषुप्तिकी जो शून्य जानकारी है—अभावग्रस्त-सुषुप्त जानकारी वह नहीं। सुषुप्तिसे भी जानकारीको अलग करो!

यह अलग की हुई जो जानकारी है, वह असलमें अजन्मा है। यह ज्ञान असलमें परमात्मा है। यह ज्ञान असलमें साक्षी है। और एक बात आपके

ध्यानमें रहे कि जहाँ ज्ञान उपादान होता है, वहाँ परिणामी नहीं होता। जो लोग चैतन्यको कारण मानते हैं और उसको बदलनेवाला मानते हैं, वे लोग तो चैतन्यके स्वभावको बिलकुल जानते ही नहीं।

चैतन्यका स्वभाव है देखना, बदलना नहीं। बदलनेको भी देखना। परिणाम उसको कहते हैं, जो बदले। साक्षीचैतन्य जो जगत्का कारण है, वह परिणामी नहीं है, विवर्ती है। माने बिना बदले हुए ही बदलता हुआ-सा मालूम पड़ता है। मैंने स्त्रीको देखा, मैंने पुरुषको देखा, मैंने कानसे सुना, मैंने आँखसे देखा तो क्या मैं बदल गया? आँखसे देखनेवाला मैं जुदा हो गया? कानसे सुननेवाला मैं जुदा हो गया? स्त्रीको देखनेवाला मैं जुदा और पुरुषको देखनेवाला मैं जुदा? मिट्टीको देखनेवाला मैं दूसरा और पानीको देखनेवाला मैं दूसरा? अनन्तकोटि ब्रह्मांडको देखनेवाला मैं? बिलकुल एक। और देखता भी कहाँ हूँ? अपनी दृष्टिमें। अपनी दृष्टिमें लेकर देखता हूँ। 'दृष्टिमें दृश्य'—ऐसा नहीं। हमारी दृष्टि ही दृश्य। और दृष्टि? दृष्टि तो द्रष्टासे जुदा होती नहीं।

ज्ञान कैसा है? ब्रह्म ज्ञेय है। ब्रह्म है ज्ञेय जिसका—वह ज्ञान असलमें ब्रह्मको ही जानता है। अजं=ज्ञान पैदा नहीं होता और ज्ञान नित्य है।

ये तीन बात बतानेका क्या अर्थ है? कि—(१) ज्ञान अजन्मा है। (२) ज्ञान नित्य है=अमरण है, अमृत है। (३) असलमें ज्ञान विषय-परिच्छिन्न भी नहीं है। जो ज्ञान है, वही ज्ञानका विषय है। तब यह परिच्छिन्नता तो प्रतीतिमात्र है।

स्वयं जाननेवाला और स्वयं जानाजानेवाला मन असत् है तो क्या हुआ? बुद्धि असत् है तो क्या? इस असत्-असतीके द्वारा भी सब जाना जाता है। इस अमनके द्वारा भी सब जाना जाता है। ब्रह्म ही अपनेमें अध्यस्त मनके द्वारा अपनेमें अध्यस्त अज्ञानको मिटा देता है। जो मिटा सो भी ब्रह्मात्मक ही था; जिसने मिटाया सो भी ब्रह्मात्मक ही था और दोनों नहीं थे। इसमें भला कौन-सी असंगति है?

❀

: २४ :

अमनोभावकी विलक्षणता

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः।
प्रचारः सः तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ॥३४॥

अर्थः—निगृहीत, निर्विकल्प और विवेकसम्पन्न मनका (अमनोभावका) जो व्यापार है उसको विशेष प्रकारसे जानना चाहिए। सुषुप्तिमें जो चित्त-वृत्ति है वह अन्य प्रकारकी है, वह अमनीभावके समान नहीं है।

कई लोग ऐसे होते हैं जिनको केवल रोटीसे मतलब है। कौन देता है, उससे उनको मतलब नहीं है। भावकी दृष्टिसे देखो, तो सिर्फ रोटी चाहनेवालेकी बुद्धि स्थूल है। देनेवालेको भी जो चाहता है, उसकी बुद्धि सूक्ष्म है। सिर्फ देनेवालेको जो चाहता है, वह भावुक है।

यह सारी दुनिया दीखती है। जो दीखता है, उसीमें जो संतुष्ट है, वह स्थूल बुद्धिवाला है। लेकिन जिससे दिखता है, उसको अगर चाहे तो उसकी बुद्धि सूक्ष्म है। सिर्फ रोटी नहीं, रोटी देनेवालेके बारेमें भी जानकारी चाहिए, नहीं तो वह कृतज्ञ नहीं है, कृतघ्न है।

सिर्फ भोग्य प्रपंचको जो जानता है, कि यह आकाश हमारे घूमने-फिरनेके लिए है, उड़नेके लिए है; हवाई-जहाजसे आसमानमें उड़ेंगे ! परन्तु यह आसमान कहाँसे निकला—उसे यह मालूम नहीं है। जिसकी भोग्य प्रपंचमें आसक्ति है, परन्तु भोग्य प्रपंच जिससे उत्पन्न होता है—'जन्माधस्य यतः'—जो इसका मूल अधिष्ठान है, जो इसका मूल कारण है, जो इसका मूल प्रकाशक है, उसको जो नहीं जानता, वह बड़ा कृतघ्न जीवन व्यतीत कर रहा है। इसको श्रुतिमें कहा है—

न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः। (केन० २.५)

यदि इसी जीवनमें उसको नहीं जाना, तो तुमने महान् विनाश कर दिया, अपना सत्यानाश कर दिया। खाया-पिया, मौज किया, सब किया। जिसके लिए यह दुनिया बनी है, उसका नाम है—'भोक्ता जीव' और जिसने यह दुनिया बनायी है, उसका नाम है—'मायाविशिष्ट ईश्वर'। भोग्य प्रपंचसे विवेक कर देनेपर और भोक्ता कर्तासे विवेक कर देनेपर भोक्ता जीव और

कर्ता ईश्वरमें जो एक अखण्ड अधिष्ठान चेतन (ज्ञान) है वह सम्पूर्ण सृष्टिका सार सर्वस्व है; उसीमें यह प्रपंच अनहुआ प्रतीत-भर हो रहा है।

यह बात बतायी कि यह जो ज्ञान है, उसे यदि भोग्य प्रपंच देखना हो, तो उसको इन्द्रियोंका और मनका सहारा लेना पड़ता है। अगर खाना हो, तो (i) खाना होना चाहिए, (ii) मुँह होना चाहिए; (iii) जीभमें स्वाद लेनेकी शक्ति होनी चाहिए और (iv) खानेमें मन लगना चाहिए। नहीं तो मन अन्यत्र हो, तो भोजनका स्वाद नहीं आवेगा।

लेकिन यदि ध्यान करना हो, तो बाहरकी कोई वस्तु नहीं चाहिए, इन्द्रिय भी नहीं चाहिए, बस मन-ही-मन ध्यान हो जायगा।

परन्तु सुषुप्तिको देखना हो तो ? बिना मनके ही काम चल जायगा। सुषुप्तिका दर्शन करनेके लिए मनकी जरूरत नहीं पड़ती। चश्मा खुर्दबीन, दूरबीन, कोई औजार, कोई कारणके बिना ही हम अपने-आप ही देखते हैं।

यदि अपनेको देखना हो तो ? अरे ! हम तो स्वयं प्रकाश हैं, स्वयं ज्ञान हैं। रोशनीको देखनेके लिए रोशनी नहीं चाहिए। ज्ञानको देखनेके लिए ज्ञान नहीं चाहिए। अपने आपको जाननेके लिए कोई औजार नहीं चाहिए। यह स्वयंसिद्ध है, यह स्वयंप्रकाश है !

बहुत लोग जिन्दगीमें इसीलिए भटकते रहते हैं कि इस आत्माको जाननेके लिए किसी औजारकी खोजमें रहते हैं। वे आत्माको घड़ेकी तरह जानना चाहते हैं और दालभातके कौरको खानेमें जो स्वाद आता है वैसा आनन्द आत्माको जानकर प्राप्त करना चाहते हैं।

खान शब्द भी संस्कृतका है। इसका प्रयोग है संस्कृत भाषामें। अप्रयुक्त नहीं है। 'खानि इन्द्रियाणि अनीति उज्जीवयति इति खानं'—जो इन्द्रियोंको जीवनदान करे, उसका नाम खान। पीयते इति पानं। खानं च पानं च = खान-पान—जिनको इन्द्रियोंके द्वारा विषयभोग करनेका अभ्यास हो जाता है और इन्द्रियोंके द्वारा इष्टसे राग करनेका अभ्यास हो जाता है, उनकी समझमें जल्दी यह बात नहीं आती कि—'मैं स्वयंसिद्ध हूँ। मैं स्वयंप्रकाश हूँ। मेरे लिए किसी स्थानकी, किसी कालकी, किसी वस्तुकी, किसी कारणकी आवश्यकता नहीं है। मैं ज्योंका त्यों अखंड हूँ, अपरिच्छिन्न हूँ, ब्रह्म हूँ, क्योंकि काटनेवाला कोई है नहीं। इसीसे बताया कि यह आत्मा ज्ञप्तिमात्र है। जाननेवाला भी खुद और जाना जानेवाला भी खुद। इसमें जाननेके लिए किसी वृत्तिकी भी जरूरत नहीं है। यह दादागिरी हुई; माने यह साफ मालूम पड़ता है कि जैसे शंकराचार्यका गुरु यह बात बोल रहा है।

ये कहते हैं कि जब सुषुप्तिको जाननेके लिए वृत्तिकी जरूरत नहीं है, साक्षी स्वयं जानता है, बिना वृत्तिके जानता है। तो फिर स्वयंको बिना किसी वृत्तिके जान ले तो उचित ही है। अन्तर इतना ही है कि अज्ञान जो जाग्रत्-कालमें निवृत्त हो जाना चहिए, वह निवृत्त नहीं हुआ है, जिससे सुषुप्तिसे उठने पर फिर हम अपनेको परिच्छिन्न ही जानते हैं। लेकिन, अगर जाग्रत्-कालमें अज्ञान निवृत्त हो गया होवे, तो सुषुप्तिमें क्या दशा रहेगी? अपने आपको अपने आपसे जाननेकी जरूरत रहेगी कि हम अपने आपको अपने आपसे जानते हैं? ज्ञानीको ज्ञानकी जरूरत नहीं है। अज्ञानीको ही ज्ञानकी जरूरत रहती है।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—यह जो सबको जाननेवाला विज्ञान है और जो सबसे न्यारा अपना आत्मा है, वह ब्रह्म है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**—सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है। सत्य इसलिए कहा कि आत्माको क्षणिक नहीं समझना! कोई-कोई सिद्धान्त ऐसे हैं जो आत्माको ज्ञानरूप तो मानते हैं, परन्तु क्षणिक मानते हैं! अर्थात् ज्ञानको क्षण-क्षण नष्ट होता हुआ मानते हैं।

आत्मा तो क्षण-क्षणका भी साक्षी है और नष्ट-नष्टका भी साक्षी है, इस-लिए यह सत्य है, अविनाशी है। आत्मा अविनाशी है। अविनाशी होकर कहीं जड़ ही न होवे; इसलिए 'ज्ञानम्' कहाँ। सत्यमें जो जड़ता है, उसको काटनेके लिए 'ज्ञान' कहा और ज्ञानमें जो क्षणिकता है, उसे काटनेके लिए 'सत्य' कहा। यह सत्य और ज्ञान केवल 'अहं'के रूपमें किसी कलेजेके किसी कोनेमें रहनेवाला हो तो? उस परिच्छिन्नताको काटनेके लिए 'अनन्त' कहा।

यह विनाशी माने क्षणिक ज्ञान नहीं है, अविनाशी ज्ञान है। ज्ञान है माने जड़ द्रव्य नहीं है। यह सत्य है माने विनाशी नहीं है, क्षणिक ज्ञान नहीं है। अनन्त है, माने देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं है, अखंड है। इस आत्माका नाम क्या? 'ब्रह्म'।

ऐसी अनेक श्रुतियाँ हैं जो ज्ञानस्वरूप आत्माको ब्रह्म बनाती हैं—

आत्मानं विजिज्ञासस्व।

अरे ओ भोले भाई! तू पेड़ा-बरफीके ज्ञानमें मत लग, अपने आपको जान।

'आत्मानं विजिज्ञासित' और 'आत्मानं विजिज्ञासस्व दोनों तरहकी श्रुति है। ऐसे बोलते हैं—

'वाचं न विजिज्ञासित वक्तारंविधात्।

जीभ क्या है और शब्द क्या है; इसे जाननेकी कोशिश मत करो।

बोलनेवालेको देखो। श्रुति कहती है—'आवाज क्या है और आवाज कहाँसे निकलती है, यह मत देखो; जो वागोपाधिक चैतन्य है, उसे जानो। इसे कैसे जानें ?

जो अनात्म है, जो जड़ है, जो अन्य है, जो अदलने-बदलनेवाली चीज जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति है, उससे अपनेको हटा लो। सुषुप्ति जाग्रत्-स्वप्नमें नहीं है, स्वप्न जाग्रत्-सुषुप्तिमें नहीं है, जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्तिमें नहीं है और अपना आपा सबमें है। इसलिए सबसे न्यारा है। इसका फल क्या निकला ?

जाग्रत्का पाप-पुण्य इसका पाप-पुण्य नहीं है। जाग्रत्का सुख-दुःख इसका सुख-दुःख नहीं है। स्वप्नका पाप-पुण्य इसका पाप-पुण्य नहीं है और स्वप्नका सुख-दुःख इसका सुख-दुःख नहीं है। सुषुप्तिका अज्ञान भी इसका अज्ञान नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिका अज्ञान अगर इसका अज्ञान होता तो हर समय रहता। तो—**तुरीयं त्रिषु संततम्** से आत्माका ज्ञान प्राप्त करो।

अपने आपको जानो। कैसे जानें ? अज्ञानको छोड़ दो और ज्ञान तुम स्वयं हो। वार्तिकमें बड़ा सुन्दर एक श्लोक है—

निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।

मोहकी निवृत्ति ही आत्मा है, क्योंकि निवृत्ति आत्मासे विलक्षण नहीं हैं। निवृत्ति कोई वस्तु तो है नहीं, जो आत्मामें सट जाय। एक बार उसकी अनन्तताका, अपरिच्छिन्नताका, पूर्णताका विचार कर लो, विवेक कर लो। ज्ञातत्वेन उपलक्षितः।

सर्वविभासक, स्वयंप्रकाश, देश-काल-वस्तुका अवभासक और देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदका प्रकाशक और सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदसे असंस्पृष्ट यह स्वयंप्रकाश आत्मदेव है—ऐसा जानना ही मोहकी निवृत्ति है। अज्ञानकी निवृत्ति आत्मा है। वह क्या है कि—'स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव बुद्धम्।' 'अजेनाजं विबुद्ध्यते।' इसका अर्थ है कि इसके ज्ञानके लिए न तो इसके विषय होनेकी जरूरत है—नमकीन, खट्टा और मीठाकी तरह आत्मा विषय होवे, इसकी जरूरत नहीं है और न तो इसके लिए करणकी जरूरत है कि जीभ होवे, कान होवे, नाक होवे, आँख होवे; न तो उसके लिए शांतिकी जरूरत है कि सुषुप्ति होवे, और न तो इसके लिए ध्यानकी जरूरत है।

ध्यान तो ध्येयके लिए आवश्यक है। यहाँ तो 'अजेनाजं विबुद्ध्यते।' स्वयं इसका अर्थ श्रीशंकराचार्य भगवान्ने ऐसा किया कि—जो नित्य प्रकाश-स्वरूप सविता है, उसको अपनेको जाननेके लिए किसी दूसरी रोशनीकी

आवश्यकता नहीं है। इसीप्रकार नित्यविज्ञानैक्यरसघन होनेके कारण—'न ज्ञानान्तरमपेक्षते।' उसको ज्ञानके लिए दूसरे किसी औजारकी, करणकी जरूरत नहीं है।

अब एक और बात उठाते हैं। एक सज्जन थे, वे रोज पाठ करते थे कि—

अब प्रभु कृपा करौ एहि भाँती।
सब तज भजन करौं दिन राती॥

'सब तज'का अर्थ तो उनको मालूम नहीं था। एक दिन उनके हाथमें जो पैसा था वह निकल गया। निकल गया तो वे पहुँचे राममंदिरमें और बोलने लगे रामजीके चरण चौपट करन।

अरे! हमारा तो पैसा चला गया, चौपट होगया। अष्टावक्रजीने कहा—

आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका।

अरे! तुम चाहते तो हो कि सबसे छुटकारा मिले। और मोक्षसे ही डरते हो। बोलते तो हैं कि—'हमें ब्रह्मलोक पर्यन्त नहीं चाहिए। परन्तु इसमें ब्रह्मलोककी तो याद रहती है। 'पर्यन्त' शब्दका अर्थ छूट जाता है। क्यों छूट जाता है?

आजकलके जो जिज्ञासु हैं, उन्होंने धर्मानुष्ठान तो पहले किया नहीं। यज्ञ-याग आदि करते तो स्वर्गलोक-ब्रह्मलोकका कुछ भेद उनको होता। उपासना विधिपूर्वक की नहीं। तो वैकुण्ठ, गोलोकका भेद उनको मालूम नहीं। योगाभ्यास किया नहीं। योगाभ्यासमें जब सिद्धि आती है, तो मरणके पूर्व और मरणके अनन्तरकी गतिका ज्ञान होजाता है। वह तो किया नहीं!

असलमें उनका स्वर्गपर, वैकुण्ठपर, ब्रह्मलोकपर, गोलोकपर विश्वास तो था नहीं। तो वे बोले कि ब्रह्मज्ञानके लिए हमने उनको छोड़ दिया। उनको कहें कि—'महाराज, पाँच रुपया छोड़ो'—तो ये नहीं छोड़ेंगे। यह तो सच्चा है न? उनको बुद्धिमें स्त्री-पुत्र-धन-शरीर, ये सम्बन्ध तो सच्चे होकर बैठे हैं और गोलोक-वैकुण्ठ-ब्रह्मलोक झूठे होकर बैठे हैं। वे कहते हैं कि 'झूठा नोट देनेके बदलेमें अगर ब्रह्मलोक-वैकुण्ठ मिल जायँ तो ले लें! और यदि सच्चा नोट देना पड़े तो?'

आश्चर्य मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका।

आश्चर्यकी बात है कि ये चाहते तो हैं मोक्ष, लेकिन जब दुनियाकी कोई चीज छूटने लगती है, तो ये डरने लगते हैं कि हाय-हाय! हमारा प्यारा छूट जायगा।

तो यह आश्चर्य है! लेकिन ज्ञानका फल स्वर्गके समान परोक्ष नहीं है। यह मरनेके बाद नहीं मिलता! यह कोई वैकुण्ठके समान विमानपर चढ़कर इसमें जाना नहीं होता। ब्रह्मलोकके समान यह कोई निष्काम कर्मका फल नहीं है। यह कैसा है? इसके लिए उपमा देते हैं—'तृप्तिवत्'।

मोक्षमाणस्य ज्ञानफलं स्वर्गवत् न परोक्षं किन्तु तृप्तिवत् प्रत्यक्षम्।

जैसे अपने मनमें कभी तृप्ति होती है, तो तृप्ति साक्षीभास्य है। जिसे सुषुप्ति दीखती है उसीको तृप्ति दीखती है। घड़ा भी उसीको दीखता है। लेकिन घड़ा दीखता है आँखका चश्मा लगानेपर। तृप्ति देखनेके लिए कि हमारे मनमें तृप्ति है, आँखका चश्मा तो लगाना नहीं पड़ता; बिना आँखके चश्मेके ही तृप्तिका अनुभव होता है।

किसे अनुभव होता है? साक्षीको अनुभव होता है। तृप्ति सबसे निकट है, इसलिए इसकी उपमा देते हैं। असलमें आत्मानन्द तृप्तिवत् भी नहीं है। क्योंकि तृप्ति कालपरिच्छिन्न है। कभी हो, कभी न हो! देश परिच्छिन्न भी है। कश्मीरमें गये तो तृप्ति हो और वहाँ भी घंटे-आध-घंटे। मकान खरीदते हैं, तो पहले देख लेते हैं कि यहाँसे समुद्र दिखेगा कि नहीं, बगीचा दिखेगा कि नहीं, खिले हुए फूल दिखेंगे कि नहीं! यह सब देखकर मकान खरीदते हैं। परन्तु जब मकानमें रहने लगते हैं, तो हफ्तों तक समुद्रपर नजर नहीं जाती है, बगीचा नहीं देखते हैं, फूलपर नजर नहीं जाती है। रहता सब है, पर नजर नहीं जाती है।

चन्द्रमाको देखकर तृप्त होगये। थोड़ी-सी तृप्ति एक चीजको देखकर हुई, एक जगहपर पहुँचनेपर हुई, एक समयमें हुई, अन्तर्मुखतामें हुई। अरे! यह तृप्ति भी आने-जानेवाली ही है। लेकिन इसका नाम इसलिए लिया कि इसके लिए आँख-कान-नाक-जीभको जरूरत नहीं होती है, आत्मतृप्ति अपने-आप होती है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (गीता ३.१७)

ज्ञानका फल तृप्तिवत् प्रत्यक्ष है। इसमें क्या प्रत्यक्षता आती है? जो लोग अन्तर्तृप्तिका अनुभव करने लगते हैं, उनके लिए अष्टावक्र गीतामें आया है कि—'यदि प्रयत्नपूर्वक उनको आँखकी पलक भी उठानी पड़े और गिरानी पड़े, तो यह उनको पसंद नहीं है।'

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि।
तस्यालस्यधुरीणस्य मुखं नान्यस्य कस्य च॥

क्यों कि यह आत्मसुख विषयके अभिमानसे सिद्ध नहीं है। एक सेठको हम जानते हैं। वह फटा कपड़ा पहनता है, रूखा-सूखा खाता है और धरतीपर सोता है। सेठ है, पचासों लाख रुपये उसके पास है। उसका सुख किस चीजका है? एक सुख तो उसको यह है कि बैंकमें हमारा इतना है। यह तो हुआ पैसेका सुख! तिजोरीमें इतना बंद है। ऐमा छिपाकर गाड़ा है कि सरकारको भी पता नहीं चल सकता।

ये लोग तो कहते हैं कि एक बार ईश्वरको भी मालूम न पड़े, ऐसी जगह रखा है! यह क्या है? यह अभिमानका सुख है। केवल अभिमानका सुख है कि 'हमारे पास इतना है।' धरतोपर सोनेमें भी सुख है, रूखा-सूखा खानेमें भी सुख है, फटा चीथड़ा पहननेमें भी सुख है। यह भी अभिमानका ही सुख है कि 'हम इतने त्यागी हैं, इतने तपस्वी हैं।' तपस्यामें जो सुख है, वह भी अभिमानका ही सुख है। विद्यामें जो सुख है, वह भी अभिमानका ही सुख है। व्रत और पैसा इकट्ठा करके रखनेमें जो सुख है, वह भी अभिमानका हो सुख है।

एक अभिमान स्थूल वस्तुमूलक है और एक भावमूलक है, पर अभिमान दोनोंमें है। दूसरा सुख भोगमूलक है। बढ़िया खाते हैं, बढ़िया पहनते हैं, बढ़िया मकानमें रहते हैं, बढ़िया व्याह किया है, बढ़िया बच्चे हैं, भोग हो रहा है।

भाई! वढ़िया बच्चेका सुख भी बढ़िया अभिमानका ही सुख है। बच्चे जब तोतली बोली बोलते हैं, जरा किलकते हैं, तो मजा आजाता है। यह भोग सुख है। इससे ऊपर देखते हैं तो—ध्यानका सुख भी अन्तर्भोग सुख है। जैसे ध्यानमें चूमते हैं, चाटते हैं, मिलते हैं, जुटते हैं, वह भी अन्तर्भोग-सुख है, भगवद्विषयक भोग-सुख हैं!

एक मनोरथ सुख है। अभी तो हम कमानेमें लगे हैं! जब हमारे पास पैसा हो जायगा—वह मुर्गी बेंचकर बकरी खरीदेंगे, बकरी बेंचकर गाय, गाय बेंचकर घोड़ा, घोड़ा बेंचकर मकान खरीदेंगे, मकानमें औरत और बच्चोंके साथ रहेंगे—यह शेखचिल्लीका सुख। इसका नाम होता है मनोरथ-सुख।

अभिमान-सुख, भोगसुख, मनोरथ-सुख और चौथा अभ्यासका सुख है। किसीको प्राणायामका अभ्यास हो जाता है। तो साँस जबतक उतनी न चढ़े,

मजा न आवे, हम लोगोंके पेटको अभ्यासका सुख होता है। अपने इस जीवन-निर्वाहके लिए हमें थोड़े अन्नकी जरूरत है, लेकिन हम जरूरतसे ज्यादा खाते हैं। पावभर अन्नकी जरूरत है शरीरके पोषणके लिए, परन्तु पेटको आदत पड़ गयी; सेरभर वजन जबतक न हो तबतक तृप्ति न हो! सेरभर वजन आनेपर जो तृप्ति होती है, वह अभ्यासज है। पेटको वैसी आदत पड़ गयी। ऐसे, नाक दबाकर बैठते हैं; जबतक साँसका इतना दबाव शरीरपर न आवे तबतक मजा नहीं आवेगा। या आसन बाँधकर बैठेंगे, शरीर जरा कड़ा नहीं होगा, पीठकी रीढ़ सीधी नहीं होगी तबतक मजा नहीं आवेगा। यह भी अभ्यासका सुख है। सूर्यनमस्कार रोज नहीं करेंगे, घंटेभर दंड-बैठक न करें, कसरत करनेवालोंको मजा न आवे! इसे अभ्यासज सुख बोलते हैं। मनुष्यको वैसा करनेकी आदत पड़ जाती है।

अभ्यासका सुख सात्त्विक है, बाकी सब राजस हैं। सब-का-सब सुख राजस्-तामस् हैं। अभ्यासका सुख सात्त्विक है; क्योंकि उसमें वस्तुकी आवश्यकता नहीं पड़ती है। अपने-आपमें उठ-बैठकर काम चला लेते हैं। जिसमें दूसरेकी जरूरत न पड़े, उसे सात्त्विक-सुख कहते हैं।

ज्ञानका सुख इन चारोंसे विलक्षण है। क्रिया तो कभी करोगे, कभी नहीं करोगे और भोग कभी मिलेगा, कभी नहीं मिलेगा। मनोरथ-सुख दोनों तरहका होता है—मरकर स्वर्गमें जायेंगे, ब्रह्मलोकमें जायेंगे, वह भी मनोरथ-सुख है और पैसा इकट्ठा करके बुढ़ापेमें सुखी होंगे, यह भी। जो जवानीमें सुखी नहीं है, वह बुढ़ापेमें क्या सुखी होगा?

सुख आत्माका स्वरूप है और यह नित्य प्रत्यक्ष है। अपने-आपका होना सबसे बड़ा सुख है। अपने आपका जानना सबसे बड़ा सुख है। क्रियासे तृप्ति नहीं, भावसे तृप्ति नहीं, अपने-आपमें तृप्त। वस्तु-व्यक्ति-स्थितिसे तृप्ति नहीं, अपने आपमें तृप्त।

'हम अपने सपने अपने साथ लिये फिरते हैं'। हम अपनी दुनिया अपने साथ लिये फिरते हैं। हमारा प्यारा हमारे दिलमें है। दिलमें वह नहीं, जो सपनेमें रहे और जाग्रत्में मिट जाय। दिलमें वह नहीं जो जाग्रत्में रहे और सपनेमें मिट जाय। दिलमें वह नहीं जो सुषुप्तिमें रहे और जाग्रत्में मिट जाय। जो सुषुप्तिमें मिट जाय, वह क्या प्यारा? वेदान्तियोंने काट दिया। इसका मतलब यह हुआ कि जब आत्माकी सत्स्वरूपताका बोध होता है कि आत्मा अविनाशी है; आत्माकी चित्स्वरूपताका बोध होता है कि आत्मा स्वयं प्रकाश

है; और आत्माकी अनंदस्वरूपताका बोध होता है; आत्माकी अपरिच्छिन्नता, आत्माकी अद्वितीयताका बोध होता है; तो मनको वशमें करनेके लिए कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती, किसी द्रव्यका आलम्बन नहीं लेना पड़ता, कोई अभ्यास नहीं करना पड़ता। मन लगानेके लिए फिर किसी 'कम्पनी' (संगी-साथी) की जरूरत नहीं पड़ती। सोसायटीकी जरूरत नहीं पड़ती कि मन मिले तो सुखी हों; यह खायँ तो सुखी हों, यह सोचें तब सुखी हों।

सिद्ध जो स्वतन्त्र सुख है अपना आपा, उसका पर्दा फट जाता है, तब मनीराम मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। कहाँ जायँ ? किसके लिए जायँ—ये दो सवाल पैदा हुए। किसकी और किसके लिए चोरी करें ? जिस आत्माको सुख देनेके लिए मन इधर-उधर चोरीसे भाग जाता है कि 'वहाँसे मजा ले आवें, वहाँसे मजा ले आवें,' वह भोक्ता ही नहीं है और जहाँसे जो मजा लाना चाहते हैं वह सुख, वह तृप्ति आत्माका स्वरूप ही है।

मनीराम क्या करता है ? मन चोर है। जैसे, कोई चोरको नौकर रख ले और वह कहीं-कहींसे माल चुराकर ले आवे और मालिक उससे अपना सुख माने, वैसे ही हैं वे लोग जो मनके द्वारा सुख लूटते हैं। आँखके रास्ते गया तो रूपमें-से चोरी करके सुख ले आया ! कानके रास्ते गया तो आवाजमें-से सुख, चोरी करके ले आया। ये सब, इसने चोरी-छिपे मजा लेनेके लिए कई रास्ते बना रखे हैं। कहीं जीभमें-से गया, तो निठाईमें-से सुख चुराकर ले आया। अब हुआ क्या ?

मनीराम दो पाटके बीचमें पिस गया। दो पाट क्या बना ? एक अपना आत्मा है। वह भोक्ता है ही नहीं। उसे सुख चाहिए ही नहीं। जिसके लिए चोरी करो, वही कहे चोर। वह कहे कि यह मन असत् है। जिन विषयोंमें-से सुख ले आते हैं, उनके मिथ्यात्वका ज्ञान हो गया, तो विषय हो गये मिथ्या और आत्मा हो गया अभोक्ता। दूसरी कोई वस्तु है नहीं और आत्माको अपनी तृप्तिके लिए कहींसे कोई सुख माँगनेकी जरूरत है नहीं। तो—

आत्मानं चेद् विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

(बृहदा० ४.४.१२)

विद्यारण्य स्वामीने 'पंचदशी'में वेदमंत्रको किंचित् बदलकर दिया है। 'भागवत'में भी यह श्लोक है। 'वार्तिक'में भी यह है। उपनिषद्में तो है ही है।

अपने-आपको जान लिया कि मैं तो अभोक्ता और सच्चिदानन्दस्वरूप और विषयको जान लिया मिथ्या तब मनकी दौड़-धूप खतम !

'अजागलस्य स्तनस्यैव'—बकरीके गलेमें एक स्तन होता है, उसमें-से दूध नहीं निकलता। ये बच्चे हैं न, बच्चे ! उनके मुँहमें झूठा ही कोई रबरकी नली डाल देते हैं और वे चूसते रहते हैं। वे समझते हैं कि हमारे अंगूठेमें-से स्वाद निकल रहा है। इसी प्रकार दुनियामें यह जो समझते हैं कि हमको यहाँसे सुख मिलता है, वहाँसे सुख मिलता है, यह बिल्कुब झूठा है। इसीका नाम हो गया वैराग्य। परन्तु महात्माका वैराग्य दूसरा होता है और संसारी-का वैराग्य दूसरा होता है। आत्मज्ञान होनेसे क्या हो गया ?

आत्मज्ञान होनेसे—'ज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ—अद्वितीय !' मेरे सिवाय और कुछ नहीं'—यह हुआ तो विषय भी असत् और मन भी असत् ! दोनों-को मारा—'किमिच्छन् और कस्य कामाय ?'

'किम् विषयजातं इच्छन् कस्य भोक्तुः कामाय' किस भोक्ताकी कामनाकी पूर्तिके लिए ? और किस विषयकी इच्छासे ?

शरीरमनुसंज्वरेत्—शरीरके पीछे चले। ये छोटे-छोटे बच्चे होते हैं न उनकी माँको मारनेके लिए घूँसा उठाओ, तो बच्चे रोने लगते हैं। यह बच्चे-का स्वभाव है। इस देहको मैं समझ लेनेके कारण, जब देह पर मौत आती है, तब कहते हैं—'यह हमारी मौत।' देहपर बुखार आया तो बोले—'हमें बुखार।' मन चंचल हुआ तो बोले—'मैं चंचल।' बुद्धि सो गयी तो बोले—'हम सो गये।' कारण शरीरके धर्म सुषुप्तिको अपने-आपपर आरोपित कर लेना; सूक्ष्म शरीरके धर्म मनश्चांचल्यादिको अपने ऊपर आरोपितकर लेना ! स्थूल शरीरके जन्म-जरा-मरण-रोग आदिको अपने ऊपर आरोपित कर लेना, यही 'अनुसंज्वरण' है। तो क्या हुआ अपने स्वरूपके बोधसे ?

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः।

मनमें दो बात आयीं–एक तो मन हो गया निर्विकल्प। जो विकल्पजाल था, वह छूट गया। अर्थीके मनमें विकल्प आता है कि कौन-सा व्यापार करें, तो ज्यादा पैसा मिले ? भोगीके मनमें होता है कि कौन स्त्री-पुरुष मिले तो हमको ज्यादा सुख मिले ! यह विकल्प है। कर्मीके मनमें होता है कि हम कौन-सा कर्म करें ? इस कर्मका फल क्या होगा ? विकल्प माने विविध कल्पना। वि = विविध और कल्प = कल्पना। एकमें विविधताकी जो कल्पना है, उसीको विकल्प बोलते हैं।

विकल्प कई तरहका होता है। जैसे, 'राहूका सिर'। राहू और सिर एक ही होता है। 'राहूका सिर' नहीं होता।

शब्दज्ञानानुपत्ति वस्तुशून्यो विकल्पः। (योग० १.९)

राहू और सिरका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु सम्बन्धसूचक विभक्ति वहाँ है। वह विकल्प बना देता है।

'ब्राह्मणका शरीर'—ब्राह्मण और शरीर तो एक ही है। दो थोड़े हैं? 'पुरुषकी चेतनता'—इसीको विकल्प बोलते हैं। ये जितने नाम मैंने बताये, वे क्लिष्ट विकल्प हैं।

एक अक्लिष्ट विकल्प भी होता है। जैसे—'शालग्राममें ईश्वर।' शालग्राममें कहीं ईश्वर नहीं दीखता है। केवल शब्दज्ञानसे, केवल शास्त्रोक्त पद्धतिसे शालग्राममें ईश्वरकी प्रतिपत्ति होती है। शालग्राममें वैज्ञानिक अनुसंधान करो तो ईश्वर नहीं मिलेगा। विकल्पके द्वारा शालग्राममें ईश्वर बुद्धि है। वह ईश्वर बुद्धि शालग्राममें नहीं है, हृदयमें है। शालग्राम तो शिला है। हृदयमें विद्यमान् ईश्वर बुद्धि है, वह बुद्धिवालेका कल्याण करेगी। ईश्वरत्व कैसा? विकल्पप्राप्त है।

'विकल्प समझनेके लिए आप यह देखो कि 'एक परमात्मामें मैं परिच्छिन्न हूँ, मैं संसारी हूँ, मैं कर्ता-भोक्ता हूँ, मैं मनुष्य-ब्राह्मण-संन्यासी हूँ।' यह विकल्प है।

ये सब कल्पना छोड़ो। कोई कल्पना मत करो कि 'मैं संन्यासी हूँ।' 'मैं संन्यासी हूँ'—यह कल्पना केवल भिक्षा माँगनेमें काम दे सकती है। परमात्माकी प्राप्तिमें काम नहीं देती। त्याग करनेमें काम देती है, त्यागरूप साधनकी दृढतामें काम देती है।

'मैं संन्यासी हूँ', तो क्या 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ?' 'मैं संन्यासी हूँ'—यह कल्पना 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस अनुभूतिमें एक स्थानमें जाकर बाधक हो जायगी। 'मैं संन्यासी हूँ'—यह विकल्प है। 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं पापी-पुण्यात्मा हूँ', 'मैं सुखी-दुःखी हूँ', 'मैं लोक-लोकांतर और जन्म-जन्मांतरमें जाने-आनेवाला हूँ', 'मैं परिच्छिन्न हूँ', 'मैं जीव हूँ', 'मैं संसारी हूँ'—ये सब विकल्प हैं।

आत्मज्ञानसे क्या हुआ? मनमें जितने विकल्प थे, वे सब-के-सब निकल गये। मन कैसा हुआ? विकल्पसे निकल गया। 'निर्विकल्प' शब्दका अर्थ है—'विकल्पेभ्यो निष्क्रान्तम् निर्विकल्पं मनः।' मनका विशेषण है निर्विकल्प। इसलिए सम्पूर्ण विकल्पोंसे ऊपर उठा। कैसे ऊपर उठा? 'धीमतः।' अरे, 'धी' है आयी! बिना 'धी'के काम नहीं चलता।

यह 'धी' क्या है ? 'धीः धारणावती मेधा'—गुरु और शास्त्रके द्वारा जो बात सुनी गयी है, उसको धारण करनेवाली 'धी'—'धत्ते इति धीः'—जो धारण करे, सो 'धी'। गुरु, शास्त्र और विवेकसे निष्पन्न जो तात्पर्य है; केवल विवेक नहीं, उसको धारण करनेवाली 'धी' है। गुरुके अनुकूल हो और केवल गुरुके अनुकूल नहीं, शास्त्रके भी अनुकूल हो। क्योंकि गुरु लोग तो ऐसे-ऐसे निकल आते हैं कि बोले दें 'पत्थर बजाओ तो ईश्वर मिलेगा।' कोई कहता है—'कान छिदवाओ तो ईश्वर मिलेगा।' कोई कहता है कि—'नाक कटवाओ तो ईश्वर मिलेगा।'

ऐसा नहीं, सम्पूर्ण शास्त्रोंका जो परम तात्पर्य है, उसके साथ गुरुका मेल खाय और अपने विवेकसे मनन करके जो कुछ संशय-वंशय हो, उसे काट दे। धीमतः अर्थात् आत्मज्ञान-सम्पन्न मन और विकल्परहित मन।

अब क्या हुआ ? निगृहीत हो गया मन। अब मन जाय कहाँ ? किसके लिए जाय और कहाँ जाय ? क्या पानेके लिए जाय और कहाँ जाय ? मनकी जो ऐसी मानसी स्थिति है वह उनकी है जो परमार्थदर्शी हैं। बड़ा विलक्षण ढंग बताया—'मनका अमनीभाव करनेका।'

\+ \+ \+

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ॥३५॥

अर्थः—सुषुप्तिमें मन लीन हो जाता है, किन्तु निगृहीत मन लीन नहीं होता। उस समय तो वह सब ओरसे चित्प्रकाशमय निर्भय ब्रह्म ही रहता है।

यह बात बता रहे हैं कि संसारमें प्रयत्नके द्वारा जो स्थिति उत्पन्न की जाती है, वह नाशवान् होती है। जो सहज स्थिति होती है, वही शाश्वत् है और वही हमेशा रह सकती है। बनावटी चीज हमेशा नहीं रह सकती। वेदांतमें ज्ञान होनेपर जो मानसी स्थिति होती है, वह सहज होती है, वह कोई पैदाकी हुई, बनावटी नहीं होती है।

आजकलके मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि मनपर जोर मत डालो; क्योंकि मनपर दबाव डालनेसे मस्तिष्कमें, सिरमें तनाव पैदा हो जाता है और इससे लोग पागल हो जाते हैं। सहज स्थिति बननी चाहिए। बनावटी स्थितिका इस मार्गमें कोई उपयोग नहीं है।

'नोपचारः कथंचन'—यह बात आगे आनेवाली है, कि (ब्रह्ममें) उपचार नहीं है। उपचार माने कर्तव्य। उसको दवा करनेकी जरूरत नहीं है। कोई रोगी हो

जाता है तो लोग कहते हैं, 'कि भाई ! यह उपचार करो, तो तुम्हारा रोग दूर हो जायगा।' असलमें अपने स्वरूपमें सच्चिदानन्दघनस्वरूपमें कोई रोग नहीं है। इसलिए रोगकी दवा करनेकी जरूरत नहीं है। रोगका जो भ्रम हो गया है, वह मिट जाना चाहिए। रोग नहीं है, रोगका भ्रम है। भ्रम मिट गया तो— 'नोपचारं कथंचन।' कोई उपचार करनेकी जरूरत नहीं है कि यह दवा करो, तो हमारी यह स्थिति होगी। जरा बातको थोड़ी बढ़ा देते हैं, क्योंकि कथाका अभिप्राय होता है। यह तो व्यास-पद्धति है। पुस्तक लेकर कथा करनेके लिए बैठना माने व्यास-पद्धतिसे कथा करना। व्यास = विस्तार।

एक मत है भारतवर्षमें वह ऐसा मानता है कि इस संसारकी जो वस्तुएँ हैं, उन्होंने हमको बाँध रखा है। अगर वस्तुओंसे छूटना है, तो खास वस्तुओंका सेवन करना चाहिए। विधिपूर्वक पारेका सेवन करो तो मुक्ति हो जाती है। इस मतको 'रसेश्वरमत' बोलते हैं। जैसे जूनागढ़में, आबूमें 'सिद्ध'-के नामसे जो बहुत-से प्रसिद्ध लोग होते हैं, वे पारे-वारेका सेवन करते हैं।

वाममार्गियोंमें यह प्रसिद्धि है कि तुम मनमाने भोगके कारण संसारमें फँस गये हो। आओ, हमारी रीतिसे भोग करो, तो भोगसे ही मुक्ति हो जायगी।

वेष जीवी (वेषधारी) लोग बोलते हैं—'हम सफेद कपड़े पहनते हैं, कुर्त्ता-कमीज पहनते हैं, गृहस्थके रूपमें हैं। इसलिए संसारमें बँधे हुए हैं। यदि हम सफेद कपड़ा छोड़कर गेरुआ कपड़ा पहनेंगे तो हम मुक्त हो जायेंगे। आड़ा चंदन लगाते हो तो बद्ध और खड़ा लगा लें तो मुक्त ! या खड़ा लगावे तो बद्ध और आड़ा लगा लें तो मुक्त हो जायेंगे।'

तो मुक्तिका जो ख्याल है, वह बन्धनकी अपेक्षासे आता है।

एक सज्जन आये; बोले—'कर्मसे ही मुक्ति हो जायगी।'

'हाँ-हाँ, काहेको नहीं होगी ? जब तुम कर्मसे अपनेमें बन्धन मानते हो, तो कर्मसे छुट्टी भी हो जायगी।'

किसीने कहा कि—'नहीं-नहीं, वासनासे बन्धन है। कर्मसे बन्धन नहीं है। वासना छोड़ो, तब बन्धन छूटेगा।'

किसीने कहा—'चित्तकी चञ्चलतासे बन्धन है।'

आप निश्चित समझो कि चित्तकी चञ्चलता बाँध कहाँ सकती है ? वह तो छुड़ा ही सकती है। चञ्चलताका मतलब है, 'एक जगह न बँधना'। आपको क्या सुनावें ? न ये वस्तु किसीको बाँध सकती हैं, न भोग किसीको

बाँध सकता है, न कर्म किसीको बाँध सकता है, न वेश किसीको बाँध सकता है। और यह वासना ? है कोई दुनियामें ऐसा जो बतावे कि सारी जिन्दगी हमारी एक ही वासना रही ?

कहो कि 'हमारा राग हमें बाँधता है ! पक्का समझो, राग आपका छूट जायगा। छूट तो जाता है, रोज रातको जब आप सो जाते हैं तो छूट जाता है, दिनभर चौवीस घंटेमें हिसाब लगाकर देखें तो छह घंटे भी आपके चित्तमें राग नहीं रहता है। छह घंटा सोनेमें जाता होगा। छह घंटा काम करनेमें जाता होगा। छह घंटे और अटर-शटरमें जाता होगा। क्या राग लेकर कोई दुनियामें बैठा रहता है ? क्या द्वेष लेकर कोई दुनियामें बैठा रहता है ? राग-द्वेषका भी बन्धन नहीं है।

कहो, कि 'अस्मिता'का बन्धन है। हे भगवान् ! आपकी अस्मिता है कहाँ ? छणमें महाराष्ट्रीय बनते हैं, तो छणमें भारतीय बन जाते हैं। छणमें हिन्दू बनते हैं, तो छणमें मनुष्य हो जाते हैं। आप सोचिये कि क्या कहीं आपकी अस्मिता पक्की है ? मैसूरसे निबटना हो तो हिन्दू और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त करनी हो तो मनुष्य ! साधुओंमें बात करनी हो तो जीवात्मा और चेलोंसे बात करनी हो तो ब्रह्म। कहीं आपकी अस्मिता है ?

जब आदमीका दिमाग पगला जाता है, तो दिनभरमें कोई एकाध बात हो जाती है और उसीको पकड़कर दिनभर बैठा रहता है कि—'उन्होंने हमें ऐसा कह दिया; उन्होंने हमारी ओर ऐसा देख लिया; आज तो हमारे ऐसा हो गया।' यह सब असलमें दुनियामें छोटी-छोटी बातोंको हमारा दिमाग पकड़ बैठता है, यह भी हमेशा पकड़नेवाला नहीं है।

कहो कि हम देहको 'मैं' मानते हैं, तो सुषुप्तिकालमें आप देहको 'मैं' कहाँ मानते हैं ? स्वप्नमें आप देहको मैं कहाँ मानते हैं ? जब बहादुरी करके दुश्मनको जीतना होता है, तब 'मैं' कहाँ मानते हैं ? जब अपने प्यारेके लिए खजूरके पेड़के सिरेपर खजूर तोड़नेके लिए चढ़ते हो, उस समय देहको मैं मानते हो ?

न दुश्मनोंकी अधिकतामें देहको 'मैं' मानते हो, न दोस्तीकी अधिकतामें देहको मैं मानते हो। बात-बातमें मरनेको तैयार ! जान हथेलीमें लेकर घूमते हो ! कहाँ देहको मैं मानते हो ? यह सब असलमें बिना सोचे-विचारे तुमने मान लिया है। इसीको अविद्या बोलते हैं। इसीको अध्यास बोलते हैं। बहुत सारे खयाल तुम्हारे दिमागमें बैठ गये है; बिना विचारे मान लिया है कि 'यह ऐसा

है।' इसीको 'अध्यास' बोलते हैं। 'अधोषु आस्ते इति अध्यासः।' जो निर्बुद्धि लोगोंमें रहता है, उसका नाम है 'अध्यास'। 'अधि उपरि, अन्यस्मिन् अन्यत्, अस्यते निक्षिप्यते इति अध्यासः।' एक चीजको दूसरी चीज मान बैठना, इसका नाम अध्यास है।

असलमें दुनियामें न कोई वस्तु बाँधती है, न कोई व्यक्ति बाँधता है, न कोई भोग बाँधता है, न कोई वेश बाँधता है, न कर्म बाँधता है, न वासना बाँधती है, न चित्तका विक्षेप बाँधता है, न अस्मिता बाँधती है।

दुनियामें जो दुःख है, बन्धन है, इसका एक-मात्र कारण अज्ञान है। आपको वेदान्त बता रहा हूँ। यदि अज्ञान ही दुःखका, भयका, बन्धनका हेतु न होता, तो ज्ञान-मात्रसे अज्ञान मिट जानेके बाद सर्व दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति न होती।

असलमें जो बन्धनका हेतु ठीक-ठीक नहीं समझ पाता, वह मुक्तिका हेतु भी ठीक-ठीक नहीं समझ पाता। हम तो कर्मसे बन्धन मानते ही नहीं। हम तो केवल अज्ञानके कारण बन्धन और मोक्षको कल्पनामात्र मानते हैं। हमारे तो अज्ञान-निवृत्तिके सिवाय बन्धन-निवृत्तिका अन्य कोई साधन नहीं है। लेकिन जो बन्धनको कर्मजन्य मानता है, उसके लिए तो बन्धन सादि हो गया, अनादि बन्धन कहाँ रहा?

तुम्हारे दुःखका कारण दूसरा कोई नहीं है, तुम्हारे दुःखका कारण तुम्हारी अविवेकमूलक, अविद्यामूलक नासमझोसे पैदा हुई मान्यता है, भ्रान्ति है। मान्यता और भ्रान्ति दोनों एक ही चीज है। उसको 'स्वीकृति' बोलते हैं, मान्यता बोलते हैं। समझकर स्वीकृति की कि बिना समझे स्वीकृति की? समझनेके बाद तो स्वीकृतिको जरूरत ही नहीं! निश्चय हो गया कि 'वह तो ऐसा ही है।'

अज्ञान जो सुषुप्तिकालमें रहता है, वही बन्धनका हेतु है, और सुषुप्तिका कारण नहीं है। 'मैं सोता हूँ', 'मैं सुषुप्त होता हूँ', इस भ्रान्तिका कारण है।

आपको अब यह बात बताते हैं कि पहले सुषुप्तिमें मनका निग्रह हो जाता है, मन शान्त हो जाता है।

सुषुप्तिमें मन लीन हो जाता है। मन सुषुप्तिमें लीन हो जानेसे ही मुक्त हो, तो सोनेसे सबकी मुक्ति हो जाय!

बोले—'भाई, सोनेके बाद तो फिर मन जाग जाता है। हमको तो ऐसा सोना चाहिए कि जिसके बाद जागना न हो, तब मुक्ति होगी!' इसका मतलब

यह हुआ कि तुम्हें जीवनकालमें मुक्ति नहीं होगी। जीवन्मुक्तिको ही मार दिया। ऐसा सोवेंगे, ऐसा सोवेंगे कि फिर नहीं जगेंगे। यह क्या है सिवाय अज्ञानके? वेदान्तकी भाषामें उसको अज्ञान कहते हैं।

हम लोगोंने वेदान्तका श्रवण महात्माओंसे किया है। इसलिए उसको हम बेवकूफी बोलते हैं। उड़ियाबाबाजी तो 'अज्ञानी' शब्दका प्रयोग बहुत कम करते थे, क्योंकि यह तो बड़ी सभ्यताका शब्द है। जब हम लोग कोई बात पूछते, तो वे कह देते कि 'वेकूफ' है। बम्बईके सभ्य लोगोंको यदि 'बेवकूफ' सुननेको मिले, तो उनके पास जाँय ही नहीं।

बाबा तो कहेंगे—'हम जानते हैं कि ब्लेकमार्केट करके आया है'; पर हम कहेंगे 'भगतराज'। हम जानते हैं कि वेदान्तकी बात समझमें नहीं आती है, पर कहेंगे, बड़ा विचारवान् है, बड़ा विवेकी है।' उत्साहित करते हैं, जिससे वेदान्तका विचार उसके चित्तमें आवे। जिस प्रकारसे मनुष्यके चित्तमें इसके लिए रुचि होवे, सो करना चाहिए। यह बात उपनिषदोंमें आयी है।

'विरोचन'ने जब कहा कि 'यह बात हमने जान ली है,' तो 'प्रजापति'ने यह नहीं कहा कि 'तुमने नहीं जाना।' 'अनुभूतिप्रकाश'में विद्यारण्यस्वामीने इसका विस्तारसे व्याख्यान किया है।

अगर प्रजापति उसे कह देते कि 'तुमने नहीं जाना,' तो उसका बुद्धिभ्रंश हो जाता। इन्द्रको भी नहीं कहा कि—'तुमने नहीं जाना।' उसने भी नहीं जाना था, फिर भी नहीं कहा कि 'तुमने नहीं जाना।' इन्द्रको तो बड़ा अभिमान था अपने देवत्वका। कह देंगे कि—'नहीं जाना', तो आगे समझनेकी कोशिश ही नहीं करेगा। आगे समझनेकी कोशिश चालू रहे, यह उद्देश्य है।

यह मन सुषुप्तिमें लीन हो जाता है। असलमें सुषुप्तिमें अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष, अभिनिवेश सबका बीज रहता है। जैसे कोई शराब पीकर नशेमें बेहोश हो गया हो, ऐसे, निद्राके स्वाभाविक नशेमें मनुष्यका मन चूर हो जाता है और उठता है, तो सब कुछ वही लेकर उठता है जितना कुछ लेकर सोया होता है—वही दुश्मन फिर दुश्मन, वही दोस्त फिर दोस्त, वही बेटा फिर बेटा, वही सम्बन्धी फिर सम्बन्धी, वही धन फिर धन! जितना लेकर सोया होता है सुषुप्तिमें, फिर वही लेकर निकल आता है।

उस समय तमोरूप अविशेषबीजभावको प्राप्त होता है। लेकिन जब विवेक-विज्ञान हो जाता है, तब? विवेक-विज्ञान = अनात्माको और आत्माको

अलग करना। इसके बिना छुट्टी नहीं है। इसीका नाम विवेक है। यह कोई परिश्रम नहीं है, यह कोई भोग नहीं है, यह द्रव्य नहीं है, यह कर्म नहीं है, यह वासना नहीं है, यह मनोराज्य नहीं है। यह क्या है ? कि—'मैं' कौन ?' और जो मुझसे अलग दीख रहा है, सो कौन ?

कहो कि भाई, ईश्वरकी मूर्ति क्या है ? गुरुकी मूर्ति क्या है ? आप बिलकुल ऐसा ही समझो कि एक लड़की है। उसका मन होता है कि हमारा ब्याह 'इससे हो', 'इससे हो,' 'इससे हो।' हजारसे ब्याह करनेका मन होता है। लेकिन जब निश्चय हो जाता है कि अमुकसे हमें ब्याह करना है, यह हमारा पति है, तो मनसे उस पतिको पकड़कर जो भिन्न-भिन्न पुरुषोंके प्रति वासना होती थी, उसको छोड़ देती है !

एक पतिको पकड़नेका अर्थ यह हुआ कि दूसरोंके प्रति पतिभाव न होवे वासनाको तोड़नेका यह एक तरीका हुआ, एक तरकीब हुई। इसी प्रकार ईश्वरको अपनी बुद्धिसे पकड़के संसारकी वासना छोड़ी जाती है। यह उपासना-की प्रक्रिया है।

अपने मनको आत्मामें स्थापित करके अन्यका चिन्तन छोड़ा जाता है। यह उपाय है। अगर उपायमें तुम्हारी असाधन-बुद्धि हो गयी, तो दुनिया नहीं छूटेगी। दुःख-पर-दुःख, दुःख-पर-दुःख आता रहेगा। विवेकपूर्वक यह देखो कि तुम्हारा होना ही सर्वोपरि है।

पाकिस्तानसे ऐसे-ऐसे लोग आये ! हम मिलते थे, जब हरद्वार जाते थे। बेटा छूट गया, बेटी छूट गयी, पत्नी छूट गयी, भाई छूट गया, कुटुम्ब छूट गया ! बिलकुल अकेले ! भागकर आये। जीना चाहते हैं। जो अपनी उपस्थितिका महत्त्व नहीं जानता है, वह तो कुछ जानता ही नहीं। हमको ही ईश्वर मिलेंगे। हमको ही दुनिया दिखेगी। हम ही दुनियाके प्रलयको देखेंगे। सृष्टि-स्थित और प्रलयको देखेंगे। आत्माका अस्तित्व विलक्षण है ! रागके रहनेपर रहे, वैराग्यके रहने पर रहे, समूहमें रहे, एकान्तमें रहे, लोगोंसे सम्बन्ध बनाकर रहे, सबको छोड़कर रहे !

अपना अस्तित्व सर्वोपरि है और सर्वापेक्षा अधिक है। जो अपनेको हीन समझता है कि हम इसके बिना नहीं रहेंगे, हम इसके बिना मर जायेंगे, वह तो अपने भीतर बैठे हुए आत्माका तिरस्कार करता है।

आत्मा और अनात्माका विवेक जब करते हैं तो पहले सम्बन्धरहित असंग आत्माका ज्ञान होता है कि 'मनके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

मनसे सम्बन्धरहित जो साक्षी है, वही देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है और ब्रह्ममें यह प्रपंच अध्यस्त है।'—सारा प्रपञ्च कट गया और मन भी कट गया। आत्मज्ञान होनेसे मनकी सत्ताका बाध होना या शान्त हो जाना या निरुद्ध हो जाना—यह दूसरी चीज है। और सुषुप्तिमें मनका लीन हो जाना—उसमें बीज भाव नहीं है और सुषुप्तिमें बीजभाव है।

इसलिए अज्ञानका निवृत्त होना आवश्यक है, मनका निवृत्त होना आवश्यक नहीं है। मनकी निवृत्तिसे अगर मोक्ष होता, तो सुषुप्तिमें मोक्ष हो जाता। कर्मकी निवृत्तिसे मोक्ष होता तो सुषुप्तिमें मोक्ष हो जाता। भोगकी निवृत्तिसे मोक्ष होता तो सुषुप्तिमें मोक्ष हो जाता। परन्तु अज्ञानकी निवृत्तिके बिना मोक्ष नहीं होता। हमें प्रयत्न यह करना चाहिए कि हमारा अज्ञान मिटे। समाहित मनमें और सुषुप्तके मनमें क्या फर्क होता है, यह बात अब बतावेंगे।

ग्राह्य और ग्राहक—जो इन्द्रियोंसे दीखता है उसको 'ग्राह्य' बोलते हैं। मनसे, बुद्धिसे, प्रमातासे जो मालूम होता है, प्रमाणित होता है, उसको 'ग्राह्य' बोलते हैं।

ग्रहण करनेवाली जो इन्द्रियाँ चेतन हैं, मन हैं, वे औजार हैं। उनसे बना हुआ जो चेतन है, वह ग्राहक है। ग्राह्य और ग्राहक—ये अविद्याकृत मल हैं। दो प्रकारसे मल है—एक 'इदं'के रूपमें जो सत्य है, वह मल है और एक जो अहंके रूपमें परिच्छिन्न सत्य है, वह मल है। अपने अधिष्ठानस्वरूप आत्माके ज्ञानसे इन दोनों मलोंकी निवृत्ति हो जाती है। तब क्या रहा? परम् अद्वय, केवल ब्रह्म रहा।

यह केवल ब्रह्म अज्ञान मिट जायगा तब रहेगा? नहीं! अभी ऐसा ही है। इसको समझो—स्वप्न बाधित होता है जाग्रत्में। दोनोंका कालभेद है। एक कालमें स्वप्न होता है और एक कालमें जाग्रत् होता है। तो, कालभेदमें होनेवाला जो प्रबोध है, वह पूर्वकालमें हुए स्वप्नको बाधित कर देता है। परन्तु यह ज्ञान तो ऐसा चाहिए, जो जाग्रत्कालमें होवे और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिको बाधित करे। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनोंमें रहनेवाला जो एक है, जो तीनोंका प्रकाशक है और जो तीनोंका अधिष्ठान है, जिसमें तीनों अध्यस्त हैं, उसका जब ज्ञान होगा, उसके प्रबोधसे द्वैत बाधित हो जायगा। प्रबोध माने जानकारी। यह 'प्रबोध' शब्द नहीं है, यह परताप नहीं है, यह 'प्रबोध' ज्ञान है। यह 'प्रताप' है।

जब ब्रह्मके सिवा जो कुछ भास रहा था, कार्य-कारण दोनों बाधित हो गया तो कौन रहा ? निर्भय ब्रह्म। सृष्टिमें सब लोग अपनेको निर्भय चाहते हैं। निर्भयता सबको इष्ट है।

एक आदमी पागल हो गया था, तो बाल नहीं बनवाता था। वह कहता था कि 'यह नाई अगर हमारे गले पर उस्तरा मार देगा, तो क्या होगा ? हम तो बाल नहीं बनवायेंगे।' यह पागलपन है। यह भय कहाँसे निकला ? उसीके अज्ञानसे। यह नाईमें भय नहीं है, उस्तरेमें भय नहीं है, बाल बनवानेकी क्रियामें भय नहीं है। उसकी बुद्धिमें जो उलट बाँसी आ गयी, उसका भय है।

हमको अपने बचपनकी याद आती है। एक सज्जन हमारे घर आते थे। बहुत पढ़े-लिखे थे। उन्होंने सचमुच विद्याका अभ्यास किया था, हमारे पितामहके शिष्य ही थे। पहले थानेदार हो गये थे। उसके बाद पागल हो गये। पागलपन उनका क्या था ? किसीको गाली नहीं देते थे, किसीको मारते नहीं थे, उनका पागलपन यही था कि आते, बैठते, बात करते ! धर्मकी बात करते, प्यारकी बात करते। परन्तु जब प्यास लगती, तो वह किसीका लाया हुआ पानी नहीं पीते थे। साथमें लोटा-डोरी लाते थे। प्यास लगती तो अपना लोटा माजकर कुएँमें-से पानी खींचकर अपने हाथसे पीते थे। और पानी रखते थे। बारम्बार हाथ धोवें, बारम्बार पाँव धोवे, अपने हाथसे खींचकर पानी पीवें ! खाना तो किसीके हाथका न खायँ। गुरुका भी नहीं। पत्नीका भी नहीं, भाईका भी नहीं, बेटेका भी नहीं ! किसीका नहीं। अपने हाथसे बनाकर खाते थे ! तो बात क्या निकली ? वह हम आपको बताते हैं।

जब वे थानेदार थे, तब उन्होंने किसीकी हत्या करा दी थी। हत्याका वह पाप उनके सिर पर ऐसा चढ़ गया था, कि वे यह सोचते थे कि—'हत्या तो हमारे हाथमें लगी है।' तो बारम्बार हाथ धोकर उसे छुड़ाते थे। 'हमारा मुँह देखकर लोग समझ जायेंगे'—तो बारम्बार मुँह धोते थे। 'हमारी कोई हत्या करा देगा'—इस डरसे वे किसीका छुआ हुआ पानी नहीं पीते थे। यह भय कहाँसे निकला ? असलमें सृष्टिमें सब निर्भय होना चाहते हैं।

हम पढ़ते थे अपने गुरुजीके पास। पंडित 'रामभवनजी उपाध्याय' उनका नाम था। व्याकरण पढ़ता था उनसे 'क्वीन्स कॉलेज'में। एक बार पडरौनाके राजाने उनको बुलाया। 'पडरौना' राज्य 'गोरखपुर'के पासमें है। आकर हमको सुनाया। हमसे बहुत प्रेम करते थे।

उस समय व्याकरणके अद्वितीय विद्वानोंमें थे—पं० जयदेव मिश्र,

तिवारीजी, 'पं० रामभवनजी'। मैं जब संन्यासी हो गया तो उन्होंने जब सुना कि मैं संन्यासी हो गया, तो भेंट लेकर आये। मैंने उनसे कहा कि 'कुर्सी पर बैठ जाओ,' तो बोले—'अब यह नहीं हो सकता। हम संन्यामीकी मर्यादाका पालन करनेवाले ब्राह्मण हैं। अब हम बराबर नहीं बैठ सकते।'

मैं तो उनको देखकर उठ गया, मैंने तो उनको प्रमाण करना चाहा, परन्तु वे बोले—'नहीं, अब बात दूसरी हो गयी। अब मैं गुरु-तुम शिष्य नहीं, अब तुम गुरु—मैं शिष्य। उन्होंने हमको बताया कि राजाके घरमें जब राजा-साहब पानी पीते हैं, तो डॉक्टरसे परीक्षा करवाकर पानी पीते हैं। डॉक्टरसे परीक्षा करवाकर राजा साहब खाते हैं। एक बार उनके पानीमें कहीं बाघकी मूँछ मिल गयी! तो बोले—'दुश्मनोंने डलवा दी।'

कहनेका अभिप्राय यह है कि हम चाहते हैं कि हम अभय रहें।

अभयं नः सरति अन्तरिक्षं, अभयं द्यावा-पृथिवी उभे हि मे।

अन्तरीक्ष हमें अभय दे! द्युलोक हमें अभय दे। पृथिवी हमें अभय दे।

अभयं पश्चादभयं पुरस्तात्।

हमारे पीछे अभय रहे, हमारे आगे अभय रहे।

उत्तरादधरान्नोऽअयम् अस्तु।

वेदमें मन्त्र आता है हमारे उत्तर, ऊपर और नीचे भी अभय हो।

अभयं मित्रादभयममित्रात्।

हमारे मित्रसे अभय हो, हमारे शत्रुसे अभय हो।

अभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।

अर्थात्, जिनको हम जानते हैं, जो प्रत्यक्ष हैं, उनसे अभय प्राप्त हो, और जो हमसे परोक्ष हैं, उनसे अभयकी प्राप्ति हो।

अभयं नक्तमभयं दिवा नः।

रातमें हमको अभय रहे, दिनमें हमको अभय रहे।

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।

अर्थात् सारी दिशाएँ हमारी मित्र होवें।

मनुष्यके मनमें अभयकी लालसा तो बहुत बड़ी है, परन्तु इस अभयकी प्राप्ति वनमें जानेसे तो नहीं होगी। इस अभयकी प्राप्ति वस्त्र बदलनेसे तो नहीं होगी। साँप है, बिच्छू है, रोग है, मृत्यु है, वज्र है, भूकम्प है! ऐसे तो इनसे अभयकी प्राप्ति नहीं होगी।

जब तुम अपनेको अमृत जानोगे अर्थात् अभय ब्रह्म जानोगे, तब अभयकी प्राप्ति होगी। **अभयं ह वै ब्रह्म। तद् विजिज्ञासस्व।**

अभय=ब्रह्म। ब्रह्मको जानो, परमात्माको जानो-पहचानो, तब तुम्हें अभयकी प्राप्ति होगी। क्यों?

द्वितीयाद्वै भयं भवति।

जिसको तुम अपनेसे अलग दूसरा समझोगे, उससे तुम्हें भयकी प्राप्ति होगी। भय परायेसे होता है, अपनेसे नहीं। द्वितीयसे भय होता है। तो जब तक जो ग्राह्य-ग्राहकरूप अविद्याके दो रूप हैं, उनसे परे अपनेको अखंड-अद्वय ब्रह्म ही नहीं जान लोगे, अद्वय ब्रह्म स्वयं नहीं हो जाओगे, तब तक अभय पदकी प्राप्ति नहीं होगी।

अभयं ह वै ब्रह्म। तद् विजिज्ञासस्व।

श्रुति कहती है—

ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात् ब्रह्मणो वेद।

जो समझता है कि यह ब्राह्मण हमसे अलग है,

उसकी और ब्राह्मणकी अब या फिर कभी खटकेगी जरूर। 'यह क्षत्रिय हमसे जुदा है'—तो खटक जायगी क्षत्रियसे। 'देवता हमसे जुदा है'—तो देवतासे खटक जायगी। 'वेद हमसे जुदा है' तो वेदसे खटक जायगी।

जहाँ अलग होते हैं और रहते हैं, अलग होनेकी सम्भावना भी रहती है, वहाँ खटकती ही है। स्त्री-पुरुषका विवाह होता था, तो अलग होनेकी सम्भावना पहले हमारे देशमें नहीं रहती थी। अब तो तलाक देनेका डर रहता है कि किसीसे लड़ाई हुई तो तलाक दे देंगे। यह स्वातन्त्र्य नहीं है। यह सामाजिक निर्भयताकी समाप्ति है।

यहाँ तो निर्भय है। न ये हमको छोड़ सकते हैं, न हम इनको छोड़ सकते हैं। यह परब्रह्म परमात्मा हमको छोड़ सकता है? नहीं छोड़ सकता। छोड़कर जायगा तो परमात्मा जड़ हो जायगा। यह शाप है। किसका शाप है? हमारा ही शाप है। हमसे परमात्मा जुदा होगा तो दृश्य होगा या कल्पित होगा। परोक्ष होगा तो कल्पित होगा और प्रत्यक्ष होगा तो जड़ होगा, दृश्य होगा, विकारी होगा।

हम परमात्मासे अलग हों तो? हम परिच्छिन्न हो जायेंगे। हमारी चेतनता लेकर परमात्मा चेतन है। क्योंकि चेतन द्रष्टा होता है। परमात्माकी पूर्णता लेकर हम पूर्ण हैं। हम दोनोंमें यह सन्धि है—शाश्वत् सन्धि है। परमात्माके साथ हमारा यह शाश्वत् प्रेम है। हम परमात्माको छोड़ेंगे, तो क्षणिक

हो जायेंगे; अपूर्ण हो जायेंगे। वह हमको छोड़ेगा तो जड़ हो जायेगा, विकारी हो जायेगा; इसलिए जब दोनों एक होकर रहते हैं, तो हम पूर्ण और परमात्मा चैतन्य, दोनों एक। असलमें दोनों दो नहीं हैं, एक ही हैं। स्वतः सिद्ध एक है। तो अभय पदकी प्राप्ति कब होगी ?—

शान्तं अभयं ब्रह्म। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन।

एक बार जान लो, परब्रह्म परमात्माको। 'दुनियादार लोग कभी हमें छोड़ देंगे, धोखा देंगे'—यह भय आपका मिट जायगा। सब छोड़ देंगे भाई, वह नहीं छोड़ेगा, धन छोड़ देगा, मकान छोड़ देगा। अरे! मकान तो जरा-सी धरती हिले तो छोड़ दे! सन्, ३१ में हम घरमें बैठे हुए थे। जब धरती हिलने लगी, तो हम घरमें-से निकल गये। वह तो नहीं गिरा, पर दूसरा घर फट गया। मकान कबतक साथ देगा? बाप मर गया, भाई मर गया, उन्होंने तो साथ नहीं दिया। यह सृष्टि ऐसी हो है।

परमात्माका यह नियम है कि तुम परमात्मासे एक होकर रहो, तो निर्भय! परमात्मा और तुम अलग-अलग हो जाओ, तो बीचमें दरार आगयी न? यह दरार बहुत दुःख देती है। इसीको भेदभाव बोलते हैं।

यदि पति अलग रहे और पत्नी अलग रहे, दोनोंमें बँटवारा हो जाय, तो दोनोंके बीचमें दरार आगयी न? दोनोंका प्रेम कट जायगा। वहाँ तो दोनों-का प्रेम कटेगा और परमात्मामें? वहाँ तो फूट आगयी। फूट गया परमात्मा, फूट गया आत्मा।

ये कहते हैं कि जब द्वैत बाधित हो जाता है, तब विषय भो बाधित हो गया और मन भी बाधित हो गया। इसलिए बाधित विषयमें महत्त्वबुद्धि तो रहे नहीं कि मन उसमें जाय! और मन कुछ है नहीं। जाय कहाँ? तो शान्त होकर वह अभय हो गया। **ज्ञानालोकं समन्ततः।**

केवल ज्ञान ही प्रकाश है। **'विज्ञानैकरसघन'—कृत्स्नस्तु प्रज्ञानघन एव।**

श्रुति कहती है—'सब प्रज्ञानघन है। घन माने जिसमें दूसरी वस्तुका प्रवेश न हो। जैसे, आकाश है ठसाठस! आकाशमें तो हम चलते-फिरते मालूम पड़ते हैं! ब्रह्म, है चिदाकाश! भूताकाश होता है जाग्रत् अवस्थामें और चित्ताकाश होता है स्वप्नावस्थामें। चिदाकाश है परमार्थतः।

चिदाकाशमें चित्ताकाश और भूताकाश दोनों कल्पित हैं। और यह देहाभिमानकी दृष्टिसे, मनुष्यकी दृष्टिसे कल्पित है। भूताकाश है, न चित्ताकाश है; शुद्ध चिदाकाश है। **स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।**

न बाहर, न भीतर। न जात, न जायमान।

: २५ :

ब्रह्मज्ञका कोई कर्त्तव्य नहीं है

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञ नोपचारः कथंचन ॥३६॥
सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥३७॥
ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्म संस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ॥३८॥

अर्थ—ब्रह्म अज, अनिद्र, अस्वप्न, अनाम, अरूप, सदा, प्रकाशरूप और सर्वज्ञ है। उसमें किसी प्रकारका कोई कर्त्तव्य नहीं है ॥३६॥ वह (ब्रह्मज्ञ) वाक्-आदि सभी इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित है, (अन्तःकरणकी) समस्त चिन्ताओं-से ऊपर उठा हुआ है, अत्यन्त शान्त है, सदैव ज्योतिस्वरूप है। वह समाधि-रूप, अचल और निर्भय है ॥३७॥ उसमें न कोई चिन्ता है, न किसी प्रकारका ग्रहण-त्याग है। जिस समय विद्वान् ऐसे ब्रह्मको अपने आत्मा (मैं) के रूप स्थित जानता है, उस समय वह अजाति और समताको प्राप्त हो जाता है ॥३८॥

अजम्—जन्मका कोई निमित्त आत्मामें नहीं है, वह अज है। आपको यह लगता है, जैसे पञ्चभूतसे शरीर पैदा हुआ। बड़ी विचित्र बात है। पंचभूतसे शरीर पैदा नहीं हुआ। ये पंचभूत अजन्मा रह करके ही शरीर है। शरीरका पंचभूतमें लय नहीं होता। मिट्टी-मिट्टी, पानी-पानी, आग-आग, हवा-हवा, आकाश-आकाश। जो आकृति-आकृति बनी है, केवल वह आकृति ही फूटती है, पंचभूतोंका पंचभूतमें लय नहीं होता। वह तो पंचभूत पहलेसे ही रहते हैं।

आप कभी गौर करके देखना—मिट्टीसे खिलौना बना है, परन्तु वह खिलौना बना नहीं है, वह तो मिट्टी ही है। उसमें केवल आकृति ही गढ़ी गयी है। खिलौना उत्पन्न नहीं हुआ है। उसमें मिट्टी है, पानी है, आग है, हवा है, आसमान है। वह तो ज्यों-का-त्यों है। केवल एक शकल गढ़ी गयी है।

अजं—परब्रह्म परमात्मामें न जात है, न जायमान है। जात = भूतमें जो पैदा हुआ। जायमान = वर्तमानमें जो पैदा होता हुआ है। जनिष्यमाण = जो आगे पैदा होनेवाला है। कालके सम्बन्धसे जो उत्पन्न, उत्पद्यमान् और

चाहिए।' शूद्र बोलता है, 'कर्तव्यको करना चाहिए।' यह हम वर्णधर्मपर आक्षेप नहीं कर रहे हैं। वर्णधर्मसे इस बातका कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवमें जो शूद्रत्व शेष है, वैश्यत्व शेष है, क्षत्रियत्व शेष है, ब्राह्मणत्व शेष है उसको काट रहे हैं। अरे, आत्मामें न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न वैश्य है, न शूद्र है। यह तो जो संस्कार शेष लगा हुआ है, उससे तुमने अपनेको मुक्त जाना कि नहीं?

सेवा करनी है, अभी वंश परम्पराकी रक्षा करनी है, अभी तपस्या करनी है, अभी ज्ञान प्राप्त करना है—चारों आश्रमोंके ये संस्कार हैं। ब्रह्मचर्यसे सेवा, गृहस्थाश्रमीसे वंश परम्पराकी रक्षा, वानप्रस्थसे तपस्या और संन्यासीसे त्याग-वैराग्य—'यह हमारा कर्तव्य है'—ऐसा हो तो आश्रम अभी लगा हुआ है तुम्हारे साथ।

तुम तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हो। आश्रम शेष तुम्हारे अन्दर कहाँ है? तुम्हारा स्वरूप बड़ा विलक्षण है।

सकृद् विभाति सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन।

उपचार-उपचरणम्। उपचारः कर्तव्यः? कुछ शेष नहीं है। यह ब्रह्मज्ञानी कैसा है? आगे ब्रह्मज्ञानीकी महिमा है कि ब्रह्मज्ञानी ऐसा होता है।

अरे, ब्रह्मज्ञानीकी नजर अगर किसीके ऊपर पड़ जाय, तो वह मुक्त हो जाय। ब्रह्मज्ञानी किसीको छू दे, तो वह मुक्त हो जाय। इस अश्रद्धाके युगमें लोग न जानते हैं, न मानते हैं।

× × ×

अब दूसरे ढंगसे विचार करते हैं—

ये कहते हैं कि आत्मा अज है। अज=अजन्मा। आत्मा अजन्मा कैसे है? देखते ही हैं कि जन्म हुआ है। हमारे बेटेका जन्म हमारे सामने हुआ है और वैसे ही हमारा जन्म हुआ होगा और वैसे ही हमारे बापका भी जन्म हुआ होगा।

नहीं, यह ऐसा जन्म है जैसे कोई बच्चा राजकुमार हो और उसे कोई डाकू उठाकर ले जाय, और वह भीलोंमें रहे, भीलोंमें बढ़े, अपनेको राजकुमार न जाने। किसीने उसको बताया कि 'तुम तो राजकुमार हो। उसने सोचा कि हम पूर्वजन्ममें राजकुमार रहे होंगे! इस जन्ममें भिल्लकुमार हो गये! अपनी असली अवस्था राजकुमारकी है, उसको न जाननेके कारण जैसे वह अपनेको भिल्लकुमार जानता है इस जन्ममें; जैसे अपने राजकुमाररूप-

का अज्ञान ही अपनेको भिल्लकुमार माननेका कारण है; इसी प्रकार अपनेको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म न जानना ही अपनेको जन्मवान् और मृत्युमान्, देहवान् माननेका कारण है। हम अपना जन्म क्यों मानते हैं? अपनेको न जाननेके कारण। अविद्याके कारण ही अपनेको जन्मवान् मानते हैं।

जब आप्तवाक्यसे लक्षण विचारपूर्वक घटा लिया कि—'भाईमें तो वही राजकुमार हूँ', तो भिल्लकुमारका जन्म मिट गया। ऐसे, जहाँ अपनेको द्रष्टा, साक्षी, ब्रह्माभिन्न आत्माके रूपमें जाना, वही अविद्या मिटी और आप अजन्मा हैं, अभी अजन्मा हैं! सिर्फ अपनेको अजन्मा जानते नहीं।

न कर्मानुसार आपका उत्तरजन्म होनेवाला है और न कर्मानुसार आपका पूर्वजन्म था और न कर्मानुसार आपका यह जन्म है। इस शरीरको 'मैं' मान लेनेके कारण इसके पूर्वजन्मके निमित्त आपके साथ जुड़ गये और इसके उत्तर जन्मके फल आपके साथ जुड़ गये। आपके साथ पूर्वजन्मके न निमित्त हैं, न कर्मसंस्कार हैं और न उत्तर जन्ममें होनेवाले फल हैं, न वर्तमानमें आप शरीर हैं। आप यदि शरीर हैं, तो आपका जन्म पहले भी था, बादमें भी होगा। लेकिन, यदि आप यह बात जान लें कि आप शरीर नहीं हैं, आप नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हैं, तो आपका जन्म न पहले था, न अब है और न आगे होगा। इसीको अजन्मा बोलते हैं 'अजम्'।

अनिद्रम्—आत्मसत्यानुबोधसे ही यह निद्रा निवृत्त होती है। इसीलिए आत्मा अनिद्र है। आत्मामें न निद्रा है, न माया है।

निद्रा—माया, जिसमें जो दीख रहा है, वह दीखे तो सही; परन्तु यह मायाका खेल है यह ज्ञान न हो। जिस अधिष्ठानमें दीख रहा है, वहाँ बिलकुल नहीं है। माने जिस जगहपर दीख रहा है, वहाँ नहीं है, इसको माया बोलते हैं।

निद्रा—अविद्या जिसमें अपने आपको नहीं जानते हैं। मायामें सामने-वाली चीजको आप नहीं जानते हैं; अविद्यामें अपने आपको नहीं जानते। माया और अविद्या दोनों अज्ञानके विलास हैं। इसलिए आत्मा और ब्रह्मकी एकताके ज्ञानसे जब अज्ञान मिटा तो अनिद्रम् हो गये।

अस्वप्नम्—जग गये। सपना टूट गया।

पहले हम समझते थे कि हम जन्मवाले हैं, हम मरनेवाले हैं। अब समझ गये कि न हम जन्मवाले हैं और न मरनेवाले हैं। अरे, बस समझमें फेर होता है। असलमें न जड़का जन्म होता है न चेतनका जन्म होता है।

न जड़चेतनके मिश्रणका जन्म होता है; क्योंकि मिश्रण तो दोनोंका होता ही नहीं। कोई दवाई थोड़े है कि मिक्सचर बन जायगा ? न जड़का जन्म है। यह तो लकड़ीकी तरह है, जलनेवाला ! न चेतनका जन्म है। वह तो अग्निकी तरह है। न तो दोनोंका कोई मिश्रण है और न तो दोनोंसे कुछ विलक्षण है, अपने आत्मस्वरूप में।

मानि-मानि बन्धनमें आयो।

अपनेको परिच्छिन्न देह मानना और फिर यह मानना कि हमारी नाक कैसे बनी ? सूँघनेकी वासना रही होगी पहले। आँख कैसे बनी हमारी ? देखनेकी वासना रही होगी। हमारे हाथ कैसे बने ? तो करनेकी वासना रही होगी। वासना रही होगी तो पहले हम वासनावान् रहे होंगे। सूक्ष्म-शरीरवाले रहे होंगे। उससे यह शरीर बनाया और अब वासनावान् हैं, तो आगे शरीर बनेगा।

बाबा ! हमारे स्थूल और सूक्ष्म शरीर न पहले था, न अब है, न आगे होगा। हम तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त रूप हैं। सारा माजरा ही कट गया। जन्म नहीं है, निद्रा नहीं है, स्वप्न नहीं है। 'स्वप्न'में स्वर्ग आदि सबका ग्रहण है। निद्रामें प्रलयका ग्रहण है। जन्ममें पूर्वजन्म, उत्तरजन्म, वर्तमान जन्म—तीनों नहीं हैं हमारे। हम नित्य शुद्ध आत्मा हैं। इस बातके लिए 'अजम्' है।

हम न तो गाढ़ सुषुप्तिमें जाते हैं, न हमारी समाधि होती है, न मूर्च्छा होती है; न नैमित्तिक प्रलय होता है, न नित्य प्रलय होता है, न महाप्रलय होता है। महाप्रलयमें जो मायाकी विशिष्टता है, अपने आत्मामें उसका निषेध करनेके लिए 'निद्रा' शब्दका प्रयोग है। 'अनिद्रम्'।

'अस्वप्नम्'—मन ही अपनी चीजें बनाकर प्रतीत कराता है—स्वर्ग है, नरक है, वासनावासित आराध्यलोक हैं। यह सब स्वप्नके अन्तर्गत है। ऐसा क्यों ?

अनामकम्, अरूपकम्—न तुम्हारा नाम है, न रूप है। रज्जुमें कल्पित जो सर्प है, वह 'सर्प' नामसे कहने पर भी सर्प थोड़े ही है ? लम्बा और टेढ़ा-मेढ़ा दीखने पर भी और उसमें फनकी तरह ज्यादा चौड़ा दीखने पर भी, फुफकारती हुई जीभ दीखनेपर भी और पूँछ पतली होनेपर भी कुछ है रस्सीमें ? न नाम है, न रूप है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

(तैत्तिरीय २.४.१)

मनसे रूपका ध्यान होता है और वाणीसे नामका उच्चारण होता है। दोनोंको काट दिया। अनामकम् अरूपकम्से मन होता तो रूप भी होता और वाणी होती तो नाम भी होता। यहाँ तो न नाम है, न रूप है। और एक बात बतायी—सकृद्विभातम् = सर्वदा विभातम्।

एक बार अविद्या कट गयी तो सब एक साथ अनुभव हो जायेगा ?

हीरा पायो गांठ गठियायो बार-बार वाको क्यों खोले ?

ज्ञान होना एक मिनटमें होनेवाला काम है! उसको लोग जन्मोंके लिए—'बड़ा मुश्किल है, बड़ा मुश्किल है' बोलते रहते हैं। ऐसा है परमात्मा कि उसको मुश्किल कहो तो मुश्किल और आसान कहो तो आसान। यह ऐसा ही है। चाहो तो आज मिल जाय, अभी मिल जाय।

जनकको शंका थी न, तो अष्टावक्रजी बोले—'घोड़ेके रिकाबमें पाँव और ब्रह्मज्ञान!' फूल मसलनेमें मुश्किल और ब्रह्मज्ञानमें नहीं। आँखकी पलक मींचनेमें मुश्किल और ब्रह्मज्ञानमें नहीं। तुमको कोई पाप-पुण्य करके ब्रह्म होना नहीं है, कोई ध्यान-धारणा करके ब्रह्म होना नहीं, है, कोई समाधि लगाकर ब्रह्म होना नहीं है, किसी दूसरे गाँवमें, बैकुण्ठमें जाकर ब्रह्म होना नहीं है। लोकांतरमें जाकर ब्रह्म होना नहीं है। इंतजार करनेके बाद ब्रह्म नहीं मिलना है कि अभी साहब बाथरूममें हैं बाथरूममें-से निकलेगा तब तुमको मिलेगा। ब्रह्म बाथरूममें तो है नहीं! इसलिए ब्रह्मके लिए इंतजार करनेकी जरूरत नहीं, कि वह समाधिमें मिलेगा या बैकुण्ठमें विमानपर चढ़कर जायेंगे तब मिलेगा।

वह तो यहीं है। अरे! वह तो तुम्हीं हो, बाबा! सीधी-सादी बात है कि वह तुम्हीं हो! 'सकृद् विभातम्।'

एक बार बढ़िया तरहसे देख लिया अपने कमरेमें कि उसमें साँप नहीं है, तो तान दुपट्टा सो जाओ! अब क्या बारम्बार जाग रहे हो ?

अरे भाई, दिलमें अभी धड़कन होती है, फड़फड़ाते हैं। 'ऐसे हैं, वैसे हैं!' असलमें जिनके मनमें कर्मके प्रति महत्त्वबुद्धि है कि 'करेंगे तब मिलेगा'; ध्यानके प्रति महत्त्वबुद्धि है कि ध्यान करेंगे तब मिलेगा; समाधि लगेगी तब मिलेगा; बिना समाधिके कहीं ब्रह्मज्ञान होगा ? राम, राम! अब गये। न तो समाधि लगेगी और न तो ब्रह्मज्ञान होगा। न तो समाधि लगेगी और न तो ब्रह्म मिलेगा। आप बिलकुल निश्चित समझो, समाधिकालमें ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। जब अज्ञान-निवर्तक ब्रह्माकार-वृत्ति होगी, तब ब्रह्मज्ञान होगा। जहाँ

वृत्ति शांत होगी, वहाँ अज्ञान निवर्तक ज्ञान, बाध्य-बाधक ज्ञान होगा ही नहीं। अज्ञानको मिटानेवाला ज्ञान समाधिमें भला कैसे होगा ?

ब्रह्म वैकुण्ठमें हो, यहाँ न हो तो जाना पड़े। वह तो यहीं है, अभी है, यही है। यह देह, यह अंतःकरण और यह कारण शरीर जबतक मेरे साथ हैं, तबतक ब्रह्मज्ञान कैसे होगा ? तो ब्रह्मज्ञान माने इनका ध्वंस नहीं बल्कि इनकी असत्ताका बोध—ये हैं ही नहीं। कभी ब्रह्मज्ञानी महापुरुषका सत्संग न मिलनेके कारण लोगोंके मनमें ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं, भ्रान्ति हो जाती है, वे भूलमें पड़ जाते हैं और महान् लाभसे वंचित रह जाते हैं।

'सकृद्विभातं सर्वज्ञं'—वही 'सर्व' है और वही 'ज्ञ' है। शंकराचार्य भगवान्ने 'सर्वज्ञ' शब्दका अर्थ ऐसे किया। लौकिक व्याकरणकी रीतिसे इसका अर्थ ऐसे करते हैं कि—'सर्वं जानाति इति सर्वज्ञम्।' जो सबको जाने, उसका नाम 'सर्वज्ञ'। शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि ऐसा नहीं; यहाँ अर्थ है—'सर्वं च तज्ज्ञस्वरूपं चेति सर्वज्ञम् ब्रह्म।' जो सर्वके रूपमें भास रहा है वह भी ब्रह्म है और जिसको भास रहा है, वह भी ब्रह्म है।

मैं ऐसी बात कह रहा हूँ कि पकड़नेवाला आदमी, अबतक ब्रह्म न हुआ हो, तो होजाय। इसी समय हो जाय। जैसे सपनेमें द्रष्टा-दृश्य सब दृङ्-मात्र ही है, उसीप्रकार जाग्रत्में हैं।

'नोपचारः कथंचन'—एक ही बात समझनेकी है कि इसका कर्तव्यके साथ सम्बन्ध नहीं है। न शारीरिक कर्तव्य, न पारिवारिक कर्तव्य, न मानसिक कर्तव्य, न पारलौकिक कर्तव्य, न वैकुण्ठादि आधिदैविक कर्तव्य, न आध्यात्मिक कर्तव्य-समाधि, आदि, न दैशिक और मानवतामूलक भौतिक कर्तव्य गाँव या देशके लिए कर्त्तव्य।

यदि कहो कि 'ज्ञान होनेपर ये सब कर्तव्य पूरे नहीं करने चाहिए'। तो बाबा ! जैसी तुम्हारी आदत पड़ी है वही करना है। जो तुम खाते हो, सो ही खाना ! ज्ञान होनेपर पंजाबीसे कहें कि 'भात खाया करो, तंदूरकी रोटी मत खाना, तो है कुछ ज्ञानके साथ इसका सम्बन्ध ?

बंगालीसे कहें कि—'अरे ओ बंगाली ! अब तुम्हें ज्ञान होगया है। भातमें आसक्ति क्यों करते हो ? पंजाबी-रोटी खाया करो।' है कोई सम्बन्ध ? अरे भाई ! पंजाबी रोटी ही खाया करेगा, बंगाली भात ही खाया करेगा और

मद्रासी होगा तो इटली-डोसा ही खायेगा। खान-पानमें फरक डालनेवाली चीजका नाम ज्ञान नहीं है। वह और कोई ज्ञान है।

ज्ञान होनेपर तुम कौन-सा कपड़ा पहनो? अरे बाबा! जेठके महीनेमें भी तुम गरम सूट डालकर रहो; कौन मना करता है? जब तुम्हें सभ्यताके चिह्नके रूपमें यही लगता है कि भले जेठकी गरमी हो, पहनना बिलकुल डाटके गरम सूट, तो वही पहनो। एक ओर तो लगता है कि तिलक हिन्दुत्वका सूचक है और दूसरी ओर लगता है कि ताई (टाई) धर्मप्रचारक मजहब-सूचक है। 'टाई-ताई' संस्कृतका शब्द समझो, धर्मप्रचारका सूचक। जापानमें 'ताई' बोलते हैं धर्मको। बौद्ध लोग 'ताई' बोलते हैं धर्मको। बौद्ध-धर्म ही गया है चीनमें, जापानमें। वे 'ताई' बोलते हैं धर्मको। वही ता का टा होगया। धर्म-चिह्न है—ऊपर वैष्णव-चिह्न तिलक; और गलेमें टाई!

तुम्हारी वेशभूषापर भला कौन आक्रमण करते हैं? तुम पहनो न, जैसे तुम्हारी मौज हो! हम खानेसे मना नहीं करते हैं। अपनी रीतिरिवाज, धर्मके अनुसार भोजन करो। अपने स्वभावके अनुसार तुम वस्त्र धारण करो। अपने स्वभावके अनुसार तुम राजनीतिक बनो। समाजनीतिक बनो, धर्मनीतिक बनो। समाजकी सेवा करो, धर्मका प्रचार करो, राजनीतिमें पड़ो। लेकिन, तुम यह तो जानो कि—'मैं कौन हूँ?'

ब्रह्मदृष्टिसे कर्तव्य नहीं है, कर्तव्य लौकिकदृष्टिसे होता है। तुम्हारा अहं जहाँ है, उसके अनुसार कर्तव्यका पालन करो। और तुम्हारी असलियत तो ब्रह्म है।

फिर ये कहते हैं कि दुनियाके लोग जब लड़ते हैं कि—ऐसे नहीं, ऐसे–' तब वे (ब्रह्मज्ञ) जानते हैं कि 'ऐसे भी मैं, वैसे भी मैं?' चित्त भी मैं, पट्ट भी मैं। रुपयेको ऊपर उछालकर गिराओ तो चित्त भी रुपया, पट्ट भी रुपया। ब्रह्म? ब्रह्म सबमें—ईसाई आचार, मुस्लिम आचार, बौद्ध आचार, जैन आचार। 'नोपचारः कथंचन।'

अगर गीधको ब्रह्मज्ञान होजाय और हंसको ब्रह्मज्ञान होजाय, तो? हंस अपने स्वभावके अनुसार रहेगा और गीध अपने स्वभावके अनुसार रहेगा। चार व्यक्ति भांग पिये तो एक गावेगा, एक सोवेगा, एक ध्यान करेगा, एक गाली देगा। पूछो कि भांग किसने पी है? तो बाबा, बरत रहे हैं अपने स्व-भावानुसार। इसी प्रकार—

न सूरयो हि व्यवहारमेनं तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति (भागवत)

तत्त्वज्ञानके साथ अपने परम्परा प्राप्त व्यवहारको मत जोड़ो। तुम परम्पराप्राप्त व्यवहारको करते रहो। उसका जो बोझ था न, कि इसके बिना हम नरकमें जायेंगे या इसे करेंगे तभो स्वर्गमें जायेंगे, वह बोझ सब समाप्त होजाता है तत्त्वज्ञानसे।

हमें नरक-स्वर्ग चाहिए ही नहीं। यह करेंगे तो मिनिस्टर हो जायेंगे और यह करेंगे तो चपरासी हो जायेंगे! बाबा, मिनिस्टर और चपरासी दोनों एक हैं। एक ही मनुष्यत्व जैसे है, वैसे दोनोंमें एक ही ब्रह्मत्व है। तो, नोपचारः कथंचन। कर्तव्यका सम्बन्ध इसके साथ मत जोड़ो। ब्रह्मज्ञान दूसरी चीज है। यह अपरिच्छिन्नका ज्ञान है। संसारके कर्तव्य परिच्छिन्नका ज्ञान है कि 'यह अच्छा है, यह बुरा है।' 'यह प्रिय है, यह अप्रिय है।' 'यह अनुकूल है, यह प्रतिकूल है।' कर्तव्य परिच्छिन्नके ज्ञानके साथ ही जुड़ता है। अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें कोई कर्त्तव्य नहीं है—'नोपचारः कथंचन।'

\+ + +

आप यह कहो कि कोई कर्तव्य ही नहीं निकला, तो ज्ञान क्या? आपको यह बात सुनावें कि ज्ञानमें तो सर्व कर्तव्योंका समर्थन हुआ। इसलिए दृष्टि विशाल हुई। जब एक प्रकारके कर्तव्यका निरूपण होगा, तो वह दृष्टि संकीर्ण होगी।

कर्तव्य तो अपनी-अपनी जातीय, मानवीय, राष्ट्रीय, प्रान्तीय, पारिवारिक या दैहिक या अन्य कोई भी दृष्टिसे होता है। उसे लेकर आप अपने कर्तव्यका पालन कर सकते हैं। परन्तु इस अपरिच्छिन्नका ज्ञान रहेगा, तो कोई भी कर्तव्य आपके लिए बोझ नहीं होगा। कोई कर्तव्य आपको पतित नहीं करेगा। किसी कर्मसे आपको उत्थानकी वासना नहीं रहेगी। निर्वासन होनेसे रागद्वेषरहित संपूर्ण जीवन रहेगा।

'यह अद्वैतभावनासे काम करो, यह अद्वैतभावनासे काम करो।' ठीक है, बहुत बढ़िया! सबमें एक परमात्मा है, इस भावनासे काम करो। भावना शुरू-शुरूकी बात है।

तत्त्वदृष्टिसे कर्तव्य अपने स्थानपर है और यह अपरिच्छिन्न वस्तुका ज्ञान अपने स्थानपर है। इस हालमें जो आकाश है, उसको जानना दूसरी चीज है और इसमें कौन आदमी काला बैठा है और कौन आदमी गोरा बैठा है; कौन आदमी कालबादेवी जायगा, कौन आदमी मलवार हिल जायगा और कौन

पेडररोड जायगा—यह दूसरी बात है। अपनेको ब्रह्म जानना दूसरी बात है और पेडर जाना, मलबार हिल जाना, कालबादेवी जाना—यह दूसरी बात है।

अपनेको ब्रह्म जानना अपरिच्छिन्न ज्ञानका फल है। अपरिच्छिन्न ज्ञान कहीं जानेका कर्तव्य उपस्थित नहीं करता, कहीं भोक्ताका प्राप्तव्य उपस्थित नहीं करता, कहीं त्यक्तव्य उपस्थित नहीं करता।

सर्वाभिलापविगतः.............अभयः ॥

अब ब्रह्म और ब्रह्मज्ञानी दोनोंको एक करके बात कहते हैं, क्योंकि यहाँ पुल्लिगमें वर्णन करते हैं। ब्रह्मका वर्णन होता है नपुंसकलिंगमें। फिर भी उसमें एक दृष्टिकोण रखना। स्त्री और पुरुष प्रजननशोल होते हैं। नपुंसक प्रजननशील नहीं होता। वह सृष्टिका बाप नहीं है। वह सृष्टिकी माँ नहीं है। उसमें सृष्टि केवल अध्यस्त है। अध्यस्त वस्तु अधिष्ठानसे भिन्न होती नहीं। इसलिए सृष्टि ब्रह्मसे भिन्न नहीं है।

अब पुरुषरूपमें वर्णन करते हैं। यह महात्मा तो प्रजननशील हैं। इसलिए पुल्लिगमें वर्णन करते हैं। क्या प्रजननशील है? इससे शिष्योंकी सृष्टि होती है। ब्रह्म शिष्योंकी भी सृष्टि नहीं करता। 'सर्वाभिलापविगतः'—अभिलाष और अपलाप दोनों ही उसको छोड़कर चले गये हैं।

थोड़े हो दिन पहले मैंने एक संस्कृतका शब्द देखा। किसी भलेमानुसने उसका प्रयोग कर दिया—'विवेकनष्ट।' संस्कृत भाषामें तो इसका प्रयोग होता ही नहीं। हिन्दीमें भी यह ठीक नहीं है। 'नष्टविवेक' होना चाहिए। जिसका विवेक नष्ट हो गया है—'नष्टो विवेको यस्य।' 'नष्ट'का पूर्वभाव हो जायगा। पहले 'नष्ट' रहेगा, बादमें 'विवेक'। यदि 'विवेकनष्ट' शब्दका प्रयोग करेंगे, तो क्या अर्थ होगा उसका? 'विवेकेन नष्टः विवेकनष्टः' माने विवेकी होनेके कारण जिसका नाश हो गया। यह संस्कृत भाषा है। इसमें बिलकुल इधर-उधर नहीं कर सकते।

सुनते हैं कि एक बड़े गणितज्ञ सज्जन थे। वे अपने बाल-बच्चोंके साथ नदी पार कर रहे थे। नाव भी वहाँ दो-दो पैसेमें सबको पार कर देती थी। उन्होंने कहा—'दो-दो पैसा क्यों खर्च करें? आओ, जरा देख लें, पानी कितना है। उन्होंने किनारे को नापा, इधर नापा, उधर नापा और नापकर औसत निकाला। बोले—'आहा! कमर भर पानी निकला।' एक जगह सिर भर था, एक जगह घुटनों भर था, एक जगह कमर भर था।

अब वे बाल-बच्चों सहित पार होने लगे, कि पानी तो कमर भर है। घुस गये पानीमें। बच्चे डूबने लगे। बोले— 'अरे भाई ! औसत पानी तो कमर भर है, ये बच्चे डूबते क्यों हैं ? फिरसे उन्होंने औसत निकाला। बोले—

औसत आया ज्यों-का-त्यों, बाल-बच्चे डूबे क्यों ? यह 'विवेकनष्ट' है। 'विवेकेन नष्टः'। उन्हें यह खयाल नहीं है कि जहाँ गले भर पानी है, वहाँ भी बच्चेको जाना पड़ेगा। औसत पानी कमर भर हुआ तो क्या हुआ। पार तो वह भी करना पड़ेगा, जहाँ गले भर पानी है।

यहाँ क्या ? बोलना चाहिए—'विगत सर्वाभिलापः।' जिसका सारा अभिलाप विगत हो गया है। माने बोलना जिसका छूट गया है। अभिलाप= वाणी, वाक् अर्थात् सम्पूर्ण बोलनेका जो साधन है। हम लपालप बोलते हैं न; उल्लापने यथा रुचिः; अपलाप, संलाप, आलाप। आलाप माने आपसमें बात करना। संलाप माने आपसमें संवाद करना। अपलाप = किसीको काट देना। अभिलाप = सब तरहकी बात करना। सर्वाभिलाप = सब तरहकी बोली जिससे बोली जाती है, वह वाणी ही जिसको छोड़कर चली गयी है। बाधित हो गयी वाणी।

महात्मालोग कहाँसे बोलते हैं ? कहते हैं—वैखरीवाणीसे बोलनेकी महात्माको जरूरत नहीं है; मध्यमा, पश्यन्ती वाणीसे ही महात्मालोग नहीं बोलते हैं; ये तो परावाणीमें बैठकर बोलते हैं—ऐसा भगत लोग आपसमें जब बात करते हैं तो बोलते हैं। 'हमारे गुरु महाराज वैखरीवाणीमें थोड़े बोलते हैं ? वे तो परावाणीमें बोलते हैं'—इसका नाम श्रद्धा है। अरे बाबा ! जो वाणीसे बोला जायगा, जो कानसे सुना जायगा, वह तो वैखरीवाणी ही है। वैखरी=बिखरनेवाली वाणी, विकीर्ण होनेवाली वाणी।

महात्मासे तो जो बुलाओ सो बोल दें। भागवतमें लिखा है—

यच्छूक्तयो वदतां वादिनां वै विवाद संवाद भुवो भवन्ति।

आदमी आपसमें विवाद करते हैं। एकने कहा—'महाराज, यह अधर्मका पक्ष ले रहा है।'

दूसरेने कहा—'यह धर्मका पक्ष ले रहा है। महात्मा बोले—'दोनोंके अन्तःकरणमें मैं ही ब्रह्मरूपसे मौजूद हूँ। मुझसे ही दोनों बोल रहे हैं। यह मेरी वाणी ही है।'

सपनेमें एक ओर चोरी हो रही है, तो एक ओर यज्ञ हो रहा है, तो एक ओर भाषण हो रहा है। अब स्वप्नद्रष्टा अवबुद्ध है, उससे किसीने पूछा—

'इधर यज्ञ हो रहा है, इधर चोरी हो रही है?' वह बोला—'सब मैं ही हूँ, गुरु!' यह बनारसी बोली है।

देखो, यह रागद्वेषरहित असाम्प्रदायिक वेदान्त! जो लोग वेदान्तको साम्प्रदायिक पक्षपातका कारण बताते हैं, वे लोग तो वेदान्त समझते ही नहीं हैं।

परमहंस श्रीरामकृष्ण कहते थे कि पेड़ वाड़ामें पैदा हुआ, परन्तु जब ऊपर निकल गया तब? अब बाड़की जरूरत नहीं है। बाड़ रहेगी तो लोग पेड़की छायाका सुख कहाँसे पायेंगे? अब बाड़को तोड़कर फेंक दो। यह सम्प्रदायमें-से निकलकर सम्प्रदायकी बाड़में-से बाहर हो जाता है। यह ऐसी वस्तु है। 'सर्वाभिलापविगतः' हो जाता है।

एक आदमीने आकर श्रीउड़िया बाबाको कहा—'अमुक आदमी आपकी निन्दा कर रहा था।'

वे बोले—'अरे बावरे! वह मैं ही तो था! मैं ही बोल रहा था। तू मुझे पहचानता नहीं है?'

वह मैं ही बोल रहा था—'सर्वाभिलापविगतः।'

कौन कहे? कासों कहे?

वह आप आप नहीं दूजिया।

कौन कहे? किससे कहे? वह आप ही आप हैं, दूसरा नहीं। 'सर्वाभिलापविगतः'—वाणीसे मतलब केवल जीभका नहीं है—

वागत्र उपलक्षणार्था सर्वबाह्यकरणवर्जितः इत्येतत्। (भाष्य)

अरे! वह तो आँखवाला होनेपर भी आँखवाला नहीं है; कानवाला होनेपर भी कानवाला नहीं है; जीभवाला होनेपर भी जीभवाला नहीं है; नाकवाला होनेपर भी नाकवाला नहीं है।

'सर्वचिन्तासमुत्थितः।' अच्छा बाहरी इन्द्रियाँ नहीं हैं; परन्तु भीतर चिन्ता-विन्ता तो कोई होगी?

अरे बाबा! हमने कितने प्रलय देखे। उस समय तो कोई चिन्ता नहीं थी। कितनी सुषुप्ति देखी। उस समय तो कोई चिन्ता नहीं थी। और कितनी चिन्ताएँ देखी, जो कल थीं, आज नहीं हैं। यह भी न रहेगा। कोई चिन्ता रहती है? ये मरे हुए लोग जो याद आते हैं। थोड़े ही दिन याद आते हैं। आप देखना, दो-तीन दिन, चार दिन ज्यादा। पन्द्रह दिन ज्यादा! फिर महीनेमें कभी-कभी। फिर बरसोंपर याद आती है। ऐसा कोई मरा हुआ नहीं होता, जिसकी रोज याद आवे। अपने मनको देख लेना।

जिस समय कोई सो जाता है, मर जाता है, तब क्या फिकर रहती है? कुछ नहीं। यों बोलते हैं—'इसके बिना हम रह ही नहीं सकते। यह नहीं रहेगा तो हम कैसे रहेंगे?'

श्रीमद्भागवतमें एक दृष्टान्त है—नारदजीने चित्रकेतुके बेटेकी प्रेतात्माको बुलाया और बोले कि—'ये तुम्हारे माँ-बाप हैं। तुम्हारे बिना ये बहुत दुःखी हैं। आ जाओ अपने शरीरमें और कुछ दिन रहो।'

वह प्रेतात्मा बोलता है, कि—'देवर्षि! नारदजी!! ये हमारे किस जन्मके माता-पिता हैं? मैं तो इनको पहचानता नहीं हूँ।'

तुरन्तका ही मरा हुआ था। शरीर तो उसका पड़ा हुआ था। उसने पूछा—

कस्मिञ्जन्मन्यमी मह्यं पितरो मातरोऽभवन्।

किस जन्ममें यह मेरी माँ थीं और किस जन्ममें यह मेरे पिता थे? मैंने तो हजारों-लाखों-करोड़ों जन्म देखे हैं और उसमें करोड़ों माँ-बाप देखे हैं। बाबा, अब तो न उनकी याद आती है और न उनकी पहचान है। ऐसे बोला। तो, यह जो चिन्ता होती है न, वह एक ओरसे ही होती है। पैसा तुम्हारे लिए चिन्ता नहीं करता और तुम पैसेके लिए चिन्ता करते हो। हम अपनी माँके लिए, पत्नीके लिए चिन्ता करते थे जब भजन करने गये थे। लेकिन बादमें मालूम हुआ कि उनकी तो हमारी बिलकुल फिकर नहीं थी। वे तो समझते थे कि कहीं कमाई के लिए गये हैं।

महात्मा सृष्टिके रहस्यको जानता है। सृष्टिका रहस्य तो मामूली आदमी भी जान सकता है। और, सम्पूर्ण चिन्ताओंसे पार हो सकता है। लेकिन अधिष्ठान-ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण चिन्ताओंसे पार होना, यह महात्माकी विशेषता है।

चिन्ता = चिन्त्यते अनया इति चिन्ता-बुद्धि। चिन्ता = बुद्धि = अन्तःकरण सारा। अरे, साँस चले चाहे न चले, मन रहे चाहे न रहे। बुद्धि काम करे चाहे न करे—

'अक्षरात् परतः परः'—सबसे परे अक्षर है, उससे भी परे आत्मा है।

एक बात बताऊँ, यह जो वेदान्ती अपनेको परे कहने लगते हैं—'हम देहसे परे हैं, हम प्राणसे परे हैं, हम मनसे परे हैं, हम बुद्धिसे परे हैं'—उनको तो बड़ा अभिमान होता है कि 'परे' कहनेसे हम सच्चे वेदान्ती हो गये।

अरे, अगर तुम किसीसे परे रहे और तुमसे कोई उरला रहा, तो तुमको वेदान्तका ज्ञान कहाँ हुआ ? उरला = अवर। 'अवर'का 'उरला' हो गया। अलीगढ़की तरफ बोलते हैं 'उरला' शब्द। मारवाड़ीमें बोलते हैं—'उरे।' एक उरे, एक परे। एक अवर, एक पर। अरे बाबा ! न पर, न अवर। न पर, न अपर। न धर, न अधर। यह—'परे-परे-परे' ? यह आत्मज्योति नहीं है।

आत्मज्योति तो वह है, जो सबसे परे होकर सर्वरूप है। जिज्ञासुके लिए परे-परे और ब्रह्मज्ञानीके लिए 'सर्व।'

सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिर चलोऽभयः ॥

अपने अन्दर आदमी अगर विशेषताका आरोप न करे और दूसरेके अन्दर भी विशेषताका आरोप न करे, तो न वह किसीसे छोटा है और न किसीसे बड़ा है। एक विशेषता अपने अन्दर होगी तो हम बड़े होंगे दूसरेसे—'हमारी बुद्धि अच्छी, हमारा शरीर सुन्दर, हमारी जाति अच्छी।' इसीका नाम 'भेद' है ! हमने अपनेको तोड़कर, फोड़कर दूसरोंसे अलग किया।

'भेद' शब्दका संस्कृतमें अर्थ 'फोड़ना' होता है। भेद=भेदन, फोड़ना। जबतक हम अपनेको दूसरोंसे तोड़कर अपने अन्दर एक विशेषता नहीं मानेंगे, तबतक बड़ा अपनेको कैसे मानेंगे ? और तबतक दूसरोंको अपनेसे अलग नहीं करेंगे, तबतक उसको हम अपनेसे बड़ा कैसे मानेंगे ? और जबतक हम अपनेमें हीनता नहीं मानेंगे, कि अमुक गुण हमारे अन्दर नहीं है, तबतक हम अपनेको हीन कैसे मानेंगे ? जबतक दूसरेमें गुणकी कमी नहीं मानेंगे, तबतक उसको हम हीन कैसे मानेंगे ? तो अपनेको बड़ा मानना, दूसरेको बड़ा मानना; अपनेको हीन मानना, दूसरेको हीन मानना—यह क्या है ? यह विशेष दृष्टि है।

एक सज्जन गंगा-किनारे कहीं घूमने जा रहे थे। उन्होंने देखा, 'एक जगह गंगाजीका तट है, थोड़ा ऊँचा, ऊपर कगार था, उसके नीचे एक स्त्री-पुरुष बैठे हैं आडमें, वे शराब पी रहे हैं, तो उनको बड़ी ग्लानि हुई कि गंगाके पवित्र तटपर बैठकर ये क्या अन्याय, क्या अधर्म कर रहे हैं ? बड़ा अन्याय है !' इतनेमें एक नाव वहाँसे निकली, जिसमें दस-बीस आदमी बैठे हुए थे। गंगाजीमें नाव सामने आकर डूबने लग गयी।

जो स्त्री-पुरुष गंगा किनारे बैठकर शराब पी रहे थे, उन्होंने बोतल फेंक दिया और दोनों कूद पड़े गंगाजीमें, डूबते हुओंको खींच-खींचके किनारे करने लगे। वे बोले—'ओ धर्मात्मा भाई ! हम लोग शराब पी रहे थे तो अधर्म कर रहे थे, वह तुमको नहीं जँचा। सो ठीक है। उसमें तुमने हमारा सहयोग नहीं

दिया। अब तो हम बढ़िया काम कर रहे हैं। आओ, तुम भी दो-चारको बचाओ। अब तो हमको सहयोग दो !' तो परोपकार करनेकी विशेषता उनके अन्दर थी। परम्परागत आचार-पालनकी विशेषता उस सज्जनमें थी। वे अपनी विशेषतासे अपनेको बड़ा मानते थे।

अपने अन्दर किसी विशेषताका आरोप नहीं करोगे, तो कैसे बड़े हो जाओगे ? सविशेषकी दृष्टि ही छोटा-बड़ा बनाती है, राग-द्वेष बनाती है, मान-अपमान बनाती है। सार विशेष छोड़ दो, तो ऐसी शान्ति है, ऐसी शान्ति है कि सुप्रशान्तः हो गये।

जब प्रान्तका अभिमान होता है, तब—'यह चीज हमारे प्रान्तमें रहे', यह आग्रह होता है; और जब राष्ट्रका अभिमान होगा, तो वह व्यक्ति कहेगा—'चाहे इधर रहे, चाहे उधर रहे, राष्ट्रमें ही तो है न !' जब विश्वका अभिमान हो जायगा तो ? अरे, यह तो प्रशासनिक इकाइयाँ हैं जिसको 'राज्य' बोलते हैं; इसमें तो शासनकी सुविधाके लिए इकाइयाँ बन गयी हैं। रागी-द्वेषी लोग शासनपर बैठ गये ! वे एक दूसरेसे मारपीट करते हैं। यह तो शासनके हिसाबसे, संस्कृतिके हिसाबसे, सभ्यताके हिसाबसे ऐसे बढ़ा दिया गया था। इसमें मूल महत्त्व थोड़े ही था ?

एक आदमी साष्टांग दण्डवत् करे और एक आदमी जरा कमर उठाकर दण्डवत् करे। दण्डवत् करनेके ये दो तरीके ही हुए न ? दण्डवत् तो दोनों ईश्वरको कर रहे। जिसकी कमर जरा ऊपर उठी रहती है और सिर झुक जाता है, वह भी दण्डवत् करता है और जो साष्टांग लेट जाता है, वह भी ईश्वरको दण्डवत् करता है।

एक कान छिदाकर अपनेको धर्मात्मा मानता है, एक खतना कराकर अपनेको धर्मात्मा मानता है। यह तो अपनी-अपनी पद्धतिमें भेद हुआ न ? इसमें बड़प्पन-छोटप्पन क्या है ? अब समझो, एक आदमी वह है, जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिस ब्रह्ममें चिगारीकी तरह उड़ रहे हैं, उस ब्रह्मको अपना आपा समझता है।

'यस्य समन्ततै रोमकूपेषु अनन्तानि ब्रह्माण्डानि प्रज्वलन्ति।' नारायणका वर्णन है—'जिनके एक-एक रोमकूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड ! उसमें क्या राग-द्वेष करना ? वह सुप्रशान्त है।

सकृद् ज्योतिः—सदा ज्योति, सदा विभाति है यह। सदा ज्योतिरात्म-

चैतन्यरूपेण। जैसे दियासलाईसे जलाते हैं या स्विच दबाकर बल्ब जलाते हैं, वैसा जलनेवाला यह नहीं है। अरे, एक ज्योति है, अखण्ड ज्योति है।

समाधि—सब इसीमें दफनाये हुए हैं। 'समाधीयते यस्मिन् इति समाधिः।' जिसमें सबका समाधान हो, वह समाधि, परमात्मा। समाधि-निमित्तक जो प्रज्ञा है, सम्पूर्ण वासनाओंका परित्याग करके विक्षेपको निवृत्त करके; पहले समाधि लगाकर, फिर समाधि-संस्कारसे बादमें जो प्रज्ञा उदय होती है, निस्संस्कार, निर्वास उस प्रज्ञामें ब्रह्मज्ञान हुआ, ऐसा! उस ब्रह्मज्ञानसे उपलक्षित आत्माका नाम समाधि है।

अचलः—अटल है। अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होता। निर्विकार है, अतएव **अभय** है। कहीं भय नहीं है।

पार्वतीजीने सनकादिको शाप दे दिया। क्या? 'शंकरजीको प्रणाम नहीं करते हो? ऊँटकी तरह सिर उठाये जा रहे हो? हो जाओ ऊँट।' 'शिवपुराण'-में वह शाप है। ऊँट हो गये। बहुत दिन बीत गये। एक दिन पार्वतीजीने शंकरजीसे कहा—"मैंने उन बच्चोंको शाप दे दिया कि 'ऊँट हो जाओ।' उसने तो फिर हाथ भी नहीं जोड़ा, माफी भी नहीं माँगी। माफी माँगते तो कह देती, शाप हटा देती! वह तो बड़ा विलक्षण बच्चा निकला! क्या हुआ उसका?'

शंकरजीको हँसी आ गयी। बोले—'चलो देवी देख आवें।' गये, तो एक नीमका पेड़ था। खड़े-खड़े वे नीमके पत्ते खा रहे थे। पार्वतीजीने पूछा—'कहो बेटा, क्या हाल-चाल है?'

सनकादि बोले—'माँ! बड़ी कृपा की आपने। हमें नहाना पड़ता था, आबदस्त लेना पड़ता था, भिक्षा माँगनी पड़ती थी। सब झगड़े छूट गये। खड़े-खड़े नीमकी पत्ती खा लेते हैं। किसीसे माँगना नहीं पड़ता। टट्टी जाके आबदस्त भी लेना नहीं पड़ता। मौजसे बैठकर पागुर करते हैं और खड़े होकर नीमकी पत्ती खा लेते हैं। अपनी मस्तीमें जैसे तब वैसे अब!" नामरूपमें क्या फरक पड़ा? पोशाकमें क्या? पोशाक कम्बलकी पहनी तो क्या और रेयोनकी पहनी तो क्या? पोशाक-तो-पोशाक ही है। 'हम तो वहीके वही हैं। अरे, बड़ा आनन्द है!'

'नहीं नहीं! तुमको ऊँट बनानेमें फायदा नहीं है, जब तुम्हारा कुछ बिगाड़ ही नहीं है। जैसे पहले रहते थे, वैसे ही रहो!'

ब्रह्मात्मैक्य बोधके अनन्तर कर्तव्य शेष नहीं रहता—इस बातको अब बताते हैं—

'ग्रहो न तत्र नोत्सर्गः'—ज्ञान-सिद्धान्तमें, इस परब्रह्म परमात्मामें और इसलिए ब्रह्मज्ञानीमें न कोई ग्रहण है और न कोई त्याग है; न लौकिक न वैदिक। निर्विकार परब्रह्म तत्त्वमें, ब्रह्मज्ञानीमें ब्रह्मज्ञानके सिद्धान्तमें, न कोई विधि है कि यह वस्तु रखना और न कोई निषेध है कि यह वस्तु छोड़ देना। अपने पास कुशमुष्टि हो, रुद्राक्षकी माला हो, कमण्डल हो, दण्ड हो—ये सब विधि नहीं हैं और निषेध भी नहीं हैं कि यह नहीं रखना, यह नहीं करना।

वैदिक और लौकिक दोनों प्रकारके विधि और निषेध इस आत्मज्ञानमें नहीं है। कितनी छुट्टी ? माने ऐसे देशमें रहना, जहाँ किसी कानूनका पालन अनिवार्य न हो ! कहो कि फिर तो हम उच्छृङ्खल हो जायेंगे। यह जो अपने बारेमें आपकी श्रद्धा है यह तो अपनी हीनताकी बात है।

आप ऐसा क्यों सोचते हैं कि कानून नहीं रहेगा, तो आप भलेमानुस नहीं रहेंगे ? आपकी भलमनसाहत कानून पर आधारित हो गयी, तो यह बड़ी गन्दी बात है। सारे कानून हटा लिए गये। न विधि है, न निषेध कि यह करना, यह नहीं करना; यह रखना, यह नहीं रखना। फिर भी ग्रहण और उत्सर्ग ज्ञान-मार्गमें नहीं है, ब्रह्ममें नहीं है, ब्रह्मज्ञानीमें नहीं है।

अब योगियोंकी बात सुनाता हूँ। उनके यहाँ ग्रहण और उत्सर्ग है। एक बार गुरु 'गोरखनाथ' कहीं जा रहे थे। वहाँ उनके गुरु 'मच्छीन्दरनाथ' आये। 'मत्स्येन्द्रनाथ' उनका नाम था। पर उनकी भाषामें भी 'मच्छीन्दरनाथ' ही बोला जाता है। सिद्धोंकी बोली अलग ही है।

वे ऐसा वेश धारण करके आये कि गुरु 'गोरखनाथ' ने पहचाना ही नहीं कि ये हमारे गुरुजी हैं। मच्छिन्दरनाथने लेकर तलवार कहा कि—'हम तुमको काट डालेंगे।'

'गोरखनाथ'ने कहा—'ठहरो', और फिर उन्होंने लौह-धारणाकी कि मैं मिट्टीका बना हुआ पुतला नहीं हूँ, मैं लौह हूँ। इसके बाद मत्स्येन्द्रनाथने तलवार मारी, तो तलवारकी धार टूट गयी। अब तो गोरखनाथको हुआ कि हम तो सिद्ध हो गये। 'मत्स्येन्द्रनाथ' ने अपना रूप प्रकट कर दिया—'देख, मैं तेरा गुरु ! अभी तू सिद्ध नहीं हुआ।'

'गोरखनाथ' बोले—'सिद्धि कैसी होती है ?'

'मत्स्येन्द्रनाथ' बोले—'ले दूसरी तलवार हाथमें और मेरे इस (शरीर)

को मार।' गुरु 'गोरखनाथ'ने तलवार मारी तो वे (मत्स्येन्द्रनाथ) आकाश-धारणामें चले गये—'मैं आकाश हूँ।' तलवार शरीरके आरपार हो गयी, टूटी नहीं। कुछ मिला ही नहीं तलवारको! आकाशमें जैसे कुछ इधरसे उधर होता है, कटे कुछ भी नहीं। बोले—'देख इसका नाम सिद्धि है।'

अब एक ज्ञानी मिले। वे बोले—'इन दोनोंका नाम सिद्धि नहीं है, सिद्धि तो यह है कि जहाँ मारनेवाला भी मैं हूँ और मरनेवाला भी मैं हूँ, तलवार भी मैं हूँ, कटना भी मैं हूँ और न कटना भी मैं हूँ, सबसे न्यारा भी मैं हूँ और सब भी मैं हूँ। अरे! तूने धारणा करके देहको बचाया, तो अपनेको देह मानता है, तभी तो। दत्तात्रेयजीने कहा—'दोनों हमारे चेले हैं।'

'अभी और आगे बढ़ो! चिदाकाशतक! भूताकाशमें धारणा मत करो! चिदाकाश हो जाओ, जहाँ यह सम्पूर्ण प्रपंच स्फुरणा-मात्र है।'

'ग्रहो न तत्र नोत्सर्गः'—कोई धारणा नहीं करनी पड़ती कि 'मैं पृथिवी हूँ कि मैं आकाश हूँ।' ये तो अपनेको पञ्चभूतका शरीर समझते हैं तो मरनेवाला सोचते हैं या जिन्दा रहनेवाला सोचते हैं। पञ्चभूतमें कहाँ जिन्दा रहना और कहाँ मरना? दुनियाके जितने कायदे-कानून हैं, वे पञ्चभूतके लिए नहीं हैं।

कानूनसे वर्षा करा दो! करा सकते हो? वर्षा पर कानून कहाँ चलता है? सूर्यसे कहो कि कानून मानो हमारा! वह ईश्वरके कानूनमें है। ईश्वर किसीके कानूनमें नहीं है, स्वयं अपने ही कानूनमें है। और ब्रह्ममें? अपना कानून भी वहाँ नहीं है। अद्भुत है!

'चिन्ता यत्र न विद्यते'। चिन्ता नामकी कोई चीज ही नहीं है। दुनियाके लोग दुःखी होते हैं। कैसे? चिन्ता करते हैं। रास्तेमें चलते हुए कहीं काँटा लग जाता है, तो चिन्ता करते हैं कि कहीं विषैला न हो जाय! काँटा लगनेका इतना दुःख नहीं होता, जितना विषैला होनेका दुःख होता है। होता है जुकाम और डर लगता है दमा होनेका, टी-बी होनेका। संसारी लोगोंको नरककी चिन्ता, स्वर्गकी चिन्ता, वैकुण्ठकी चिन्ता, समाधिकी चिन्ता, ब्रह्माकार-वृत्तिकी चिन्ता! ब्रह्माकारवृत्तिकी चिन्ता ब्रह्मको नहीं है, ब्रह्मज्ञानीको नहीं है।

'आत्मसंस्थं तदा ज्ञानं अजातिसमतां-गतम्'—कोई चिन्ता ही नहीं है। सब प्रकारकी चिन्ता नहीं है। क्यों नहीं है? अमनस्त्वात्। मन ही वहाँ नहीं है, अपना मन ही बाधित हो गया। उस समय ज्ञान? जहाँ एक बार वृत्तिव्याप्ति हुई, अज्ञानकी निवृत्ति हुई, तो ज्ञान-ज्ञानमें स्थित है। आत्मसंस्थं तदा ज्ञानं-ज्ञप्तिमात्र है।

अजाति—कट गयी जाति उसकी। जातिका अर्थ लोग सामान्यरूपसे नहीं समझते हैं। यह समझो कि हजार गायें हैं। कोई काली, कोई पीली, कोई सफेद, कोई लाल। कोई बड़ी, कोई छोटी। कोई दुधार, कोई सूखी। कोई व्याही, कोई अनव्याही। लेकिन गोत्वरूप—सामान्य गायपना सबमें है। इसको बोलते हैं जाति।

एक स्त्री है, तो स्त्री भी मनुष्य ही है, ऐसा नहीं कि पुरुष मनुष्य है, और स्त्री मनुष्य नहीं होती। स्त्री भी मनुष्य है, पुरुष भी मनुष्य है। कोई काला है तो कोई गोरा, कोई मोटा तो कोई पतला, कोई लम्बा तो कोई नाटा। लेकिन मनुष्य सबमें एक है। इसका नाम है 'जाति'। सामान्य माने एक प्रकारकी समानता। गाय जाति अलग है, घोड़ा जाति अलग है, हाथी जाति अलग है, गधा जाति अलग है, बकरी जाति अलग है, मनुष्य जाति अलग है।

एक ज्ञान जाति है। घटज्ञान भी ज्ञान है। पटज्ञान भी ज्ञान है, मठ ज्ञान भी ज्ञान है। ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान! घड़ा छोटा है, बड़ा है, पर घटत्त्व रूपमें एक समानता है। कपड़ा अलग है; काला है, लाल है, पीला है, परन्तु पटत्त्व एक जाति है। इसी प्रकार घट, पट, मठ अलग है; परन्तु घट-जाति है। एक प्रकारका ज्ञान है। इसमें विषय ज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञानमें ज्ञान-जाति एक है। ज्ञान जातिमें ज्ञानका जो विषय है; घट-पटादि वह ज्ञानसे भिन्न नहीं है और स्वयं ज्ञान अजाति है; क्योंकि वह विषय-निरपेक्ष है।

ज्ञान स्वयंमें निरवयव है। उसके अवयव नहीं होते। हिस्से नहीं होते। ज्ञान निर्विषय है। ज्ञान निरहं है। ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान! ज्ञानमें सामान्य नहीं। कई ज्ञान हों, तब न सामान्य होवे! इसलिए 'अजाति'। यह जातिरूप नहीं है, यह तो अखण्ड ज्ञान है। इसको 'अखण्ड ज्ञान' बोलते हैं।

समतां गतम्—इसमें विषमताका नाम नहीं है। यह इसलिए बताया कि प्रकरणके प्रारम्भमें यह प्रतिज्ञाकी थी कि—

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम्। (कारिका २)

हम ऐसा ज्ञान बतावेंगे जो सम है। जाति नहीं है, अजाति है, उत्पन्न ज्ञान नहीं है। घटज्ञानं जातम्, घटज्ञान नष्टम्—घड़ेका ज्ञान पैदा हुआ, घड़ेका ज्ञान नष्ट हुआ; ऐसा नहीं। वह तो घड़ा ही पैदा हाता और नष्ट होता है। ज्ञान तो घड़ेको भी प्रकाशित करता है और घटाभावको भी प्रकाशित करता है। इसलिए अपना जो ज्ञान है, वह तो ज्यों-का-त्यों है! वह तो अहंभावको भी प्रकाशित करता है और अहंके अभावको भी प्रकाशित करता है। तब?

समताम् गतम् का अर्थ है कि उसके समान दूसरी कोई चीज है नहीं,

परन्तु तब जब वह ज्ञान हम खुद हैं। हम स्वयं आकाश होनेपर भी अपनेको आकाश जानते कहाँ हैं ? हम पञ्चभूत होनेपर भी अपनेको पञ्चभूत जानते कहाँ हैं ? आकार-विकार विशिष्ट ही तो जानते हैं ! 'हम यह दाढ़ीवाले हैं'—यह हम विकार विशिष्ट हुए। 'हम दो पाँववाले हैं'—यह हम आकार-विशिष्ट हुए।

बाल शरीरका विकार है। पसीना शरीरका विकार है, नाखून शरीरका विकार है। तो सफेद-काले बालवाला मानना विकार-विशिष्ट होना है। जैसे बहुत लोग होते हैं, कोई 'कुछवाला', कोई 'कुछवाला' ? बम्बईमें तो 'दारू-वाला,' 'ड्रेसवाला,' बड़े-बड़े 'वाला' होते हैं, ऐसे अपनेको देहवाला, प्राणवाला, मनवाला, बुद्धिवाला, सुषुप्तिवाला, अज्ञानवाला मानना, यह सब कार्पण्य है !

कार्पण्य माने यह नन्हा-मुन्ना 'मैं'। अरे, छोड़ भाई ! इस कार्पण्यको। तू अनन्त परमात्मा है। एक चोटमें पकड़ो न ?

एक चोटमें इस बातको पकड़ो कि जितनी चीजें मालूम पड़ती हैं, उनके प्रकाशक, स्वयंप्रकाश, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हो तुम देशके प्रकाशक हो। इसलिए तुम्हारा ओर-छोर नहीं है। तुम देशसे तादात्म्यापन्न होकर लम्बे-चौड़े बनते हो ! तुम्हीं कालसे तादात्म्यापन्न होकर अपनेको अविनाशी, नित्य बोलते हो और तुम्हीं वस्तुसे तादात्म्यापन्न होकर अपनेको सर्वात्मक बोलते हो। तुम तो देश-काल-वस्तुसे भी न्यारे, अविनाशीके भी अविनाशी, नित्यके भी नित्य हो ! 'नित्यो नित्यानाम्'। तुम पूर्णके भी पूर्ण हो—पूर्णस्य पूर्णम्। तुम सबके सब हो ! यह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप और यह कृपणता !

कहो—देहको नहीं छोड़ेंगे ! देहको 'मैं' मानेंगे। इसीलिए श्रुतिमें बताया—

यो वा एतदक्षरं गार्गी अविदित्वा अस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः।

(बृहदा० ३.८.१०)

कृपण कौन ? असलमें कृपण-क्लुपन = कल्पना होता है। संस्कृत भाषामें 'क्लुपन्' शब्द है। क्लुपन् = कल्पना ! अपने मनसे भूतकी कल्पना करके डर रहे हैं। अपने मनसे यह कल्पना करके कि 'हमारे हाथको तो लकवा लग गया। अब हम यह फूल कैसे उठावेंगे ?' चुपचाप बैठे हुए हैं। यह अपने मनकी कल्पना है।

हैं अखण्ड, हैं अनन्त, हैं ब्रह्म और मानते हैं अपनेको परिच्छिन्न ! संसारी, पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी ! तो—

प्राप्य एतत् सर्वः कृतकृत्यो ब्राह्मणो भवति।

अगर यह ज्ञान हो जाय, तो सब-के-सब कृतकृत्य हो जाते हैं। सब-के-सब ब्रह्मविद् हो जाते हैं, ब्रह्मवेत्ता हो जाते हैं। ●

: २६ :

अस्पर्श योग

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥३९॥

अर्थ—निश्चय ही यह अस्पर्श योग नामवाला है जो अन्य सब योगियों द्वारा कठिनाईसे जाना जाता है। योगी लोग इससे डरते हैं। आश्चर्य है कि वे लोग अभय पदमें ही भयका दर्शन करते हैं।

परमार्थका स्वरूप क्या ? जैसे, किसीको बोलते हैं—'परम मधुर,' तो मधुरताकी पराकाष्ठा—यही अर्थ होता है ! ये परम् प्रेमी हैं—माने इनमें प्रेमीपनेकी पराकाष्ठा है। किसीको बोलते हैं'—प्राइम मिनिस्टर; तो इनमें प्राइम = परम। परमका प्राइम हो गया। परम मिनीस्टर। परमाध्यक्ष। मिनिस्टरकी पराकाष्ठा=उससे ऊँचा मिनिस्टर और कोई नहीं होता है। यही न उसका अर्थ है ? तो परमार्थके माने क्या होता है ? जिससे परम, बड़ा, श्रेष्ठ अन्य कोई अर्थ, वस्तु या प्रयोजन न हो, वह परमार्थ है।

अर्थ दो तरहका। प्रयोजनरूप और वस्तुरूप। अपने इस स्वरूपभूत परमानन्दके अतिरिक्त तो और कोई प्रयोजन नहीं है और अपने स्वरूपभूत परमानन्दके सिवा और कोई वस्तु नहीं है। यही है परमार्थ। इसका नाम है 'अस्पर्शयोग।' यह बोलनेकी शैली है, नहीं तो इसको 'स्पर्शयोग' भी बोलते हैं और इसको 'अस्पर्शयोग' भी बोलते हैं।

नामके चक्करमें नहीं पड़ना। एक जगह दो योगी इकट्ठे हुए। एक बोला—'हम हठयोगी हैं।' दूसरा बोला—'हम मन्त्रयोगी हैं। आओ, आपसमें सिद्धि टकरा लें।'

एक बोला—'हम लययोगी हैं'। दूसरा बोला—'हम राजयोगी हैं'।

'अरे, देखो ! हम अभी समाधि लगाते हैं।'

'अरे, तुम समाधि लगाओगे लय करके और देखो, हम समाधि लगा लेंगे विचार करके।'

ये योगी लोग आपसमें टकराते हैं। परमार्थ किसीसे टकराता नहीं। भागवतमें एक जगह आया है—

अस्तीति नास्तीति भिदार्थ निश्चयोः।

एक बोलता है—'परमात्मा है।' और एक बोलता है—'परमात्मा नहीं है।' जो 'अस्ति' बोल रहा है, उसके भीतर बैठा परमात्मा ही 'अस्ति' बोल रहा है। जो 'नास्ति' बोल रहा है, उसके भीतर बैठा परमात्मा ही 'नास्ति' बोल रहा है। 'अस्ति-नास्ति' दोनों आपसमें लड़ते हैं और दोनोंके दिलमें बैठा परमात्मा एक! वह हँसता है कि—'देखो, हम ही आस्तिक बनकर और हम ही नास्तिक बनकर लड़ रहे हैं। लड़ना भी हम, आस्तिक-नास्तिक भी हम और दोनोंसे न्यारे भी हम। विवाद कहाँ है? इसीसे ज्ञानकी विशेषता यह बतायी है—'अविवादो, अविरुद्धश्च'। संसारमें हमारा किसीसे विरोध नहीं है। सबके मतमें यही सत्य विद्यमान् है। और नानारूपसे प्रकाशित हो रहा है, सब मतोंमें और परस्पर विरोधियोंमें भी। बिजलीके दो तार आपसमें छू जाते हैं तो जलते हैं, आग लग जाती है, पर दोनोंमें एक ही बिजली है।

'अस्पर्शयोग'—शब्दका अर्थ क्या है, यह बताता हूँ। यह इसलिए बताता हूँ कि शास्त्रमें इसका नाम कहीं 'अस्पर्शयोग' और कहीं 'स्पर्शयोग' दोनों है। गीतामें स्पर्श बताया है—

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखमश्नुते। (गीता ६.२८)

ब्रह्मका 'स्पर्श' हो रहा है। परन्तु यहाँ 'अस्पर्श' बताया। क्योंकि किसीके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्धरूप स्पर्श इसका किसीके साथ नहीं है, यह विवक्षित है।

सम्बन्धरूप देखो—जैसे हम पापी हैं और हम पुण्यात्मा हैं। यह पाप-पुण्यका स्पर्श हुआ। मेरा पाप और मेरा पुण्य। पाप और पुण्यको मेरा मानना ही पाप और पुण्यका स्पर्श है। इसी प्रकार 'मैं सुखी हूँ,' 'मैं दुःखी हूँ'। यह क्या है? यह सुख और दुःखका स्पर्श है।

अस्पर्शयोगो वै नाम—अर्थात् यह जो आत्मा है, यह जो ब्रह्म है, उसके सामने कितने सुख आये और मटियामेट हो गये। सुख कभी पति बनकर आया, तो कभी पुत्र बनकर आया, कभी धन बनकर आया। सुख बहुरूपिया है। इस सुख सरीखा गुंडा दुनियामें और कोई नहीं है। भला मानुस बनकर आता है। मजा देनेके लिए आता है और बादमें सब कुछ लेकर, ठगकर, आदत बिगाड़कर भाग जाता है।

कोई सुख रह गया तुम्हारे साथ? सटा तुम्हारे साथ कोई? हम अपनेको बड़े संस्कारी मानते हैं न कि 'हम बड़े संस्कारी हैं। अरे भाई! एक

मात्रा तक ही संस्कार रहता है। नहीं तो सब संस्कार चौपट होजाते हैं। संस्कार चौपट होने पर रोते हैं। पहले संस्कार बनाते हैं। एक सज्जनने यह संस्कार बनाया कि हम अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करेंगे। और फिर सबसे श्रेष्ठ होंगे दुनियामें ! एक दिन उनको स्वप्नदोष होगया। हाथ रख लिया सिर पर और रोने लगे कि—'हाय-हाय ! सब साधना नष्ट होगयी। भ्रष्ट होगयी !'

देखो, खुद संस्कार बनाया और उसको अपने कलेजे पर भार बनाया। फिर उसके लिए रोने लग गये। यह स्पर्श आत्मामें नहीं है, बिलकुल नहीं है। आप फक्कड़ोंसे बात सुनेंगे तो पता चलेगा। श्रीउड़ियाबाबाजीको एकने आकर पूछा। पूछनेवाले अभी जिंदा हैं, साधु हैं—उसने अष्टादशाक्षर मंत्रका अनुष्ठान किया, मौन अवस्थामें। अब उसको होगया स्वप्न-दोष ! वह रोता हुआ आया बाबाके पास कि—'बाबा, स्वप्नदोष होजाता है, क्या करें ?'

बाबा बोले—'अरे बावरा ! जैसे शरीरमें दूसरा पानी रहता है, वैसे यह भी पानी है। निकल गया। घड़ा छलक गया ! इसके लिए रोता क्या है ? तूने अपने मनसे इसको महत्त्व दिया और अपने मनसे दिये हुए महत्त्वके घटनेसे रोता है ?'

कैसे आप बनाते हैं संस्कार ? 'इसमें सुख है,' 'इसमें सुख है।' चला जाय तो रोवें। और 'इसमें दुःख है,' 'इसमें दुःख है—'वह आ जाय तो रोवें ? आत्मा वह चीज है, 'अस्पर्शयोगः'—न उसे सुख छूता है न दुःख छूता है। अपने एक-एक रोएँमें करोड़-करोड़ नरक-स्वर्गकी कल्पना करके बैठे हैं ? उनसे अपना क्या बनता-बिगड़ता है ?

अस्पर्शयोगका अर्थ है, मनने ही कभी नहीं छुआ हमको। कितनी बार पैदा हुआ और कितनी बार मर गया ? कितनी बार सोया और कितनी बार जग गया ? दिनभरमें हजार बार भाग जाता है बन्दरको तरह और फिर भी कहते हो, 'यह हमारा है।' पकड़ो उसको, बढ़िया चारा खिलाओ, अपने पास इसको बाँधो।

अस्पर्शयोगो वै नाम—अरे मन तुमको एक बार भागनेका मन होता है तो तुम हजार बार भाग जाओ ! कहाँ तुम हमारे बेटे हो ? कहाँ तुम हमसे पैदा हुए हो ? क्या तुम्हारे साथ हमारा ब्याह हुआ था ? क्या तुम हमारे माँ-बाप हो ? अरे, जाता है, तो जा ! अस्पर्श—तू मेरा है ही नहीं। न मेरा तू, न तेरा मैं। न मैं, न तू। इसको अस्पर्शयोग बोलते हैं छूना नहीं किसी चीजको

मायाने क्या कभी अपनेको छू लिया ? जादूके खेलने क्या कभी अपनेको छू लिया ? न माया छूती है, न छाया छूती है। बोलते हैं कि 'हम छाया पड़नेसे काले होगये। मद्रासमें पहले ब्राह्मणलोग हरिजनोंकी छाया पड़ती तो स्नान करते थे। वे कहते कि 'हम छाया पड़नेसे अशुद्ध हो गये। छाया कहीं लगती है शरीरमें ? खुद छाया बनायी और खुद अपनेको अशुद्ध बनाया और फिर रोने लग गये कि—'हाय-हाय, आज तो हमपर छाया पड़ गयी।' यह बात देखनेकी होती है।

माया-अविद्या। कहाँ अविद्या रहती है, बताओ तो ? स्वयं प्रकाश तुम ! सुषुप्तिके भी प्रकाशक तुम। अविद्याके भी प्रकाशक तुम ! 'मानि-मानि बंधनमें आयो !' कभी सूर्यने अंधकारको छुआ ? कभी सूर्यमें बदली हुई ? अरे ! आँखमें बदली होती है और सूरजमें मानते हैं।

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढन्न।

सूर्य बदलीसे असंस्पृष्ट है। आत्मदेव मायासे, छायासे असंस्पृष्ट है, अविद्यासे असंस्पृष्ट है। न इसमें कभी आनन्दमय कोश मेरा हुआ, न मैं हुआ। न विज्ञानमय कोश, न मनामयकोश, न प्राणमय कोश और न तो अन्नमयकोश कभी मेरा हुआ, न मैं हुआ। 'यह मेरा मन' और 'यह मेरा सुख' 'यह मेरा मन' और 'यह मेरा दुःख' 'यह मेरा मन' और 'यह मेरा मकान'—अरे, जरा-सी धरती डोल जाती है तो जिसे बनाया और जिंदगीभर मेरा-मेरा किया, वह मकान गिर जाता है, ढह जाता है।

एक डॉक्टर ने हमको बताया कि हम लोगोंके पास इंजेक्शनमें एक ऐसी चीज होती है—चीज कोई डालते नहीं हैं—इंजेक्शन लगानेका तरीका ऐसा है कि उसमें कोई दवा डालनेकी जरूरत नहीं है और आदमी मर जाय। और फिर जाँच करते रहो ! किसी सिविल-सर्जनको पकड़में नहीं आ सकता कि आदमी कैसे मरा है। क्योंकि जहर तो है नहीं उसमें। इसी शरीरको मानते हैं 'मेरा' और इसी शरीरको 'मैं' मानते हैं जाँच करनेसे पकड़में नहीं आता !

अस्पर्शयोगका अर्थ है, अपनेसे अन्य कोई चीज है ही नहीं तो हमको छुएगी कैसे ? हममें कोई गोंद है नहीं, लस्स है नहीं, तो हम किसीके साथ चिपकेंगे कैसे ?

यह वेदान्त विज्ञान वेदान्तविद्या ब्रह्मात्मविज्ञान अस्पर्शयोग है। नाम = प्रसिद्ध। वेदान्तमें यह बात प्रसिद्ध है।

'दुर्दशः सर्वयोगिभिः'—योगीलोग जितने हैं—मंत्रयोगी, लययोगी, हठयोगी, राजयोगी, महाराजयोगी, महाराजाधिराजयोगी, समर्पणयोगी, अधिराजयोगी, पूर्णयोगी ! उनके लिए यह अस्पर्श योग दुदर्शी है। अरे महाराज, कुछ रख लो उसका नाम, जो योग चाहता है। 'भविष्यमें हमारी यह स्थिति होवे'—यह योग चाहना है। 'हम अमुक जगह पर पहुँच जायँ'—यह योग चाहना है। 'हमें अमुक चीज मिल जाय'—यह भी योग चाहना है। किसी भी अप्राप्तकी अपनेमें कल्पना करके उसको पानेकी इच्छा करना योग चाहना है। अप्राप्त कुछ नहीं है, फिर भी अपनी पूर्णतामें अपूर्णताकी कल्पना करके जब उसकी चाहके लिए हम प्रयत्न करने लगते हैं—तो हम योगमें चले जाते हैं। ऐसा प्राणायाम हो, ऐसा ध्यान हो, ऐसी धारणा होवे, कोई पाँच मिनटमें हमारा ध्यान लगवा दें, तो फिर जाकर दुकानमें काम कर लें। इसको शक्तिपात बोलते हैं।

अरे, हम लोगोंकी तो सैकड़ों शक्तिपातकोंसे जानपहचान है। उनसे मिलना-जुलना है। हम उनकी सब कारस्तानी, सब करतूत पहचानते हैं। जो शक्तिपात करे, उसको शक्तिपातक बोलते हैं, आप 'पातक' शब्दको 'पाप' शब्दसे मत जोड़ लेना।

'सर्वयोगिभिः'—जो किसीसे योग चाहता है कि हमारी यह वृत्ति हमेशा बनी रहे, मनोवृत्तिकी यह स्थिति हमेशा बनी रहे, देशके सम्बन्धमें यह लोक हमेशा बना रहे, कालके सम्बन्धमें यह परिस्थिति हमेशा बनी रहे उसके लिए अस्पर्श दुर्दर्श है। जैसे 'हमारा दोस्त,' 'हमारा दोस्त' बोलते हैं राजनीतिमें 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' जैसे बोलते हैं, दुनियामें सारा सम्बन्ध वैसा ही है। सुषुप्ति के साथ भी वैसा ही सम्बन्ध है। कहो तुम कि—'आ जा समाधि ! लगी रहो ! आ जा सुषुप्ति ! बनी रहो। जाग्रत् ! रहो यहाँ।'—यह असम्भव है।

'दुर्दशः'—जो योग चाहता है, वह इस बातको नहीं समझता। वेदान्त दर्शनके मूलमें यह सूत्र आया है—

एतेन योगः प्रत्युक्तः (ब्र० सू० २.१.३)=सांख्यके निराकरण करनेसे योगका भी निराकरण कर दिया है। इसी प्रकार यहाँ भी वेदान्तके अतिरिक्त सभी मत और साधनवादियोंके लिए दुर्दर्श बताया है। क्यों ? क्योंकि उनकी श्रवणमें रुचि ही नहीं होगी। वे यह नहीं सोच सकते कि शब्दसे अपरोक्ष साक्षात्कार होगा। वे कहेंगे कि अनुमानसे अपरोक्ष साक्षात्कार होगा; उपमानसे, अर्थापत्तिसे, अनुपलब्धिसे, समाधिसे, ध्यानसे, सांस रोकनेसे, रीढ़ सीधी करनेसे, सिर सीधा रखनेसे साक्षात्कार होगा। माने हड्डीमें तत्त्वज्ञान होगा।

कोई कहेंगे—'यह करनेसे वैकुण्ठमें जायेंगे, वह करनेसे गोलोकमें जायेंगे। स्पर्श है वहाँ ! जो योग चाहेगा, उसके लिए ज्ञान कठिन है, दुर्दर्शः है। क्यों ? क्योंकि प्रमाणके द्वारा ज्ञान होता है, यह बात उसकी बुद्धिमें आवेगी ही नहीं। वह तो यह कहेगा—'निष्काम कर्म करेंगे, तब आत्माका ज्ञान होगा। निष्काम उपासना करेंगे, तब आत्माका ज्ञान होगा। चित्तवृत्ति शान्त होगी, तब आत्माका ज्ञान होगा।'

यह तो, अपने-आपको उठा कर अपनेसे दूर आलेमें रख देगा। 'दुर्दशः सर्वयोगिभिः।' श्रवणमननादिके क्लेशसे बचनेको वह कोशिश करेगा और श्वास बन्द करेगा।

योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः।

योगीसे ऐसे ही बता दो कि—'तुम परब्रह्म परमात्मा हो।' वह डर जायगा। 'हाय-हाय-हाय ! अरे, ऐसे तो मन चंचल हो जायगा। ऐसे तो मनमें वासना आ जायगी। वैसे तो शरीरसे अनाचार हो जायगा।' जो योग चाहने वाला है, वह डरता है। इस नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माके ज्ञानसे। 'हाय रे ! हमसे ऐसा न हो जाय ! हमसे वैसा न हो जाय ! हम दुःखी न हो जायँ।'

अबतक तो तुम दुःखी हुए नहीं ! झूठे ही याद करते हो उस सपने की। आज तक कभी तुमको कोई दुःख नहीं हुआ है। जो याद आती है, बिलकुल सपनेकी याद आती है। और आगे कभी दुःख नहीं होगा। मनोराज्यका दुःख होता है। कोई सम्बन्ध नहीं।

'दुर्दशः सर्वयोगिभिः'—महात्मा लोग कहते हैं कि बेवकूफीके सिवाय दुःखी होनेका संसारमें और कोई कारण नहीं है। डर रहे हैं योगी लोग। क्यों ? क्योंकि सम्पूर्ण भयसे रहित तो यह अस्पर्शयोग है। परन्तु वेदान्त-विज्ञानके अभावके कारण, आत्मसत्यानुबोध न होनेके कारण वे डरते हैं।

अभये भयदर्शिनः - अभयपदमें भय कहाँ ? जहाँ कोई दूसरा है ही नहीं कमजोर मनके आदमीको कभी एकान्तमें छोड़ दो, तो दिनमें डरते हैं। कहते हैं—दोपहरी साँय-साँय बोल रही है। अकेले घरमें रहना हो, कमरेमें अकेले रहना, तो डरते हैं। परन्तु कोई-कोई चाहते हैं कि वह समय कब आवेगा, जब एकान्तमें बैठनेके लिए, भगवद्भजन करनेके लिए स्थान मिलेगा ! और किसी दूसरेको एकान्त कमरेमें बन्द कर दो तो उनको काम-क्रोध-लोभ सतावेगा कि हाय-हाय ! राम-राम ! हम अकेले बैठे हैं। और चार आदमी आकर बैठ जायँ तो वही कहेंगे कि ये लोग शान्ति नहीं लेने देते। दोनों हालतमें दुःखी ! इसको बोलते हैं, दुःखग्राही अन्तःकरण। कहेंगे कि लोग घेरे रहते हैं।

चले जायँ तो कहेंगे कि—'एकाकी जीवन है। एकान्त काट रहा है।' जंगलमें ले जाकर बैठा दो तो ? खूब-खूब उनको तसल्ली करवा दो कि यहाँ कोई शेर नहीं है, कोई भालू-गीदड़-सांप नहीं है, कोई भूतप्रेत नहीं है, तो बोलेंगे—'हमको तो बाबा ! डर लगता है।'

ब्रह्म भी वैसा ही है। एकाकी शान्त है। यहाँ पीठकी रीढ़ सीधी नहीं, यहाँ प्राणायाम नहीं, साँस तो चलती ही नहीं, साँसकी जरूरत नहीं। 'यह मन ऐसा हो गया, यह मन वैसा हो गया—ऐसा कोई चक्कर नहीं। इस अभयमें भयदर्शी होनेके कारण वे यही कल्पना करते हैं कि—'इस शून्यमें तो हम मर जायेंगे।'

योगिनो बिभ्यति यस्मात्—योगी माने ? गृहस्थ। दोके सिवा हम रहेंगे कैसे ? योगीका मतलब है 'संयोगी।' बापने कहा—'हम बेटेके सिवा कैसे रहेंगे ?' सासने कहा—'हम बहूके सिवा कैसे रहेंगे ? बूढ़े हो जायेंगे तो पानी कौन देगा पीने को ?' यह बहूके बिना सासका डर हुआ। पतिने कहा—'हम पत्नीके बिना कैसे रहेंगे ?' यही डर है।

योग = बिना प्रकृतिके योगके, अगर प्रकृति निष्क्रिय होकर हमारे साथ नहीं रहेगी, निर्मनस्क और निरहं होकर हमारे साथ नहीं रहेगी, अगर प्रकृति हमारे अन्दर समाकर नहीं रहेगी, तो भला हम क्या ब्रह्म ?' अपनी ब्रह्मताको प्रकृतिकी कृपापर छोड़ बैठना कि—'वह ऐसे रहे, तो हम ब्रह्म और वह ऐसे न रहे, तो हम ब्रह्म नहीं !' अपनी ब्रह्मताको प्रकृतिकी कृपापर छोड़ रखना, मायाकी कृपापर, वृत्तिकी कृपापर, बुद्धिकी कृपापर छोड़ देना, यह उत्तम नहीं है।

अरे, कहो भाई ! 'जा तू !' गाली देकर गाँवकी भाषामें बोलेंगे। हमको किसीने यहाँ एक बार बताया था कि गुजराती लोग गाली देकर बोलना अच्छा नहीं समझते हैं। हम लोग तो बाबा ऐसे ही फक्कड़ोंके पास रहे ! एक महात्मा था, वह अपने मुँहसे 'माया' शब्द बोलता ही नहीं था। वह 'छिनार' बोलता था। हम उनके पास सत्संग करनेके लिए जाते थे।

वह महात्मा प्रकृतिको 'प्रकृति' नहीं बोलता था, मायाको 'माया' नहीं बोलता था, 'छिनार' बोलता था। 'जा छिनार जा ! जैसो तेरी मौज वैसे रह ! जा, हमारा-तुम्हारा कोई नाता नहीं, कोई रिश्ता नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं ! अरे, तू है ही नहीं कुछ !' इसको 'अस्पर्शयोग' बोलते हैं। 'अभये भयदर्शिनः।'

●

: २७ :

मनोनिग्रह किसके लिए और कैसे ?

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥४०॥
उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥४१॥

अर्थः—(अस्पर्शयोगीको छोड़कर) अन्य सभी योगियोंके अभय, दुःख-नाश, ज्ञान और अक्षय शान्ति मनोनिग्रहके अधीन हैं ॥४०॥ जैसे कुशाके अग्र-भागसे एक-एक बूंदके द्वारा समुद्रको उलीचा जा सकता है, उसी प्रकार सब प्रकारकी खिन्नताओंको छोड़कर मनका निग्रह किया जा सकता है ॥ १॥

शंकराचार्य भगवान्‌का कहना है कि जिनको यह मालूम हो गया कि आत्मा तो है ब्रह्म और यह सम्पूर्ण प्रपञ्च रज्जुसर्पवत् कल्पित भासता है; मन भी रस्सीमें साँपकी तरह कल्पित ही भासता है और इन्द्रियाँ भी रस्सीमें साँप की तरह कल्पित हो भासती हैं—उनकी कोई परमार्थ-सत्ता नहीं है, वह तो बस, ब्रह्म ही है !

आज मैं 'प्रजापति-सूक्त' पढ़ रहा था। ऋग्वेदमें है। उसमें आया—

यस्य छाया अमृत यस्य मृत्युः ।

अमृत और मृत्यु दोनों जिसकी छाया हैं। छाया वस्तु नहीं होती। पेड़की छायामें कोई वजन नहीं होता। उसकी लम्बाई नहीं होती सबेरे कुछ और दोपहरको कुछ ! विरक्तके लिए मृत्यु कुछ और रागीके लिए मृत्यु कुछ ! विरक्तके लिए अमृत कुछ और रागीके लिए अमृत कुछ ।

यह क्या है ? बिलकुल परछांई है। सबेरे कुछ और शामको कुछ ! इसको बोलते हैं छाया। इसमें बन्धनरूप मृत्यु और मोक्षरूप अमृत, ये दोनों कल्पित हैं। न इसमें बन्धन है न मोक्ष है। 'प्रजापति-सूक्त'का अभिप्राय हुआ—'अमृत और मृत्यु दोनों जिसमें छाया है, माने अध्यस्त हैं, अध्यारोपित हैं, कल्पित हैं, उसमें न बन्धन है, न मुक्ति है। ऐसे जो हैं, उनके तो स्वरूपमें मोक्ष अध्यस्त ही है, कल्पित ही है। अध्यस्त तो अधिष्ठानको छोड़कर कहीं

जायगा नहीं। अक्षय शांति बैठी है उनके स्वरूपमें स्वभावसे। उनके लिए कह दिया—'नोपचारः कथंचन।' उनके लिए कोई कर्तव्य नहीं है।

शंकराचार्य कहते हैं—'नोपचारः कथंचन इत्यवोचाम।' लेकिन, सब बात उत्तम अधिकारीके लिए ही तो नहीं होती न ? क्या हुआ ?

ये त्वतोऽन्ये योगिनो साधनमार्गगा हीनमध्यमदृष्टयोः।

इतनी बढ़िया बात भी जिनकी समझमें नहीं आयी उनकी क्या बात ? आपने सुना होगा—गुरुके पास आये चेला जी ! 'महाराज, हमें तत्त्वज्ञान चाहिए ! गुरुने कहा—'बेटा, तत्त्वमसि।' तू ब्रह्म है ! तुझे ज्ञान चाहिए क्यों ? तू तो सबका प्रकाशक है।

एक महात्माने बताया था—'ज्ञानकी इच्छा करना माने अपनेको अज्ञान मानना। फिर ज्ञानकी इच्छा क्या ? ज्ञानकी प्राप्ति क्या ? खूब जाँच-पड़ताल कर लो कि मेरे सिवाय कोई दूसरा ज्ञानस्वरूप नहीं है; कोई दूसरा जीव न ज्ञानस्वरूप है न कोई दूसरा जगत् ज्ञानस्वरूप है, न कोई दूसरा ईश्वर ज्ञान-स्वरूप है; खूब जाँच-पड़ताल कर लो। जो दूसरा होगा, वह तो ज्ञेय हो जायगा, जड़ हो जायगा।

'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'—यह जाँच पड़ताल कर लेनेके बाद ज्ञानकी इच्छाका कट जाना ज्ञानकी प्राप्ति है। ज्ञानकी इच्छाका पूरा होना, ज्ञानकी प्राप्ति नहीं है।

एक बार हमलोग काञ्ची कामकोटि-पीठके शंकराचार्यके पास गये थे। कोई प्रसंग चला—

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः।

वे जो बोले वैसे तो वह आदि शंकराचार्य भगवान्ने 'ब्रह्मसूत्र'के अपने भाष्यमें लिखा हुआ है। वे बोले—दृष्टव्य क्या ? आत्माका दर्शन हो सकेगा ? ब्रह्म दृष्टिका विषय जो दर्शनके योग्य नहीं है ब्रह्म, और जो दर्शनके योग्य नहीं है आत्मा ! (अपरिच्छिन्न अनन्त तत्त्व भी दर्शनके योग्य नहीं होता और प्रत्यक् चैतन्य भी दर्शनके योग्य नहीं होता) उसके लिए यह 'दृष्टव्यः'का प्रयोग क्या ! यह प्रश्न उठाया।

उन्होंने कहा—इसका अभिप्राय यह है कि—'अनात्मा न दृष्टव्यः। ब्रह्मातिरिक्तको नहीं देखना, आत्मातिरिक्तको नहीं देखना। यही वहाँ 'दृष्टव्य' पदका अर्थ है। वहाँ 'ब्रह्म' या 'आत्मा' को 'दृष्टव्य' पदका विषय बनाना, यह

अर्थ नहीं है। ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें शंकराचार्य भगवान्‌ने यह बात बिलकुल स्पष्ट लिखी है। तलवारसे लोहा काटनेका आदेश है तलवार तोड़ डालो; क्योंकि तलवारसे लोहा कट नहीं सकता।

जो रास्तेमें है और हीनदृष्टि है, मध्यमदृष्टि है उनके लिए मनोनिग्रह योग है। कोई-कोई 'अहं' भी ऐसा होता है कि यदि सुन ले कि 'यह हीनदृष्टिका साधन है' या 'मध्यमदृष्टि'का साधन है, तो करनेके लिए राजी नहीं होता। क्यों? कि 'हम तो उत्तमदृष्टि हैं।'

अरे! उत्तमदृष्टि हैं तो करनेकी क्या जरूरत क्या है? अज्ञान क्यों है? दुःख क्यों है? पाप क्यों है? यदि उत्तमदृष्टिके हो, तो इसी समय तुम्हें ज्ञान होके अज्ञानकी निवृत्ति क्यों नहीं हो जाती? तुम अपनेको इसी समय ब्रह्म क्यों नहीं जान लेते? हम तो हजार बार कहते हैं कि 'तुम ब्रह्म हो।'

महात्माने कह दिया—'तत्त्वमसि।' तो शिष्यको सन्तोष नहीं हुआ यह कहनेसे। 'अरे, ओ महाराज, हमने किताबोंमें बहुत पढ़ा है कि 'तत्त्वमसि-तत्त्वमसि' वही तुमने कह दिया? यह तो कुछ नहीं हुआ।

'अच्छा भाई, ऐसा है? सीताराम!'

'नहीं, किसी और अच्छे गुरुके पास जायेंगे। पहुँच गये अयोध्याजीमें। अयोध्याजीमें यह नियम है कि बारह बरस तो पहले बर्तन माँजे, फिर बारह बरस रोटी बनावे; अयोध्याके कोई हो तो जानते होंगे। मैं कल्पना करके बात नहीं कर रहा हूँ। हमारे एक बी०ए० पास थे 'गिरिधारी बाबा'। वे अयोध्यासे आये। वे रहे वहाँ वैष्णव बनकर 'बिन्दुजी'के यहाँ। वृन्दावन वाले बिन्दुजी नहीं। अयोध्यामें दूसरे बिन्दुजी थे।

बिचारेका हाथ बिलकुल सड़ गया। बारह बरस बर्तन माँजना, बारह बरस रोटी बनाना, बारह बरस कोठार सम्भालना। तब छत्तीस बरसके बाद उन्हें 'महंत' पदकी प्राप्ति हुई। पहले 'सेवक', फिर पाचक, फिर कोठारी, फिर बारह बरस तक 'महंत' पदकी प्राप्ति। इसके बाद ४८ बरसके बाद, 'श्रीमहंत' पदकी प्राप्ति अब वह महाराज पहुँच गये, तो बारह बरस खूब बर्तन मँजवाया, खूब सेवा करवायी। फिर बोले—महाराज! अब तो बता दो! क्या बात है?'

'तत्त्वमसि। तू ब्रह्म है।'

बोले—'हे भगवान्! यह तो पहले ही दिन बताया था। बारह बरस यह गोबर क्यों पथवाया?'

तो, हीनमध्यमदृष्टयो: । मनसो निग्रहायत्तम—जो हीनदृष्टि हैं, जो यह पूछते हैं कि कौन-सा कर्म करें तो मुक्ति होगी ? यह हीनदृष्टि है। 'कौन देवता खुश होकर हमें ज्ञान देगा ?' यह मध्यमदृष्टि हुई। गुरुने कहा कि 'बेटा ! तू ही ही है' और काम बन गया तो यह उत्तमदृष्टि हुई। आप लोग अपनेको हीन-मध्यम-दृष्टि तो स्वीकार नहीं करेंगे ! आप तो कहेंगे। 'हम उत्तम अधिकारी हैं।'

अरे भाई ! आप उत्तम अधिकारी नहीं हैं, आप तो स्वयं सर्वोत्तम हैं। हम आपको ब्रह्म मानते हैं, पर उत्तम अधिकारी नहीं मानते। हम जानते हैं कि आप ब्रह्म हैं।

फिर बोले कि—मन तो फँस गया है; संसारके सुखमें–भोगमें मन फँस गया है कि इतना भोग न मिले तो सुख नहीं; इतना धन न मिले तो सुख नहीं। इतना काम न करें तो सुख नहीं। इतना ऊँचा पद न हो, तो सुख नहीं। यह सम्बन्ध मान लिया।

मनको अपना सम्बन्धी मानना अज्ञानको अपना सम्बन्धी मानना, यह सबसे बड़ी गड़बड़ है। अब कैसे उसे छुड़ावें ? आओ, छुड़ाना तो पड़ेगा। मनोनिग्रहका प्रसङ्ग आता है।

उत्तमदृष्टि, मध्यमदृष्टि और हीनदृष्टि—ये तीन प्रकारके अधिकारियों का वर्णन पहले किया गया था—

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टय:।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥ कारिका १६॥

गौडपादाचार्यजीने पहले ही कह दिया—दृष्टि होती है तीन प्रकारकी—अधिकारी हैं तीन प्रकारके। वैसे लोग अपनेको हीन–मध्यम अधिकारी स्वीकार नहीं करते हैं। इसका फल यह होता है कि उतम साधनमें तो स्थिति नहीं होती, उत्तमदृष्टिमें स्थिति होती और हीन-मध्यम दृष्टि स्वीकार करके साधन नहीं करते।

यतो भ्रष्ट: ततो भ्रष्ट: ।

इधरसे भी गये और उधरसे भी गये। साधनके मार्गमें सबसे बढ़िया तो यह होता है कि पहले अपनेको हीनदृष्टि स्वीकार करके साधन प्रारम्भ किया जाय और धीरे-धीरे मध्यमदृष्टि आ जाय, फिर उत्तमदृष्टि आ जाय ! उत्कर्ष

हो जाय। पहले ही अपनेको जब उत्तमदृष्टि स्वीकार करेंगे, तो बादमें अपकर्ष होगा। उत्तमसे मध्यममें आना पड़ेगा, मध्यमसे हीनमें आना पड़ेगा।

इसीलिए साधकको गुरुकी जरूरत पड़ती है। यह माया ही ऐसी है कि अनजाना रास्ता है, अनदेखा साजन है। अगर दूसरेकी मदद नहीं लोगे, तो उसके पास पहुँचना मुश्किल है। 'हम सबसे श्रेष्ठ, हम सबसे श्रेष्ठ, !' यह अहम्-अहमिका गिरा देती है रास्तेसे।

एक जगह कहीं साँप दिख रहा था। एकने कहा—'लाठी लाओ, लाठी ! इसको मारेंगे।'

दूसरेने हाथ जोड़के कहा कि—'हे नागदेवता। कृपा करके यहाँसे सरक जाओ ! सब लोग प्रार्थना करो !'

तीसरेने कहा कि—'नहीं, नहीं। कुछ नहीं। सब चुपचाप बैठ जाओ। छेड़छाड़ मत करो। तुम आँख बन्द करके बैठ जाओगे, तो ये अपने-आप ही चले जायेंगे। बोलना नहीं, हिलना नहीं, डोलना नहीं। बैठ जाओ चुपचाप !'

चौथेने कहा—'बाबा ! हम तो जाँच करेंगे, साँप है कि नहीं है।'

जो लाठी लेने गया मारनेके लिए, वह कर्मी हुआ। है उद्योगी; पुरुषार्थ-शील, परन्तु जब वह लाठी लेने गया मारनेके लिए, तो उद्योगी हो गया। वेदान्ती लोग इसे बड़ी दिल्लगी, मजाककी भाषामें बोलते हैं।

एक आदमी बैठा था चुपचाप। उससे किसीने आकर कहा—'अरे, तुम बैठे हुए हो ? मैंने देखा है, वह कौआ तुम्हारा कान ले गया है, वह कान खा जायगा।'

उस सज्जनने हाथ उठाके अपने कानकी तो जाँचकी नहीं कि है कि नहीं है, और लेकर लाठी वह कौएके पीछे दौड़ा कि कहीं ले न गया हो ! यह बड़ा उद्योगी है, बड़ा पुरुषार्थी है, लाठी लेकर दौड़ता है, पर अपने कानकी जाँच नहीं करता है कि कान है कि नहीं है।

वह लाठी लेने तो दौड़ा पर यह नहीं देखा कि साँप है भी कि नहीं है।

दूसरेने कहा कि—'हे नागदेवता ! तुम तो हमारे कुलके पूज्य हो !' कुलदेवताओंमें एक नागदेवता भी हैं। ऐसे लोग हैं। देवीजी हैं, हनुमानजी हैं, भैरवजी हैं, बीस-बीस कुलदेवता होते हैं। हमने एक घरमें देखा बीस-बीस मूर्ति लगायी हुई थीं। बीसों पर चाँदीके छत्र चढ़े हुए थे। बीसोंकी फूल-पूजा रोज होती थी।

उस दूसरे सज्जनने हाथ जोड़के अपने कुलदेवताको कहा—'हम पीढ़ी-दर पीढ़ीसे तुम्हारी पूजा करते आ रहे हैं।' वह तो हाथ जोड़कर खड़ा रहा।

एकने लेकर टॉर्च डाली रोशनी कि 'यह तो साँप है ही नहीं।' तो उत्तम-दृष्टि कौन हुआ? जिसने पहचान लिया कि 'यह रस्सी है, साँप नहीं है।' जो आँख बन्द करके बैठा, वह योगी हुआ। हाथ जोड़के बैठा वह उपासक हो गया। लाठी लेनेके लिये दौड़ा कि 'मारेंगे,' वह कर्मी हो गया।

हमें क्या निवृत्त करना है, इस बात पर विचार करना चाहिए। किसी-किसीको यह मालूम पड़ता है कि कर्मसे ही बन्धन है।

कर्मणा बध्यते जन्तुः ।

तो कहेंगे—'भाई, जब तक कर्म-धर्मके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करके ऐसा धर्म नहीं करेंगे कि उसका अक्षय फल होवे, तब तक बन्धन कैसे कटेगा?'

किसीने कहा—'भाई, बन्धन तो वासनाका है तो कहेंगे—जबतक वासना नष्ट नहीं करोगे, निर्वासिन नहीं होगे, उपासना नहीं करोगे, तबतक कैसे बनेगा?'

उन्होंने कहा—'नहीं-नहीं, यह सारा दोष तो मनकी चंचलताका है। जब-तक मनको स्थिर नहीं करेंगे, तबतक कार्य नहीं बनेगा। बोले-ठीक है आओ, मनको स्थिर करें।

उन्होंने कहा—'यह सारा दोष तो अज्ञानका है। बोले—ठीक है, जबतक ज्ञान प्राप्त नहीं करोगे, तबतक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होगी।'

तुम अपनेको बद्ध कैसे मानते हो? कर्मके सम्बन्धसे अपनेको बद्ध मानते हो? वासनाके सम्बन्धसे अपनेको बद्ध मानते हो? चित्तकी चंचलताके सम्बन्ध-से अपनेको बद्ध मानते हो? कि केवल अज्ञानमात्रसे बन्धन मानते हो? जब श्रुति कहती है कि—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

केवल उसको जान लेनेसे ही मृत्युका अतिक्रमण होता है।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः ।

परमात्माके ज्ञानसे सारे पाशोंकी, बन्धनोंकी फंदोंकी निवृत्ति हो जाती है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। ब्रह्मकी ज्ञानकी जिज्ञासा करो, इच्छा करो। क्यों?

'अनावृत्तिः शब्दात्'। अन्तमें अनावृत्तिका वर्णन है। तो अनावृत्ति फल है और जिज्ञासा साधन है—तब इसका अभिप्राय यह हुआ कि—अर्थसे, तात्पर्यसे यह सिद्ध हुआ कि बन्धनका कारण केवल अज्ञान है। अपने स्वरूपको न जानने-के कारण अर्थात् अज्ञान-सिद्ध अध्यास है। जब श्रुति कहती है कि—ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर ही मुक्ति होती है, तो यह सिद्ध हुआ कि बन्धन अज्ञान सिद्ध है। अध्यास अज्ञानसिद्ध है।

नीहारेण प्रावृताः जल्प्याः असुतृपः उक्थ शासश्चरन्ति।

वेद भगवान्ने कहा—'कुहासे से आँख ढँक गयी है—नीहारेण प्रावृता।' जल्प्या = केवल बकवाद करते हैं। असुतृपः = इन्द्रियोंकी तृप्तिमें लगे हुए हैं। उक्थ शासः = केवल कर्मका कानून मानते हैं। चरन्ति = इस तरह दुनियामें भटक रहे हैं।

इस तरह जो उत्तमदृष्टि हैं, उन्होंने जान लिया। कि बन्धन अध्यास-सिद्ध है, अध्यास अज्ञानसिद्ध है, और तत्त्वज्ञानसे उसकी निवृत्ति होती है। तत्त्वज्ञान भी ऐसा नहीं कि जैसे आँखसे घड़ेको देखते हैं, वैसे। ये बेवकूफ लोग होते हैं, वे दोनों हालतमें मारे जाते हैं। वे कहते हैं कि, 'जब हम आँख खोलते हैं तो घड़ा दिखता है और आँख बन्द करते हैं तो अन्धेरा दिखता है। तो यह घड़ा ब्रह्म है कि अन्धेरा ब्रह्म है?

अरे बाबा! न घड़ा ब्रह्म है, न अन्धेरा ब्रह्म है। दोनोंको जो देखनेवाला है, दोनोंका जो प्रकाशक है, सो ब्रह्म है।

हमारे एक मित्र हैं। बहुत बुद्धिमान् पुरुष हैं! उनका एक पंथ है—'राधास्वामी दयाल'के पंथवाले उनको मिले। उन्होंने यह बताया कि 'ध्यान आँखके नीचे तो करना ही नहीं चाहिए। आँखसे ऊपर आज्ञाचक्रसे ध्यान शुरु करो। फिर आज्ञाचक्रके ऊपर चन्द्रलोक है, सोहंग है, फिर वोहंग है, फिर सोऽहंकी बांसुरो बजती है। राम नीचे है, कृष्ण ऊपर है, लेकिन दोनों मायाके फेरमें ब्रह्माण्ड-मण्डलमें पड़े हुए हैं। इसके ऊपर दिव्य देश है, अगम लोक है, अलख लोक है; भँवर गुफाके ऊपर त्रिपुटी, बंकनालसें और ऊपर जानेके बाद अगम लोक, अलख लोक-चारों लोक पार करके। सत्य कबीरके सत्यलोकसे ऊपर राधास्वामीका धुर्धाम है। बैठो, ध्यान करो। देखो, हम तुम्हें ईश्वरसे मिलाते हैं।'

उसको तो वेदान्तका संस्कार था। हम लोगोंको उसने बहुत आग्रह किया

तो हम लोग ध्यानमें बैठ गये। खूब बताया कि 'इस समय जो 'वक्तगुरु' हैं। यही कुल्लैमालिक हैं, यही सर्वेश्वर हैं। उन्हींका ध्यान करो।' अब हम बैठे तो जो गुरुजी थे उन दिनों वे साहबजी महाराजके पहले थे—'सरकार साहब।' 'महाराज साहब'—'सरकार साहब'—ऐसे उनको बोलते थे।

ध्यान लगनेके बाद उन्होंने पूछा—'क्यों भाई! ध्यानमें कुछ दीख तुमको ?'

बोले—'क्या दीखा ? रोटी बनानेके बाद जैसे तवेकी पीठ दीखती है—वैसे हमको तो आँख बन्द करनेके बाद वही तवेकी पीठ दिखायी पड़ती है, काला-काला, बिलकुल अन्धेरा दिखायी पड़ता है। और कुछ नहीं दिखता है।'

तो बोले—'और कुछ प्रकाश-प्रकाश नहीं दिखा ?'

'हमने कल्पना ही नहीं की।'

'हम नहीं दिखे ध्यानमें ?'

'हमने तुम्हारी कल्पना ही नहीं की कि तुम भी कुछ हो! खुली आँखसे तो यह दुनिया दिखती है और आँख बन्द करनेपर अन्धेरा दिखता है। तो कुछ नहीं दिखा।'

बहुत लोग ऐसा ही ध्यान करते हैं। या तो श्रद्धासे भक्तिसे अपने इष्टदेव-में, गुरुदेवमें ईश्वर बुद्धि करो, अपने पतिदेवमें ईश्वर बुद्धि करो और ध्यान करो। श्रद्धा-भक्ति न हो, तो आँख बन्द करनेपर अन्धेरा ही दीखेगा। यह कहो कि भीतर कोई बैठा हुआ है, तो कलेजा चीर करके रोम-रोम देख लो। कुछ नहीं मिलेगा। कलेजा चीर करके देखो, तो मांसपिण्ड मिलेगा, और कुछ नहीं मिलेगा। श्रद्धा करो, भक्ति करो, भावना करो, तो सब कुछ मिलेगा।

उत्तमदृष्टि होना माने जो घड़ेको भी देखनेवाला है और आँख बन्द करने-पर अन्धेरेको भी देखनेवाला है। वासनाएँ उदय होती हैं, उनको भी देखता है, स्वप्नको देखता है, और जब वासनाएँ शांत हो जाती हैं, तब सुषुप्तिको भी देखता है। जो देखनेवाला है, यह एकदम अखण्ड है। यही वास्तविक परिस्थिति है। इसको कोई खण्ड-खण्ड करनेवाला नहीं है।

पर बात नहीं बनी। बोले—'भाई, इन्द्रियाँ मेरी, मन मेरा; ब्रह्मज्ञानी जानता है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और यह शरीर, यह मन और ये इन्द्रियाँ, सब-के-सब अपने अनन्त, अखण्ड स्वरूपमें केवल भास रहे हैं।

न ते मोह ब्रवीमि।

उपनिषद्के आचार्यने कहा—'मैं तुमको कोई भुलभुलैयामें डालनेवाली बात नहीं बता रहा हूँ।'

अविनाशी वा अरे अयं आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा।

सच्ची बात, परमार्थ बता रहा हूँ कि यह आत्मा अविनाशी है और किसी देशमें, किसी कालमें, किसी वस्तुमें किसी भी प्रकारसे, किसी भी क्रियासे इसका उच्छेद नहीं है। इसका अनुच्छेद ही अनुच्छेद है—'अनुच्छिन्न धर्मा न वा अरे मोहं ब्रवीमि' बिलकुल सच्ची बात बताता हूँ कि आत्मा अविनाशी है और अनुच्छिन्न है। लेकिन, अगर यह ज्ञान न होवे, यह बात समझमें न आवे, प्रमेयगत संशयका निराकरण न होवे, प्रमाणगत संशयका निराकरण न होवे, तो? प्रमेयगत संशय माने यह आत्मा ही सम्पूर्ण श्रुतियोंके द्वारा प्रमेय ब्रह्म है। यह प्रमेयगत संशयका निराकरण है। यह केवल वेदान्त वाक्यसे ही जाना जाता है। यह निश्चय जब होता है, तब प्रमाणगत संशयका निराकरण होता है।

नहीं तो दूरबीनसे देखेंगे आत्माको, खुर्दबीनसे देखेंगे, अर्थापत्तिसे देखेंगे। जब तक मालूम पड़ता है कि इन्द्रियाँ मेरी और मन मेरा, तब तक 'मात्रास्पर्शास्तु भवति।' परन्तु अस्पर्शयोग है यह। इस अविनाशी आत्माका मात्राओंसे कोई स्पर्श नहीं है। मात्रा अर्थात् विषयोंसे भी स्पर्श नहीं है। यह मेरा सोना नहीं है, यह मेरा मकान नहीं है, यह धरती, यह कुर्ता, यह देह, ये इन्द्रियाँ—कुछ भी मेरा नहीं है। यह मन न मैं, न मेरा यह आसमान मुझमें कल्पित है। मेरे स्वरूपके अज्ञानसे सच मालूम पड़ता हुआ, यह जो मन है, उसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

बोले कि—'नहीं भाई, हम तो योगी हैं, योग करेंगे।'

'अच्छा, योगी हैं? योग करेंगे? तो ठीक है।' इसका नाम मध्यमदृष्टि, हीनदृष्टि हुआ। 'विचार सागर'में आता है—

सुनि समाधि कर्तव्यता तत्त्वदृष्टि हँसि देत।

समाधिकी कर्तव्यता सुनकर तत्त्वदर्शी पुरुष हँस देता है।

अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठति।

'अष्टावक्रगीता'में कहा कि—'तुम्हारे जीवनमें एक ही बन्धन है। तुम समझते हो कि मनकी एकाग्रतासे, मनकी समाधि लगनेसे हम समाधिस्थ होंगे? जब शरीर दफनाया जायगा, तब मन भी दफनाया जायगा, तो हम भी दफनाये

जायेंगे।' समाधि=दफनाना, कब्रमें डालना। एक महात्मा थे। उन्होंने यह कहा कि—'हम मरें तो ऐसी समाधि बनाना। उन्होंने अपने जीते-जी मन्दिर बनवा दिया और उसमें सब लगवा दिया और एक गड्ढा छोड़ दिया कि जब हम मरें, तो हमारे शरीरको ऐसे डालना।'

उन्हीं दिनों हमारे एक मित्र थे, बहुत अच्छे मित्र थे। वैसा मित्र फिर हमें जिन्दगीमें नहीं मिला। ऐसा साधनसम्पन्न, ऐसा सज्जन, ऐसा समझदार! वे आये थे वृन्दावन मिलनेको। जब सब लोग हट गये, तो अकेलेमें पूछा—'इतने बड़े महात्मा! मरनेके बाद भी हमारा शरीर कहाँ डाला जाय, कैसे रहें, इसका ख्याल करते हैं? अरे, हमने तो वेदान्तमें यह सीखा कि जिन्दा रहते हुए भी शरीरका ख्याल करना। और, ये मुर्दा होने पर भी शरीरका ख्याल करते हैं? तो उन्होंने वस्तुको पहचाना है, कि नहीं पहचाना है?'

महात्मा बड़े थे। 'यह सब उनकी लीला है'—ऐसे कहना पड़ा। 'यह सब उनका नाटक है, लीला है; इनको शरीरकी कोई परवाह नहीं है।'

जब तुम मनको मेरा मानोगे, तो उसे दफनाना पड़ेगा। इन्द्रियोंको मेरी मानोगे, तो उनको भी दफनाना पड़ेगा।

अयमेव हि ते बन्धः दृष्टारं पश्यसीतरम्।

तुम समझते हो कि द्रष्टा कोई न्यारा है, जो हमको देख रहा है। अरे, द्रष्टा मैं-से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। हम इसका कारण बतावें। जो लोग आत्माको 'अहम् प्रत्ययगम्य' मानते हैं—लोकमें हम 'मैं-मैं-मैं-मैं' बोलते हैं न, उस 'मैं' पदका जो नन्हा-मुन्ना अर्थ है, उसको जो आत्मा मानते हैं, उनके पीछे अन्तःकरण लगा, उनके पीछे इन्द्रियाँ लगीं, उनके पीछे शरीर लगा। और जो अहं-प्रत्ययके विषयपदार्थको, अहं प्रत्ययगम्य विषयपदार्थको अनात्मा जानकर अपने-आपको ब्रह्म जान लेते हैं, उनका यह अहं-प्रत्ययगम्य देहविशिष्ट, इन्द्रियविशिष्ट, मनोविशिष्ट, जो यह परिच्छिन्न अहंकार है, वह भस्म हो जाता है। साधुता न्यारी चीज है।

योगीको क्या करना पड़ेगा?

उसको अभयपदकी प्राप्ति मनका निग्रह करनेके बाद होगी। जो परमार्थदर्शी योगीसे भिन्न है, योगी है, मार्गमें है और हीन-मध्यम दृष्टिवाले हैं और मानते हैं कि मन हमसे अलग कोई दूसरी चीज है; और हमें अपने मनको घसीटकर लाना पड़ेगा, खींचकर लाना पड़ेगा, उनको तभी शान्ति होगी जब वे मनका निग्रह करेंगे।

मनको छोड़ दो। एक बात है। किसीने बन्दर बाँध लिया था अपने घरमें। यह बन्दर हमारा ? रोज उसको डंडा लेकर सधाना पड़े ! ऐसे खाओ, ऐसे पीओ ! ऐसे नाचो ! एकने कहा—'बाबा ! अपने सिरपर यह विपत्ति क्यों मोल लेना ? छोड़ दो इसको ! जा तू, जंगलमें चर।'

योगीको अपना मन काबूमें करना पड़ता है। यदि आदमी पूरी तरहसे नींद न ले, भोजन पूरी तरहसे न पचे, परिश्रम ज्यादा करे, और साधनमें आदर न हो—ये चार बातें जिसके जीवनमें होंगी, उसके मनीराम या तो सोवेंगे और या तो किसीके लिए तड़पेंगे ! निद्राशेष और अजीर्णशेष, परिश्रम और साधनमें अनादर—ये चार बातें यदि जीवनमें हों, तो मनुष्यका मन शांत नहीं हो सकता। यह एक पक्ष बना।

तो फिर कैसे करना ? अगर अभयपदको प्राप्त करना है, तो मनका निग्रह करना। ज्ञानी लोग क्या करते हैं ? आखिर उनका मन भी तो चंचल होता है न ! तब वे क्या करते हैं ?

आत्मसत्यानुबोध उनको होता है। 'मन जिससे पैदा हुआ वह तो मैं ही हूँ ! और मन जिसमें रह रहा है, वह मैं ही हूँ। मन जहाँ जाता है, सो मैं ही हूँ और मन जो है, सो मैं ही हूँ। इसलिए मेरे अतिरिक्त मन पैदा हुआ ही नहीं।'—यह ज्ञानीका दृष्टिकोण हुआ।

अब बोले—'मन मुझसे अलग है और मन मेरा है।' यह होता है चंचल। इसे पकड़कर ले आओ ! नहीं तो यह ले जाकर कहीं-न-कहीं गड्ढेमें डालेगा।

सब योगमें निष्काम कर्मयोग बोलो, चाहे सकाम कर्मयोग बोलो, इसका कोई फरक नहीं है। 'निष्काम कर्म' बोल देनेसे कर्म कोई अकर्म हो जाता हो, सो बात नहीं है। हाथ हिलानेसे प्रकाश निकलता हो, ऐसा नहीं होता। हाथ चाहे सकाम हिलाओ, चाहे निष्काम हिलाओ, हाथमें-से रोशनी नहीं निकलेगी जिससे ठीक दिखे। वस्तुको देखनेके लिए क्रिया नहीं प्रकाश चाहिए। कोई भी चीज देखनी हो, तो क्रिया प्रमाणरूप नहीं होती है, प्रकाश प्रमाणरूप होता है। आँखसे देखी जानी चाहिए, वस्तु !

बोले—'हम भावना करते हैं।'

वह बात नहीं बनेगी। मनको वशमें करो। मनको वशमें करनेके लिए हमारे एक महात्मा कहते हैं—'निकम्मे मत रहो। अगर मनको वशमें करना है, तो लगे रहो, लगे रहो। बस ! नहीं तो आलस्य-प्रमाद-निद्रा आ जायगी।'

यदि अभयपद प्राप्त करना चाहते हो, और मनको मेरा समझते हो, मनको सच्चा समझते हो, तो मनको काबूमें करो। ज्ञानीका मन काबूमें कैसे होता है? मन मेरे सिवा और कुछ नहीं है और जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ मैं ही हूँ। उसका जाना भी मैं हूँ। मन मुझसे जुदा कुछ है नहीं। मन ढह जायगा। अपने आप ढह जायगा।

जितनी साँस लेनेकी जरूरत बम्बईमें होती है न, उतनी साँस लेनेकी जरूरत बद्रीनाथमें नहीं होती। बढ़िया हवा है न! थोड़ी वायुसे काम चल जाता है। थोड़ी साँससे काम चल जाता है। बम्बईमें साँसके साथ मोटरका प्रसाद नाकमें घुसता है। कारखानेका प्रसाद नाकमें घुसता है।

एक बारकी बात है। एक महात्माकी बात सुनाता हूँ। कितना सहिष्णु होता है महात्मा? एक बार बम्बईमें हम मोटरमें कहीं जा रहे थे। स्वामी प्रेमपुरीजी साथ थे। बरसातका दिन! दूसरी मोटर जरा आगे बढ़ी, तो अपने पहियेसे बहुत सारा पानी हमारी मोटरमें उँडेल दिया। मुँहमें भी पड़ा! स्वामीजीका मुँह तो जरा खुला ही रहता था कभी-कभी। हम लोगोंके मुँहपर भी पड़ा। उनके मुँह पर भी पड़ा। तो यह नहीं कि उस मोटरसे बुरा मानें या कि मोटरवालेसे बुरा मानें।

बोले—'वाह-वाह-वाह! आज मोटरका चरणामृत मिला।' देखो, मन प्रसन्न करनेकी रीत! ड्राइवर ने कहा—'अच्छा, यह हम पर पानी डालकर गया है? तो अब हम अपनी मोटर आगे बढ़ाकर उसपर पानी डालेंगे।'

यह मनीराम तुम्हें भयकी ओर ले जायेंगे, अगर इनको काबूमें नहीं रखोगे तो! या तो इनको मर जाने दो, भस्म हो जाने दो, अपने स्वरूपसे अभिन्न हो जाने दो। जहाँ-जहाँ जाय, वहीं-वहीं समाधि रहे; जैसे रहे, वैसे ही ठीक। परन्तु यह बात तो तब होगी, जब सृष्टिमें जो महत्त्वबुद्धि है, वह चली जायगी। जब यह महत्त्वबुद्धि नहीं जाती, तब सृष्टिका बाध नहीं होता और मनका बाध भी नहीं होता। तो उसको काबूमें करना चाहिए। मनको काबूमें करोगे, तभी निर्भयपदकी प्राप्ति होगी, दुःखका क्षय होगा, प्रबोध होगा और अक्षया शान्ति होगी।

देखो, कितनी बातें बताते हैं? एक तो, आदमीके मनमें भयकी कल्पना हो जाती है। इस मनका सबसे कमजोर रूप यही है। क्या? भयकी कल्पना।

बोले—'हम बैठे थे जंगलमें। एक आदमी दूरसे आता हुआ दिखायी पड़ा। ख्याल हुआ कि यह डाकू है। डाकू आकर हमको लूटेगा। यह मनका

कमजोर रूप है। क्या कल्पना हुई ? कि शायद कोई महात्मा जंगलमें तपस्या कर रहे हों। आज इसी रास्ते वे महात्मा आ रहे होंगे। आज हमारा अहो भाग्य है कि हमको जंगलमें महात्माके दर्शन हो जायेंगे।

एक रूप यह हुआ कि डाकू आ रहा है और एक रूप यह हुआ कि महात्मा आ रहा है। एक रूप यह हुआ कि—'होगा कोई, इधरसे उधर चला जायगा।' मनमें न राग, न द्वेष। मन कैसी कल्पना करता है, इससे मनका पता चलता है। मन रागमें फँसा है कि मन द्वेषमें फँसा है? बौद्धधर्ममें मनोवृत्तियों की गिनती करी हुई है। नौ हजारके करीब मनकी विपश्चनाओंकी गिनती है। 'डाकू आ रहा है'—यह भी विपश्चना है, 'महात्मा आ रहा है'—यह भी विपश्चना है। 'भगवान् हमको दर्शन देने आ रहे हैं'—यह भी विपश्चना है।

अरे, होगा कोई ! छोड़ो, क्या ख्याल करनेकी जरूरत है ? यह मन ही भय देता है मनुष्य को। ईश्वर किसी-किसीपर कृपा करके किसी-किसीको त्याग, ब्रह्मचर्य, संन्यास, संयमसे रहनेका अवसर देता है। जो इसको पहचान लेगा, वह सुखी रहेगा। जो इसको नहीं पहचानेगा, वह दुःखी रहेगा। बहुत करके दुःखकी कल्पना मनसे ही हुई न ? मन चंगा तो कठौतीमें गंगा।

जब इक्के भी नहीं चलते थे, मोटर भी नहीं चलती थी, घड़ी भी नहीं। तब पैदल स्टेशनपर आते थे। चलते समय ही सोच लेते थे कि गाड़ी मिल जायगी तो बनारस चले जायेंगे। और नहीं मिलेगी तो स्टेशनके पास अमुक गाँव है, वहाँ जायेंगे, इनसे मिलेंगे—उनसे मिलेंगे, ये-ये काम करेंगे और उसके बाद बनारस जायेंगे। दोनों हालतके लिए तैयार होकर जाते थे।

दुःखी संसारमें कौन होते हैं ? जो यह सोचते हैं कि 'हमारे मनके मुताबिक ही होगा।' 'हमारा बेटा हमारी बात मानेगा।' अरे भाई ! यह भी तो सोचो कि बेटेके भी मन है ! शायद न माने ! 'मान ही ले', यह निश्चय क्यों करते हो ?

'हमारे पति तो हमारी जिद्द जरूर मान ही लेंगे।' आखिर पतिके भी मन है। पति बोले—'पत्नीको तो हमारा हुकुम मानना ही पड़ेगा।' पत्नीके भी तो मन है। तुम अपने ही मनको क्यों प्रधानता देते हो ?

अपने ही मनको प्रधानता देना, यह दुःख मोल लेना है। हमारे हरिबाबाजी महाराज बहुत बढ़िया बात बताते हैं। ऐसे भी याद आ गयी। कल उनके यहाँसे चिट्ठी आयी थी कि अबकी वे आवेंगे तो बगीचेमें ठहरेंगे, क्योंकि

हार्टअटैक होनेसे चढ़ना-उतरना, कमरेमें आना-जाना उनको कठिन पड़ेगा। वे कहते हैं—'अगर तुम किसीके मनको अपनी ओर खींचना चाहते हो, तो डण्डा लेकर मत कहो कि तुम अपना मन हमारे मनसे मिला दो!' ऐसा मत कहो! रो-रोकर मन मिलाओगे तो कैसे चलेगा? और ललचा-ललचाकर मन मिलाओगे, तो कैसे चलेगा? न तो हमेशा ललचाकर मन मिला सकते हो और न तो हमेशा डण्डा लेकर मन मिला सकते हो! वे कहते हैं कि—'अगर किसीका मन तुम मिलाना चाहते हो, तो पहले अपने मनको उसके मनके मुताबिक कर दो। उसके मनको मिलाना, यह तुम्हारे हाथमें नहीं है, यह तो उसके हाथमें है। तुम्हारा अपना मन उसके मनके साथ मिलाना, यह तुम्हारे हाथमें है।'

अपना ही मन उसके मनके साथ मिला दो और जब तुम्हारा मन और उसका मन दोनों दोस्त हो जायँ और जब खूब घुलमिल जायँ और एक साथ रहने लगे तो अपने मनको धीरेसे अपनी ओर खींचना। तो देखना, उसका मन भी आजायगा, वह भी झुक जायगा। जैसे तुमने अपना मन उसको दिया, वैसे वह भी अपना मन तुमको देगा। परन्तु पहले मनमें मेल तो कर दो!

ऐसा कहा महात्माओंने, कि—

प्रज्ञापराध एवैष दुःखमिति यत्।

जिसको तुम दुनियामें दुःख कहते हो, वह तुम्हारी समझका कसूर है।

उसने बड़े प्रेमसे कहा कि—'तुम हमारे साथ चलो वहाँ।' तुमने कहा—'तुम हमारे मनकी कोई कीमत ही नहीं करते हो?'

अरे! वह तो तुम्हारे मनकी नहीं, समूचे तुम्हारी कीमत कर रहा है! तुम्हारी समझमें बात नहीं आयी? समझमें दोष होनेसे प्रेममें अप्रेमकी कल्पना हो जाती है, हितमें अहितकी कल्पना हो जाती है। जब हम किसीको रोकते हैं कि तुम वहाँ मत जाना, तो क्या हम उससे दुश्मनी करते हैं? 'यहाँ जाना, वहाँ मत जाना'—यह बात हम 'कालवा देवी रोड'पर चलनेवालोंको कहाँ कहते हैं? जिसके ऊपर बहुत ममता है, बहुत वात्सल्य है, उसीको कहते हैं न? तो मनपर भी ममता रखो, वात्सल्य रखो।

अपने मनसे पुण्य करनेपर अभिमान बढ़ता है और आदमी परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है। दूसरेके मनसे कभी गलत भी काम करना पड़ जाय, मनको दबाना भी पड़ जाय, तो उसमें भी मन अपने काबूमें आजाता है। मनको अपने काबूमें करके हमने वह काम कर लिया! परमार्थका दृष्टिकोण संसारी

दृष्टिकोणसे बिलकुल उलटा होता है, मनको वशमें करनेसे दुःखका क्षय होता है। अभयपदकी प्राप्ति होती है।

बोले—'बाबा, हमको तो ज्ञान चाहिए।'

ज्ञान चाहिए? बहुत बढ़िया। ज्ञानका तो यह नियम ही है कि घड़ी देखेगा तो रूमाल नहीं देख पावेगा और रूमाल देखेगा, तो घड़ी नहीं देख पावेगा। ज्ञानके लिए मनकी एकाग्रता साधन है, कोई बाधन तो नहीं है।

प्रबोधश्च—जिस चीजमें तुम मन लगा दोगे, संयम करोगे, उसका पूरा ज्ञान हो जायगा शास्त्रमें ऐसा लिखा है कि किस चीजको कैसे जानना?

भुवनयोर्ज्ञानं सूर्ये संयमात्।

सूर्यमें अपना मन लगा दो, तो सूर्यकी किरणें कहाँ-कहाँ जाती हैं और उनमें क्या तारतम्य है; उसका बोध हो जायगा। आँख नहीं लगाना।

प्रत्ययस्य परचित्त ज्ञानम्।

अपनी मनोवृत्तिका अध्ययन करो, तो दूसरेकी मनोवृत्तिका भी पता चल जायगा। ज्ञान हो जायगा। संयम करनेसे, माने धारणा, ध्यान और समाधि लगानेसे जो ज्ञान चाहो, सो हो जाय।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंता संबोधः। (योग० २.३९)

'अपने मनको परिग्रहसे मुक्त करो। माने, जन्म लेनेके बाद जो-जो चीज तुमने स्वीकार की है, उनको छोड़ो, उनकी ओरसे मनको हटा लो। फिर माँके पेटमें जो-जो चीज पकड़ी है, उनमें-से भी मनको हटा लो और फिर बापके पेटमें जो-जो चीज पकड़ी है, उनमें-से भी मनको हटा लो।' तो देखो, तुमको पता चल जायगा कि इस मनुष्य शरीरमें तुम क्यों आये हो? कहाँसे आये हो? यह पूर्वजन्मके ज्ञानकी प्रक्रिया बतायी। 'योगशास्त्र'में इसे 'संयम' बोलते हैं।

त्रयमेकत्र संयमः। (योग० ३.४)

एक वस्तुमें 'धारणा' करो। माने उसे वस्तुदेशको छोड़कर मन अन्यत्र न जाय। वस्तुमें मनको प्रविष्ट करो। इसका नाम 'ध्यान' हुआ। वस्तु और मनको एक कर दो। उसका नाम 'समाधि' हुआ। द्रव्यकी प्रधानतासे ध्यान, देशकी प्रधानतासे धारणा और दोनोंके ऐक्यकी दृष्टिसे समाधि।

ग्राह्य समापत्ति, ग्रहण समापत्ति, गृहीतृ समापत्ति इसके अनेक भेद होते हैं। आपको यदि सच्चा ज्ञान प्राप्त करना हो, तो मनको एकाग्र करो। काट दो

दुनिया और मनको लगाओ—'परब्रह्म परमात्मा कैसा होता है ?' ज्ञानमें भी मनकी एकाग्रता मदद करेगी।

अक्षया शान्तिरेव च—भाई, हमको तो जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख चाहिए। अरे, यह समाधि नहीं, जो थोड़ी देर लगी और टूट गयी। वह स्वर्ग नहीं, जो होटलकी तरह मिलता है। जितना पैसा जमा कर लो, उतने दिन खा लो, पी लो, सो लो, रह लो; जो सुख चाहिए, सो ले लो। पार्कमें घूम लो, विमानमें उड़ लो, अप्सराएँ वहाँ मिल जायँ। कितने दिन रहोगे ? जितना रुपया जमा किया हो, उतने दिन तक। यह होटल हुआ और यह स्वर्ग हुआ। वह तो थोड़े दिनका मामला है।

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। (गीता ९.२१)

वेगसे समाधि लगायी, तो जितना वेग होगा, मनकी जितनी दृढ़ता होगी, उतने दिन ही रहेगी। किसीने कृपा करके अपने साथ ले लिया कि—'चलो, हमारे साथ, घुमा दें तुमको। तो कितने दिन तक उसकी मोटरमें रहोगे ? कितने दिनतक उसके घरके मेहमान बने रहोगे ? कृपाके अवलम्बसे जीवन कितने दिनतक चलेगा ? एक धनीकी कृपा लो, एक देवताकी कृपा लो ! यह सब नहीं चलता है।

अक्षया शान्ति-कालपरिच्छेदसे रहित शान्ति कैसे मिलेगी ? मनको शान्त करो। मनको शान्त करनेसे मिलेगी। मनकी शान्तिकी बड़ी महिमा है। यदि साधनसे शान्ति सिद्ध होगी, तो अक्षय नहीं और बिना साधनके ही यदि शान्ति अपना स्वरूप है, स्वतः सिद्ध है, तो साधन व्यर्थ। यही स्वतः सिद्ध जाननेके लिए साधनकी जरूरत है। यही स्वतः सिद्धताके ज्ञानमें जो प्रतिबन्ध है, उसकी निवृत्तिके लिए साधनकी जरूरत है।

जबतक अपना मन चंचल रहेगा, तबतक न तो अभयपदकी प्राप्ति होगी, न तो दुःखका क्षय होगा। न तो तत्त्वज्ञान होगा और न तो अक्षया शान्ति होगी। जो हीनदृष्टिमें और मध्यमदृष्टिमें हैं अर्थात् जो मनको और इन्द्रियोंको 'मैं' और 'मेरा' माने सच्चा मानते हैं, वे यदि मनको काबूमें नहीं करेंगे, तो उनको शान्ति कैसे मिलेगी ?

बोले—'भाई, आओ, मनको काबूमें करें। क्या-क्या चाहिए मनको काबूमें करनेके लिए ?

एक तो चाहिए अदम्य उत्साह। काबूमें करके ही उठेंगे। वज्र गिरे, धरती फटे, शरीर यहीं बैठे-बैठे खाक हो जाय, लेकिन परमात्माको प्राप्त किये बिना रुकेंगे नहीं।

दूसरा चाहिए युक्तिका ज्ञान। किस युक्तिसे मन वशमें होता है।

तीसरा चाहिए वैराग्य। और,

चौथी चाहिए ब्रह्माकार वृत्ति और पाँचवीं चार प्रकारके जो प्रतिबन्ध हैं, उनका निवारण।

अब मनोनिग्रहकी बात सुनो। इसके सम्बन्धमें कुछ ब्रह्मज्ञानीकी बात, कुछ जिज्ञासुकी बात, कुछ योगीकी बात और थोड़ी व्यवहारकी बात। पहले ब्रह्मज्ञानीकी बात करें—

(१) ब्रह्मज्ञानी एक शरीरको या एक शरीरमें रहनेवाले मनको अपना शरीर या अपना मन नहीं जानता है। और सब शरीरोंमें रहनेवाले मनको भी अपना नहीं मानता, नहीं जानता है। उसके लिए मन सम्बन्धी कोई कर्तव्य नहीं होता है। क्योंकि न तो वह मन है, न मन उसका है, न मन सच्चा है।

'अरे, फुर ले भाई, जैसी तेरी मौज हो! यहाँ फुर ले, वहाँ फुर ले, कहीं भी फुर ले; ईश्वरमें फर ले, जीवमें फुर ले। एक स्वयंप्रकाश अधिष्ठानमें अध्यस्त चाहे जैसे फुर ले, चाहे न फुरे!'

(२) अब दूसरी बात सुनाते हैं—यदि जिज्ञासु अपने श्रवण-मनन-निदिध्यासनजन्य ज्ञानको दृढ़ करना चाहे, तो वहींसे सोचे—'मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ। न मुझमें माया है, न अविद्या। माया-अविद्या मुझमें है ही नहीं। तो, न देश, न काल, न वस्तु। प्रकृति नहीं, सत्त्व-रज-तम तीनों गुण भी मुझमें नहीं, महत्तत्त्व नहीं और अहंकार तत्त्व भी नहीं। फिर सात्त्विक-राजस्-तामस् तन्मात्राएँ नहीं। इसलिए न वृत्तियाँ, न इन्द्रियाँ, न प्राण, न तो द्रव्य। फिर मुझमें पञ्चभूत कहाँ? पञ्चभूत नहीं होनेसे ब्रह्माण्ड कहाँ? ब्रह्माण्ड न होनेसे पृथिवी कहाँ? पृथिवी न होनेसे शरीर कहाँ? इसलिए मुझ अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वमें दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

माया, अविद्या, मायोपाधिक ईश्वर, अविद्योपाधिक जीव, अन्तःकरणोपाधिक अवच्छेद और अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित आभास—यह सब अपने अन्दर कुछ नहीं। महावाक्यके द्वारा अपनेको ब्रह्म निश्चय करके माया, अविद्या सब ऊपरसे बाधित करते जाना है। है ही नहीं कुछ। इसको 'बाध-प्रक्रिया' बोलते हैं। यह जिज्ञासुके लिए है।

(३) एक लय प्रक्रिया है। क्या? यह जो अपना शरीर दीखता है, इसमें अपना कुछ नहीं। कुछ मिट्टीका है, कुछ पानीका है, कुछ आगका है, कुछ हवाका है। कुछ आसमानका है, कुछ समष्टि मनका है, कुछ कर्मका है, कुछ संस्कारका है, कुछ कर्ताका है, कुछ भोक्ताका है। अपना तो कुछ है ही नहीं। इस शरीरको पञ्चभूतसे एक कर दो।

मिट्टी-मिट्टीमें, पानी-पानीमें, आग-आगमें डालो। इन्द्रियों और कर्मको राजसिकमें डालो। इन्द्रिय वृत्तियों और मनोवृत्तियोंको सात्त्विकमें डालो। तन्मात्रा—सात्त्विक, राजस्, तामस् सब अहंकारमें और अहंकारको महत्तत्त्वमें डालो। देश-काल-वस्तु सब महत्तत्त्वमें। वर्ष, संवत्सर-मन्वंतर-युग-कल्प सब हिरण्यगर्भमें। देश माने उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम सब। गोलोक-वैकुण्ठ सब ब्रह्मलोकमें।

सब देश, सब काल, सब वस्तु समष्टि—बुद्ध्यात्मक है। समष्टि बुद्धि अव्याकृत आत्मा बीजात्मासे प्रकट हुई है। तो अव्याकृतात्मासे भिन्न महत्तत्त्व नहीं है। अव्याकृतात्मा व्यवहारकी दृष्टिसे परमात्मामें कल्पित है।

सूर्य-चन्द्रमा-ग्रह-नक्षत्र-तारे, ब्रह्माण्ड मण्डल और पंचभूत सब मनस् तत्त्वमें, मनस् तत्त्व अहं तत्त्वमें, अहं तत्त्व महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्व अव्याकृतमें और अव्याकृतको परमात्मामें हवन कर दो। अब रह गया एक परमात्मा। इस प्रकार एक परमात्मा होकर बैठ जाना।

पहले ब्रह्मज्ञानीकी बात थी, फिर एक नम्बरके जिज्ञासुकी बात थी। बाध-प्रक्रिया; फिर दो नम्बरके जिज्ञासुकी बात थी—लय प्रक्रिया।

(४) ऐसे न बने तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक, कार्य-कारणात्मक जो दृश्य है, यह तो जड़ है, विकारी है, अनित्य है, दृश्य है और मैं इसका साक्षी हूँ—इसमें बैठो।

अब इसमें देखो, फरक क्या पड़ा? यह आपके ध्यानमें आना चाहिए। यह बड़ा भारी फरक है। पहलेमें जीव-ईश्वर और सृष्टि सबका समन्वय अपने स्वरूपभूत ब्रह्ममें हो गया, बाधसे या लयसे दूसरी प्रक्रियामें जड़-विकारी दृश्य हमसे अलग छूट गया। हम उसको छोड़कर अलग साक्षी हो गये। इसमें द्वैतकी निवृत्ति तो नहीं हुई। परन्तु इसमें फायदा यह हुआ कि हजारों तत्त्व न रहकर केवल दो रह गये। साक्षी और एक उसका दृश्य माने साक्ष्य। हजारको दोमें ले जानेकी यह प्रक्रिया है।

बोले—'भाई, देहमें 'मैं' तो ऐसा बैठ गया है कि वहाँसे उठता ही नहीं है।' यह तो सब सुनते हैं, समझते हैं। परन्तु देहमें-से 'मैं-भाव' नहीं छूटता है। गीध चार कोस ऊपर चला गया आसमानमें, पर वहाँसे जब नीचे नजर पड़ी, तो उसे मांसखण्ड दिखायी पड़ा। फिर उसीपर उतर आया।

(५) चित्त और चैत्यसे रहित अर्थात् जिसमें चित्त नहीं और चित्तका विषय नहीं, ऐसी वस्तुका चिन्तन हम मन और बुद्धिसे करते हैं, तो फिर जहाँके तहाँ! मूल बात यही पकड़नी चाहिए कि देहमें-से अहंको हटाना। ऐसे करो, कि देहको मिट्टीमें मिला लो और मिट्टीको पानीमें डालो और लहराने दो समुद्रको। यह 'आपः', यह कारणवारि लहराये-हलराये! गाँवमें लहरानेको हलराने बोलते हैं।

क्या सूर्य-चन्द्रकी ज्योति प्रतिबिम्बित हो रही है? क्या विशाल आकाश दिखायी पड़ रहा है? धरती नहीं दिखायी पड़ती है। केवल समुद्र-ही-समुद्र! जल-ही-जल है! केवल जल-ही-जल दिखायी पड़े, तो न शरीर, न मकान, न नगर, न धरती। एक बार इनमें जो अभिनिवेश हो गया है कि ये ही सच्चे ये ही सच्चे! उनकी ओरसे मनको मोड़ना चाहिए।

(६) यदि यह भी न हो सके, तो शरीर बैठा है आसन पर और मैं बैठा हूँ छत पर! अलग करो इसको। मैं द्रष्टा हूँ, यह दृश्य है। क्या रखा है इस लोटेमें, इस घड़ेमें? यह खाना-पीना तो इसको माँजनेकी प्रणाली है। जैसे लोटेमें माटी-कंकड़ डालकर, पत्थर पानी डालकर हिलाते हैं तो मँज जाता है, चिक्कना हो जाता है। वैसे दाल-भात-रोटी-शाक, नमक-खटाई डालके इसे हिलाते हैं, तो साफ हो जाता है। यह तो घट है, घड़ा है।

(७) बैठो भजन करने, तो भावना करो कि नाभिमें एक स्वयंप्रकाश अग्निचक्र है। इसमें ज्योतिर्मय, चिन्मय अग्नि प्रज्वलित है। इसमें 'अविद्या जुहोमि स्वाहा, अहंता जुहोमि स्वाहा, अस्मितां जुहोमि स्वाहा, राग जुहोमि स्वाहा, द्वेषं जुहोमि स्वाहा, अभिनिवेशं जुहोमि स्वाहा'—हवन करके अविद्या--अहंता-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशसे विमुक्त होकर बैठ जाइये। शंकराचार्य भगवान्‌ने अट्ठाइस आहुतियाँ लिखी हैं, मैंने आपको पांच संक्षेप करके सुना दिया। यह है साधन-भजन कि हम अपनी अविद्याका होम करते हैं। इसमें देवताका नाम नहीं है, हविष्यका नाम है। 'इन्द्राय स्वाहा' नहीं है, 'अविद्यां जुहोमि स्वाहा' है। इन्द्रके लिए नहीं, हम तो अपने हविष्यका ही हवन करते हैं। अग्निदेवतामें नहीं, हम तो ज्ञानाग्निमें हवन करते हैं।

हमारी अविद्या ज्ञानाग्निमें जल गयी। हमारा अहंकार ज्ञानाग्निमें जल गया। हमारे राग-द्वेष ज्ञानाग्निमें जल गये। हमारा अभिनिवेश ज्ञानाग्निमें जल गया।

(८) (एक और प्रकार)—लेट गये। शरीरमें छः मण्डलकी कल्पना की—पाँवके नाखूनसे लेकर गुदापर्यन्त पृथिवी-मण्डल, मूत्रेन्द्रियमें जलमण्डल; नाभिमें अग्निमण्डल; हृदयपर्यन्त वायुमण्डल; उसके बाद कण्ठतक आकाशमण्डल; कण्ठसे ऊपर मनोमण्डल। मनोमण्डलमें इन्द्रियाँ रहती हैं।

लेटकर विचार किया कि हम पृथिवीमण्डलसे जलमण्डलमें, जलमण्डलसे अग्निमण्डलमें, अग्निमण्डलसे वायुमण्डलमें, वायुमण्डलसे आकाशमण्डलमें और आकाशमण्डलसे, मनोमण्डलमें आगये। मनोमण्डलमें आज्ञाचक्रसे जो नीचे है उस इन्द्रियमण्डलको छोड़कर ऊपरके बुद्धिमण्डलमें हम प्रविष्ट हुए। ऊपर सहस्रारमें बैठे हुए हैं हमारे गुरुजी, जो अपनेको ब्रह्मके सिवाय और कुछ जानते ही नहीं, जिनके लिए यह प्रपञ्च मिथ्या है और ब्रह्मके सिवाय कुछ जानते ही नहीं, उनमें हम समा गये। जैसे ब्रह्म हमारे गुरुजी, वैसे हम भी ब्रह्म। केवल ब्रह्म-ही-ब्रह्म ! गुरु और चेला एक। केवल ब्रह्म-ही-ब्रह्म ! न गुरु, न चेला। केवल ब्रह्म ही ब्रह्म। सो गये।

लेकिन, जब सबेरे उठे, तब परब्रह्म परमात्मा गुरुके रूपमें प्रकट हुआ। गुरुसे मैं-मन प्रकट हुआ। फिर मनसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी—यह करके तब उठना चाहिए।

(९) मनोनिग्रहकी युक्ति अब प्रारम्भ करता हूँ। ये सब तो गप्प हाँकी। एक बात आजकलके मनोवैज्ञानिक जैसा कहते हैं, इसके बारेमें आपको सुनाता हूँ। आजकलके मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि मनके निग्रह या निरोधकी कोई आवश्यकता नहीं है। मनकी माँग पूरी करते जाओ ! उसको रोकोगे, तो नसमें तनाव पैदा होगा, तो दिमाग खराब होगा !

आजकलके मनोविज्ञानमें, खास करके मनोवैज्ञानिक डॉक्टर कहते हैं कि माँ जब बच्चेके शरीरपर, पीठपर, छातीपर थापी मारती हैं, थपथपाती है और वह खुश होता है और सो जाता है, इसमें भी उसे जो स्पर्शका सुख मिलता है, वह काममूलक ही है।

वे यहाँतक कहते हैं कि माताजी बच्चेको छातीसे सटा करके दूध पिलाती हैं और माँ-बच्चेको मजा आता है, यह भी कामसुख ही है। वैसे

कहो तो सारी सृष्टि काम ही है, वह बात दूसरी है। लेकिन मनोवृत्तिमें विभाग करना पड़ता है।

मनोवृत्तिमें विभाग किये बिना जो मर्यादा है समाजकी कि—यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह बाप है, यह बेटा है, यह नेता है, यह नीत है—वह चल नहीं सकती।

एक बारकी बात है—हमको किसी महात्माने समझाया—'अगर कोई तुमको कहे कि मनको खुला छोड़ दो, तो क्या जो-जो मन कहेगा, सो-सो करोगे ? एक हदपर अगर तुम भलेमानुस हो, तो खुद ही रोक दोगे कि नहीं ? 'नहीं, हमें यह काम नहीं करना चाहिए। और, भलेमानुस नहीं हो तो ? माँ-बाप, समाज रोक देगा। और वे नहीं रोकेंगे, तो पुलिस रोक देगी कि यह काम मत करो। कानून रोक देगा।'

कहते हैं कि—'हम सब खा सकते हैं, जो गलेके भीतर जाय ! क्योंकि 'गलविलाभः' संयोगरूप जो व्यापार होता है, उसे 'भोजन' कहते हैं। गलेके नीचे किसी चीजको उतारना, उसका नाम 'भोजन'। मांस खा सकते हो ? हजारों आदमी खाते हैं। तुम शराब पी सकते हो ? हजारों आदमी पीते हैं ! बड़े बुद्धिमान् लोग हैं। क्या बात है ? अच्छा, तो विष्ठा खा सकते हो ?

अरे, राम-राम ! इसका नाम मत लेना।

क्यों ? यहाँपर तुम अपने मनको क्यों रोकते हो ? एक मर्यादा बनानी पड़ी न ! चाहे जो स्त्री जिस पुरुषसे और चाहे जो पुरुष जिस स्त्रीसे मिल सकता है ? उसे नहीं रोकना चाहिए ? ऐसा सिद्धांत मान लो ? अच्छा तो बाप-बेटीको ऐसा करना चाहिए ? भाई-बहनको ऐसा करना चाहिए ? माँ-बेटेको ऐसा करना चाहिए ? एक मर्यादा बनानी पड़ेगी। बिना मर्यादाके मानव-जीवन नहीं होता है। बिना मर्यादाके पशु-जीवन भी नहीं होता है। पशुओंकी भी मर्यादा होती है। प्रकृतिने उनको मर्यादा दी है।

सिंहके जीवनकी मर्यादा दूसरी है; कुत्तेके जीवनकी मर्यादा दूसरी है। गाय, बैल, भैंस, घोड़ेके जीवनकी मर्यादा दूसरी है। ईश्वर कृपासे हमको बचपनमें चरवाहों-गड़ेरियोंके साथ बैठनेका मौका मिला है जो गाय-भैंस चरानेवाले होते हैं।

गाय घास चरती होती है और जब कहीं घासपर, भूसेपर गायका मूत्र, गायका गोबर पड़ा हुआ मिल जाता है, तो सूँघकर छोड़ देती है, नहीं खाती है। उनके जीवनमें भी एक मर्यादा है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक दृष्टिसे जो अपनी मनोवृत्तिको निग्रहित नहीं करेगा, उसका जीवन—मनुष्य जीवन तो क्या, पशु जीवन भी नहीं रहेगा। एक जगह हम गये, बड़े आदमीका घर था। उनके घर आ गये कुछ मेहमान! वे खुद करोड़पति और मेहमान भी करोड़पतिके बच्चे! अब आँगनमें लॉनपर लाकर बीचमें रेडियो रख दिया। रेडियो तो बजे और एक यों हाथ करे, कोई यों उछले और कोई यों उछले! बीस-पचीस बरसकी लड़की-लड़के और भाई-बहन सब मिलकर यों छलांग भरे! न उनको अपने शरीरका ख्याल, न मनका ख्याल, न मर्यादाका ख्याल।

मनमें जो आवे सो करो! जीवनमें एक-न-एक ऐसी सीमा, ऐसी मर्यादा रखनी पड़ेगी, जहाँ ब्रह्मचारीकी मर्यादा रहेगी, गृहस्थकी, वानप्रस्थकी और संन्यासीकी मर्यादा रहेगी। बिना मर्यादाका तो कोई जीवन होता ही नहीं। हमको एक बार करपात्रीजीने कहा—'जब तुमको यह मना करना ही पड़ेगा; कि 'हम प्याज नहीं खायेंगे, लहसुन नहीं खायेंगे, मांसका सम्बन्ध होगा वह नहीं खायेंगे; ऐसे तुमको मना करना ही पड़ेगा, तो यह भी तुम पहले ही मना क्यों नहीं कर देते कि हम अमुक-अमुक-अमुकको नहीं खायेंगे?'

उनके तर्कमें बल है, शक्ति है। अगर बिलकुल मना न करो कि चाहे जो कुछ, चाहे जिसका, चाहे जैसे खायेंगे, तब तो हम मान सकते हैं कि तुम्हारे मनमें मर्यादा नहीं है। लेकिन, तुम्हारे मनमें तो बड़ी मर्यादा है कि हम यह नहीं खायेंगे। हम इनका नहीं खायेंगे। हम उनका नहीं खायेंगे। तो उसीको हम थोड़ा बढ़ाना चाहते हैं। किसी-न-किसी स्तरपर व्यावहारिक जीवनमें मनुष्यको अपने मनको रोकना पड़ेगा।

परमार्थकी दृष्टिसे मनका अस्तित्व ही नहीं है। बाह्य वही, आभ्यन्तर वही; आत्मा वही, अनात्मा वही और जहाँ अस्तित्व नहीं है, तो निग्रहका प्रश्न नहीं है। जब मनका अस्तित्व है, तो उसके निग्रहकी भी आवश्यकता है।

बिना मनको काबूमें किये अभय नहीं हो सकते। तुम्हारा मन तुम्हें जंगलमें ले जायगा, छत परसे नीचे गिरा देगा। जब लोगोंका मूड बिगड़ता है, तो मनमें आता है कि छत परसे कूद जायँ कुएँमें कूद पड़ें। यह मन ही तो कराता है! जहर खा लेनेके बाद मनमें पछताते हैं कि—हाय! हाय! मैंने क्या गलती की? काम कर लेनेके बाद जो पछतानेसे—अब पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गयी खेत? पहलेसे ही अपने मनको सावधान रखना चाहिए।

'मनको बिलकुल नहीं रोकना,'—यह बात तर्कसे, अनुभवसे, युक्तिसे, जीवनसे, सबसे विरुद्ध है। इसमें मार्क्सको भी असहमति नहीं कि समाजमें एक मर्यादा रहनी चाहिए। वे कहते हैं कि 'वह युग आनेमें अभी बहुत विलम्ब है, जब समाज अराज होगा—कोई शास्ता नहीं होगा, कोई शासन नहीं होगा, कोई शिष्य नहीं होगा।

शंकराचार्य ऐसा कहते हैं कि 'वह युग सबके लिए नहीं है, जिसमें शास्ता नहीं, शासन, शास्त्र नहीं, शिक्षा नहीं, शिष्य नहीं।

(१०) परमार्थमें यह बात है कि कोई शास्ता नहीं, शास्त्र नहीं, शिष्य नहीं, शिक्षा नहीं। व्यवहारमें तो बाबू, सब कुछ करना पड़ेगा। मनको काबूमें नहीं करोगे, तो दुःखक्षय नहीं होगा। यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए—यही चाह तुमको हीन बनाती है। दुनियामें तुमको सबसे नीच बतानेवाला कौन है? हम नहीं बताते हैं। हम तो तुमको ब्रह्म बताते हैं।

खुली बात—हम ब्रह्म, तुम ब्रह्म, सब ब्रह्म! लेकिन तुम्हारा मन जब तुमसे कहता है कि वहाँ गये बिना तुम सुखी नहीं हो सकते, वह भोगे बिना तुम सुखी नहीं हो सकते, तो तुम्हारा मन तुमको नीच बनाता है कि—'तुम्हारे पास तो कुछ है ही नहीं! तुम ठनठनपाल हो।' यह भोगा तब सुखी, यह करो तब सुखी, यहाँ जाओ तब सुखी। यह तुमको नीच बनानेका एक प्रकारान्तर है। तुमको अभावग्रस्त बताकरके तुम्हारा मन तुम्हें बड़ा आदमी बनाना चाहता है। 'यह पहनो, तब बड़े आदमी बन जाओगे। तुम नंगे रहोगे, शरीर तुम्हारा दीखेगा, तब तुम बड़े आदमी नहीं हो। शरीरको ढँको, तब तुम बड़े आदमी। ये सब नंगे अवधूत जंगली हैं।'

लेकिन हमारे मनमें ऐसी कल्पना आती है कि अब जो युग आनेवाला है, उसमें अवधूत वेश जो हम पहले धारण करते थे, वह अब स्त्रियाँ धारण करेंगी, ऐसी शंका मनमें होने लगी है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी एक दिन अपना कुर्ता निकालकर, धोती पहने हुए और ऊपरसे नंगे, पेड़के नीचे शामको बैठके कुछ पढ़ रहे थे। इतनेमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर आ गये! गुरुदेव आ गये, तो वे बेचारे उठकर खड़े हो गये। ठिठक गये, हक्के-बक्केसे हो गये और धोती जो फेंटा बाँधे हुए थे, उनको खोलकर कन्धेपर डाल लिया।

गुरुदेव बोले—अरे, संकोच मत करो, भाई ! अंग्रेजी पढ़ी-लिखी लड़की और संस्कृत पढ़ा हुआ लड़के, दोनोंको नंगा रहनेका जन्मसिद्ध अधिकार है।

आपको यह बात सुनाते हैं कि ये मनीराम आपको नंगा करके फेंक देंगे, दुःखमें डाल देंगे। फिर सत्य क्या है, असत्य क्या है, यह समझनेकी जरूरत रहेगी ? जब मनके लिए सब कुछ ग्राह्य हो गया, तो क्या सच और झूठ समझनेकी जरूरत रही ? वह दुःखमें डाल देंगे ! तब आपको कभी शान्ति नहीं मिलेगी। क्योंकि आपका मन कभी निर्भय नहीं होगा और 'वह चाहिए, वह चाहिए, वह चाहिए।' आपका मन चंचल रहेगा कि 'हमको और चाहिए।' माने 'तुम गरीब हो,' 'तुम गरीब हो,' 'तुम गरीब हो।' जितनी बार मन तुमको कहता है कि 'यह चाहिए', उतनी बार परोक्षरूपसे मन तुमको कहता है कि 'तुम द्ररिद्र हो, तुम्हारे पास यह नहीं है। वहाँसे ले आओ।' 'ओ स्त्री ! तुम्हारे पास यह नहीं है; जा, पुरुषसे माँगकर ले आ !' 'ओ पुरुष ! तुम्हारे पास यह नहीं है; जा, स्त्रीसे माँगकर ले आ !'

'अरे, ओ गरीब !' दुनियामें सबसे गरीब कौन ? जो सेठ मुनीमके हाथमें खेल गया, वह सबसे बड़ा गरीब ! हमारे एक पुराने मित्र हैं। उसके मुनीमसे कोई गलती हुई। गलती तो वह करता ही रहता था, पर एक बार बड़ी गलती पकड़ी गयी। सेठने कहा—'अच्छा, तुम हमारे फर्ममें काम मत करो, निकल जाओ !'

उसने कहा—'हम निकल तो जायेंगे सेठ जी, लेकिन तुम्हारा बहीखाता नम्बर एक और नम्बर दो, सब हमको मालूम हैं और टैक्सकी जितनी चोरीकी है, वह सब हमें मालूम है। हम यहाँसे निकलेंगे तो खायेंगे क्या ? हमको इन्कमटैक्स आफिसमें सीधे ही जाना पड़ेगा।'

अब तो सेठ बिचारा घबड़ाया। सेठने कहा—'तनख्वाह जो तुम लेते हो सो लेते रहो। परन्तु अपने फर्ममें काम मत करो।' यह आपको सच्ची बात सुनायी।

यह मन मुनीम है। यह होना चाहिए सेठके काबूमें। हम जैसे नचावें, वैसे नाचें। वह चाहता है कि हम जैसे नचावें, वैसे तुम नाचो ! तो न शान्ति मिलेगी, न ज्ञान होगा, न दुःख मिटेगा, न अभयपदकी प्राप्ति होगी। उसे तो काबूमें करना पड़ेगा। उसे काबूमें कैसे करें ? बड़ी मुश्किल है।

श्रीगौड़पादाचार्य कहते हैं—

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥

इसके लिए अपरिखेद चाहिए । जैसे, गीतामें लिखा है—

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसः (गीता ६.२३)

ऊबना नहीं, निर्वेद नहीं होवे कि अबतक नहीं हुआ तो कब होगा ? यह मन ही ऐसी कमजोरी लाता है । मन चाहता है कि यह हमें काबूमें न करें । जेलमें न डालें । हमारा निग्रह न करें । इसके लिए मनमें कमजोरी आयी ! क्या कमजोरी आयी ? कि कब तक यह करते रहेंगे ? यह तो होता ही नहीं है ।

एक 'टिटिहिरी'—उपाख्यान आता है—'एक थी टिटिहिरी-चिड़िया । उसने दिया था अंडा, सो समुद्रमें बह गया । टिटिहिरीने कहा—समुद्र ! तुम हमारा अंडा दे दो ! हम तुमको बढ़िया-बढ़िया फल-फूल लाकर चढ़ाते हैं ।' परन्तु समुद्रने नहीं माना ।

यह मन भी समुद्र ही है । कितना विस्तार है इसका ? समुद्र नहीं माना फिर उसने अपने भाई-बिरादरियोंसे कहा—'हमें मदद करो ।'

वे बोले—'कहाँ तुम और कहाँ समुद्र ? हम तुम्हें क्या मदद करें ?

'अच्छा, तुम कोई हमारी मदद नहीं करते, मत करो ।' जाकर समुद्रका पानी अपनी चोंचमें भरे और लाकर बालूमें डाल दे ! चोंचमें भरे और लाके बालूमें डाल दे ! लोगोंने कहा—'पागल हो गयी यह चिड़िया, अपने अंडेके वियोगमें ।'

चिड़ियाने कहा कुछ नहीं । भोजन करले और पानी पीले; फिर लग जाय । एक दिन, दो दिन; तीन दिन ! अब कई लोगोंको बड़ी दया आ गयी ।

उसके लिए मातमपुर्सीके लिए आवें । परन्तु वह तो कभी बंद न करे । वह पानी निकाले और दूसरे लोग खड़े-खड़े देखें, यह कैसे बने ? तो दूसरी चिड़ियाँ भी लग गयीं । एक-एक करके हजारों चिड़ियाँ इकट्ठी होगयीं । गरुडको पता लगा कि आजकल हमारी प्रजा कहाँ चली गयी है ?' 'बताया—पक्षीराज ! आजकल तुम्हारी प्रजा, समुद्र सुखाने चली गयी है ।'

'राम-राम ! हमारी जातिको बड़ा कष्ट है ।' आये और आकर दो-चार पंख समुद्रपर मारा कि—'हम सुखा देंगे ।'

अब तो समुद्र हाथ जोड़कर खड़ा होगया—'क्या आज्ञा करते हैं प्रभो !'

'यह चिड़िया जैसे खुश हो, वैसे करो।'

'अच्छा बाबा, लो, अपना अंडा लो ! माफ करो।' इसे टिटिहिरी उपाख्यान बोलते हैं।

एक महात्मा था। उसकी लंगोटी बह गयी समुद्रमें ! उसने कहा—'वाह ! महात्माके साथ छेड़-छाड़ ? हमको क्या स्वर्ग जानेके लिए यज्ञ करना है ? हमको क्या नरकके डरसे पापसे बचना है ? हमको क्या समाधि लगानेके लिए योगाभ्यास करना है ? हमारा सृष्टिमें कोई कर्तव्य नहीं है ! हमसे छेड़-छाड़ करके बैठे हो ?' लेकर कुशा बैठ गया समुद्रमें किनारे और समुद्रमें कुशाको डुबावे और बाहर पानी छिड़क दे ! 'हम बच्चू, तुम्हें एक जनममें नहीं, दस जनममें, हजार जनममें, लाख जनममें तुम्हें सुखाकर छोड़ेंगे !'

अरे, महात्माके इस संकल्पके सामने ईश्वरका सिंहासन डोल गया।

अपने मनमें कितना विश्वास, कितनी लगन कि हम एक-एक बूँद निकालकर समुद्रको सुखा डालेंगे। महात्मा बुद्धने कहा था—

शरीरं वा पातयामि कार्यं वा साधयामि।

काम बनाकर छोड़ेंगे नहीं तो शरीर छोड़ देंगे। ऐसी न ऊबनेवाली तत्परता चाहिए मनको निग्रह करनेके लिए।

मैं बौरी ढूढन चली, रही किनारे बैठ।

ऐसे लोगोंके लिए यह काम नहीं है। बुद्ध बैठे—

ईहासने शुष्यतु मे शरीरम्।

परमार्थके मार्गमें आत्महत्या नहीं की जाती। वह तो मनकी कमजोरी है। आसनपर बैठकर शरीर सुखाया जाता है। इस आसनपर बैठकर हमारा शरीर सूख जाय—

इहासने शुष्यतु मे शरीरम्।

त्वचा, मांस, हड्डी—'लयं प्रयान्तु'। खाकमें मिल जायँ।

अप्राप्य बोधं बहुकल्प-दुर्लभम्।

बहुकल्प-दुर्लभ बोधको प्राप्त किये बिना यह शरीर अब आसनसे डिगेगा नहीं। ऐसा दृढ़ निश्चय करके मनोनिग्रहके लिए बैठते हैं।

अपरिखेदतः = खिन्न नहीं होना, निर्विण्ण नहीं होना, ऊबना नहीं। दुनियामें और क्या करना है तुमको ? तब तो वैराग्यकी कमी हुई। यह बताया। 'योगदर्शन'में पहले ही यह बताया है कि जिसके मनमें दूसरा कोई काम करनेका संकल्प है कि 'थोड़ी देर मनको रोक लें और फिर चलकर व्यापार करेंगे और फिर बच्चे पैदा करेंगे'—जब एक संकल्पको मनमें रखकर फिर मनको रोकनेके लिए बैठते हैं, कि 'मनको रोक लेंगे तब मजा लेंगे।' तो मजा नहीं लेंगे, बच्चू ! तुम्हें सुखा डालेंगे।

एक साधु था। हमारे वृंदावनमें रहता था। जरा ऐसा ही था। छः घंटे वह उलटे रहता था, पाँव ऊपर और सिर नीचे। जब निकलता तब आँखें लाल-लाल और चेहरा तरातर ! हम लोग पूछते कि 'तुम क्या करते हो ?' तो बोलता—'हमारी सारी दुनियासे लड़ाई है। सम्पूर्ण संसारसे हमारा संघर्ष है। मैं अकेला और सारी दुनिया एक ओर। मैं इस दुनियाके पापको, मनको पकड़कर मार डालूंगा। इसीलिए हमारा चेहरा लाल है।'

इसमें जिद् काम नहीं देती, उपाय काम देता है। क्या उपाय काम देता है ? देखो कि तुम्हारे मनमें दोष क्या है ? उसकी जानकारी हासिल करो। जैसा रोग हो, वैसी दवा करनी पड़ेगी। यह उपाय होता है।

कोई-कोई कहते हैं—'हमारे पास ऐसी रामबाण दवा है, जो सब रोगों-पर अकेली काम करती है। चिकित्सा ऐसे नहीं होती। चिकित्साका विज्ञान होता है।

तुम्हारे मनमें विक्षेप है कि तुम्हारे मनमें लय है ? तुम्हारे मनमें राग है, कि तुम्हारे मनमें कषाय है ? यह बात देखनी पड़ेगी। पहले मनकी जाँच करनी पड़ेगी। हारो मत। इस विषयमें अगला प्रकरण है।

❀

: २८ :

मनोनिग्रहके उपाय तथा विघ्न

उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥४२॥

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥४३॥

लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयात् सम्प्राप्तं न चालयेत् ॥४४॥

नास्वदयेत् सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नात् ॥४५॥

अर्थः—काम और भोगसे विक्षिप्त हुए चित्तका उपायपूर्वक निग्रह करे। लय-अवस्थामें सुप्रसन्न चित्तका भी संयम करे; क्योंकि जैसा (अनर्थकारक) काम है वैसा ही लय भी है ॥४२॥ सब दुःखरूप है—ऐसा अनुस्मरण करते हुए काम और भोगसे चित्तको निवृत्त करे। सब एक अज ब्रह्म ही है—ऐसा अनुस्मरण करते हुए फिर कोई जात पदार्थ नहीं देखता ॥४३॥ चित्त यदि लीन होने लगे तो उसे जगावे और यदि विक्षिप्त हो जाय तो पुनः उसे शान्त करे। चित्तको कषाय सहित समझे। यदि वह साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाय तो फिर उसे विचलित न करे ॥४४॥ किन्तु उस साम्यावस्थामें होनेवाले सुखका आस्वादन न करे बल्कि बुद्धिके द्वारा निःसंग रहे। फिर यदि चित्त बाहर जाने लगे तो उसे प्रयत्न करके निश्चल और एकाग्र करे ॥४५॥

काम भोगयोः विक्षिप्तः = विषय और विषय-भोगकी इच्छासे विक्षिप्त हो गया मन—हमको यह चाहिए, यह चाहिए। क्षिप्त माने फेंका हुआ; 'वि' माने विविध या विपरीत। अतः विक्षिप्तका अर्थ है कि विविध दिशाओंमें अथवा परस्पर विपरीत दिशाओंमें अथवा अपने इष्ट (लक्ष्य) के विरुद्ध दिशामें चित्त-का जो क्षेपण है (अपनेसे दूर फेंका जाना है) उसका नाम है विक्षिप्त।

एक बार कहते हैं—हम ईश्वरको प्राप्त करेंगे। एक बार कहेंगे—आओ, भोग कर लें। यह परस्पर विरुद्ध दिशा हो गयी। भोगमें भी एक नहीं, कई—

कभी यह चाहिए, कभी वह चाहिए। यह विविध दिशा हो गयी। तो अपने इष्टके विरुद्ध ले जाना, परस्पर विपरीत दिशामें ले जाना और विविध दिशाओंमें ले जाना—यह उद्देश्यकी हीनताका सूचक है। अभी तुम्हारे कोई इष्ट देव नहीं हैं। इष्ट नहीं होनेसे मन विक्षिप्त है। इष्टका अर्थ भी संसारी लोग ठीक-ठीक नहीं समझते हैं।

एक बार हम चूरूके ब्रह्मचर्याश्रममें गये। वहाँ बच्चोंसे पूछा—तुमको कौन-सी पुस्तक अच्छी लगती है? तो बोले—उपनिषद्, गीता, रामायण। हमने कहा—हम यह नहीं पूछते कि कौन-सी पुस्तक अच्छी लगनी चाहिए। वह तो तुमने व्याख्यानमें सुना होगा कि उपनिषद् अच्छी है, गीता अच्छी है। तुम्हें स्वयं कौन-सी अच्छी लगती है?

बोले—'हमें कहानी अच्छी लगती है, हमें उपन्यास पढ़ना अच्छा लगता है' तो, इष्ट वह नहीं है, जो तुम व्याख्यानमें सुनकर आते हो! इष्ट वह है, जिसको मन चाहता है। क्या तुम्हारा मन समाधिको चाहता है? परमात्माको चाहता है? शान्तिको चाहता है?

इष्ट एक न होनेके कारण मन विविध स्थानपर जाता है और इष्टमें दृढ़ता न होनेके कारण विरुद्ध दिशामें जाता है। मनको विरुद्ध दिशासे रोकना है और विविध दिशासे रोकना है। इष्टसे द्वेष हो जाय, वह तो विरुद्ध दिशामें गया। परस्पर विपरीत संकल्प नहीं करना और परस्पर विरुद्ध दिशामें नहीं जाना। 'उपाय' माने मनमें जैसा दोष होता है, उसके अनुसार उपाय किया जाता है। 'विक्षिप्त' = मनको उठाकर फेंक दिया कहीं।

हमारे महात्मा लोग ऐसे बोलते हैं—'अरे, वृत्तिको तो उठाकर फेंक दिया चिदाकाशमें, अब तो यह रही नहीं। अब उसको क्या पकड़ें और उसका क्या निग्रह-अनुग्रह करें? हमारी वृत्तिके लिए हमें न निग्रह चाहिए, न अनुग्रह चाहिए, न विग्रह चाहिए। जब संसारमें हमारा किसीसे विग्रह नहीं है तो वृत्तिका निग्रह क्या करें और निग्रह ही नहीं करना है, तो किसीका अनुग्रह क्यों चाहें!

अनुग्रह तो उसको चाहिए जिसको आग्रह होता है। जिसको संग्रह नहीं हैं, परिग्रह नहीं है; आग्रह नहीं है, उसको अनुग्रहकी क्या जरूरत है? और, फिर उसको निग्रहकी भी क्या जरूरत है? परन्तु जब मनमें विग्रह है, तो उस विग्रहको मिटानेका आग्रह होगा। आग्रह होगा तो निग्रह भी चाहिए और निग्रह करोगे तो अनुग्रह भी। परन्तु उसके लिए चाहिए उपाय।

विक्षिप्त चित्तको डाँट-डपटकर, डण्डा दिखाकर काम नहीं बनता है। उसको मनाना पड़ता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—'हे गोपियो ! तुमको मनानेमें हमको जितनी तकलीफ पड़ती है, गोवर्धन उठानेमें हमको उतनी तकलीफ नहीं पड़ती।'

चित्तवृत्तिको मनाना—इसको संस्कृत भाषामें 'प्रसादन' बोलते हैं—

मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षाणाम्।
सुखदुःख पुण्यापुण्यविषयाणां चित्तप्रसादनम्॥

कैसे चित्तप्रसादन होवे ? चित्तको प्रसन्न करो। सुखीको देखकर जलो मत। दुःखीको देखकर घृणा मत करो। उसपर दया करो, पुण्यात्माको देखकर उससे स्पर्धा मत करो, आनन्दित हो जाओ। पापीको देखकर उससे द्वेष मत करो। उसकी उपेक्षा करो।

अपने चित्तको मनानेका ढंग होता है। वह सीखना पड़ता है। मनावें कैसे ? अलौकिक युक्ति हैं मनको वशमें करने की। फिर नींदसे जगानेकी युक्ति-सुप्रसन्न। यद्यपि नींदमें बड़ा आराम मिलता है 'सुप्रसन्नमपि लयेषु'—निद्रा आनेसे मन बड़ा प्रसन्न हो जाता है। फिर भी उसको वहाँसे जगाके परमात्मामें स्थिर करना पड़ता है।

× × ×

मनको बिलकुल छुट्टी देनेका जो सिद्धान्त है, वह तो व्यवहारमें शक्य ही नहीं है कि मन जो चाहे, सो ही करो। अरे, अन्ततोगत्वा पुलिसके डरसे, समाजके डरसे, कानूनके डरसे कहीं-न-कहीं तो रुकना पड़ेगा। मनको बिलकुल छुट्टी दे देनेका सिद्धान्त गलत है। नहीं भाई, मनको रोको, नहीं तो पागल हो जाओगे।

मन तो कहता है कि 'दूसरेके जेबका नोट निकाल लो।' 'मनको रोकना नहीं, नहीं तो पागल हो जाओगे।'—यह सिद्धान्त अर्थकी दृष्टिसे भी गलत है, कर्तव्यकी दृष्टिसे और भोगकी दृष्टिसे भी गलत है। क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इस दृष्टिसे भी यह गलत है। भोग, अर्थ, कर्तव्य-जीवनकी दृष्टिसे भी यह गलत है।

हमारे एक मित्र थे, उनको जलोदर हो गया था। जातिके क्षत्रिय थे। उनको मछली खानेका बहुत अभ्यास था। डाक्टरने कहा कि मछली खाओगे तो मर जाओगे। वह देहाती आदमी मछली भी एक-दो खानेवाले नहीं थे!

खायँ तो सेर-आध-सेर खा जायँ ! डाक्टरने कह रखा था, 'जिस दिन खाओगे, मर जाओगे !'

एक दिन मन नहीं माना। मनको कैसे रोकें ? मनको रोकेंगे तो पागल हो जायेंगे ! मछली खायी और उसी दिन मर गये ! इसीसे उनकी मौत हुई। उनका नाम 'हरीसिंह' था। हमारे गाँवके पास 'बदायूँ' नामका गाँव है। वहींके रहनेवाले थे।

जीवनकी दृष्टिसे भी यह असंगत है। लोगोंका विश्वास तो बनाये रखना चाहिए। जिस व्यापारमें काम करते हैं, जिस दुकानमें काम करते हैं, जिस ऑफिसमें काम करते हैं—अगर आप बिलकुल अपनेको अपने मनपर छोड़ देंगे कि हमारा मन जो कहेगा, सो ही करेंगे; तो कोई आपका विश्वास करेगा ? मनको एक मर्यादाके अनुसार चलाते हैं, तभी विश्वसनीय होता है। मर्यादाके अनुसार चलानेके लिए मनपर कहीं रोक जरूर लगानी पड़ेगी। बिना रोक लगाये भी यदि व्यवहार ठीक रहे तो वह अराजवाद (स्टेटलेस सोसाइटी) में ही सम्भव है जिसकी कल्पना साम्यवादियोंने की है; परन्तु वह स्थिति उनका सिद्धान्त ही है, वह उनका व्यवहार नहीं है।

आपको यह भी मालूम होना चाहिए कि जो बहुत ऊँचा सिद्धान्त होता है, उसको परिस्थितिके अनुसार लचीला होना पड़ता है। होगा साम्यवादी और दोस्ती करेगा लीगी से, जैसे केरलमें करते हैं। इसलिए, जैसे बच्चेको फुसलाते 'लालयेत् चित्तबालाकम्' (योगवासिष्ठ) वैसे यह चित्त भी एक बच्चा है, उसको दुलार-दुलारकर प्यार करो। यह जब प्यार करनेको व्याकुल हो तब उसे पीठपर थापी देकर सुलाओ। मनको बिलकुल उसीपर नहीं छोड़ा जा सकता।

उपायेन निगृह्णीयात्—यही उपाय है। उपाय क्या ? उपाय माने लक्ष्यके निकट ले जानेवाला साधन। आय = लक्ष्य, आमदनी। जिसको आप पाना चाहते हैं, उसको 'आय' बोलते हैं। उपाय = जो बिलकुल आपके लक्ष्यके निकट पहुँचा दे। जैसे सभापतिके पास उपसभापति, मन्त्रीके पास उपमंत्री, रामके पास उपराम; उपरामतासे मनुष्य रामके पास पहुँच जाता है; वैसे आयके पास उपाय। चार उपाय बिलकुल स्पष्ट हैं। कल तो मैंने कई अभ्यास सुनाये थे—१. बाध-प्रक्रियाका अभ्यास, २. लय-प्रक्रियाका अभ्यास, ३. साक्षीप्रक्रियाका अभ्यास, ४. दृष्टा-प्रक्रियाका अभ्यास।

अपनेको द्रष्टा माननेवाली प्रक्रिया साक्षीकी अपेक्षा विलक्षण है। लय और द्रष्टापना—ये अलग-अलग प्रक्रिया हैं। वेदान्तमें चार उपाय मानते हैं—

१. अध्यात्मविद्याका अधिगम, २. सत्संग, ३. वासनाओंका संकोच और ४. प्राणायाम। ये क्रम-क्रमसे हीन हैं।

१. सबसे पहले अध्यात्मविद्याका अधिगम। जैसे कोई डॉक्टर दवा तो देता हो, पर शरीरकी रचना उसे न मालूम हो, तो क्या दवा देगा? आँख-कान-नाक, मनकी रचना कैसे है? शरीरके भीतर काम करनेवाली हमारी कर्म-प्रक्रिया और ज्ञानप्रक्रिया क्या है? हमको आनन्द कैसे आता है, यह भी ज्ञानप्रक्रियाके अंतर्गत है। तीनोंको ठीक-ठीक समझ लेनेसे 'मन' नामका जो भूत है, वह खोज करनेपर भीतर मिलता नहीं है। यह है अध्यात्मविद्याधिगमः।

मन न पीला है, न काला, न एक बित्तेका, न एक गजका, न एक छटाँकका, न एक सेरका। न इसमें आकार है, न उम्र है, न वजन है। जब ज्ञानमात्रसे ज्ञात जो मनका अत्यन्ताभाव है उसको जानोगे तो वह मनको शान्तकर देगा। मन है ही नहीं।

(२) अध्यात्मविद्याधिगमकी प्रक्रिया न आवे तो सत्संग करो। धीरे-धीरे बात समझमें आ जायगी।

(३) वासनाओंका संकोच—ये वासनाएँ दौड़ाती हैं। जैसे इस जन्ममें वासनाएँ इधरसे उधर भटकाती हैं, वैसे मरनेके बाद भी भटकाती हैं। वासनाको एक दायरेमें, एक सीमामें ले आओ। यह वासना-सम्परित्याग है।

(४) प्राणस्पंदनिरोधन—इसकी कितनी ही युक्तियाँ हैं। केवल आँखकी पुतली स्थिर कर दो, बस! आँख खुली रहे, चाहे बन्द रहे, पर आँखकी पुतली स्थिर कर दो। यह सीखना पड़ता है। श्वासको स्थिर कर दो। आँखकी पुतली स्थिर कर देनेसे भी प्राण ही रुकता है, क्योंकि पुतलीको प्राण ही चलाता है। पुतली रोकनेसे श्वास ही रुकती है।

जीभको रोक दो बीचमें, न ऊपर न नीचे। दाँत भी एक-दूसरेको न छुए। जीभ भी ऊपर-नीचे न छुए। यह भी प्राणका ही निरोध है, क्योंकि जिह्वाकी नोंकपर मन जाकर टिक गया। इसका वर्णन आता है वेदोंमें।

दोनों अंगूठोंको अंगूठोंसे दबाओ। यह भी प्राणस्पन्दनिरोधकी प्रक्रिया है। शरीरको स्थिरकर दो, आसन बाँध दो!

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव लक्ष्यम्।
प्राणा स्थिरा यस्य विनावरोधम्।
वृत्ति स्थिरा यस्य विनावलम्बम्॥

जिसकी बिना लक्ष्यके दृष्टि स्थिर हो, बिना अवरोधके प्राण स्थिर हो, और बिना अवलम्बके वृत्ति स्थिर हो—वही पूज्य है, वही योगी है, वही गुरु है।

स एव योगी स गुरु सुपूज्यः॥

'उपायेन निगृह्णीयात्'—इसके लिए उपाय करना पड़ता है। थाड़ा चारा दो। मनीराम! कहाँ जाते हैं? गंध सूँघनेके लिए जाते हैं, बेला-चमेलीके बगीचेमें जाते हैं। 'नहीं, श्रीकृष्णके श्रीअंगसे सुगंध आ रही है, वह यहीं मिल जाती है।' यही उपाय है। आत्मा है 'सर्वरसः सर्वगंधः सर्वकामः।'

'मन! कहाँ जा रहा है?' 'खानेके लिए जा रहा हूँ।' 'देख, क्या स्वाद आ रहा है, श्रीकृष्णमें? यह सारा-का-सारा ज्ञानात्मक ही है। यह न समझना कि स्वाद इत्रमें-से आता है, या स्वाद भोजनमें-से आता है। अगर अपने मनीराम दूसरी जगह हों, तो गंधका पता ही नहीं चलता! क्या गंध आया, क्या गया, कैसे मालूम पड़े? 'क्या खाया, क्या नहीं खाया, कैसे मालूम पड़े? किसी दिन मन अन्यत्र हो, तो पता ही न चले।

अन्यत्र मनः अभूव ना श्रृण्वम्।
अन्यत्र मनः अभूव ना पश्यन्॥

उपाय करनेमें यह देखो कि तुम्हारा मन किस विषयकी ओर जाता है? ढोंग नहीं चलता इस मार्गमें। चाहते तो सब कुछ हैं और कहते हैं—'हमें कुछ नहीं चाहिए।'

एक हमारे मित्र थे, पहुँचे हुए थे, गृहस्थ थे, साधुओंको भोजन कराते थे। साधु होनेके बाद, पहली बारकी बात है जब हम एकाएक उनके यहाँ पहुँचे—साधु होनेके पहलेका तो परिचय था, परन्तु करपात्रीजी महाराजके दिल्लीवाले यज्ञमें गये थे, तो वहाँ भोजनवाली विधि ठीक नहीं बैठी—अन्न अनुकूल नहीं पड़ी। दंड भी था हाथमें। सो उनके यहाँ पहुँच गये!

वे भोजन कराने लगे। हमने कहा—'अन्न हमें नहीं चाहिए।' वे बोले—'देखो, एक बार मना करनेपर हम दुबारा नहीं देंगे। खानेका मन हो, तो ले लो! खानेका न मन हो, तो मना कर दो। हमारा नियम है कि हम दुबारा नहीं पूछते, क्योंकि हम जबरदस्ती किसीको खिलाना नहीं चाहते कि

वह अपने पेटको नुकसान करके खाय ! न हम अन्न खराब करना चाहते है न पेटको। मन हो, तो ढोंग मत करो कि—'हमको नहीं चाहिए। साफ-ही-साफ बात कर लो।'

कई बार लोग बोलते हैं कि—'हमें कुछ नहीं चाहिए !' परन्तु चाहिए उन्हें सब कुछ ! यदि मन तुम्हारा क्षिप्त हो माने फेंका हुआ हो; जैसे तुम खड़े हो यहाँ, और मन गया दही-बड़ेमें ! तो मन क्षिप्त हो गया। अर्थात् कलेजेमें-से निकलकर चला गया पट दही-बड़ेमें।

अथवा मन एक बार दहीबड़ेमें गया और एक बार गुलाब-जामुनमें गया। तब भी मन क्षिप्त हो गया। मिठाई और नमकीन—ये दोनों स्वाद परस्पर विपरीत हैं। विविधमें विरुद्धमें, मनका भटकना क्षिप्तता है। तो कैसे करना ? उसको उपायसे रोकना। उपाय भी कई तरहके होते हैं—

(१) समझाना-बुझाना—'हे मेरे प्यारे मन ! सब सुखको सुख बनानेवाला तो अपना आत्मा है, परमात्माका स्वरूप, सच्चिदानन्दघन ! जहाँ रह रहे हो, वहाँ तुमको अपने घरका सुख सुख नहीं मालूम पड़ता कि बाहर सुख लेने जा रहे हो ?

(२) जिस सुखकी कल्पना मन करे, उससे भी बढ़िया सुखकी कल्पना कर दो ! डण्डा मत मारो। अगर वह चाँदी चाहता है, तो उसे सोना दो, सोना चाहता है, तो हीरा दो ! बढ़िया-से-बढ़िया, जो उत्तम सुख हो, वह उसे दो !

उत्तम सुख कौन है ? जिसमें मेहनत न करनी पड़े, जो अपने घरमें हो, पराधीन न हो। जिसके लिए इन्तजार न करनी पड़े, मालूम पड़ता हुआ हो और हमेशा रहे। ऐसा क्या है ? वह मनके बाहर नहीं, मनके भीतर है, अपना स्वरूप है।

यह मनके भीतर बसता है। इसका नाम आत्मा है, आत्मा ! समझाओ उसको; भीतरका सुख दिखाओ उसको ! उपाय करो। मनको वशमें करनेका उपाय है।

मन सो जाय तो ? यद्यपि सोते समय मनुष्यको कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, परन्तु सोनेकी स्थिति अज्ञानरूप है।

सुप्रसन्नं, आयासवर्जितमपि लये सुषुप्तौ।

निगृह्णीयात्—यद्यपि सुषुप्ति कालमें कोई श्रम नहीं करना पड़ता और सुख भी होता है, तो भी सो जानेपर मनको जगावे। कई लोगोंका भ्रम होता है कि हमको समाधि लग जानी है यद्यपि वे सुषुप्तिमें होते हैं।

हमारे एक साथी थे। इसलिए कि ये तो बहुत बड़े, लेकिन श्रीउड़िया-बाबाजी महाराजके पास वे भी सत्संग करते थे, हम भी सत्संग करते थे। इसलिए साथी बोलते हैं। जब सत्संग होने लगता—तो उनका पेट मुझसे भी बड़ा था—तब वे दोनों हाथ पेटपर जमाकर सो जाते थे—सत्संगमें, बीच ही में। घर्र-घर्र नाक बोलने लगती।

बाबा कहते—'गणेश! क्या करते हो?'

'अच्छा, कुछ नहीं। बाबा, जरा समाधि लग गयी थी।'

सुषुप्तिका नाम समाधि नहीं होता। मनके ठप्प हो जानेका नाम या लय हो जानेका नाम समाधि नहीं होता। सुषुप्ति तो एक वृत्ति है। यह निरुद्ध होनी चाहिए। अब निरोधकी बात आपको बताते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि बेकाबू हो गये। नींद चाहे जब आवे और चाहे जब खुल जाय—इतना काबू अपनी नींदपर होना चाहिए। बचपनमें नींदपर हमारा काबू था। काबू करके तो छोड़ दिया। हमको ठीक याद है। एक बार रातको 'विल्वपुरम्' स्टेशनपर थे। पांडिचेरी और रमण महर्षिके यहाँ तिरुवन्नामल्लै जानेके लिए दोनों जगह एक ही गाड़ी जाती थी। उधर अरविन्द आश्रम इधर रमण आश्रम। स्टेशनपर थे, तो सो गये। हमने कहा—हमारी नींद दो बजकर तीन मिनटपर खुलनी चाहिए। तीन मिनट जानबूझकर जोड़ा। तो तीन ही मिनटपर नींद खुली। न दोपर, न चारपर।

ये वृत्ति जितनी है, ये न आवें, यह जरूरी नहीं है। आवें, परन्तु अपने काबूमें रहें। जो वृत्ति हमको काबूमें करती है वह तो हमको पराधीन बनाती है। वह हमको इष्ट नहीं है। जो वृत्ति हमारे काबूमें रहती है, वह हमारी प्रिय वृत्ति है।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच वृत्तियाँ हैं। प्रमाण = यह जो हम अपनी इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य जगत्का अनुभव करते हैं। हम जब चाहें तब अपनी सारी इन्द्रियोंको ठप्प कर दें, बाह्य जगत्का अनुभव न करें।

विपर्यय—कुछका कुछ दिखता है। जो चीज जैसी है, वैसी दीखे तो पर्यय और जैसी है वैसी न दीखे तो विपर्यय।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठम्। (योग० १.८)

विकल्प निद्रा और स्मृति ये पाँचों वृत्ति निरुद्ध हों, हमारे काबूमें हों। निरुद्ध हों माने जब हम इनका प्रयोग करें तो काम करें, और जब प्रयोग न करें, तो काम न करें। इनको मारना नहीं; मारनेका नाम योग नहीं है, कि निद्रा बिलकुल आवे ही नहीं। याद किसीको आवे ही नहीं। खूब याद आवे, जब चाहे तब याद आवे, न चाहे तब याद न आवे।

हम जब भगवान्‌का ध्यान करना चाहें, तब हो जाय। हम जब वृत्तिको निःसंकल्प करना चाहें तब निःसंकल्प हो जाय। समाधि लग जाय। इसीका नाम निरोध है।

शरीरमें जो रोग आता है, वह चित्त विक्षेपके कारण आता है। यह चित्त-विक्षेपकी वृत्ति पाँच प्रकारकी होती है—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

'मूढ़'—बिलकुल देहदशाको प्राप्त। निद्रावृत्ति, लयवृत्ति, मूढ़वृत्ति है।

'क्षिप्त'—स्वर्गादिकी इच्छा—हमारी चित्तवृत्तिको बहुत लम्बे फेंक देती है।

'विक्षिप्त'—यहाँ गया, वहाँ गयी। वर माला हाथमें लिए हैं कि किसके गलेमें पहनावें? जिन्दगीभर वरमाला ही हाथमें लिए घूमते हैं कि किसको गुरु बनावें? किसको इष्ट बनावें? किसके मन्त्रका जप करें? किससे ब्याह करें? नारायण! अरे, जब सारी जिन्दगी बीत जायगी, तो काहेके लिए ब्याह करोगे? किससे ब्याह करोगे?

'एकाग्र'—एकमें लग गयी?

'निरुद्ध'—काबूमें हो गयी?

अब मनोनिग्रहके विघ्न बताते हैं—(१) 'राग' (व्याधि)—चित्तके विक्षेपसे ही रोग होता है। यह चित्तकी एकाग्रताका विघ्न है।

(२) 'श्यान'—कुछ करनेका मन हो न हो या प्रमाद है।

(३) संशय—जने जनेपर संशय हो—किसीको देखें, तो संशय हो कि कहीं ये हमको मार न डालें। इसे 'नरवस' बोलते हैं एक 'नाड़ीवस' होते हैं। ये पागल होते हैं। उसकी नाड़ीमें जैसा खून दौड़ता है, उसके अनुसार मान लेता है। एक 'नारीवश' भी होते हैं, और एक 'नालीवश' होते हैं। उनको चर्चा छोड़ दो।

व्याधि, संशय, प्रमाद—ये तीन विघ्न हुए। प्रमाद काम तो याद है कि हमें करना चाहिए, लेकिन समयपर किया नहीं—यह प्रमाद है। कामकी याद ही नहीं आये, तो यह आलस्य है।

(४) 'भ्रान्तिदर्शन'—बात कही गयी किसी भावसे और समझ लिया किसी भावसे, यह भ्रान्ति-दर्शन है। एक हमारे पास ब्रह्मचारी था। तीसेक वर्षकी बात है। कोई बहुत मामूली-सा काम उसने ऐसा किया जो हमें पसंद नहीं आया। अपने पास कहींसे कोई चीज आयी थी और उसने बिना हमसे पूछे किसी रासधारीको दे दिया, रासके स्वरूपको दे दिया। तो हमने कहा कि 'यह आदत अच्छी नहीं है। अरे, जब तुम्हारा प्रेम, राग किसीसे हो गया तो आज छोटी चीज देते हो, कल बड़ी चीज देनेका मनमें आवेगा और फिर छिपाने लग जाओगे; तो इसकी परम्परा ठीक नहीं है।' बात इतनी थी।

अब वह रूठ गया। रूठ गया तो जब हम उसे मनावें तब तो कहे, 'इनको हमारी गरज है सेवा करानेकी।' तब तो वह मने नहीं। और जब डाँटें तो वह कहे कि—'देखो न, ये तो हमको डाँटते हैं। हमसे इनका प्रेम नहीं है।' अब हम करें क्या?

वह चाहता तो दोनों हालतमें अनुकूल सोच सकता था कि—मानते हैं कितना हमसे प्रेम है! और डाँटते हैं तो—कितना हमको अपना समझते हैं। लेकिन उसने दोनों हालतमें प्रतिकूल ही सोचा तो कोई रास्ता हो नहीं रह गया। यह जो मनोवृत्ति है वह भ्रान्तिदर्शनकी है। इसके सम्बन्धमें बड़ी-बड़ी बात आती है।

(५) 'अलब्ध भूमिकत्व'—हम हैं तो नहीं, लेकिन मान बैठें कि—'हम बहुत ऊँची भूमिकापर बैठे हैं। हमारा मन काबूमें है।'

(६) 'स्तब्धी भावः'—हमारे संस्कृत साहित्यका मनोविज्ञान शास्त्र बहुत विलक्षण है! मनकी एक अवस्था ऐसी भी होती है कि आदमी खम्भेकी तरह जड़ हो जाता है। हमको ऐसी अवस्थाका अनुभव हुआ है। बिलकुल जड़! हिलाये हिले नहीं, डुलाये डोले नहीं। बुलाये बोले नहीं! भावसे ऐसा हो जाता है—स्तब्धी-भाव।

जने-जनेपर शंका होना, प्रमाद होना, आलस्य होना, भ्रांतिदर्शन होना, ऊँची भूमिकामें नहीं पहुँचनेपर भी अपनी ऊँची भूमिका मान बैठना कि हमारे बराबर कौन?—ये सब चित्तके विक्षेप हैं। ये सब-के-सब साधनके विघ्न हैं। इन विघ्नोंके रहते तुम जिस चीजको पाना चाहते हो, वह नहीं मिलेगी।

अब और देखो ! (७) दुःख ! बारम्बार मनमें दुःख आना, यह भी मनके काबूमें न होनेका लक्षण है।

(८) 'दौर्मनस्य'—चित्तको एकाग्र करना होता है तो शरीरमें स्थिरता आती है। बारम्बार मन दुःखकी कल्पना नहीं करता। वह तो शक्कर ढूंढ लेता है। हर समय दुर्मना, हर समय दुर्मना ! दुर्भाव-ही-दुर्भाव ? दूसरेके बारेमें भी और अपने बारेमें भी ! यही कल्पना आवे कि 'अब तो हमको रोग हो जायगा, अब हम मर जायेंगे, हमको सब लोग छोड़कर चले जायेंगे, हमारा कोई प्रेमी नहीं है,'—अरे ! यह कोई सोचनेकी बात है ?

जहाँ ईश्वर साथ है, परमात्मा अपना आपा है, वहाँ ऐसा क्यों सोचना ? यह तो अपने मित्रका, अपने इष्टका, अपने गुरुका तिरस्कार करके ही ऐसा सोचते हैं कि हमारा कोई नहीं ! यह दुःख है, दौर्मनस्य है।

(९) 'अंगमेजयत्व'—शरीरका काँपना—इधर अँगुली तोड़ रहे हैं, इधर पाँव पटक रहे हैं, इधर बार-बार पालथी बदल रहे हैं, इधर हिल रहे हैं। ये सब मनकी चंचलता, मनके विक्षेपका लक्षण है।

अगर कोई बैठे हैं और झूम रहे हैं तो—हमारे घरमें बैल झूमता था न, तो उसे बेच देते थे, घरमें नहीं रखते थे। उसको 'झूमना-बैल' बोलते हैं।' झूमना दोष है। बस, खड़ा होकर 'झूमना-बैल' झूम रहा है।

(१०) 'लय'—उपायसे मनका निरोध करना चाहिए और लीन भी नहीं होने देना चाहिए। लीन होना भी दोष है।

'यथा कामो लयस्तथा'—जैसे वासनावासित अंतःकरणसे पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती, वैसे ही लीन अंतःकरणसे भी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती। जो कामग्रस्त पुरुष होता है वह अपने धनका नाश कर देगा।

एक हमारा मित्र है। 'एक करोड़ रुपया हमें मिल जाय'—इसके लिए पचास लाख रुपया उसने खर्चकर दिया, फूंक दिया। घरके पचास लाख तो चले गये, और ठनठनपाल ! जब मनमें ज्यादा लोभ आता है, तब हानि हो जाती है। सामान्यरूपसे अपने जीवनको चलाना चाहिए।

यथा कामोलयस्तथा—जैसे कामनामें अर्थकी हानि हो जाती है, वैसे धर्मकी हानि भी हो जाती है। जब कामना बढ़ती है, तब बोलते हैं कि 'बाबा! क्या रखा है धर्ममें ? यह तो बुर्जुआ लोगोंका काम है, अहमक-लोगोंका काम है। बच्चे आपसमें बात करते हैं—'हमारे माँ-बाप बिलकुल अहमक हैं, वे क्या समझें ?'

एक बापने अपने बेटेसे कहा—सच्ची बात सुनाता हूँ—'ईश्वरने सृष्टि बनायी है बेटा, तुम यह बात क्यों नहीं मानते ?'

'हाँ पिताजी ! बनायी होगी कभी; बहुत पुरानी बात है। बनाकर मर गया होगा। अब जिन्दा नहीं है।' ऐसे कहा। बाप तो समझ रहा था, ईश्वर है। और बेटेको अकल चौकड़ी भर रही है।

बोले—'जरा धर्मके अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए।' तो कहेंगे 'यह तो जब लोग जंगलमें रहते थे, पढ़े-लिखे नहीं थे, तबकी बात है। रॉकेटके युगमें और अणुयुगमें, जब हम चन्द्रमा-मंगल-शुक्रपर पहुँच रहे हैं, तब इस युग-आप धरमकी बात करते हैं ?'

आजकल सबसे बड़ा धर्म क्या है ? रिकार्ड बजाकर उसके साथ नाचना यह सबसे बड़ा धर्म है। नाचना भी नहीं, उसमें भी कोई ताल, स्वर, कोई गति हो, सो बात नहीं है। वह भी ऐसा उच्छृङ्खल कूदना—यह धरम है। मनको भी लोग ही बनाते जा रहे हैं। तुम मनमुख हो कि गुरुमुख हो ? यह बात सोच लो।

जैसे कामनाकी अधिकतामें धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थको सिद्धि नहीं होती, भोग भी सिद्ध नहीं होता। वासना बड़ी प्रबल होगी तो भोग भी नहीं कर सकता। वासना जितनी शान्त होगी, भोगका उतना ही अधिक सुख आवेगा। हम भोगके बारेमें भी संसारियोंको बता सकते हैं। भोगका सुख मिलता ही तब है, जब मन एकाग्र हो ! भोजनका सुख, शयनका सुख, स्त्री-पुरुषके मिलनका सुख तब मिलेगा, जब मन एकाग्र हो, जब वासनाका वेग बहुत प्रबल न हो।

जब वासनाके वेगमें धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं है, तब मोक्षकी तो चर्चा ही छोड़ो। वैसे, ही सो जाने पर भी किसी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होगी। मनका लय हो जानेमें भी धर्म नहीं, अर्थ नहीं, काम नहीं, मोक्ष नहीं।

बोले—'चलो, सोते रहेंगे !' आजकल तो सब चिन्ता छुड़ानेकी 'चिन्ता-हरण वटी' डॉक्टरोंके पाससे मिलती है। 'चिन्ताहरण वटी' क्या है ? कि 'सुला दो।'

पहले हम लोगोंकी तरफ गाँवमें 'दुःखहरण' होता था। इशारेका शब्द है यह। जब गाँवमें कोई बहुत बदमाशी करता, तब कहते थे कि बिना 'दुःख-हरन'के ये नहीं मानेंगे। दुःखहरन माने डंडा। ले आओ इनके लिए 'दुःख-हरन'

इन डॉक्टर लोगोंने यह निश्चय किया है कि अच्छा इनको घाटा लग गया है, इनको चिन्ता हो गयी है, इनको नींद नहीं आती है, तो लाओ—'चिन्ताहरन वटी'। नसको कोमल कर देते हैं, उसके तनावको मिटा देते हैं। परन्तु उससे किस पुरुषार्थकी सिद्धि होगी? लयसे पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती।

× × ×

अच्छा, अपने मनको मनावे कैसे? तो उपाय चाहिए—

दुःख—आजकलके लोग दु.ख कब समझते हैं? शरीरमें जरा फोड़ा हो गया, तो बोलते हैं—'दुःख हो गया।' कहीं डंडा लग गया तो 'दुःख हो गया।' किसीने गाली दे दी तो 'दुःख हो गया।' पूर्वमें दुःखका निर्णय कैसे होता था?

कहीं मोह हो जायगा तो मोहसे आशयका निर्माण हो जायगा। माने जिससे मोह होगा, अन्तःकरण उससे तदाकार हो जायेगा, अन्तःकरण तदाकार हो जायगा, तो अन्तमें उसी भावकी प्राप्ति होगी।

इसी प्रकार किसीसे द्वेष हो जायगा तो अन्तःकरण शत्रुके आकारको प्राप्त हो जायगा। आप यह समझना कि जिसके दिलमें दुश्मन है, उसका शरीर भी शत्रुकी तरह बन जायगा। जिसको तुम बाहर नहीं रहने देना चाहते, वह तुम्हारे दिलमें घुसकर तुम्हारे जीवनका निर्माण करेगा।

जिससे मोह है, उसका आकार चित्तमें आवेगा और आशयको तदाकार बनाके मूढ़ कर देगा। जिससे द्वेष होगा, द्वेषसे भी इसी प्रकार संस्कारका निर्माण होगा। बुरे काम करोगे तो उससे और राग करोगे तो उससे भी आशयका निर्माण होगा।

आप यह सोचो कि आप जो खाते हो, भोग करते हो, इकट्ठा करते हो, जिसके साथ आप उठते-बैठते-मेलजोल करते हो, उसके सम्पर्कसे आपका जो हृदय बनेगा, उसकी शकल आगे कैसी होगी? योगकी भाषामें इसे बोलते हैं—'परिणाम-दुःख।'

भयसे, क्रोधसे, रागसे, मोहसे, जैसा, जिससे किया जाता है, उसीकी शकलका हमारा यह अन्तःकरण बन जाता है। 'कर्माशय' इसको बोलते हैं। इसीसे भविष्यका जीवन—इस जन्मके लिए भी और अगले जन्मके लिए भी—निर्माण होता है। अगर इस समय आप अपने दिलको दुनिया में किसीसे ऐसे जोड़ते हैं, जिससे आपका दिल बिगड़ जाय, तो आप स्वयं दुःखकी ओर जा रहे हैं।

ऐसा काम किया, जिससे बादमें पछतावा हो, अपने-आपको ताप-पश्चात्ताप हो या करते समय ही जलन हो, ये दोनों तुम्हारे जीवनको दुःखके गड्ढेमें डालेंगे।

संस्कार कैसे बनता है ? आपके चित्तमें विकारकी प्रधानता होती है या संस्कारकी ? तुम्हें जो दुःख है, वह किस बातका है ? 'गुणवृत्ति-विरोध'का है। एक दिन बाहर निकले, तो मनमें आया कि जरा सत्संगमें हो आवें ! तुरन्त ख्याल आया कि यदि वहाँ जायेंगे, तो टाटपर बैठना पड़ेगा। हमारे एक सत्संगी हैं, वे सत्संगमें नहीं आते हैं। वे कहते हैं कि लोगोंकी साँस हमारी साँससे मिल जाती है। नीचे बैठना पड़ता है। डॉक्टर हो तो कहेगा कि इन्फेक्शन लग जायगा। एलर्जी हो जायगी। मगर भाई मेरे ! यह सत्संग सब इन्फेक्शन और सब एलर्जीको स्वाहा कर देता है, इसमें मनका प्रसाद है ! और मनकी प्रसन्नतासे जो शक्ति, जो प्रसाद उत्पन्न होता है, वह सारी प्रतिक्रियाओंको; सारे प्रतिघातोंको नष्ट कर देता है।

अरे भाई ! बढ़िया फर्नीचरपर तो बैठते ही हो, कभी टाटपर हो सही ! कभी बिना आसनपर बैठनेका भी तो अभ्यास डालो ! यह तुम्हारी जिंदगीमें बहुत काम देगा।

गुणवृत्ति विरोध—कभी मनमें आया, 'सत्संगमें चलें।' 'अरे, राम-राम ! सत्संगमें कौन जाय ? चलो, सिनेमामें चलेंगे, एयरकंडीशनमें बैठेंगे, मनोरंजन भी होगा।' इतनेमें महाराज भीतरसे यह आवाज आयी—'आने-जानेका चक्कर छोड़ो, अपने कमरेका एयरकंडीशन चला लो और सो जाओ आराम से।'

यह सोनेकी इच्छा तमोगुणकी वृत्ति है। सिनेमामें जानेकी इच्छा रजोगुणकी वृत्ति है। यह तो वासना बढ़ानेका साधन है। सत्संगकी रुचि सात्त्विक वृत्ति थी। अब ये वृत्तियाँ आपसमें लड़ें। लड़नेवाला दूसरा कोई नहीं, मन ही तीन रूप धारण कर गया। आपसमें जो वृत्तियोंकी टक्कर हुई, इससे चित्तमें द्वन्द्व हुआ। यह द्वन्द्व तुम्हारे जीवनके बने-बनाये रसको काटनेके लिए, नष्ट करनेके लिए काफी है। इसीको 'दुःख' बोलते हैं।

संस्कृत साहित्यमें 'दुःख' किसको बोलते हैं ? अपने मनकी वृत्तियोंके विरोधको 'दुःख' बोलते हैं। आगेके लिये जो संस्कार पड़ता है, आदत बिगड़ती है, उसको दुःख बोलते हैं। हृदयमें जो उसका परिणाम होता है उसको दुःख बोलते हैं, क्योंकि उस समय जलन और बादमें पश्चात्ताप होता है—

परिणाम-ताप संस्कारदुखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (योग० २.१५)

विवेक करके देखो दुनियामें तो—'दुःखं सर्वं अनुस्मृत्य।' हम अगर किसी चीजको ठीकसे नहीं समझ पाते, तो हमको दुःख होता है। जब कभी किसीका अभिमानसे तिरस्कार कर देते हैं, तब दुःख होता है। जब हम अनुचित जगहपर राग कर बैठते हैं, तब दुःख होता है। जब किसीसे दुश्मनी करते हैं, तब दुःख होता है। जब हम देहसे अपना 'मैं' जोड़कर देहके जन्म-मरणको अपना जन्म-मरण मानते हैं. तब दुःख होता है।

अविद्या-अस्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।

इनका नाम है क्लेश। 'क्लिश्नन्ति योगिनाम्'—ये ही योगीको क्लेश देते हैं।

'अक्षिकन् को हि विद्वान् ?' विद्वान् कैसा ? उसको पाँवपर ढेला मार दो, तो तकलीफ न हो ! पर आँखमें जरा-सी किरकिरी पड़ जाय तो तकलीफ होती है। संसारी लोगोंको तो दुःख मालूम ही नहीं पड़ता। उनका दुःख तो पाँव सरीखा है। उनको तो ढेला मारो तब भी तकलीफ नहीं होती है। बिना ढेला मारे वे तकलीफ मानते ही नहीं। जो साधक होता है, जिज्ञासु होता है; उसके तो मनमें अंटसंट आ जाय, तो तकलीफ हो जाय। मनको सम्हालना साधकका काम है। इस दुनियाका दुःख हमारे मनमें घुसा आ रहा है ! भाई, निकालो इसको। यह आ करके हमारे चित्तमें हमको दुःखी न कर दे ! यह एक पहलू है।

दूसरा पहलू यह है कि हमारे मनमें परमात्माका आविर्भाव हो ! निकालनेवाली चीज निकाल दी जाय ! तुम्हारे बर्तनमें धूल भरी है ? तो धूलको निकालना एक काम और उसमें दूध भरना, शक्कर भरना, यह दूसरा काम।

हमारे मनके बर्तनमें-से गंदी वासनाओंको निकालकर परमानंदस्वरूप परमात्माका आविर्भाव करना है।

× × ×

'योगदर्शन'में चित्तके निरोधकी जैसी प्रणाली बतायी हुई है, उससे विलक्षण ब्रह्मात्मैक्यबोधकी प्रणाली है। कैसा ध्यान होता है और कैसा निग्रह होता है, यह बात बतानेके लिए यह प्रकरण है। जिस दर्शनमें जैसा साध्य मानते हैं, उसके अनुसार उसका साधन मानते हैं। ऐसा नहीं है कि वेदांत-

दर्शनमें जिस सिद्ध ब्रह्मका उपदेश किया गया है, योगकी रीतिसे संयम करनेपर उसकी उपलब्धि हो जाती हो।

योगमें जो दृष्टा-दृश्यका विवेक है, वह वेदान्तकी प्रक्रियासे विचार करनेपर नहीं मिलेगा कि एक प्रकृति स्वतंत्र है और एक उसका द्रष्टा स्वतंत्र है। अपने-अपने दर्शनके अनुसार उसकी साधन-प्रणाली होती है।

दो बात यहाँ बतायी जा रही है—(१) निवर्तनकी रीति-मनको लौटावें कैसे ? जहाँ तुम्हारा मन चला गया है, वहाँसे लौटावें कैसे ? (२) दूसरी प्रणाली यह है कि जहाँ उसको प्रतिष्ठित करना है, स्थापित करना है, वहाँ उसको प्रतिष्ठित कैसे करें ? वेदांतकी रीतिसे ये दो विभाग मनोनिग्रहके कर दिये।

द्वैतमें, भेदमें, परिच्छिन्नमें गये हुए मनको कैसे वहाँसे हटावें और अद्वैत जो ब्रह्म है, उसमें मनको कैसे प्रतिष्ठित करें ?

असलमें मनुष्य यदि समझ जाय कि दुःख क्या है तो उससे बच जाय। वह तो दुःखकी जड़को दुःखके कारणको, दुःख नहीं समझ रहा है। दुःखके भावको वह दुःख नहीं समझ रहा है। दुःख जब सिरपर सवार हो जाता है, फलके रूपमें, तब ही वह पहचानता है कि यह दुःख है। जब दुःख आकर डंडा मारता है, तब पहचानता है। दूरसे पहचान जाय, पहले ही पहचान जाय, तो दुःखसे बच जाय ! जैसे साँपको कोई दूरसे न पहचानता हो, उससे बचनेकी कोशिश न करे, देख-देखकर खुश होता रहे और साँप आकर काट ले; जब काट ले, तब मालूम पड़े कि अरे, यह तो साँप है !

'दुःख' शब्दका आप पहले जो सीधा-सीधा अर्थ निकलता है, वह समझें 'ख' = आकाश। भौतिक दृष्टिसे दुःख क्या है ? 'दुष्टं खं दुःखम्'। खूब सरदी-गरमी आवे, खूब आँधी चले, तूफान आवे, आसमानमें बादल हो जाय और खूब धूल-पत्थर बरसने लग जायँ तो बोलेंगे कि आज आकाश धूमिल होगया है, दूषित होगया है, तूफान ग्रस्त होगया है। तो जो परिस्थिति सरदी-गरमी, आँधी-तूफान-धूलसे बाहरके आकाशकी होती है, वही अवस्था वासनाओंके आगमनसे हृदयाकाशकी होती है। तो 'दुष्टं खं दुःखम्'।

यहाँ 'ख' शब्दका अर्थ है आकाश। अपने हृदयके आकाशका दूषित होना, इसीका नाम 'दुःख' है। किसीके मरने-बिछुड़ने-मिलनेका नाम दुःख नहीं है। अपने दिलके बिगड़नेका नाम दुःख है। दुः = दुष्ट, दूषित, दुर्भावग्रस्त ख = हृदयाकाश। भीतरके आकाशमें जब वासनाओंका तूफान आता है, जब

अभावकी गरमी जगती है, जब भोगजन्य शीतलताका अनुभव होता है, कल्पित विषयोंकी धूल भर जाती है, तब इसको दुःख बोलते हैं।

यह दुःख तीन तरहका मानते हैं। भूताकाशमें माने बाहरके आकाशमें धूलका उड़ना, आँधीका आना, गरमीका पड़ना, बरफ-कंकड़-पत्थरका बरसना दुःख है।

भीतरके आकाशका दुःख है विषयोंकी वासना—'हमको यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए'—इसीका नाम दुःख है। महाभारतमें एक कथा आती है—एक ब्राह्मणने एक यक्षकी आराधना की। यक्ष प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'ब्राह्मण देवता ! वर माँगो।'

ब्राह्मणने कहा—'हमको धन चाहिए।'

यक्षने कहा—'हम देवता हैं और तुम हो ब्राह्मण ! तुमने सच्चे हृदयसे मेरी भक्ति की है। अब यदि मैं तुम्हारे इस धनके मनोरथको, इसकी वासनाको पूरी कर दूँ और तुम्हें धन दे दूँ, तो मैं तुम्हारा सच्चा हितैषी नहीं होऊँगा। इसलिए मैं तुम्हें धन नहीं दे सकता।'

ब्राह्मणके मनमें धनकी लालसा और बढ़ी; उसने आराधना की। एक दिन वह बैठे-बैठे शान्त हो गया, तो देखता है कि सामने यमपुरी है और नरक है। उसका यक्षदेवता प्रकट हुआ। उसने कहा कि 'देखो, नरकमें कौन हैं ?'

'ये जीव हैं।'

'कौन जीव हैं ? पहचानते हो ?'

'ये अमुक राजा हैं, ये अमुक सेठ हैं, ये अमुक प्रशासनिक अधिकारी हैं, धनी हैं, बड़े-बड़े लोग हैं। ये तो बड़े धर्मात्मा थे धरतीपर। ये भला नरकमें पड़कर कीड़ेकी तरह क्यों बिलबिला रहे हैं ?'

यक्षने कहा—'इनके मनमें धनकी वासना थी, भोगकी वासना थी; इन लोगोंने यतस्ततः वस्तुओंका संग्रह किया। बात करें मीठी-मीठी और चाहें यह कि इनकी जेबका पैसा हमारी जेबमें आजाय। इसीसे ये नरक भोग रहे हैं। मेरे प्यारे ब्राह्मण ! तुमने मेरी भक्ति की है। यदि मेरी भक्तिके फलस्वरूप तुमको भी मैं धन दूँ और तुम भी उसका भोग करके इसी गतिको प्राप्त करो, तो क्या मैं तुम्हारा सच्चा देवता बन सकूँगा ? इसलिए ब्राह्मण ! तुम मेरी भक्तिका, सच्ची आराधनाका फल लेना चाहते हो, तो वैराग्य लो—

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तम् यथैकता समता असंगता च।

'ब्राह्मणके लिए इससे बड़ी सम्पत्ति, इससे बड़ी पूँजी और कोई नहीं है कि उसके मनमें वैराग्य रहे।' साधुओंके वैराग्यकी पद्धति बताता हूँ—

एक बार साधुओंने उड़ियाबाबाजीसे कहा—'आपके पास तो ये शंकरजी-के गण इकट्ठे रहते हैं, भूत-प्रेत-पिशाच-रोटी खानेवाले! आप योग्य-योग्य पुरुषोंको अपने पास क्यों नहीं रखते हैं?'

बाबा बोले—योग्य पुरुषोंको रखेंगे, तो उनसे आसक्ति हो जायगी। उनके प्रति पक्षपात हो जायगा। इनको यह मिले, यह मिले, यह मिले, अपने मनमें यह संकल्प आने लगेगा। अरे, यह भी आवेगा कि हमारे मरनेके बाद इनके लिए यह चाहिए। इसलिए जैसा संसार हमारे सामने है, वैसा ही रहने दो! उसमें छंटनी मत करो! जैसा हमारे पास है, वैसा ही रहने दो!

ये लड़की-लड़केका ब्याह होता है, तो सोचते हैं कि सर्वगुणसम्पन्न हमको मिले! खुद सर्वगुणसम्पन्न हों, कि न हों, यह तो भगवान् जानें! सिवा ईश्वरके सृष्टिमें सर्वगुणसम्पन्न कोई नहीं है। आप जहाँ रहो वहाँ दुःख-दुःख-दुःख!

जो यक्षवाली कहानी मैंने आपको सुनायी वह महाभारतमें है। पहले हमारे पास एक 'रामसुमेर सिंह' रहते थे। उनके मनमें बड़ी इच्छा थी कि 'कल्याण'में हमारा कोई लेख छपे। पर लिखनेका अभ्यास नहीं था। एक दिन मैंने यह यक्षवाली कहानी उनको लिखवा दी और उनसे कहा कि आप 'कल्याण'में इसे लिख दो!' तो लिख दिया। दो-तीन महिनेके बाद अमेरिका-से एक पत्रिका आयी। उसका नाम 'यूनिटी' था। उस पत्रिकामें वह कहानी छपी हुई थी। अब वे तो बड़े खुश हुए कि 'देखो, हमारा लेख तो अमेरिकाकी पत्रिकामें है।' 'कल्याण' वालोंकी नजर पड़ी। बोले—'हमने तो एक मामूली-सी कहानी छापी थी और विदेशमें इसका इतना आदर है?

आजकल तो लोग सजनी-रजनीकी कहानी पढ़ते हैं, महाभारतकी कहानी कौन पढ़े?

अपने मनको संसारमें फँसानेकी युक्ति नहीं करनी चाहिए। अपना मन संसारमें फँसकर धर्मसे, ईश्वरसे, भक्तिसे विमुक्त हो जाय, ऐसी कोशिश नहीं करनी चाहिए।

आप समझो कि सुख है अपना आत्मा; अगर तुम सुख हो, तो जिसपर हाथ रख दोगे, वह सुख हो जायगा। जिसपर आँख डाल दोगे, वह सुख हो

जायगा। जिसको सद्भावकी दृष्टिसे देख लोगे वह सुख हो जायगा। तुम संसारमें सुख बनानेवाले हो ! तुम संसारसे सुखकी भीख माँगनेवाले नहीं हो ! स्वयं आनन्दस्वरूप हो। तुम्हारा कुत्ता पहचानता है कि हमारा मालिक हमको सुख देता है, पर तुम अपनेको नहीं पहचानते हो कि 'मैं सुख देनेवाला हूँ ?' तुम किसीसे प्रेम करते हो, उससे सुख लेनेके लिए ? या किसीसे प्रेम करते हो, उसे सुख देनेके लिए ? जिसके सामने तुम हाथ पसारकर जाओगे, जिसके मँगते बनकर जाओगे, दुनियामें—उससे सुख नहीं मिलेगा।

आत्मासे अन्य होना माने आनन्दसे भिन्न होना और आनन्दसे भिन्न होना माने दुःख होना। आत्मासे अन्य होना माने जड़ होना। जड़ होना माने वह हमको सुख नहीं देगा, हम उसको सुख देंगे। सोने-मोती-हीरेका जेवर हमें सुख नहीं देगा, हम उसको मखमली पिटारीमें गद्दा बिछाकर सुख देंगे। उसके शरीरपर साबुन हम लगायेंगे, उसकी सफाई-घिसाई हम करेंगे। उसको गलेमें हम पहनेंगे। हमारा गला छूकर वह चमक जायगा। हीरा-मोती-सोना तो जड़ है। उस पट्ठेके पास तो सुख नामकी कोई चीज ही नहीं है। 'जड़ होना माने हमारे द्वारा उसमें अध्यारोपित सुख होना। हमसे अन्य होना माने आनन्दसे अन्य होना, दुःख होना, उसमें भ्रमसे सुख मालूम पड़ना। हमसे अन्यमें यदि सुख मालूम पड़ता है, तो वह भ्रमसे सुख मालूम पड़ता है। यदि चेतनसे अन्य-में सुख मालूम पड़ता है, तो वह अध्यारोपित सुख मालूम पड़ता है। अपने अस्तित्त्वके बारेमें तो कोई शंका नहीं है कि 'मैं हूँ।' लेकिन मुझसे जो अन्य है, उसका अस्तित्त्व संशयग्रस्त है। इन्द्रियोंकी अनुभूतिसे तो मालूम पड़ता है कि—'है' लेकिन मूल तत्त्वके विचारकी दृष्टिसे देखें तो उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। वह असत् है, अनिर्वचनीय है; हम जिंदा रहेंगे, वह मर जायगा।

अब हम अमर भये न मरेंगे।

हमारा आत्मा अजर-अमर है। यही तो मुश्किल है दुनियामें ! हम जो प्रेम करते हैं, वह हम आत्माके रूपमें अमर रहेंगे और संसारमें जिससे प्रेम करेंगे, हमारे रहते ही वह मर जायगा। यह शाप नहीं है, यह सत्य है।

संसार मृत्युग्रस्त है। अपना अन्तःकरण भी मृत्युग्रस्त है। यह शरीर, यह अन्तःकरण और सारी सृष्टि जड़ है। यह आत्मासे भिन्न होनेपर दुःख है। एक परमानन्दस्वरूप है, तो अपना आत्मा। इसलिए बाबा ! अपने धाममें बैठो, अपने घरमें बैठो!

कभी किसीके घर हो आये ! जैसे दुकानमें जाते हैं, लौट आते हैं। धर्मशालामें जाते हैं, लौट आते हैं। इष्ट-मित्रसे मिलते हैं, फिर लौट आते हैं।

नैहरवा हमका न भावै !

नैहर = मायका, जहाँ हर न हो, जहाँ अपना इष्टदेव न हो, जहाँ परमात्मा न हो। नैहर = माया। जो मायाका हो वह मायका। यह मायाका देश, जिसमें यह शरीर उत्पन्न हुआ है, वह हमको नहीं भाता है। अपने प्रियतमका देश—

सुरति विरहुँलिया छाई निज देश।

दूसरे द्रव्यसे चिपक जाना ऐसा ही है, जैसे चिड़ियाकी पाँखमें गोंद लग जाय और वह तिकोनीमें फँस जाय। यह आसक्तिकी गोंद, त्रिगुणमयी दुनिया तिकोनी और पक्षी जीव। इस पक्षी-जीवके हृदयमें, इसके पंखमें, इसके अन्तःकरणमें—पंख अन्तःकरण है—उसमें जहाँ आसक्तिकी गोंद लगी, इस त्रिकोनी-सत्त्व-रज-तम-त्रिगुणमयी सृष्टिमें वह फँसा ! सत्त्व = सत्संग; रज = सिनेमा-तमाशा और तम = प्रमाद—तीनों आपसमें लड़ रहे हैं, यही त्रिकोण-संघर्ष है।

प्रमाद सिरपर सवार होना चाहता है, दुनियाके तमाशे सिरपर सवार होना चाहते हैं। 'कामभोगान्निवर्तयेत्'—काममूलक जो भोग है, उससे अपनेको निवृत्त करना है।

कामनिमित्तः भोगः कामभोगः।

हृदयमें वासनाका तूफान उठनेपर जो भोग मिलता है, वह है काम भोग। 'भोग' पहले हमको मँगता बना देता है। और कहता है कि—'हाथ फैलाओ।' कई लोग हमारे ऐसे है, जो पहले हाथ पकड़ लेते हैं, फिर हाथ पकड़कर जबरदस्ती फैलाते हैं, उसपर एक या दो नया पैसा रख लेते हैं। हमको एक नये पैसे पर आक्षेप नहीं है; पर उसके लिए पहले हमें मँगता बना लेते हैं, तब देते हैं। हमको एक नया पैसा बहुत है। उनके पैसेकी मैं बहुत कीमत करता हूँ।

यह दुनिया तो बाबा ! पहले हमको धरतीपर रौंद देती है, उसके बाद सुख देती है। पत्नी पतिको पहले गुलाम बनाकर तब सुख देती है। पति पत्नीको पहले गुलाम बनाकर तब सुख देता है। सेठ नौकरको पहले पाँव तले रौंदकर तब उसे तनख्वाह देता है। सेठको अपने काबूमें करके तब मुनीम उसको रुपया कमवाता है। पराधीन बनाकर सुख देनेवाली यह सृष्टि परमार्थी नहीं है।

सृष्टिमें क्या जड़ता है, क्या दुःख है, क्या मौत है ! इसीका साम्राज्य फैला हुआ है । इस बातकी ओर ध्यान देकर अपने मनको विषयवासनासे शांत करना, समझाना-बुझाना चाहिए । एक बात इस प्रसंगमें आपको सुनाता हूँ ।

हम लोगोंका हिसाब बड़ा सीधा है और हिसाब हम लगाते हैं उसमें मशीनकी जरूरत नहीं पड़ती । वैराग्यका हिसाब यह है कि—जब तुम्हारे मनमें दुश्मन नहीं है, तो अहिंसा है; धन नहीं है तो संतोष है; कामिनी या कामी नहीं है तो ब्रह्मचर्य है, निष्कामता है; भाई-भतीजा आदिका मोह नहीं है तो निर्मोह है और है तो मोह है । अपने मनको भार बनाना, अपने मनपर दुनियाका भार डालना—यह दुःख है ।

तुम्हारा मन मुसाफिरखाना नहीं है कि उसमें दस आवें, दस जायँ । तुम्हारा मन सोना-चाँदी-हीराका बोझ उठानेके लिए कोई कुली नहीं है, नौकर नहीं है । सारा दुःख इसी बातका है । कि तुम अपने दिलपरसे भार उतारते नहीं । तो कह दो—'ओ मेरे प्यारे मन ! अब कुलीगिरी करनेकी जरूरत नहीं है, तुमको अब मँगता बननेकी जरूरत नहीं है । अब दूसरोंको सिरपर बैठानेकी जरूरत नहीं है ।'

अपने मनको निवृत्त करो । एक पहलू यह है । विषयका मनमें आना-राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह सब मनमें आना विषयोंके चिन्तनमें है । दूसरा पहलू यह है कि विषयोंका चिन्तन न हो, तो चित्तमें शांति है । इसी शान्तिका नाम वैराग्य है । इसी शान्तिका नाम समाधि है, निर्विषयता है, अहिंसा है, सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य, संतोष, निष्कामता है । इसीका नाम सद्-गुण है, चित्तकी शांति है । सद्गुण एक है और दुनियामें दुर्गुण बहुत हैं ।

सद्रूपता नामका जो गुण है, वही गुण है । सत्मे एक हो जाओ—उसपर बिंदी मत लगाओ—सत्से एक हो जाओ । 'सन्त' किसको कहते हैं ? सत्के बहुत-से अभिव्यक्त रूपको 'सन्त' बोलते हैं । सत्पदका बहुवचन सन्तपद है । 'सन् सन्तौ सन्तः ।' सत्में इतना बहुत्व कहाँसे आया ? अनुभवके भेदसे । जिसने अपनेको सत्से एक अनुभव किया वह सत् होगया और सत्, सत्, सत्-सन्त । जो महत्से अपनेको एक अनुभव करे, वह सन्त नहीं, महन्त है । महन्तको सन्त नहीं बोलते ।

त्रिगुणका परिणाम महत्तत्त्व है; महत् = बुद्धि—उससे जो एकत्व प्राप्त करे सो महन्त और सत्परमात्मासे जो एकत्व प्राप्त करे, सो सन्त ।

जो नेति-नेति-प्रधान सो अवधूत। नेति-नेति माने अवधूनन जिसने किया, उसका नाम 'अवधूत'।

'लिपि' कागजमें पोतनेका नाम है—लेपनका नाम 'लिपि'। ताड़के पत्ते पर सूएसे अक्षर उभारते हैं, उसका नाम उल्लेख हुआ। और पत्थरपर टाँकी मारकर जो अक्षर उभारते हैं उसका नाम टंकन हुआ। जैसे लेप-लेख-टंकन अलग-अलग होता है, वैसे सन्त-महन्त-अवधूत, शब्द अलग-अलग होते हैं।

सन्त बनकर बैठ जाओ—'अजं सर्वम् अनुस्मृत्य।' वैराग्य, समाधि, शांति, निर्विषयता, निस्संकल्पता, निर्वृत्तिकता—ये सब एक ही चीजके नाम हैं। और, सद्गुण एक। उसमें न काम है, न क्रोध है, न लोभ है, न मोह है; न कुटुम्ब, न काम, न कामिनी है, न धन है, न भाई-भतीजा है। तो दुर्गुण रखना भारी है, क्योंकि उसमें हजार चीज रखनी पड़ती है। बोलते हैं कि—

दावतोंमें दावत, दावते शीराज।

पचास तरहके पकवान्न बनाये, तब दावत थी। नहीं भाई, सिर्फ एक ही चीज लेकर रख दो सामने। बोले कि 'भाई, बस! आम ही खा लो, यह आम है। यह दावते शीराज है। सादगी।

चित्तकी सादगी है—रंगिनी नहीं। इसीका नाम वैराग्य है। 'जातं नैव तु पश्यति' एक अजन्मा ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है।

यह 'अजं' क्या है? अजं—जो स्वयं पैदा न हो और जिससे कोई पैदा न हो। जिसका बाप न हो सो 'अज' और जिसके बेटा न हो, सो 'अजं'। 'न जायते, न भिद्यते, न विक्रियते।' जिसमें कोई विकार न हो।

'जायते-अस्ति-वर्धते-विपरिणमते-अपक्षीयते-विनश्यति'–ये सब भाव-विकार जिसमें न हों, सो अज। अजके बाद कुछ पैदा नहीं हुआ और अजके पहले कुछ नहीं था।

अपूर्वम् अनपरम्—पहले भी कुछ नहीं, पीछे भी कुछ नहीं। 'एकमेवा-द्वितीयम्'—कारण-कार्यभावका सर्वथा निषेध। रस्सीमें दृश्यमान साँपका न बाप है, न बेटा है। रस्सीमें जो साँप दीख रहा है, वह 'कोबरा' है क्या? वह 'गेहुँअन' है क्या? वह 'करैत' है क्या? वह 'डौंडा' है क्या? किस जातिका है। वह कौन-सा साँप है? 'भविष्य पुराण' में साँपकी सैकड़ों-हजारों जाति-योंका वर्णन है। उनका लक्षण दिया हुआ है। किसीके सिरपर एक बिंदो

होती है। और किसीके सिरपर तीन, छः। किसीके शरीर पर लकीरें होती हैं। कौन जहरीला होता है; कौन जहरीला नहीं होता है। लेकिन, आप बताइये, रस्सीमें जो साँप दीख रहा है, वह किस जातिका है? उसका बाप कौन, उसका बेटा कौन? उसकी लंबाई-चौड़ाई कितनी? उसको उमर कितनी? उसकी पत्नी कौन, उसका भाई कौन?

परब्रह्म परमात्मा बिलकुल ठसाठस है। 'कृत्स्नस्तु प्रज्ञानघन एव।' इस प्रज्ञानघन, कृत्स्न-तत्त्वमें न कोई इसका बाप है, न बेटा, न इसका कोई भाई है, न पत्नी, न इसका कोई दोस्त है, न दुश्मन, अकेला है। इस अजका कैवल्य है, इसका स्मरण करो। स्मरण क्या होगा? निष्ठाको ही स्मरण बोलते हैं।

तस्य स्मृतिस्तत्र दृढैव निष्ठा।

यह घड़ा है, यह कपड़ा है, यह मकान है, यह आदमी है, यह औरत है—यह 'है-है-है' सत्यको छोड़कर कोई प्रत्यय बनता है? 'है' सच्चा है और घड़ा-कपड़ा आदि आकार-विकार कल्पित हैं। इसमें जो 'है' है, इसको 'सन्मात्र' बोलते हैं। निष्ठा किसमें करना? निष्ठा सन्मात्रमें करना है, यही इसकी स्मृति है। नाम-रूप हट जाय—इसके लिए भी कोशिश नहीं करना और ये आवें, इसके लिए भी कोशिश नहीं करना। आवें तो आवें, जायँ तो जायँ। जरा उदासीन होकर बैठना, उपेक्षा कर देना, अपने सत्स्वरूपमें निष्ठा करना। यह जो कुछ दीख रहा है वह अज माने सत्‌के विपरीत दीख रहा है। तब फिर?

जातं नैव तु पश्यति।

जातके अत्यंताभावका दर्शन हो रहा है। किसके द्वारा? साक्षीके द्वारा। अपने साक्षीस्वरूपमें बैठ गये। अपने ब्रह्मस्वरूपमें बैठ गये।

× × ×

इसप्रकार दो विभाग हुए—एक-निवर्त्यसे मनका निवर्तन और एक-अपने अधिष्ठानरूप प्रतिष्ठामें मनका स्थापन। अब क्या होगा? करते-करते नींद आ जाय तो।

बौद्धोंने बहुत बढ़िया बात कही है। वे कहते हैं कि अपने चित्तको संसारमें कहीं जमने न देना।

न क्वचित् प्रतिष्ठितं चित्तं उत्पादयितव्यम्।

इसको बोलेंगे 'अनासक्ति।' रागोपहितध्यानम्।' राग-द्वेषका उपहान होगया। यही तो विहान है। विहान—प्रभात, यही पाश है। जिसको आज

बहुत अच्छा समझकर फँसाते हो, उसमें फिर जो भीतर छिपा हुआ है, वह निकलेगा। जिसको आप बुरा कहकर छोड़ते हो, वह कभी बहुत जरूरी मालूम पड़ेगा। चित्त जब लीन होने लगे, तो उसको जगा लेना—'संबोधयेत्।' बिना जागे, 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है' यह कैसे मालूम पड़ेगा ? लय तो जड़ताका सूचक है, ज्ञानका सूचक नहीं है।

असलमें चित्तका हुआ लय और हमने चेतनका लय मान लिया कि हम सो गये। नहीं जगाओ अपने आपको। जड़तासे जब एक हुए, तब लय हो गया।

विक्षिप्तं शमयेत् पुनः ।

आप चेतन हैं ! चेतन हैं, तो क्या कर रहे हैं ? वहाँ आँख गयी, वहाँ आँख गयी, वहाँ आँख गयी, वहाँ मन गया, वहाँ मन गया, वहाँ मन गया। जिसके अपना घर नहीं होता है वह कैसे अपनी गुजर-बसर करे ? यहाँसे वहाँ, वहाँसे वहाँ ! बस, भटकना। जब चित्तमें विपेक्ष हो, तो उसे शान्त कर लें। मनको समझा-बुझाकर दोनों काम करना चाहिए।

लये संबोधयेत् चितं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।

तुम्हारे अस्तित्वको कैसे भी खतरा नहीं है। तुम्हारी जो हस्ती है, उसको कैसे भी खतरा नहीं है। हस्ती कहो, अस्ति कहो, एक ही चीज है। ऐसी कोई अस्ति दुनियामें पैदा नहीं हुई, जो तुमको क्षति पहुँचा सके, खतरा पहुँचा सके।

तुम्हारा अस्तित्त्व अखण्ड है। यही तुम्हारा जीवन है। जब मन आलस्य-प्रमाद-निद्रासे ग्रस्त हो, तो उसे जगाना। जब इधर-उधर दौड़ने लगे, तो उसे शान्त करना।

'सकषायं विजानीयात्'—उसका क्या उपाय है ? उसको पहचानना, यही उपाय है। राग-द्वेषकी निवृत्तिका उपाय यही है कि उसको जान लेना। राग-द्वेषके संस्कारके जो बीज हैं, वे छिपे रहते हैं। थोड़ी देर तो मालूम हुआ कि हम तो बिलकुल निर्विकार होगये, निर्विकल्प, निर्दोष होगये। पर वे फिर आजाते हैं। घण्टे-दो घण्टे-तीन घण्टे उसका चित्त दुरात्माकी तरह रहता, दो-तीन घण्टे ब्रह्मचर्यमें लगता है और तीन घण्टे भोगकी ओर मन जाता है।

अपने मनको समझना। न तो उसको नींदमें जाने देना, न विक्षिप्त होने देना और न तो वासनाके बीजसंग्रह करने देना।

समप्राप्त न चलयेत्—जब मनमें साम्य आवे तो मनको उसीमें रहने दो। अब वहाँसे उसे विचलित मत करो। बादमें व्यवहारमें भी साम्य आ जायेगी। एक महात्मा थे। उनके पास कोई फूलमाला इत्यादि लेकर जाय, प्रणाम करे, तो बोले—'आहा ! देखो न, कैसा प्रेम है ? फल-फूल लेकर आया है। बड़ी श्रद्धा रखता है !' दूसरा आदमी आया। कुछ लेकर नहीं आया, पाँव भी नहीं छुआ। एकने कहा—'देखो महाराज ! इनकी तो बिलकुल श्रद्धा ही नहीं है ! ये पाँव भी नहीं छूते, चंदन-मालाकी तो बात ही छोड़ो !'

महात्मा बोले—'बाबू ! तुम जानते नहीं हो, ये हमको विरक्त समझते हैं। ये हमको पहचानते हैं कि ये विरक्त हैं, इसको चंदन-फूल-माला नहीं चाहिए।'

चंदन-फल-फूल आया, तब श्रद्धा देखकर मनमें आनन्द रहा और जब नहीं आया, तो विरक्तिसे मनमें आनन्द रहा। तो तुम अपने मनको ऐसा बनाओ, जो दोनों हालतमें ठीक रहे। तुम पराधीन होना चाहते हो कि स्वतंत्र ? दोनोंमें सुखी रहोगे, तब तो स्वतन्त्र हो। यदि एकमें सुखी होनेके लिए अपनेको बाँधोगे, तब परतन्त्र हो जाओगे।

जब मन जाकर समतामें बैठ जाय, तब विचलित नहीं करना। माने, जानबूझकर विषयाभिमुख नहीं करना।

× × ×

अब यह प्रसंग आया कि तब तो फिर बड़ा मजा आता होगा। इसको वेदान्ती लोगोंने बहुत छिपाकर रखा है। वे कहते हैं कि—'जो सुख चाहता है, उसको किसी खास हालतमें सुख मिलेगा—खास दशामें, खास अवस्थामें। सुख मिलेगा। तब उस खास अवस्थामें उसका राग हो जायगा। फिर वह चाहेगा कि वह खास अवस्था दिन-रात बनी रहे। तब तो उसके अन्दर बाह्याभिमुख व्यवहारसे द्वेष हो जायगा।

एक योगीके पास हम लोग गये। बड़े एकान्तमें रहते थे। एकान्तमें बैठकर अपना ध्यान करते होंगे, समाधि लगाते होंगे। हम लोगोंने तो जाकर ढेला ही फेंकना शुरू किया। उनसे पूछा—'महाराज ! मनका स्वरूप क्या है ?' बताने लगे—चार्वाक्के मतमें, जैन मत, बौद्ध मत, न्यायवैशेषिक-सांख्य-योग-मीमांसा-वेदान्त और फिर वैष्णव, शैव, शाक्त—इन सबके मतमें मनका स्वरूप क्या है ? कहते-कहते फिर वे अपना सिर पकड़कर बैठ गये—'हाय-हाय-हाय ! हमारा मन शान्त था ! कितने आनन्दमें हम बैठे थे ! आकर तुम लोगोंने कहाँसे दुःख डाल दिया ?'

अब देखो भला ! वे कहते हैं कि मन शान्त रहे तब सुख है। व्यवहार करे तो दुःख है। यह तो वेदान्तकी रीति बिलकुल नहीं है। मन जिससे व्यवहार करता है, उसमें अपनी ओरसे सुख डालकर व्यवहार करता है।

आप नाटक देखते हैं न ! नाटकमें एक वियोगका पार्ट करता है, एक एक मरनेका पार्ट करता है और एक लड़ाईका पार्ट करता है, तो क्या वह आपके मनमें सुख डालता है ? अरे ! आप ही उसमें सुख डालकर सुख लेते हैं। यह बात नाटककी आप समझ लेना। दर्शकके मनमें सुखका उदय होता है जबकि वे पट्ठे तो रोते हैं, गाते हैं। सुखका उदय अभिनेताके दिलमें नहीं होता। सुखका उदय दर्शकके दिलमें होता है।

आप चित्र देखें ! हम लोग एक चित्रशालामें गये, मैसूरमें बढ़िया चित्र-शाला थी। उसका नाम ही 'चित्रशाला' था। एक श्रृंगाररसका चित्र देखा 'वाह-वाह-वाह ! क्या कला है।' शान्तरसका चित्र देखा 'बड़ा सुन्दर !' हास्य-रसका चित्र देखा—'हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये !' रौद्ररसका चित्र देखा। भयानक रसका चित्र देखा। वीभत्स रसका चित्र देखा। करुण-रसका जब चित्र देखा, तो आँखसे झर्-झर् आँसू गिरने लगे। 'अरे ! इतनी करुणा !'

अब हम वहाँ दुःखी हुए कि सुखी हुए ? जब निकले चित्रशालासे, तो तारीफ करें कि 'आज तो मजा आगया !' आनन्द आगया और निकले थे रोकर !

हमको याद नहीं है, सिनेमामें वह चित्र कब आया था। उसका नाम 'रामराज्य' होगा या 'भरत मिलाप' होगा। बहुत बरस पहलेकी बात है। किसीने हमको दिखाया था। इधर तो बहुत बरसोंसे देखा ही नहीं है।

सीताजीका पुनर्निवासन हो गया था। रामचन्द्र लम्बी साँस लें और और पेट उनका कभी पीठसे लगे और कभी बाहर निकले मुँह कभी चढ़े, कभी उतरे ! इतना बढ़िया अभिनय था ! देखकर आँखमें आँसू आगये।

देखकर हम लोगोंने क्या कहा ? बहुत बढ़िया चित्र बनाया है ! आज तो बड़ा आनन्द आया !

योगीके लिए जब उसकी आँख बन्द हो, तब सुख है। वेदान्ती-ज्ञानीके लिए आँख खुली हो, तब भी सुख और आँख बन्द हो तब भी सुख। विभत्स-रसका अभिनय हो, तब भी सुख। श्रृंगार रसका अभिनय हो रहा हो, तब भी सुख और करुणरसका अभिनय हो रहा हो, तब भी सुख !

जब आदमी सुखका लोभी हो जाता है तब वह व्यक्तिनिष्ठ हो जाता है। क्योंकि रागाकार वृत्ति तो एक अन्तःकरणमें रहेगी। रागाकार वृत्ति जब

एक अन्तःकरणमें रहेगी, तब वह रागी हो जायगा। जो सुखका लोभी है वह दूसरोंकी हिंसा करके भी सुखी होगा।

बाबाजी ध्यान कर रहे हैं और कोई आगया, तो ? 'भाग जा यहाँ से ! गाली देना शुरू कर दिया। आँख लाल-लाल हो गयी ! क्यों ? कि—'तूने हमारे ध्यानमें बाधा डाल दी।'

किसी देशमें, किसी कालमें, किसी वस्तु-व्यक्ति-अवस्थासे, मनकी किसी भी अवस्थासे, तुरीयावस्थासे, तुर्यातीत अवस्थासे भी—यह सोचना कि यह श्रीमतीजी हमें सुख देनेवाली हैं, वह गृहस्थधर्म होगा। फिर वह रूठेंगी तब उसे मनाना पड़ेगा।

रोना पड़ेगा। क्योंकि तुमने एक व्यक्तिमें अपना सुख डालकर उसके साथ रागकर लिया। एक वस्तुमें, एक स्थानमें, एक कालमें, एक वृत्ति-अवस्था-स्थितिमें अपना सुख डालकर उसके साथ राग कर लिया। तो फिर समत्व कहाँ रह जायेगा ? तब ? 'नास्वदयेत् सुखं तत्र।'

× × ×

जिज्ञासु जब महापुरुषके पास आता है, तो उसके मनमें आनेका प्रयोजन यह होता है कि हमारे दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो और परमानन्दकी, परम-सुखकी प्राप्ति हो।

असलमें जिसको दुःखका अनुभव नहीं है, उसको सुखका अनुभव भी नहीं हो सकता। जिसको प्रपंचमें, व्यवहारमें पहले दुःखका अनुभव हो लेता है, वह उसके विरुद्ध सुखका अनुभव करनेके लिए इच्छावान् होता है, प्रयत्न-शील होता है। जिसको दुःखका अनुभव होवे ही नहीं, उसके मनमें सुखानुभव-की इच्छा भी नहीं होगी और प्रयत्न भी नहीं होगा।

इस संसारमें दुःखानुभूति और सुखानुभूति परस्पर विरुद्ध हैं। केवल सुखानुभूति ही सुखानुभूति हो, तो दुःखानुभूतिका उसको पता ही नहीं चलेगा। केवल दुःखानुभूति ही दुःखानुभूति हो, तो उसमें तारतम्यका भी पता नहीं चलेगा। कमी-बेशीका पता नहीं चलेगा। वह मिटेगा भी नहीं, मिटानेकी इच्छा भी नहीं होगी, प्रयत्न भी नहीं होगा, आनन्द नहीं होगा।

एक ऐसी स्थिति आती है, जिसमें आनन्द-ही-आनन्दका अनुभव होता है, क्योंकि उसमें दुःख देनेवाली जितनी वस्तुएँ हैं, वे छूट जाती हैं। विषयका भान नहीं हो रहा है, वृत्तियाँ उठ नहीं रही हैं उनमें कोई प्रतिबिम्ब पड़ नहीं

रहा है, शान्त-शान्त-शान्त ! केवल द्रष्टापनेका अनुभव, केवल शान्तिका अनुभव और केवल आनन्दका अनुभव !

ये कहते हैं कि ये सारे अनुभव जो तुम्हें हुए, ये 'जात अनुभव' हैं। समाधिमें केवल सत्तामें स्थित हो गये या विवेक होनेपर केवल द्रष्टाके स्वरूपमें स्थित हो गये। या वासनाएँ शांत हो जानेसे निर्वासनिक आनन्दमें बैठ गये। इन तीनोंका जो एकरूप माने जहाँ ऐक्य है, उस बीजदशामें, अव्याकृत दशामें बैठ गये। ये तीनों 'जात' दशाएँ हैं। 'अजात' इनसे न्यारा है, यह समझाते हैं।

एक ही साथ किसीको यह अनुभव कैसे हो कि 'मैं ब्रह्म हूँ' और 'मैं सुखी हूँ ?' यदि स्थितिके बारेमें यह ख्याल हो गया कि 'यह सुख है', तो उसमें राग हो जायगा। यहाँतक कि 'आत्मा सुखस्वरूप है'—यह बात भी बुद्धिमें बैठ जाय, तो वृत्तिको आत्मासे राग होगा, वृत्ति आत्मरागिनी होगी और जब वृत्ति अनात्माकार होगी, तब दुःखकी सृष्टि होगी।

एकने उत्तर दिया कि जैसे खूब गरमी बाहर पड़ रही हो और गंगाजीमें घुस जायँ; छातीभर पानीमें चले गये तो छातीभर पानीमें तो ठंडकका अनुभव हो रहा है और ऊपर गरमी मालूम पड़ रही हैं तो वहाँ गरमी और ठंडक दोनों एक ही साथ अनुभवमें आ रही है, वैसे हो जायेगा। अथवा यों कहो—'बदरीनाथ गये, वहाँ खूब ठंडकका अनुभव हो रहा है। वहाँ 'तप्तकुण्ड'—गरमकुण्डके पानीमें उतर गये। छातीभर पानीमें चले गये, तो नीचे तो ठण्ड नहीं लगती है, परन्तु ऊपर सिरमें ठण्डी लग रही है—वैसे हो जायेगा।

ऐसे ये सुख-दुःखके अनुभव हैं, युगपत् ! इस आत्मदेवको एक ही साथ सुखका और दुःखका, दोनोंका साक्षात्कार हो रहा है। शान्तिका भी और विक्षेपका भी; जड़ताका भी और चेतनका भी; आनन्दका भी और दुःखका भी दोनोंका साक्षात्कार हो रहा है।

बोले—फिर भी, असत्को छोड़कर सत्में, जड़को छोड़कर चेतनमें, दुःखको छोड़कर आनन्दमें राग होगा। क्योंकि द्वैध स्थिति हो गयी न ! द्विधा स्थिति हो गयी—यह सुख है, यह दुःख है; यह जड़ है; यह चेतन है, यह बीजावस्था—इसमें बड़ा सुख है, असम्प्रज्ञात समाधि। शान्तमें बड़ा सुख है; परन्तु वहाँ भी दुःख है, दुःखका बीज है, क्योंकि उठनेके बाद दुःखका अनुभव होगा।

महात्मा बोले—'भाई ! ऐसे नहीं, ऐसे बोलो—'जैसे आप नाटक देखते हैं, सिनेमा देखते हैं ! एक पर्दा है। पर्देपर तस्वीरें उभरती हैं। उनको लोग

देखते हैं। अब आप यह कल्पना करो कि आप खुद ही तो पर्दा हो और खुद ही तस्वीर हो! और खुद ही देखनेवाले हो। पर्देके रूपमें रहकर आप तस्वीर देख रहे हों। आप स्वयं चैतन्य-अधिष्ठान हो, जड़-अधिष्ठान नहीं हो। सत्-अधिष्ठान हो, चित्-अधिष्ठान हो, आनन्द-अधिष्ठान हो। स्वयं तो आप संपूर्ण जगत्के अधिष्ठान हो, वह पर्दा, जिसपर तस्वीरें दीख रही हैं। आप ही देखने-वाले और आप ही प्रपंचकी तस्वीरके रूपमें दीखनेवाले।

दुःखके रूपमें जैसे कभी कोई अभिनय करता हो; रोवे तो आँखमें आँसू आवेंगे कि नहीं? हमें यह विद्या मालूम है। आँखको जरा तिरछी करें थोड़ी घुमा दें, तो टपाटप आँसू गिरने लगेंगे और उस समय अपने मनमें खुशी होती है कि क्या-कैसा आँसू गिराया? हमने प्रभुदत्तजीसे यह विद्या सिखी थी। इस विद्यामें वे हमारे गुरु हैं। प्रभुदत्त ब्रह्मचारीके पास एक बार तेरह महीना रहनेका काम पड़ा झूंसीमें। मैं भागवतकी कथा करता था, वे सुनते थे।

वे हँसनेकी बात लिखते भी जायँ और आँखसे आँसू भी गिरे। मैंने कहा—'यह क्या है?'

वे बोले—'यह कला है। आओ, हम सिखाते हैं, तुमको यह कला!' वे तो कीर्तन करते हैं! तो कीर्तन करें और आँखसे टपाटप आँसू गिरे! मैंने पूछा—'आपको क्या होता है? सुख होता है कि दुःख होता है?'

उन्होंने कहा—'कुछ नहीं होता! हमारे आँसू देखकर लोगोंको भी आँसू आवें इसके लिए आँसू गिराते हैं।'

हमारा कहनेका अभिप्राय यह है कि एकरस, निर्विकार अधिष्ठान तत्त्व तो ज्यों-का-त्यों है। उस अधिष्ठानमें तस्वीरोंको देखनेवाला कोई दूसरा नहीं है! दर्शक दूसरा नहीं है, वहाँ अधिष्ठान भी दूसरा नहीं है। वहाँ दृश्य भी दूसरा नहीं है। स्वयं ही स्वयंको जब दुःखरूपमें देखेंगे, तो उस दुःखको देखने-का मजा आवेगा कि कैसा दुःखका अनुभव किया? ऐसा मरनेका अभिनय करते हैं कि साँस बन्द हो गयी, शरीर जड़ हो गया! और वह उठकर खुश होता है, लोगोंसे पूछता है कि 'कैसा बढ़िया अभिनय किया?'

ब्रह्मतत्त्वका पार्ट निष्कलकी कला है। यह निर्गुणके गुण हैं—

नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत्।

निष्कलकी कलाबाजीमें सुख मत लेना। उस कलाकारको, कलाके अधिष्ठानको पहचानना—कितना बड़ा है वह कलाकार! 'निःसंगः प्रज्ञया

भवेत्'—उसकी एक कलामें भी आसक्ति नहीं करना। आनन्दकी वर्षा भी एक कला है। समाधि भी एक कला है! ऐश्वर्य भी एक कला है।

जिसमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि, स्थिति, प्रलय होती है, वह निष्कलकी एक कला है। आश्चर्य तो यह है कि ईश्वरका ऐश्वर्य भी एक कला है, माया भी एक कला है, ज्ञान, आनन्द और समाधि भी एक-एक कला है। सबकी सब कलाएँ हैं—निष्कलकी भी कलाएँ हैं और कलावान् रहता हुआ भी निष्कल है।

हमारे महात्मा लोग कहते हैं—'जैसे, कोई किसीकी प्रशंसा करे तो यह मत मान लेना कि जिसकी प्रशंसा की गयी, उसमें ये सारे गुण हैं। यह मानना कि प्रशंसा करनेवालेका हृदय इतना उदार है कि अपनेमें ईश्वरताकी स्थापना न करके दूसरेमें ईश्वरताकी स्थापना करता है।

स्वयं आनन्दरूप दूसरेसे आनन्द लेने जाना है। एक महात्मा कहते हैं—'मुझको ऊँचे सिंहासनपर बैठाकर यह मत समझना कि मैं बड़ा हूँ। यह समझना कि, जिन लोगोंने स्वयं नीचे बैठकर हमें ऊपर बैठाया है, उनका हृदय कितना उदार है। यह इसका सिद्धांत है।

अगर निर्गुण भगवान्‌के पास अपना मन होता और हाथ होते तो जब लोग उनके गुणोंका वर्णन करने लगते, कि उसने यह सृष्टि बनायी और यह स्थिति की और यह प्रलय किया, वह अपने हाथोंसे उन लोगोंका मुँह पकड़ लेता, जबान पकड़ लेता, कि—'बोलना मत! झूठी बात!' लेकिन वह तो जबान नहीं बन्दकर सकता! क्यों? क्योंकि जैसा-जैसा लोग वर्णन करते हैं, वैसा ही वैसा वह अपनेको देखता जाता है।

इसका हमको एक अनुभव बड़ा विचित्र यह हुआ कि जब हम भागकर घरसे हरद्वार गये, किसी मण्डलेश्वरके स्थानमें ठहरे। वहाँ यह नियम था कि जो मण्डलेश्वरके आश्रममें रहे, वह शामको पुष्पांजलिमें जरूर शामिल हो। हाथमें पुष्पांजलि लेकर खड़े होकर रोज हाथ जोड़कर बोलना पड़े।

शंकरं शंकराचार्यं, केशवं बादरायणं।
नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे समे कामान् काम-कामाय मह्यं।

महिम्न स्तुति पढ़नी पड़े। तो हमने सोचा कि ये लोग जो स्तुति करते हैं, ये बिचारे शिष्य तो भक्त हैं! उनके हृदयका तो निर्माण होता है। मगर यह महात्माको कैसा लगता होगा? उस समय यह बात सूझी जब ये लोग कहते—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव।

तब उनकी अहंग्रह उपासना होती होगी कि—'मैं ब्रह्म हूँ।' दूसरे लोग कहते होंगे—'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'—तब ये मानते होंगे—

अहमेव माता अहमेव पिता अहमेव सखा।

ऐसे ये सोचते होंगे। उनकी अहंग्रह उपासना होती होगी!

स मे कामान् कामकामाय मह्यं।
कामेश्वरो वै श्रवणो ददातु॥

यह तो मैं कभी नहीं बोलता था। मेरे मनमें ग्लानि हो जाती थी—'स मे कामान् काम कामाय मह्यं।' वह कामेश्वर हमारी कामनाओंको पूरी करे! उस समय ग्लानि होती थी कि क्या कामना पूरी करता है कोई? कामना मिटाना परमार्थका साधन है। कामनाको पूरी करना परमार्थका साधन नहीं है। उस समय ऐसा ही मनमें था। अब यह बात अपने मनमें नहीं है।

अब अपने मनमें यह बात है कि कामना पूरी करना भी साधन है और कामना मिटाना भी साधन है। परमात्मा स्वयं काम है और काम भी परमात्मा है, अध्यस्त और अधिष्ठानमें कोई भेद नहीं होता।

निः सङ्गो प्रज्ञया भवेत्।

परमात्मा जिस रूपमें प्रकट होवे, उसी रूपमें वह परमात्मासे अभिन्न ही है।

एक बात आपको सुनावें—हमारे महात्माओंकी यह राय है कि आज-कलयुगमें सहनशक्तिका बड़ा ह्रास हो रहा है। लोगोंकी आदत न थोड़ी प्यास सहनेकी, न थोड़ी भूख सहनेकी, न गरमी सहनेकी, न वर्षा सहनेकी! एक दिन गरमी पड़े तो हाय-हाय मचावें, ईश्वरको गाली देने लगे कि 'इतनी धूप क्यों की' और एक दिन वर्षा आजाय तो बोलें कि 'नाकों दम कर दिया।'

सहनशक्तिकी न्यूनता मनुष्यके जीवनमें आती जा रही है। तपकी कमी है और सहिष्णुताकी कमी है। आरामसे वेदान्त मिले तो ठीक है। आरामसे भक्ति मिले तो ठीक है। भक्ति और वेदान्त मिलें यह तो ठीक है; परन्तु असहिष्णुता न वेदान्तका साधन है न भक्तिका। ये आरामसे ही मिलें—यह आग्रह गलत है।

•

: २९ :

मनकी ब्रह्मरूपमें निष्पत्ति

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ।।४६।।

अर्थ—जब चित्त निद्रामें लीन न हो और फिर पुनः विषयोंमें विक्षिप्त न हो; न हिलता हो और न कोई आभास ग्रहण करता हो; उस समय चित्त ब्रह्मरूपसे निष्पन्न हो जाता है ।

एक नम्बरकी बात पहले कह चुके हैं कि तुम्हारी ही नजरमें तुमको जो अनात्मा मालूम पड़ता है, उसका तुम नेति-नेतिके द्वारा निषेधकर दो ! अनात्मा कुछ है नहीं ! यह मत समझना कि अनात्मा कोई जड़ वस्तु है जिसका निषेध करना पड़ता है; कोई दुःख है जिसका निषेध करना पड़ता है; कोई असत् है जिसका निषेध करना पड़ता है ।

परन्तु मालूम पड़ता है कि—'यह है हमसे न्यारा' तो यह गलत मालूम पड़ता है । गलत मालूम पड़नेका दण्ड यह है कि 'नेति-नेति'के द्वारा निषेध करो । अब बच रहा निषेधावशेष-निषेधावधि-अशेषविशेषनिषेधावशेष । जो बच रहा अपना आपा, वह तो ब्रह्मस्वरूप है—देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य ! और ज्ञान हो गया, तो एक मन नहीं, हजारों मन फुरफुराते रहें ! फिर तो जिस महापुरुषको परमार्थ-ज्ञान हो गया, वह—न जागता है न सोता है, न कभी आँख खोलता है, न कभी आँख बन्द करता है ।

न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति ।
अहो परदशा कापि वर्तते मुक्त चेतसः ।।

उसकी तो परादशा है ! लेकिन मनोनिग्रहका जो यह प्रसंग चला, वह उसके लिए चला जो एक ही झटकेमें पार नहीं हो गया । उत्तम अधिकारीके लिए नहीं, मन्द-मध्यम अधिकारीके लिए यह प्रसंग चला कि मनका निरोध करना चाहिए ।

मनको बोले कि (चित्तको समझावे)—'अरे ओ मेरे प्यारे मन ! तू इस दुःखमें क्यों फंसता है ? इस जड़का चिंतन क्यों करता है ? इस असत्में क्यों जाता है ? देख न ! यह आत्मा तो सत् है, चित् है, आनन्द है, अविनाशी है, परिपूर्ण है, अद्वितीय है, नित्यप्राप्त है ।'

मन्द-मध्यम अधिकारीको यह चाहिए कि असत्-अचित्-दुःखकी ओरसे मनको निवृत्त करे और सत्-चित्-आनन्दघन, अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय आत्माकी ओर समझा-बुझा करके उन्मुख करे ।

ऐसी उन्मुखताकी दशामें जब लय होने लगे तो चित्तको जगावें और विक्षेप होने लगे तो चित्तको शान्त करें । जब अन्तराल अवस्थामें आकर पड़ जायें तो सावधान हो जायँ, सजग हो जायँ । समता आवे तो चित्तको विचलित न करें । लेकिन यह जो समता आती है चित्तमें, उसमें भी बड़ा खतरा है । समतामें-से भी आदमी सुख चूसने लगता है, आस्वादन करने लगता है । भोजन करना ठीक है, परन्तु स्वादमें फँसना ठीक नहीं है ।

आनन्दको विषय मत बनाओ, ज्ञानको आकार मत दो, सत्ताको विकार मत दो । यह मत समझो कि आनन्द मिठाईमें-से आता है, स्त्रीमें-से आनन्द आता है, या धनमें-से आनन्द आता है, यह मत समझो ! तुम आनन्द स्वयं हो ! वह चासनी तुम हो ! और सब तो रीठी-सीठी चीजें हैं । खानेवाले तुम्हीं हो ।

जिससे प्रेम करो, वह सुखस्वरूप हो जाय, लेकिन वह सुख तुम्हारा है । इसलिए आनन्दको विषय मत बनाओ । विषयका नाम आनन्द नहीं है आत्माका नाम आनन्द है । उसको जबरदस्ती विषयमें मत ठूसो । विषय मिले, कि नहीं मिले, आनन्द तो तुम्हारा अपना है । अपनेको पराधीन मत बनाओ कि—ऐसा कपड़ा मिले तब आनन्द, ऐसा खाना, ऐसा बच्चा, ऐसा मकान, ऐसी मोटर मिले तब आनन्द । अपने आनन्दको शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध और सुखके-दुःखके निमित्तोंमें मत डालो । निमित्त-निमित्ती भावकी कल्पना मत आने दो । नास्वादयेत् सुखं तत्र ।

मन्द-मध्यम अधिकारीको मनका निरोध करके परादशा प्राप्त करनेके लिए यह साधन बता रहे हैं । सुखका आस्वादन मत करो, क्योंकि जो अपने सुखमें फँस जाता है, वह हिंसक हो जाता है । 'योगदर्शन'में व्यासजीने यह बात लिखी है—

नानुपहत्य भूतानि भोगः संभवति ।

अपने सुखमें जो फँसेगा, वह हिंसा करेगा। वह कहेगा—'दूसरा भूखा रहे चाहे खाय, हमको तो चाहिए। दूसरा गरीब रहे चाहे धनी रहे, दूसरा जीए, चाहे मरे, हमको तो चाहिए। जैसे दुनियामें स्वार्थी आदमी होता है, ऐसा ही वह स्वसुखी भी हो जाता है। रोज व्यवहारमें देखते हैं, खाते समय देखते हैं कि हमको मिल जाय, दूसरेको मिले, चाहे न मिले। मोटरमें बैठते समय देखते हैं, हमको मिल जाय, दूसरेको मिले चाहे न मिले! घरमें कपड़ेके लिए देखते हैं दूसरेको चाहे मिले, चाहे न मिले, हमको मिल जाय!

जो स्वार्थी होता है, वह हिंसक होता है और जो स्वसुखी होता है, वह भी हिंसक होता है। प्रेमी आदमी स्वसुखी नहीं हो सकता, यह तो आप जानते ही हैं। प्रेममें भी स्वसुखकी प्रधानता नहीं है और ज्ञानमें तो स्वसुखकी प्रधानता होगी ही कहाँ से? सुखास्वादन यदि करेंगे, तो वृत्ति बनेगी। तब सुख हो जायगा विषय, सुखाकार-वृत्ति हो जायगी करण और—'अहं सुखी'—यह हो जायगा अभिमान!

यह जो त्रिपुटी बनेगी, वह परमार्थका बोध होने नहीं देगी। इसलिए 'नास्वादयेत् सुखम्' संस्कृत साहित्यमें कई सिद्धिग्रन्थ हैं। यह नैष्कर्म्यसिद्धि (ग्रन्थ) है। नित्यसिद्ध, नित्यप्राप्त जो आत्मा है, उसकी प्राप्तिके लिए कर्म-उपासना-योगकी जरूरत नहीं है। नैष्कर्म्यमात्रसे ही उसका साक्षात्कार होता है। इसको 'नैष्कर्म्यसिद्धि' बोलते हैं।

'अद्वैतसिद्धि' है—यह सत्ताकी सिद्धि है। यह सन्मात्रकी सिद्धि है। 'स्वाराज्यसिद्धि' है—ज्ञान-मात्रकी सिद्धि। एक ग्रन्थ है—'ब्रह्मसिद्धि'। यह बहुत पुराना ग्रन्थ है। यह मद्राससे छपा है। उसकी दो टीका अभी मद्रास सरकारने नयो छापी है। मद्रास सरकार पुराने ग्रन्थोंका प्रकाशन कर रही है।

उस 'ब्रह्मसिद्धि'में आया है कि—'आत्मराग भी नहीं होना चाहिए। क्योंकि रागाकार वृत्तिमें रागीपनेका अभिमान आ जायगा, तब ब्रह्मबोध नहीं होगा।

चित्त भले समताको प्राप्त हो जाय, लेकिन यदि यह कहोगे कि 'समतामें सुख है, तो इसका नतीजा निकलेगा कि विषमतामें दुःख है। जीवनमें समता-विषमता दोनों आवेंगी। जब समता आवेगी, तब सुखी हो जाओगे और जब विषमता आवेगी, तब दुःखी हो जाओगे।

यह कहो कि जब चित्त शांत है तब सुख है, तो जब विक्षिप्त चित्त होगा तो दुःखी हो जाओगे। ये दुनियादार लोग क्यों दुःखी होते हैं? वे कहते

हैं कि हमारा प्रीतम हमारी आँखके सामने रहे। आँखके साथ जोड़ दिया प्रेमको ! प्रेम तो दिलमें है ! प्रीतम साथ रहे तो भी सुख और प्रीतम दूर रहे तो भी सुख; क्योंकि प्रेमकी उपस्थिति ही सुख है। इसमें कालकी देरी और देशकी दूरी इस सुखके-प्रेमके प्रति बन्धक नहीं हैं। उस अवस्थामें सुखका अध्यारोप मत करो !

उस अवस्थामें सुखका अध्यारोप मत करो। यदि उस अवस्थामें सुखका अध्यारोप करोगे तो तकलीफ भोगोगे। तब कैसे रहें !

निःसङ्ग—यह दूसरी अवस्था बतायी। वह अवस्था भी आवे तो ठीक और जाय तो ठीक ! निःसङ्गः ! उसके साथ संग मत करो ! अरे गुरु ! इतना बनाया सो बिगड़ गया ! अब बनाओगे, सो कहाँ रहेगा ?

हमारे मोकलपुरके बाबा ऐसा बोलते थे—'गुरु ! अव इतनी बड़ी दुनिया तो देखो, सिरपर पड़ी है ! और करोगे तो यह बढ़ेगी ! घटेगी कहाँसे ?'

संसारमें ऐसे बोलेंगे—'अब करनेका समय है।' वेदान्तमें बोलेंगे—'कार्य-कारणभाव, साध्य-साधन भाव, दृष्ट-दृश्यभाव, भोक्ता-भोग्यभाव—इनके त्यागका समय है।'

मनुष्यकी नजर छोटी चीजपर जाती है। निःसङ्गो भव। ऐसे भी बोलते हैं—

सत्संग-दुःसङ्गमपि त्यज त्वं।

दुःसंग भी छोड़ो, सत्संग भी छोड़ो !

हैमायसौ द्वौ निगडौ समानौ।

हथकड़ी-बेड़ी चाहे लोहेकी बनी हो, चाहे सोनेकी बनी हो, है तो समान ही ! यह तो दृष्टान्त है। दार्ष्टान्त क्या है ? कि चित्तकी अमुक अवस्था बनी रहे, यह तो सृष्टिमें कभी होनेवाला नहीं है। वह तो जायगी, जायगी, जायगी ! जो द्रष्टा है, उसे असंग होकर रहना चाहिए।

जैसे शीशेमें कितनी चीजें सामने आयीं और चली गयीं। हाथी आया, शीशेमें उसकी परछाईं आयी और चली गयी। घोड़ा आया, गधा आया, सूअर आया ! परछाईं शीशेमें सबकी पड़ी, पर कोई अपना संस्कार छोड़कर नहीं गयी ! शीशेने किसीकी फोटो नहीं ली !

अपने ज्ञानको, अपने चित्तको ऐसा ही बनाओ ! सामनेसे आया, अपनी परछाईं डालता हुआ निकल गया। अपनी फोटो, अपना संस्कार नहीं छोड़ गया।

असलमें सत्तामें (स्थायी) फोटो नहीं पड़ती है ! नहीं तो आगसे (फोटो) जल कैसे जाती ? चनेमें बीजका संस्कार है ! बीज-विशेष संस्कारसे युक्त पंचभूतके एक अंशको ही चना बोलते हैं ! लेकिन आगमें जला देनेके बाद क्या राखमें उस बीजका संस्कार रहता है ? नहीं रहता ।

इसी प्रकार अपने अन्तःकरणमें विशेष-विशेष बीजके जो संस्कार मालूम पड़ते हैं न ! एक बार ज्ञानकी आगमें अन्तःकरणको भस्म कर दो ! फिर संस्कार नहीं है । तो, 'निःसङ्गो भवेत्'—समाधिसे भी निःसङ्ग होना । यह नहीं कि जिस दिन ध्यान करनेका मौका नहीं मिला, तो सिर पीटने लगे कि 'हाय-हाय ! आज ध्यान ही नहीं हुआ ।' रोते हैं लोग कि 'आज हमें भजन करनेका मौका नहीं मिला ।' अगर वे हमारे चेले हों, तो बतावें कि—'जितनी देर तुम रोते हो, उतनी देर ध्यान कर लो ।'

अगर पाँच मिनट तुम रोते हो कि हमें ध्यान करनेका मौका नहीं मिला, तो तुम पाँच मिनट ध्यान ही क्यों नहीं कर लेते ? रोते क्यों हो ? 'निःसङ्गो भवेत् ।'

निसङ्ग होवें कैसे ? उसका साधन क्या होना चाहिए ? तो—'प्रज्ञया भवेत्' । इसका मतलब यह हुआ कि—'सुखका आस्वादन दुःख है ।' उसमें दुःखका बीज है । उससे बचनेका उपाय निःसङ्गता है और निःसङ्गता होती है प्रज्ञासे । इसका मतलब यह है कि सङ्ग होता है अप्रज्ञासे । बेवकूफ लोग फँसते हैं । फँसना समझदारका धर्म नहीं है, बेवकूफका धर्म है । वह कहता है कि 'आ बैल, मुझे मार ।' आ जा आसक्ति, मेरे साथ चिपक जा । अप्रज्ञा=मौर्ख्य मूर्खता आसक्तिका मूल है ।

मूर्खतामें-से आसक्ति निकली और आसक्तिमें-से सुखास्वादनरूप दुःख निकला । तो, प्रज्ञा बनाओ ! यदि तुम यह कहो कि हम पेड़को देखकर उसमेंसे प्रज्ञा ले लेंगे, पौधेमें-से प्रज्ञा लेंगे; डाक्टर लोग जैसे पशुओंपर प्रयोग करके प्रज्ञा लेते हैं, कि—'यह इंजेक्शन पशुको दो; देखो, क्या असर पड़ता है ? यह भोजन बन्दरको खिलाओ, खरगोशको खिलाओ ।' वहाँसे अनुभव ले-ले करके अपनी प्रज्ञा इकट्ठी करते हैं । वैसे यह प्रज्ञा बाह्य-विषया नहीं है, आत्मविषया है । प्रज्ञानम् प्रज्ञा । स्वरूपेणैव निःसङ्गो भवेत् ।

समझदारी नहीं खोना । दुनियाकी किसी चीजके लिए अपनी समझको मत बिगाड़ना किसी सुखके लिए, किसी आदमीके लिए, किसी स्थितिको प्राप्त करनेके लिए, अर्थ-भोग-कर्मके लिए अपनी समझको मत बिगाड़ना । यही अपनी

सबसे बड़ी साथिन है। यह वानप्रस्थ अवस्थातक अपना साथ देती है। संन्यासमें इसका भी त्याग करना पड़ता है।

प्रज्ञाके साथ आत्माका होना अर्थात् बिना भोगके प्रज्ञाका साहचर्य वानप्रस्थ है। प्रज्ञाके द्वारा भोग करना गृहस्थावस्था है। प्रज्ञा प्राप्त करनेकी कोशिश करना ब्रह्मचर्यावस्था है। प्रज्ञाका बाध संन्यास है।

इस चित्तका स्वभाव क्या है? निकलना यह चंचल व्यक्तिका स्वभाव ही होता है। पहले तो निकल जाय घरसे बाहर। घरमें बैठना नहीं भाता है। यदि बाहर निकलनेको न मिले तो? दरवाजेपर, खिड़कीपर, कहीं-न-कहीं खड़े रहकर रास्तेकी ओर देखते रहना - यह चंचल स्वभावका सूचक है।

हमारी मनोवृत्ति भी 'निश्चरन्'—स्वभाववाली हैं। मौका मिला और अपने घरका तो उसे खयाल ही नहीं, दूसरेके घरका खयाल है। अपने घरमें बढ़िया-से-बढ़िया रोशनी लगी हो, तो नजर नहीं जायगी कि कैसी लगी है। दूसरेके घरमें बढ़िया देखकर आओ, तो याद रहती है कि 'रोशनी हो तो ऐसी हो!' स्वभाव है न? हमने बढ़िया साड़ी पहनी है, इसका खयाल कम होता है। पर दूसरेने कितनी बढ़िया साड़ी पहनी है! इसका खयाल ज्यादा होता है! इसको बोलते हैं—'निश्चरन् चित्तम्'।

यह चित्त निश्चरन् है। निश्चर् हो गया—निशिचर हो गया। शब्द हलन्त है। निशाचर भी है, निशिचर भी है, निश्चर भी है। निशि चरति इति निश्चर, निशिचर दोनों बनेगा। सप्तमीका लोप होगा, नहीं होगा। निश्चरत्—ये अंधेरेमें भटक रहे हैं।

चित्त असलमें निकलकर कहीं जाता नहीं जैसे, आदमी पलंगमें पड़े-पड़े सपना देख लेता है बाहरका; ऐसे ही यह मनीराम दिल्ली-कलकत्ता-मद्रास-न्यूयार्क-लन्दन-अमेरिका-अफ्रिका सब जगह हो आते हैं। ये जाते नहीं हैं कहीं। लेटे-लेटे कल्पना ही होती रहती है, जाना-आना नहीं होता। आओ! इसको निश्चल बनावें। अरे बाबा! जरा पक्का हो जा। क्या इधर-उधर भटकता है? निश्चल करके एकी कुर्यात्। द्रष्टाकी दृष्टि है तू! द्रष्टासे जुदा नहीं, स्वयंप्रकाशकी एक रश्मि है तू। अधिष्ठानमें अध्यस्त है तू! मुझसे अलग क्या है तू? इसमें जतन करें। मंद-मध्यम अधिकारीको चाहिए कि अपने चित्तको अपनेसे अपेदापादन करे। परदशावालेके लिए नहीं है यह।

'यदा न लीयते चित्तं'—कुछ लोग यह मानते हैं कि हमारा चित्त अज्ञानमें

लय (लीन) होता है। पहले हम भी ऐसा ही मानते थे। 'विवेक चूड़ामणि'का वह श्लोक ऐसा याद था—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने
तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति।

सुषुप्तिकालमें सब विलीन हो जाता है और तमस् छा जाता है और सुखरूपको प्राप्त हो जाता है।

ये कहते हैं कि सुषुप्तिकालमें चित्त अज्ञानमें लीन हो जाता है, समाधि-कालमें चित्त ज्ञानमें लीन हो जाता है और बोधकालमें चित्तका बाध हो जाता है।

'अब महाराज! ज्ञान हो गया, अपनेको ब्रह्म जान लिया और एक शरीरमें आयी सुषुप्ति! तो 'हे ज्ञानीजी! तुम्हारा यह चित्त कहाँ लीन हुआ है?' 'अज्ञानमें लय हुआ है।'

'अभी तुम्हारा अज्ञान शेष है, तभी तो उसीमें चित्त लय होता है! ब्रह्मज्ञानीका चित्त जाग्रत्‌में भी ब्रह्म है और सोतेमें भी ब्रह्म है। क्योंकि जिसका जहाँ अज्ञान मिट गया – वहाँ ब्रह्मसे अलग कुछ रहता नहीं। अज्ञान भी मिटता नहीं, सो भी आपको बताऊँ। नहीं मिटता 'यह तो सकल वेदान्तविरुद्ध भाषण हो गया, यदि ऐसा कहो, तो मैं कहता हूँ—'नहीं, यह सकल वेदान्त विरुद्ध भाषण नहीं है। यह सकल वेदान्त-सारसर्वस्व भाषण है। क्या? कि अज्ञान कल्पित है।'

'अज्ञान कल्पित है? अच्छा तो ज्ञान होता है कि ज्ञान कल्पित है?'

'कल्पित ज्ञानके द्वारा कल्पित अज्ञानकी निवृत्ति होती है। शुद्ध ज्ञानमें न तो निवर्त्य अज्ञान है, न तो निवर्तक ज्ञान है, निवर्तक ज्ञान और निवर्त्य अज्ञान-दोनों ही कल्पित हैं।'

बन्ध्यापुत्र न पैदा हुआ, न तो मरता है, न तो अज्ञान है, न तो उसकी निवृत्ति होती है। यह तो 'यादृशी शीतलादेवी तादृशो वाहनः खरः।' जैसी शीतलादेवी वैसा उनका वाहन खर'। तस पूजा चाहिए जस देवता। अज्ञानकी निवृत्तिके लिए तत्त्वमस्यादि महावाक्यके द्वारा कल्पित जो ज्ञान है, वह कल्पित ज्ञान ही कल्पित अज्ञानको निवृत्त करता है।

ज्ञानी-महाराजकी क्या स्थिति है? 'कि एक तो ज्ञान पैदा हुआ, दूसरे जब वे सोते हैं, तब उनका सारा ज्ञान अज्ञानमें लय हो जाता है।' तो बन्ध्या-

पुत्रका जन्म हुआ, बन्ध्यापुत्रकी मृत्यु हुई, स्वप्न हुआ, सुषुप्ति हुई, जाग्रत् हुआ—यह हुआ क्या? 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽविभूतः सुखरूपमेति'—उसका अभिप्राय दूसरा है।

'यदा न लीयते चित्तम्'—जब मन्द-मध्यम अधिकारी मनुष्य अपने चित्तको ऐसा बना लेता है कि वह लीन न हो और विक्षिप्त न हो; घरमें सोते मत रहना और दिनभर घरसे बाहर घूमते मत रहना।

एकने कहा—'हम बाहर नहीं जाते हैं।'

'तो क्या करते हो?'

'दिनभर पलंग तोड़ते रहते हैं।'

तो घरमें रहकर पलंग तोड़ना यह क्या है? यह लीन होना है। दिनभर भटकते रहना, यह विक्षिप्त होना है। तो कैसे करें? जरा शान्तिसे घरमें बैठो तो बाबा! इतना बढ़िया मकान मिला है तुमको! जरा इसका भी तो मजा लो!

'अनिङ्गनमनाभासम्'—मनुष्यके जीवनमें जागना जितना जरूरी है, उतना सोना भी जरूरी है। इसी प्रकार काम करना जितना जरूरी है, विश्राम लेना भी उतना ही जरूरी है। जो विश्राम नहीं लेगा, वह पागल हो जायगा।

ये बाबाजी लोग एकान्तमें रहते हैं! आप लोग समझते होंगे कि वे दिनभर समाधि लगाकर रहते होंगे। नहीं, वे हरिनकी तरह छलांग भरते हैं, दण्ड बैठक करते हैं, झाड़ू लगाते हैं। यहाँसे वहाँ गंगा-किनारे आठ-दस मील चले गये!

जितना जरूरी है विश्राम लेना, उतना ही जरूरी है काम करना। जितना जरूरी है काम करना, उतना ही जरूरी है विश्राम लेना। मनकी इस अवस्थाको, इस दशाको समझना चाहिए।

'अनिङ्गन्' रहे और विषयाकारको न पकड़े। 'अनिङ्गनम्=अचलम्। इङ्गन्=जैसे बच्चा रेंगता है न, वैसे रेंगे नहीं।

'अनाभासम् = विषयरूपसे भासित न हो!

'निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा'—यह चित्त अचल होकर ब्रह्मरूप होवे। एक महात्मा रहते थे। महात्मा कई तरहसे रहते हैं—कोई बालककी तरह रहते हैं, कोई भिखारीकी तरह, तो कोई योगीकी तरह रहते हैं और कोई राजाधिराजकी तरह रहते हैं। यह 'स्वाराज्यसिद्धि'का श्लोक है—

योगिनो भोगिनो रागिणश्चेतरे।
दृश्यते ज्ञानिनाम् नैकरूपास्थितिः॥

ज्ञानी अमुक रूपमें रहे, ऐसे उसको नहीं बाँध सकते। हर ज्ञानीकी पोशाक-भाषा-बैठन-चलन-बोलन एक-सी ही होनी चाहिए, ऐसा खयाल नहीं करना। तरह-तरहसे रहते हैं। काशीमें स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती थे। वे महाराजोपचारसे रहते थे, स्वामी दयानन्द सरस्वतीसे उनका शास्त्रार्थ हुआ था। यह बात प्रसिद्ध है। वे महाराजोपचारसे रहते थे। योगी अरविंदकी रहनी दूसरी थी, रमण-महर्षिकी दूसरी, उड़ियाबाबाजीकी दूसरी, हरिबाबाजी-की दूसरी, ब्रह्मप्रकाशजीकी दूसरी, तपोवनजीकी दूसरी। महात्मा स्वतन्त्र होते हैं।

एक महात्मा थे, वे बालभावसे रहते थे। जंगलमें रहते थे, पेड़के नीचे। खड़िया होती है न, जिससे पट्टीपर लिखते हैं, वह भी उनके पास पड़ी थी। काली लकड़ीकी पटरी-स्लेट भी पड़ी थी, खिलौने भी पड़े थे। बाबा गये उनके पास। बैठ गये आकर, बातचीत हो गयी।

भववारिधि मरुतृषा समाना।
अनुछिन यह भाखत नहीं आना॥

'यह संसार समुद्र मृगतृष्णाके समान है। महात्मा बोले, तो यही बोले। नहीं बोले, तो नहीं बोले।

सत्संग होनेके बाद बाबाने उनसे पूछा, कि—मैंने सुना है, कि तुम्हारी उमर बहुत बड़ी है। तो क्या सचमुच तुम्हारी उमर बहुत बड़ी है?

पहले तो पटरीपर लिख रहे थे, खिलौनोंसे खेल रहे थे, बातचीत करते जारहे थे। पूछा, तो छलांग मारकर पेड़पर चढ़ गये, बन्दर जैसे करते हैं, वैसे! बोले कि—'काल देखता है, खाल देखता है? अरे, बाल देख, बाल!'

खाल मत देखो, काल मत देखो। बाल—'बाल्येन तिष्ठासेत्।' तो ज्ञानी कैसे रहते हैं? 'अनाभासम्'—माने आभास नहीं होवे। 'मैं पापी हूँ'—यह आभास है। 'मैं पुण्यात्मा हूँ'—यह आभास है। 'मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं संसारी, मैं परिछिन्न'—यह सब आभास है।

अरे, यह झूठा जो आभास है, उसे 'मैं' पर क्यों डालते हो? भास रहा है विषय और उसको कह रहे हो—'मैं'? पाप-पुण्य, सुख-दुःख, परिछिन्नता-संसारी—इनके साथ अपनेको क्यों बाँधते हो? 'यह सुखकी पूँजी है', ऐसा मत समझना। यह बेकार है। बच्चे भी यदि यह समझ जायँ, उनके ध्यानमें यह

बात आ जाय कि छोटी-छोटी चीजके लिए जो परवाह है—इसके लिए दुःखी हो गये, उसके लिए दुःखी हो गये ! भीतरसे सुख भी मानते हैं, भीतरसे दुःख भी मानते हैं; दुःख भी मानते हैं, सुख भी मानते हैं !

अनाभासम्—मन विचलित न होवे, मन आत्मस्वरूप होवे। मनकी प्रत्येक अवस्था आत्मामें ही अध्यस्त है। यह ज्ञान तो होता है उत्तम अधिकारी को। मन्द-मध्यम अधिकारीको अपना मन निश्चल बनाकर–अनाभास बनाकर–समझमें आता है।

एक बारकी बात है—समझो कि आगरे जिलेमें 'खाडा' नामका गाँव है। एकबार वह वेदान्तियोंके गाँवके नामसे मशहूर हो गया था जो देखो सो उपाधि-उपहित, अध्यास और अधिष्ठानकी चर्चा करते हुए मिले—'आजकल क्या हो रहा है ?'

आजकल 'वृत्ति' लगा रहे हैं।

'वृत्ति' माने 'वृत्ति-प्रभाकर'। 'विचार सागर','तत्त्वानुसंधान' लगा रहे हैं। तत्त्वानुसंधान नहीं बोलते थे, 'तत्त्वानु' बोलते। इसकी चर्चा चल रही है और जो देखो सो 'वेदान्तकी चर्चा करते हैं।' 'चोखेलाल', 'घूरे लाल'—नाम तो उन लोगोंका ऐसा था।

पहले-पहल सन् '३४में हमको बुलाया था, 'पंचदशी' सुनानेके लिए। उड़ियाबाबाजीने पसन्द कर लिया था। करपात्रीजी महाराज तो उपनिषद् सुनाते थे। 'विश्वेश्वराश्रमजी' थे उनके गुरु जिनसे करपात्रीजीने पढ़ा था, वे प्रवचन करते थे। उड़ियाबाबाजीसे प्रश्नोत्तर होता था और मैं 'पंचदशी' सुनाता था। बड़ा भारी सत्संग हुआ। दस हजार आदमी इकट्ठे हुए थे। 'आवागढ़'के राजा थे सूरजपाल, उनकी ढोलक बजे। वहाँ यह प्रश्न उठा—

'अनिङ्गनम् अनाभासम् निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा। यदा न लीयते चित्तम्'–चित्तका लय नहीं हुआ, तो सुषुप्ति चली गयी और 'न च विक्षिप्यते पुनः'से जाग्रत-स्वप्न चला गया ! 'अनिङ्गनम्'से अंतराल-अवस्था चली गयी। जो पहले कषाय बताया था, वह चला गया—'सकषायं विजानीयात्'। अब 'अनाभासम्' क्या है ? देखो, यह श्लोक पढ़ते-पढ़ते बत्तीस वर्ष पहलेकी बात याद आ गयी !

विश्वेश्वराश्रमजी महाराजसे पूछा, सो उन्होंने कुछ बताया, करपात्रीजी महाराजने कुछ बताया। यही प्रश्न चलने लगा। जो आवे, उससे यही प्रश्न ! 'अभयरामजी' आये थे, बड़े भारी वेदान्ती ! 'हरनामदासजी आये थे ! बड़े-बड़े वेदान्ती ! बाबाजीसे पूछा प्रश्नोत्तरमें !

प्रश्नोत्तरमें उड़ियाबाबाजी जैसे निपुण महात्मा और कोई देखनेमें नहीं आये। व्याख्या करना दूसरी बात है। यदि प्रश्नकर्ता एक शब्दमें प्रश्न करे, तो बाबाका उत्तर भी एक शब्दसे आगे न बढ़े! एकने पूछा कि—'महाराज, जीव तो कमजोर है, इसको वैराग्य कैसे होगा ?'

बाबा—'हाँ भैया, अब ईश्वर वैराग्य करेगा।'

प्रश्न—'बाबा ! जीवन्मुक्ति श्रेष्ठ कि विदेहमुक्ति ?'

बाबा—'दोनों अमंगल हैं।'

प्रश्न—'बाबा, गुरु क्यों बनाना चाहिए ?'

बाबा—'मुझसे क्यों पूछता है, बेवकूफ ? पूछना ही तो गुरु बनाना हुआ न ?

प्रश्न—'बाबा, आप शिव हैं ?'

बाबा—'हाँ।'

दूसरा—'आप विष्णु हैं, बाबा !'

बाबा—'अरे, ये अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जो मालूम पड़ते हैं, और उनमें—एक-एकमें जो ब्रह्मा-विष्णु-शिव हैं, राम हैं, ये सब मेरे स्वरूपमें चिन्गारीकी तरह उड़ते रहते हैं; सब अध्यस्त हैं, सब कल्पित !' ऐसे बोलते थे।

उनसे पूछा गया कि 'अनाभासम्'का क्या अर्थ है, महाराज !' तो बोले कि 'सुखास्वादन ही 'आभास' शब्दका अर्थ है।'

जो पहले विवेक किया न ? 'न लीयते'से लय गया। 'न च विक्षिप्यते'से विक्षेप गया। 'अनिङ्गनम्'से कषाय गया। 'अनाभासम्'से चतुर्थ दोष सुखास्वादन गया।

'निःसङ्गो प्रज्ञया भवेत्'—यह क्या है ?'

यह जो पापीपना-पुण्यात्मापना, सुखीपना-दुःखीपना है न, ये तो विक्षेप-दशामें होगा ! सुखीपना-दुःखीपना व्यवहारमें गया। तो जाग्रत और स्वप्नमें जो सुखीपना और दुःखीपना होता है, वह छोड़ो। और उसका जो कषाय रहता है, वह भी छोड़ दिया। अब यहाँ क्या है ?

समप्राप्त-दशामें जो सुखास्वादन है, यह परिच्छिन्न अहंकी परिस्थिति है यहाँ ! इस दशामें जो अहंका भोग है—समाधिभोग है माने समाधि-सुखास्वादन है, यही इस 'आभास' पदका यहाँ अर्थ है। छोड़ दो इस समाधिके सुख को ! 'नेति-नेति; नेति-नेति।' अब मन क्या हुआ ? यह ब्रह्म है।

निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा।

: ३० :

परमार्थ-सुख और परमार्थ-सत्य

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम् ।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ।।४७।।

अर्थः—(आत्मसत्यके बोधसे निष्पन्न जो परमार्थ-सुख है उसको ब्रह्मवेत्ता लोग) स्वस्थ, शान्तं, निर्वाण सहित, अकथनीय, उत्तम सुखरूप, अजन्मा, अज ब्रह्मसे अभिन्न और सर्वज्ञ बताते हैं।

अब बोले कि—'भाई, यह मंद-मध्यम अधिकारीका चित्त भी ब्रह्म है। जब मन अपने आश्रयसे अपनेको अलग नहीं दिखाता, तब वह ब्रह्मरूप होता है। अलग कब दिखाता है? जब वह भावको और अभावको विषय करता है। क्योंकि जब भाव-अभावको चित्त विषय करता है, तब वह अपनेमें आकार दिखाता है—भावाकार और अभावाकार। जब भाव-अभावको विषय नहीं करता, तब अपनेमें आकार नहीं दिखाता। योगी पुरुष, मंद-मध्यम अधिकारीके लिए यह अवस्था ब्रह्मस्थिति हुई। ब्राह्मास्थिति नहीं, ब्रह्मस्थिति। ब्राह्मस्थिति तो ज्ञान होनेके बाद, होती है। ब्रह्मज्ञानी जैसे रहे वही उसकी ब्राह्मस्थिति है।

ब्रह्मज्ञानी आप परमेश्वर, ब्रह्मज्ञानीको ढूँढे महेश्वर !

अब ब्रह्मस्थितिके सुखका भी वर्णन करते हैं दुनियामें लोग सुखको बहुत मानते हैं। कई लोग तो नशा पीते हैं और कहते हैं—'हम सुखी हो गये।' मोहनदशाको सुख मानना किसीमें डूब जाना, गर्क हो जाना, मशगूल हो जाना, नशेमें आ जाना सुख है? यह मोहनदशाका सुख है, यह तमोगुण है। भोगदशाको सुख मानना रजोगुण है, शांतदशाको सुख मानना सत्त्वगुण है। शांतदशा अभ्यासजन्य होती है, वह हमेशा नहीं रहती है, लेकिन—

सुखमात्यंतिकं यत्तद् बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्। (गीता ६.२१)

यह तीनोंसे अलग सुख है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्। (गीता १८.३७)

अभ्याससे विषको हटाया और अमृतको पैदा किया। यह पहले तो विषके समान होता है; परन्तु परिणाम्में अमृतके समान है। यह सात्त्विक सुख है।

यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव''''॥ (गीता १८.३८)

जो पहले अमृतके समान, पीछे विषके समान, वह रजोगुणी सुख हो गया जैसे भोगसुख। और तमोगुणी सुख वह है जो पहले और पीछे भी मोहमें जलने वाला है—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखम् मोहनमात्मनः। (गीता० १८.३९)

जो मोहको सुख मानते हैं, वे भूलमें हैं और जो भोगको सुख मानते हैं, वे आगे दुःखमें पड़ेंगे। जो अभ्यासजन्य सात्त्विक सुखको सुख मानते हैं, उनका सुख टिकेगा नहीं। एक सुख और है। वह क्या है?

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चेवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६.२१-२२)

'गुरुणापि न विचाल्यतेः'—गुरुजी कहें कि—'ऐ? यह ठीक नहीं है।' तो शिष्यजी कहें—'हमको अनुभव हो रहा है महाराज! माफ करो'—यहाँ गुरुणामें तृतीया हो गयी। गुरुणापि दुःखेन—बड़ेसे बड़ा दुःख उसे विचलित नहीं कर सकता। इसमें 'गुरुणा' दुःखका विशेषण है। गुरुणा = वृहस्पतिना—देवताओंके गुरु 'वृहस्पति' आ जायँ और कहें कि—'यह ठीक नहीं हैं, तो कहे कि—'महाराज, आप जाओ, इन्द्रको समझाओ! और, 'गुरुणा = लोकगुरुणा = ब्रह्मणापि न विचाल्यते। ब्रह्मा भी विचलित नहीं कर सकते। गुरुणा = स्वगुरुणा। अपने गुरुजी आवें, तो कहें—महाराज, परीक्षा मत लो। हमको अनुभव हो रहा है, 'हम ब्रह्म हैं।'

'अरे! अभी अज्ञान नहीं मिटा?'

'नहीं महाराज, मिट गया।'

फिर गुरुजी कहें—'अज्ञान नहीं मिटा।'

'ना महाराज! अज्ञान त्रिकालमें था ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं। मिटा नहीं अज्ञान—यह कहना भी ठीक है, क्योंकि वन्ध्यापुत्र मरा नहीं

यह कहना भी ठीक है, क्योंकि जो पैदा ही नहीं हुआ, वह मरेगा कैसे ? अज्ञान तो था ही नहीं।' गुरुणापि न विचाल्यते।' वह सुख, वह मजा ! वह सुख, वह सुख ! 'गीता'में बताया कि—ब्रह्मसंस्पर्श ही निरतिशय सुख है।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखमश्नुते। (गीता ६.२८)

'स्वस्थं'—यह सुख अनात्मसुख नहीं है, आत्मसुख है। 'शान्तं'—यह सुख विक्षेप सुख नहीं है, शान्त सुख है।

'सनिर्वाणम्' = यह सुख मुक्तिके साथ है। इसमें आवरण भंग है। निर्वाण = आवरणभंग।

'अकथ्यम्'—तथ्यम्=यह सुख अकथ्य तथ्य है। जबानसे नहीं कह सकते।

'सुखमुत्तमम्'—यह सर्वोत्तम सुख है।

'अजम्' = यह सुख अजन्मा है।

'अजेन ज्ञेयेन'—यह सुख अज ज्ञेय (ब्रह्म)से अभिन्न है। यहाँ ज्ञेय भी अज है और यह सुख भी अज है।

'सर्वज्ञं परिचक्षते'—इस सुखको सर्वज्ञ कहा गया है।

× × ×

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते॥४८॥

अर्थः—कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता। उसका कोई भी कारण नहीं है। जिस ब्रह्ममें किसीकी भी उत्पत्ति नहीं होती वही सर्वोत्तम (परमार्थ) सत्य है।

ऋग्वेदके ज्ञानसूक्तमें यह बात आयी कि कोई-कोई ऐसे होते हैं जो मनसे तो ठीक-ठीक आलोचना करते हैं कि शब्द यह है—

उ तत्त्व पश्यन् न ददर्श वाचं।

लेकिन उन्हें वाक्-तत्त्वका दर्शन नहीं होता। शब्दको तो जानते हैं, परन्तु उन्हें वाक्का दर्शन नहीं है। क्यों ? फलादर्शनात्। वाक्का फल है अर्थ। जबतक अर्थका साक्षात्कार न हो जाय, तबतक शब्दका अर्थ उन्हें मालूम नहीं होता।

उ तत्त्व श्रृण्वन् न श्रृणोत्येन।

खूब मजेसे सुन रहे हैं, लेकिन नहीं सुन रहे हैं। क्यों नहीं सुन रहे हैं? श्रवणफलादर्शनात्—श्रवणका फल है, अर्थका साक्षात्कार। यदि अर्थका दर्शन नहीं हुआ, तो सुना कहाँ? न शृणोत्येन—वह वाणीको नहीं सुनता है।

कहनेका अभिप्राय क्या? एक आदमीसे पूछा कि 'घट' शब्दका अर्थ क्या है? उसने कहा—'घड़ा'।

'और कोई शब्द बताओ।'

'कुंभ, कलश।'

'अच्छा, घरमें-से घट उठा कर ले आओ।'

तो बोला—'मैं तो घटको पहचानता नहीं हूँ। व्याकरणके अनुसार, कोशके अनुसार घट-कलश-कुंभ, ये पर्यायवाची शब्द हैं, यह मैं जानता हूँ। लेकिन, घड़ा हमने कभी देखा नहीं।'

तो, जबतक अर्थका साक्षात्कार न हो, तबतक न शब्दका ठीक-ठीक दर्शन हुआ, न अर्थकी पहचान हुई, न शब्दका ठीक-ठीक श्रवण हुआ।

फिर दृष्टान्त देकर बताया। वह दृष्टान्त जरा ऐसा ही है कहते हैं—'जायेव पत्ये उपति सुवासाः'—जैसे कामयमाना सुवासा पत्नी ऋतुकालमें अपने पतिके सम्मुख अपने शरीरको निरावरण करती है, कि वह उसका ठीक-ठीक सम्भोग प्राप्त करे; वैसे, यह वाक् जब अपनी खोल हटाकर, यह उच्चारणकी ध्वनि, यह संकेत, यह कविता, यह छन्द—ये सब पर्दे हटाकर केवल अपनी प्रतिपाद्य वस्तुका साक्षात्कार करा दे, तब समझना कि वाग्देवी प्रसन्न हो गयी, सरस्वती प्रसन्न हो गयीं। वाक्का दर्शन हो गया, वाक्का श्रवण हो गया।

फिर एक जगह निन्दा की गयी है—'जैसे पशु बोझको ढोता है, लेकिन उसके अन्दर बढ़िया-बढ़िया पकवान्न रखे हुए हैं, उसके स्वादको वह नहीं जानता है—'भारहरः किलायम्।' यह केवल भारवाही है। वैसे ही वह पुरुष है जो वेदका अध्ययन करके भी उसके अर्थको नहीं जानता है।

दृष्टि होनी चाहिए, वस्तुको पहचाननेपर कि 'वस्तु क्या है?' वस्तुको पहचानो। इन्होंने बताया कि—'वस्तुका जो परम रूप है परमार्थ, जो अर्थके बाह्य रूपोंके बदलते रहनेपर भी स्वयं एकरस है, निर्विकार है, कभी नहीं बदलता, चैतन्य है, अपना आत्मा है, उसको यदि जान लिया—

ऋचे अक्षरे परमे व्योमन्।

उस परम तत्त्वको यदि जान लिया, तो सचमुच सब कुछ जान लिया। नहीं जाना तो ? नहीं जाना, तो जाननेका प्रयत्न करो, कोशिश करो।

वेदान्तमें मनके निग्रह की, मनकी एकाग्रताकी जो बातें बतायी जाती हैं, वह स्वयंप्रकाश अधिष्ठान स्वस्वरूपसे अभिन्न होकर मनका जो अवस्थान है, उसीको यहाँ मनोनिग्रह, मनोनिरोध कहते हैं। योगसिद्ध, कर्ताके प्रयत्नसे सिद्ध होनेवाला, कारण-प्रपञ्चको वास्तविक बनानेवाला, प्रकृतिको सत्य बतानेवाला, जो योग है, वह योग यहाँ अभीष्ट नहीं है। यह सर्वथा 'अधिष्ठानाभेदेन अवस्थान'—मन हमारे स्वरूपसे जुदा कुछ न होवे। इसीको यहाँ 'मनोनिग्रह' नाम से कहा गया है।

कहते हैं कि 'इसमें उत्तम सुख है'—'सुखमुत्तमम्।' पहले सुख पद्धति देखो। पहले ही बताया था कि एक मोहनसुख है, एक भोगसुख और एक अभ्याससुख है। आदत डाल लिया, अब उसके बिना रहा नहीं जाता! वह चीज मिल जाय! तो बड़ा सुख मिला! एक आदमीको अफीम खानेकी आदत पड़ गयी। यह हम उस समयकी बात बताते हैं, जब हमारे गाँवमें अफीम पैदा होता था।

एक आदमीको ऐसी आदत पड़ी थी अफीम खाने की, कि जिस दिन खानेको नहीं मिलता, जमीनपर लोटता यहाँसे वहाँ, वहाँसे यहाँ। 'हम मर जायेंगे और तुम्हारे दरवाजेपर मरेंगे, अगर हमें अफीम खानेको नहीं मिलेगी तो!' थोड़ी-सी एक मटरभर अफीम उसको खिलायी कि वह उठ कर बैठ जाता और हँसने लगता। कहता कि 'तुमने हमको जीवनदान दे दिया! वाह-वाह-वाह! बड़ा सुख मिला।' तो क्या उसे सुख मिला ? सुख नहीं मिला! अफीम खानेकी जो आदत पड़ गयी थी उससे दुःख हो रहा था। अफीम मिल जानेसे उसका वह दुःख छूट गया।

दुःख छूटना दूसरी चीज है और सुख मिलना दूसरी चीज है। एक आदमीको फोड़ा हुआ, पक गया। अब उसमें–'बड़ा दुःख हो रहा है!' डॉक्टरने उसे चीर दिया, पीब निकल गयी—'आ-हा-हा! बड़ा आराम मिला।' तो इस आरामका नाम सुख नहीं है। इसका नाम तो दुःख मिटना है।

एक आदमीके मनमें बड़ी कामवासना है, क्रोधवासना है। आया गुस्सा और दो चपत मार दिया। बस-बस! अब चैन मिल गयी। बदला ले लिया तो चैन मिल गयी। इसका नाम सुख थोड़े है ? कामवासनाका फोड़ा फूट गया,

पाव निकल गयी ! इसका नाम सुख नहीं है। जो दर्द हो रहा था, पीड़ा हो रही थी, वह केवल मिट गयी।

सुख इससे बड़ी चीज है। उसमें मोह नहीं है, आसक्ति नहीं है। उसमें केवल दुःखकी निवृत्ति नहीं है। वह सुख कब होता है ? कहाँ है वह सुख ? 'स्वस्थं'--अपने स्वरूपमें है वह सुख। वह परमार्थ-सुख ? जब तुम अपने आप को जानोगे कि--'मैं कौन हूँ'--

आत्मसत्यानुबोध लक्षणम्।

आत्मा सत्य है--यह ज्ञान जब होगा, तब 'स्वस्थ' सुख होगा।

एक और भी सुख होता है, 'अस्वस्थ सुख'। आजकल तो अखबारमें यह शब्द चलता है, हिन्दीमें। 'स्वस्थ' और 'अस्वस्थ'। सुखके लिए यदि हमको बहुत पराधीन होना पड़ता हो कि यह हमारे अनुकूल होगा, तभी हमको सुख मिलेगा, तो तुमको सुख तो मिला, लेकिन पराधीन हो गये। इन्तजार करना पड़े और सुख मिले तो कालाधीन हो गये। परदेश जाना पड़े और सुख मिले तो दशाधीन हो गये। विषय और इन्द्रियके संयोगसे मिले, तो वस्तु-पराधीन हो गये। निद्रा-आलस्यसे सुख मिले तो निकम्मेपनसे सुख मिला।

तुमको सुख कैसे मिलता है ? निकम्मापनसे सुख मिलता है कि विषय-इन्द्रियके संयोगसे ? वस्तुकी पराधीनतासे सुख मिलता है या दूर देशमें जानेसे, इन्तजार करनेसे, दूसरेकी गुलामीसे ? ऐसा सुख स्वस्थ सुख नहीं है। यह दुःस्थ सुख है माने दुःख है, सुख नहीं है।

तुम्हारे हृदयमें जो सुख है, वह कैसा है ? वह स्वस्थ है। स्वस्थ=स्वे-महिम्नि--अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है। इसमें अपनी बेइज्जती नहीं है। बेइज्जती क्या है ? भोजनके लिए दूसरेके घर जाना पड़ा मजबूर होकर, यह बेइज्जती है कि नहीं ? किसीके घर मिलने गये। बाबा, बैठा दिया बेंचपर बाहर कि इन्तजार करो। इन्तजार करनी पड़ी। यह इन्तजारमें दुःख है कि नहीं ? दुःख है।

यह ऐसे नहीं, इतनी मजदूरी करो, तब तुमको मिलेगा ! यह बात है ! तो सुखके बारेमें सोचना चाहिए : आत्मसम्मान, आत्मसुख। आत्मसुख काहेमें है ? किसीकी इन्तजार न करनी पड़े, कहीं जाना न पड़े, किसीकी गुलामी न करनी पड़े, मेहनत न करनी पड़े, अपनेमें निकम्मापन न आवे और मिलने पर भी केवल दुःख निवृत्ति न हो, वह अपना स्वरूप हो ! ऐसा सुख हो तो 'स्वस्थ' तब अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है। नहीं तो, अपनी महिमा खोकर, अपनी

इज्जत खोकर सुख माँगने गये ! सुखकी भीख मत माँगो ! अपने स्वरूपमें जो सुख है, उसे जानो ! उसमें स्थित हो जाओ ! 'स्वस्थम्' ।

शान्तं--एक खौलता हुआ सुख होता है, भभकता हुआ सुख होता है। वासना भभकती है। उसमें बहुत अनर्थ होते हैं ! क्या अनर्थ होते हैं ? आदमी यदि अपनी वासना बढ़ा दे, तो उसके लिए धनकी कीमत नहीं रहेगी। एक सज्जन थे बनारसमें। नाम मैं उनका जानबूझ करके नहीं लेता हूँ। बनारसमें सत्ताईस मकान उनके पास थे, अबसे चालीस वर्ष पहलेकी बात है। अंग्रेजोंके समयमें। बनारस-म्युनिसिपालिटीके चेयरमैन भी होते थे। वासना भड़की, एक वेश्यामें फँस गये। सत्ताइसों मकान उस वेश्याने ले लिये। सब लिखा-पढ़ी हो गयी। अन्तमें, जिस मकानमें वे रहते थे, जब उस वेश्याने अपने कब्जेमें ले लेना चाहा, तब मुकद्दमा लग गया, दोनोंमें लड़ाई हो गयी। जितने दिन रहे, उतने दिन रहनेके लिए वह मकान उनको मिला, लेकिन बादमें वह भी उनके हाथसे गया। वासनामें क्या होता है ? वासनामें आदमीका धन जाता है।

वासना भड़कनेसे आदमीका धर्म जाता है। वासना तीव्र होनेसे ज्यादा भोग भी नहीं मिलता। वासना तीव्र होनेसे अन्तःकरणमें शुद्धि-पवित्रता नहीं रहती, अन्तःकरणमें शान्ति नहीं रहती, विक्षिप्त हो जाता है। चाहिए-चाहिए-चाहिए !

परन्तु यह जो आत्मसुख है, यह शान्त सुख है। इसमें ज्वार नहीं है, भाटा नहीं है, इसमें तमोगुणका अन्धेरा नहीं है, रजोगुणके आँधी-तूफान नहीं हैं। यह शान्त सुख है।

शान्तम् अनर्थोपशमरूपम्।

सनिर्वाणम्—यह सुख केवल आवरण भंगसे प्राप्त होता है। निर्वृतिः निर्वाणं, निर्वाणं निर्वृतिः। अज्ञानका पर्दा पड़ गया, तो हम बाहर सुख चाहने लगे। एकाएक अज्ञानका पर्दा हट गया और भीतर जो सुख है, वह निरावरण हो गया। यह निरावरण होना ही असलमें निर्वाण है। असलमें 'निर्वाण' शब्दका अर्थ भी यही होता है कि कहीं जाना न पड़े। 'वा गति गंध नयो'—'वान्' शब्द बना। 'निर्' उपसर्ग है। 'वान्' शब्दमें गति और गन्ध दो पदार्थ हैं। एक तो, किसीके पास जाना न पड़े, मस्त ! और दूसरे, गन्ध न हो उसमें। संसारमें जितने सुख मिलते हैं, उनमें गन्ध होती है।

गन्ध माने संस्कार, वासना। वह चित्तमें बैठ जाती है। उसका लक्षण क्या है ? फिर-फिर। चाहिए, चाहिए, चाहिए। यही गन्ध बैठनेका लक्षण है।

निर्बाणम्—जिसमें चित्तमें वासना और संस्कार न बैठे। अनात्मवस्तु-का स्पर्श न करना पड़े, ऐसा जो सुख, उसको निर्वाण बोलेंगे।

'निर्वाण' शब्दका दूसरा अर्थ बताता हूँ। बाण=तीर, धनुषपर चढ़ाकर मारते हैं बाण। किसीको बाण जब लगता है, तो उसकी तीन दशा होती है—बाण लगनेसे हृदयमें पीड़ा होती है, आदमी बेहोश हो जाता है, वह मर जाता है।

पीड़ा होना आनन्दके विरुद्ध है। हम आनन्द-स्वरूप हैं, तो हमको पीड़ा क्यों हो? बेहोश होना चेतनके विरुद्ध है। हम चेतन हैं, स्वयं प्रकाश हैं! हम बेहोश क्यों हो जायँ? हम अमृतस्वरूप हैं तो मरें क्यों? तो, निर्वाण शब्दका अर्थ हुआ—वह सुख, जिसमें दुःख नहीं है; बेहोशी = जड़ता नहीं है और मृत्यु नहीं है। ऐसे सच्चिदानन्दस्वरूप सुखका नाम निर्वाण है। आओ भाई, निर्वाण-सुख प्राप्त करें।

इसकी इच्छा ही लोगोंके मनमें कम होती है। लोग तो भोगसुख चाहते हैं।

अकथ्यं सुखमुत्तमम्—जिसका कथन न किया जा सके, अकथनीय, अनिर्वचनीय उत्तम सुख।

अकथनीय--अनिर्वचनीय सुख! आज सवेरे मैंने पूछा कि—'भाई, बिना जीभके स्वाद बताया जा सके, ऐसी कोई मशीन बनी है कि नहीं? आँख पर यन्त्र लगाया न जाय और रूप दिखायी पड़े, ऐसी मशीन कोई बनी है क्या?

ऐसा मत समझना कि आँख जहाँ इस समय है वहीं रहती है। वह सारे शरीरमें रहती है। जीभ, नाक आदि इन्द्रियाँ सारे शरीरमें छिपी रहती हैं। ये गोलक तो उनके अभिव्यक्ति-केन्द्र हैं। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धकी तन्मात्राएँ परिच्छिन्न नहीं होतीं, विभु होती हैं और समूचे शरीरमें व्यापक होती हैं। इसीसे जब योगी लोग इनपर संयम करते हैं, तो वे आँख बन्द करके भी देख सकते हैं; नाक बन्द करके भी गन्ध बता सकते हैं; बिना जीभपर डाले भी स्वाद बता सकते हैं। वे दूरकी भी बता सकते हैं। इसमें क्या बात है? शरीरमें इन्द्रियोंके जो उपादान हैं, वे समूचे शरीरमें व्यापक हैं।

कभी वैज्ञानिक उन्नतिमें वह अवसर अवश्य आवेगा, जब आपरेशन करके हाथमें आँख बना दी जाय, हाथसे दीखने लगे; पाँवमें आँख बना दी

जाय, पाँवसे दीखने लगे। कहीं भी, जहाँ रक्त घूमता है, केन्द्र बनाकर इन्द्रियोंको अभिव्यक्त किया जा सकता है। ऐसा होना शक्य है।

परन्तु क्या बिना ज्ञानेन्द्रियोंके संयोगके विषयका ज्ञान होगा? मशीन को हमारे साथ ही तो जुड़ना पड़ेगा न! अध्यात्मके सम्बन्धके बिना भौतिक यन्त्र किसी वस्तुका ज्ञान किसको करावेंगे? आखिर हमको ही तो ज्ञाता बनना पड़ेगा न! ज्ञातृत्व तो आत्मामें ही रहेगा।

यन्त्रको यदि ज्ञान भी होवे, तो वह ज्ञान जब हमको होगा, तब न हम कहेंगे कि यन्त्रको ज्ञान हुआ? हम मान लेते हैं कि यन्त्रने गिनती कर ली गुणा-भागकर दिया, प्रश्नका उत्तर दे दिया, परन्तु किसको दिया? हम जब देखेंगे, तब न मालूम पड़ेगा। जैसे मीठेका ज्ञान हमको होता है। इसमें भी इन्द्रियाँ और मन अलग-अलग चीज है। यह बात हमको मालूम होनी चाहिए कि यद्यपि मनके बिना इन्द्रियाँ काम नहीं करती हैं, यह ठीक है; लेकिन इन्द्रियाँ न हों तो केवल मनको शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धके विभागका ज्ञान कैसे होगा? केवल मन ही शब्दादि विषयोंकी कल्पना करके क्या जानेगा? इन्द्रियों-विभाग होना भी आवश्यक है। इन्द्रियाँ होवें और मन न होवे तब भी कोई ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए विषयज्ञानका साधारण करण है, मन और विषयज्ञानका असाधारण करण हैं। इन्द्रियाँ अर्थात् एक-एक विषयका ज्ञान एक-एक इन्द्रियको होता है। इसलिए असाधारण है।

रसज्ञानमें जिह्वा असाधारण है। गंध-ज्ञानमें नासिका असाधारण है। लेकिन सबके ज्ञानमें मन साधारण करण है, सबमें लागू पड़ता है, पंचायती है।

अकथ्यम्—ऐसा सुख मिलेगा, ऐसा सुख मिलेगा! अरे, हमारे पास सुखका खजाना है। हम स्वयं सुख हैं। यह जीभसे बोलकर नहीं बताया जाता।

सुखमुत्तमम् = उत्तम सुखका क्या अभिप्राय हुआ? कि जहाँ विदेशमें न जाना पड़े, कालकी प्रतीक्षा न करनी पड़े, वस्तु और व्यक्तिकी पराधीनता न हो, आयास न हो, सम्मोहन न हो, और आसक्ति न हो। तब उत्तम सुख है।

अजं .... परिचक्षते ॥४७॥

अजं=अजन्मा विषय-विषयक जो सुख है, वह तो जात सुख है। यह पैदा हुआ और मिट गया। अजात सुख स्वतःसिद्ध, स्वरूपसिद्ध सुख है।

ज्ञेय परमात्मा है, परमार्थ है, आत्मा है, वह है अज। 'अजेन ज्ञेयेन'— आत्मा और सुख असलमें दो चीज नहीं हैं। इसलिए 'सर्वज्ञं परिचक्षते।' यह सुखस्वरूप है और ज्ञानस्वरूप है। ऐसा इसके बारेमें कहा जाता है।

× × ×

एक बार अधिष्ठानसे अभिन्न अपने मनको यदि स्थापित कर लिया जाय, तो इस सुखकी अभिव्यक्ति हो जाती है। यह बताया उपाय। उपाय है माने यह ज्ञानी पुरुषके लिए नहीं है; जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए यह साधन है।

सर्वोऽप्ययं मनोनिग्रहादिर्मृल्लोहादिवत् सृष्टिरुपासना।
चोक्ता परमार्थसत्यस्वरूप प्रतिपत्त्युपायत्वेन न परमार्थसत्येति॥

(भाष्य)

जो बताया गया कि मनको अधिष्ठानमें स्थिर करना; यह जो बताया गया कि मिट्टी-लोहे-सोनेकी तरह यह सृष्टि है और यह जो बताया गया कि उपासना करना—यह सब परमार्थस्वरूपकी प्रतिपत्तिका उपाय है, परमार्थ सत्य नहीं है।

प्रश्न यह उठा कि ये उपाय सच्चे हैं कि झूठे? यदि उपाय भी सच्चे हैं और फल भी सच्चा है अर्थात् सिद्ध वस्तु भी सच्ची है, तो अद्वैतकी हानि हो गयी। द्वैत हो गया—एक उपाय और एक उपेय। एक तो जो चीज आखिरमें मिलेगी सो और एक उसके मिलनेके लिए उपाय है, सो। दो सच्चे हुए। इसके उत्तरमें गौड़पादाचार्यजी महाराज यह अन्तिम कारिका कहते हैं—

न कश्चित् जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतद् तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचित् न जायते॥

परमार्थसत्यं तु न कश्चित् जायते जीवः। 'असलमें कोई कर्ता पैदा नहीं हुआ। कोई भोक्ता पैदा नहीं हुआ। यह कर्तापनेकी गाँठ है, ग्रन्थि है। हम समझते हैं कि थोड़ी देर तक यदि कर्तापन और भोक्तापनको शान्त करना हो, तो इंजेक्शन और ऑपरेशनसे भी काम चल सकता है, क्योंकि कर्तापन-भोक्तापनकी गाँठ अत्यन्त भौतिक है। अकर्ता-अभोक्ता ब्रह्मतत्त्व अभौतिक है। वह ऑपरेशनसे नहीं मिटेगा। ब्रह्मका इंजेक्शन नहीं लगेगा। ब्रह्मरसका इंजेक्शन नहीं लगेगा, आत्मरस या आत्मद्रव नहीं बनेगा। लेकिन हमारे शरीर-में यह जो ख्याल होता है कि हमने पाप किया, हमने पुण्य किया, ये मनोग्रंथि हैं।

आजकल तो ऐसे-ऐसे आविष्कार कर रहे हैं, कि शेर-सिंह-बाघको

इंजेक्शन लगा देते हैं, तो—'मैं किसीको काट या मार सकता हूँ, खा सकता हूँ' यह ख्याल उसका छूट जाता है। अब उसको डंडा मारो तो मुँह खोलेगा, पूँछ हिलायेगा, सिर झुका देगा, लेकिन खानेके लिए नहीं दौड़ेगा। उसका क्रोध और भोक्तृत्व दोनों जितनी देरतक उस औषधिका प्रभाव रहेगा ग्रंथि पर, उतनी देरतक निकम्मे हो जाते हैं।

हमारे कहनेका अभिप्राय यह है कि मनुष्यके मनमें जो कर्तापन-भोक्तापन है कि—'हमको क्या समझते हो? हमने इतना कमाया, ये भोग भोगे'—यह करने-भोगनेके पीछे जो गाँठ पड़ जाती है, वह जैसे कैंसरकी ग्रन्थि होती है शरीरमें, वैसे यह कर्तापन-भोक्तापनकी ग्रन्थि है।

हमने अभी दो-तीन दिन हुए, किसी पत्रिकामें पढ़ा था कि अमेरिकामें कुछ लोगोंने अनुसन्धान किया है कि जिन लोगोंके शरीरमें कैंसरके बीज होते हैं, उनकी हथेलीमें अमुक प्रकारके चार-पाँच दाने निकल आते हैं। वे सूक्ष्म होते हैं, लेकिन हथेली देखकर यह पता लगाना सम्भव हो रहा है, इसका अनुसन्धान किया जा रहा है। अभी खोजकर बात पक्की नहीं हुई; कर रहे हैं, जिससे निर्णय किया जा सकेगा।

अभिप्राय यह है कि—जो अपने मनमें होता है कि हमने इतना कमाया, यह जीवभाव है। हमने इतना भोगा, यह जीवभाव है। हमने यह पाप किया, यह पुण्य किया; ये सुख भोगे, यह जीव भाव है। अच्छा काम करते हैं, तब भी पछताते हैं कि हमने पहले क्यों नहीं किया या अब नहीं होना है और बुरा काम करते हैं, तब भी पछताते हैं कि हमने बुरा काम किया। कभी भोग-भोग लेते हैं, तब भी पछताते हैं कि हाय रे! हमने यह भोग क्यों भोगा? और न भोगे तब भी पछताते हैं कि—'हाय-हाय, वह आज क्यों नहीं मिला?'

दुःखका बीज, महाराज! अपने आप ही पकड़कर रखे हैं। हे भगवान्! आपको क्या सुनावें? किसीने जवानीमें बहुत भोग भोगे, तो अब वह बुढ़ापेमें कहता है कि वैसा भोग नहीं मिलता है। भला बताओ, बुढ़ापेमें दाँत नहीं, वैसा भोग कहाँसे मिलेगा? वैसी इन्द्रियाँ नहीं, वैसी शक्तियाँ नहीं। वह चढ़ी जवानी जो थी, वह उतर गयी। अब कहाँसे वैसा भोग मिलेगा? यह तीन दिन-पाँच दिनका खेल है सारा-का-सारा।

हमारे एक सज्जन हैं वृन्दावनमें। चालीस वर्ष पहले उनकी पत्नीकी मृत्यु हो गयी। उनकी पत्नी सचमुच उनसे बहुत प्यार करती होगी, ऐसा हम लोग सोचते हैं, क्योंकि हम जबरदस्ती उनको अपने साथ बैठाते हैं कि—

आओ, खाओ ! तो वे खाते नहीं हैं। वे कहते हैं, 'हमें भोजन नहीं चाहिए, हमको भोजन करानेवाला चाहिए।' ऐसे बोलते हैं—'हाय-हाय ! अब क्या खायँ ?' सिर पीटते हैं—'हाय-हाय !' खिलानेवाला चला गया। खिलानेवाला नहीं रहा, क्या खायँ ? आँखमें आँसू आ जायँ खाते समय ! अब यह चालीस-बरसकी जो ग्रन्थि पड़ गयी वह बिलकुल चित्तकी गाँठ है, ग्रन्थि है; यह रोग है। भले शारीरिक रोग मत बोलो, यह मानसिक रोग है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि ये मानसिक ग्रन्थि पड़ जाती हैं। जो कर्तापन और भोक्तापन हमारे जीवनमें है कि 'हमने जनम-जनमसे यह पाप किया, हमने जनम-जनमसे यह पुण्य किया। हमने यूनिवर्सिटी बनायी। हमने अस्पताल बनवाया, हमने कुआँ खुदवाया, हमने बावली बनवायी, हमने कल-कारखाने खोले।' यह 'हम-हम-हम' बिलकुल मानसिक ग्रन्थि है। इसमें कुछ सार नहीं है। इसमें 'कर्ता' नामकी चीज वस्तुतः पैदा नहीं हुई, 'भोक्ता' नामकी चीज वस्तुतः पैदा नहीं हुई। किसी भी विचारसे देखें ! परमार्थकी दृष्टिसे तो कर्तापन-भोक्तापन है ही नहीं। असली तत्त्वमें 'अहं'की गाँठ नहीं है।

विचारकी दृष्टिसे देखें तो आप अगले मिनटमें क्या सोचेंगे—यह आपको मालूम है ? क्या कोई बता सकता है कि आप अगले मिनटमें क्या करोगे ?

बोले—'हम चाहेंगे तो यह घड़ी उठावेंगे।'

तो घड़ी उठानेकी इच्छा होगी तब न ? अच्छा, 'घड़ी उठानेकी इच्छा तुम्हारे मनमें होगी'—यह तुमको मालूम है ? नहीं मालूम है। एकाएक इच्छा आवेगी और तुम हाथमें घड़ी उठा लोगे। यह तो बिलकुल ऑटोमेटिक होगा ! उसमें तुम्हारा कर्तापन क्या रहा ? उसमें तुम्हारा भोक्तापन क्या रहा ?

एक दिन खीर खाते हैं तो कै आती है और एक दिन खीर खाते हैं तो मजा आता है। एक दिन एक आदमीसे मिलते हैं तो बात मीठी-मीठी होती है और एक दिन उसीसे मिलते हैं तो बिलकुल मूड बिगड़ जाता है। यह है क्या ?

यह कर्तापन और यह भोक्तापन न तो पारमार्थिक दृष्टिसे सत्य है, न तो प्रातिभासिक दृष्टिसे और न तो व्यावहारिक दृष्टिसे सत्य है। यह झूठा है, आविधक है। यह मूल तत्त्वको न समझनेके कारण झूठा अहंकार पैदा हो गया है कि—'मैं कर्ता, मैं भोक्ता।'

हमारे ये जो कच्चे-बच्चे वेदान्ती पैदा हो गये हैं वे कहते हैं—'हमको तो ज्ञान हो गया है, हम कर्ता नहीं हैं। हमने पाप किया तो कोई बात नहीं, क्योंकि हम कर्ता नहीं हैं।' लेकिन दूसरा तो कर्ता है न! असलमें जबतक तुम दूसरेको कर्ता समझोगे, तबतक तुम खुद भी कर्ता हो! दूसरेके बारेमें जो तुम्हारा खयाल है, वही अपने बारेमें सच्चा होगा। यह नहीं कि तुम कर्तापनसे मुक्त हो गये और बाकी सब कर्ता हैं। आत्मसत्य ही ऐसा है।

आत्मा एक ऐसा सत्य है, ऐसी सच्ची चीज है, जिसमें न ज्ञानीमें, न अज्ञानीमें, न सुषुप्तिमें, न स्वप्नमें, न जाग्रत्‌में किसी भी प्रकारका कर्तापन-भोक्तापन है ही नहीं।

कर्तापन बिलकुल झूठा है। भोक्तापन क्या है? केवल ज्ञान होता है। हम आपको बात बताते हैं। आप शायद किताब पढ़कर कभी पा लेगें। हम खटाई खाते हैं, हम मिठाई खाते हैं। हम खटाईका भोग कर रहे हैं, हम मीठी चीजका भोग कर रहे हैं, हम नमकीन चीजका भोग कर रहे हैं; असलमें जीभपर 'यह खट्टा है, यह मीठा है, यह नमकीन है' केवल ऐसा ज्ञान होता है। 'मैं भोग कर रहा हूँ'—ऐसा उसमें अभिमान करनेके लिए कहीं कोई गुंजाइश होती ही नहीं। यह तो जीभ बना देती है—कड़वा होता है तो कड़वा, मीठा होता है तो मीठा; खट्टा होता है तो खट्टा। कड़वेपन, मीठेपन, खट्टेपनका ज्ञान ही कड़वापन-मीठापन-खट्टापन है। असलमें खट्टे विषयकी, नमकीन विषयकी, मीठे विषयकी स्फुरणामात्र हुई। इसमें तुम भोक्ता कहाँसे बन गये कि 'मैं भोग कर रहा हूँ?' ज्ञान तो विषयको प्रकाशित कर रहा है।

दाल-भातमें मूसलचन्द—तुम कौन? अरे, विषय प्रकाशित हो रहा है—'खट्टा, मीठा।' जिह्वा प्रकाशित कर रही है। 'कड़वा' शब्द और 'मीठा' शब्द प्रकाशित हो रहा है और कानके द्वारा आत्मा प्रकाशित कर रहा है। उसमें भोक्ता कौन? असलमें न तो कभी ज्ञानीमें, न अज्ञानीमें कभी कोई भोक्तापन है। यह वस्तु सत्य है, यह वस्तु स्थिति है कि कोई जीव कभी उत्पन्न नहीं होता।

न कश्चित् जायते जीवः।

जीव माने कर्ता-भोक्ता-संसारी परिच्छिन्न चेतनात्मा। असलमें कोई नरक-स्वर्गमें जाता नहीं है, उसको नरक-स्वर्गकी संवित् होती है और वह अपनेको जाने-आनेवाला मान बैठता है। वह परिच्छिन्न नहीं है, अपनेमें परि-

च्छिन्नताकी संवित् होती है, खयाल होता है। 'मैं परिच्छिन्न हूँ'—यह खयाल है। 'मैं स्वर्ग-नरक पुनर्जन्ममें आने-जानेवाला हूँ'—यह खयाल है। 'मैं कर्ता हूँ'—यह खयाल है। 'मैं भोक्ता हूँ'—यह खयाल है। इसमें कोई अभिमानी बनकर बैठा हो, ऐसा नहीं है। चैतन्यका, ज्ञानका अभिमानी कोई नहीं होता। यदि कोई ज्ञानका अभिमानी हो, कि—'मैं ज्ञानी हूँ', तो वह ज्ञानसे प्रकाशित होगा, वह दृश्य हो जायगा। वह अपना आत्मा नहीं रहेगा।

अपना आत्मा तो द्रष्टा, ज्ञान-मात्र, शुद्ध दृङ्मात्र है। तो, 'न कश्चिज्जायते जीवः'। अतएव—

संभवोऽस्य न विद्यते।

इसका कोई कारण ही नहीं है। संभवः = कारणम्। 'संभवति यस्मात् इति संभवः'। जिससे यह पैदा हो, वह भी नहीं है। यह खुद तो पैदा नहीं हुआ और जिससे भी यह पैदा हो सके, वह भी नहीं है। इसको पैदा करनेवाला कोई दूसरा हो, ऐसा भी नहीं है। मारो गोली!

हमारा जन्म हुआ, इसको कौन जानता है? 'मैं जानता हूँ'। इसका मतलब हुआ कि तुम्हारा जन्म नहीं हुआ है। शरीरकी बात नहीं कर रहे हैं, ज्ञानस्वरूपकी बात कर रहे हैं। बोले—एक हमारा बाप है! अच्छा, तुम्हारा बाप है, यह किसने जाना? 'हमने जाना'। कैसे जाना?

कई लोग, जो मूर्ख होते हैं, बच्चे होते हैं। एक बच्चेंने अपने बापसे कहा कि—'पिताजी, तुमको हम अपनी शादीमें बिलकुल नहीं बुलावेंगे।'

'क्यों नहीं बुलाओगे बेटा?'

'आपने अपनी शादीमें हमको नहीं बुलाया था, तो हम अपनी शादीमें तुमको नहीं बुलायेंगे।'

'संभवोऽस्थ न विद्यते'—अगर आत्माकी, 'मैं'की उत्पत्ति होवे, तो उस उत्पत्तिको जानेगा कौन? जब आँख नहीं थी, जब मन नहीं था, जब बुद्धि नहीं थी, तब मैं किसीसे पैदा हुआ, तो—'पीठके ओझल हमको पैदा करनेवाला कोई है,' यह बात भी गलत है। परोक्षरूपसे हमारा कोई जनक नहीं है और प्रत्यक्षरूपसे मैं कर्ताभोक्ता नहीं हूँ, संसारी नहीं हूँ, परिच्छिन्न नहीं हूँ।

अरे, दुनिया मालूम पड़ती है और हमको मालूम पड़ती है। मालूम पड़नेके सिवाय दुनिया और कुछ है नहीं, तो हम स्वयं रज्जुरूप और यह प्रपंच सर्परूप। हम स्वयं आकाशरूप और यह प्रपंच नीलिमारूप। हम स्वयं स्वप्न-द्रष्टा और यह प्रपंच स्वप्न-रूप।

एत्तदुत्तमम् सत्यं यत्र किंचित् न जायते।

इसलिए सर्वोत्तम सत्य क्या है? सत्यानामेतदुत्तमं सत्यं। और सब व्यावहारिक सत्य है। एक पारमार्थिक सत्य है, अद्वितीय सत्य है।

ये उपाय जो हैं, वे सच्चे कि झूठे? अरे, झूठे उपायसे भी सचका ज्ञान हो जाता है। आपने सुना होगा, कहानी तो बड़ी मशहूर है, बम्बई में। एक आदमी पानीमें देखता था कि हीरा चमक रहा है और जाकर ढूँढ़े। दिनभर लग गया, नहीं मिला। किसी महात्माने बताया कि—'देखो, इस पेड़के ऊपर घोंसला है, उसमें हीरा है, वह प्रतिबिम्बित हो रहा है पानी में। पानीमें जो हीरेका आभास था, वह झूठा; लेकिन उसीसे पता चलता था कि ऊपर, वह पेड़पर कहाँ रखा हुआ है?

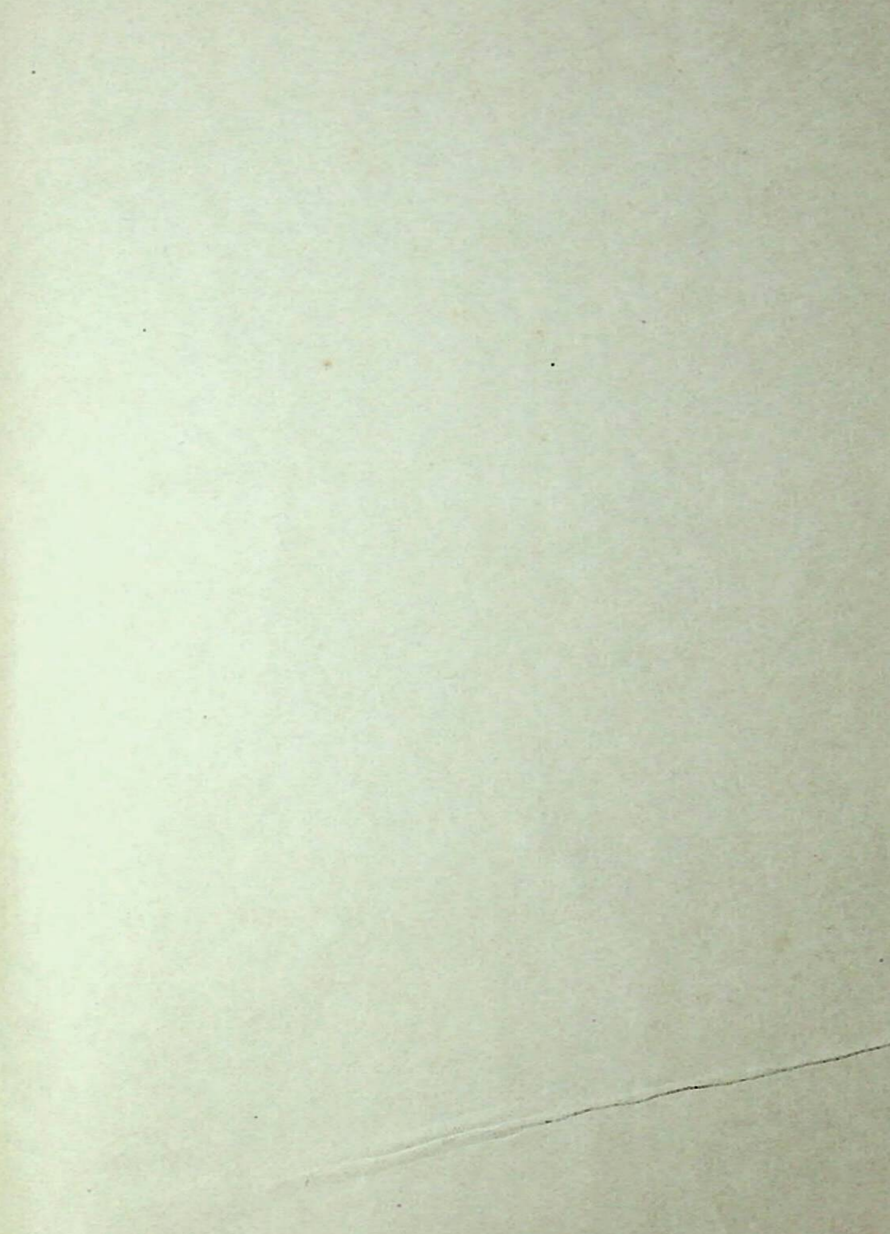
एक आदमीके घरमें एक बर्तनमें पानी रखा हुआ था। उसपर पड़ गयी सूर्यकी किरण। पानी चमक गया, तो उसमें-से एक दुहरा प्रकाश निकला और जाकर भीतपर जगमग-जगमग-जगमग होने लगा। उसने देखा कि भीतपर प्रकाश? यह भला कहाँसे आ गया? कहीं बिजली तो नहीं जल रही है? ध्यान दिया तो मालूम पड़ा कि बर्तननें जो पानी रखा है, वहाँसे वह हिल रहा है। बर्तनके पानीमें कहाँसे आया? सूर्यसे आया। देखो न, भीतपर जो रोशनी, वह झूठी, पानीपर जो रोशनी, वह झूठी, लेकिन उससे प्रकाशकी प्रतिपत्ति हो गयी।

इसी प्रकार हम लोग बाहर देखते हैं न, आँखसे, वह भीतका प्रकाश है। भीतपर जैसे रोशनी हिलती हो! बर्तनमें जो पानी है, वह कहाँ है? दिलमें है। सूर्य कौन है? आत्मा सूर्य है, ब्रह्म सूर्य है। उसका प्रतिबिम्ब, उसका आभास जैसे दिलमें पड़ रहा हो और यहाँसे इन्द्रियोंके द्वारा जैसे बाह्य विषयपर जा रहा हो! लेकिन जब ढूँढ़ने लगे कि हमारी इन्द्रियोंमें ज्ञान कहाँसे आता है? हृदयमें-से आता है। हृदयमें कहाँसे आता है? आत्म-सूर्यसे, ब्रह्म-सूर्य से।

जो ज्ञानतत्त्व भरपूर है, अद्वय है, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, वही ज्ञान हृदयमें प्रकाशित होकर, हृदयमें-से इन्द्रियोंमें दुहरा होकर और विषयोंसे इन्द्रियोंमें दुहरा होकर विषयोंको प्रकाशित कर रहा है। असलमें यह एक, अद्वय, परमात्मतत्त्व ही है।

(उसमें कुछ उत्पन्न नहीं होता, उत्पत्तिका आभासमात्र है। वही परमार्थ सत्य है।)

•






एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट